

GL H 294.5926  
TUL



120891  
BSNAA

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

120891

अवधि मध्या

Accession No.

12728

वर्ग संख्या GLH

Class No.

294.5926

पुस्तक मध्या

Book No

जुलसी टी



ओ३म्

# भास्करप्रकाश

जपात्

दयानन्द तिमिरभास्कर का उत्तर

---

तुलसीराम स्वामी

---

सामवेदभाष्यकार, न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग  
वेदान्त-गीता-मनुस्मृति आदि के अनुवादक  
और भाष्यकार ने रचा, जपाया और

प्रकाशित किया

संवत् १९७० ज्येष्ठ

---

PRINTED and Published by

Tulsi RAM Swami,

at the Swami Machine Press

Meerut

1913

मूल्य १।)

ओ३म्

# भास्करप्रकाश

अर्षात्

दयानन्द तिमिरभास्कर का उत्तर

---

तुलसीराम स्वामी

सामवेदभाष्यकार, न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग  
वेदान्त-गीता-मनुस्मृति भाषि के अनुवादक  
और भाष्यकार ने रचा, छपाया और

प्रकाशित किया

संवत् १९१० ज्येष्ठ

---

PRINTED and Published by

Tulsi RAM Swami,

at the Swami Machine Press

Meerut

1913

मूल्य १।)



# भास्करप्रकाश

तृतीय संस्करण

( दयानन्दतिमिरभास्कर का उत्तर )

इसमें नीचे लिखे ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं	विषयानुक्रम
<p>१-वेद=ऋग्वेद, यजुः, साम, अथर्व                  २-ब्राह्मण=साम, गोपथ                  शतपथ, ऐतरेय, ताण्ड्य, षड्विंश                  ३-उपनिषद्=वाजसनेय, तल-                  वकार, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डू-                  क्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दो-                  ग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर,                  मैत्र्युपनिषद्, कैवल्योपनिषद्                  ४-स्मृति=मनु, याज्ञवल्क्य,                  पराशर, नारद, वसिष्ठ ॥                  ५-वेदाङ्ग=अष्टाध्यायी, महाभा-                  ष्य, निरुक्त, सिद्धान्तशिरोमणि                  ६-दर्शन=गोतम, कणाद, कपिल                  पतञ्जलि, जैमिनि और व्यासके                  ७-इतिहास=महाभारत                  ८-पुराणाऽऽभास=भागवत                  ९-वाल्मीकीयरामायण                  १०-सुश्रुत                  ११-चरक                  १२-अमरकोश</p>	<p>सं० विषय पृष्ठ से</p> <p>* प्रथमसमुल्लासमण्डन ९</p> <p>१-शतनामप्रकरण में ब्रह्मादि                  पदों से परमेश्वरार्थ ग्रहण का                  मण्डन किया गया है ॥ ११</p> <p>२-सङ्गलाचरणप्रकरण-इसमें “दु”                  दुर्गायैतमः इत्यादि अवैदिता                  सङ्गलाऽऽताभ का खण्डन और                  ओ३म् आदि शब्दों से ऋषि-                  संवत् सङ्गलाचरण का मण्डन                  किया गया है ॥ १२</p> <p>३-ओङ्कारप्रकरण-इसमें ओङ्कार                  के स्वाची जी लिखित अर्थाँ का                  सायङ्क्योपनिषद् में कहे प्रका-                  रानुसार मण्डन किया गया है ।                  निरुक्त और ऋग्वेदषष्ठ                  का सत्यार्थ करके ६० ति०                  भास्कर का अज्ञान दिखाया है ॥१</p> <p>* द्वितीयसमुल्लासमण्डन १८</p> <p>४-बालशिक्षाप्रकरण में-गर्भ से ही                  शिक्षा का मण्डन, भूतप्रेतादि                  तथा फलितज्योतिषादि ग्रह-                  भयखण्डन किया गया है ॥ १८</p>

सं०	विषय	पृष्ठ से	सं०	विषय	पृष्ठ से
५-	अग्निवादनप्रकरण- में नमस्ते आदि व्यवहार को वेदोक्त रीति से मण्डित और सृष्टाग्निमान की अकृष्टका खण्डन किया गया है ॥ ३८		११-	स्त्रीशूद्राध्ययनमण्डन, ( यथेसांवाचम् ) का ठीक अर्थ, स्त्रियों के वैदिकसंस्कार का मण्डन किया गया है ॥	५२
* तृतीयसमुल्लासमण्डन ३३			१२-	रुष्टिकमप्रकरण—	६३
६-	लक्ष्मी लक्ष्मी के ब्रह्मवर्षादि में जाति और राजव्यवस्था-इममें शास्त्रानुसार राजा का धर्म, क- न्याओं के भी ब्रह्मचर्य, वेदपाठ, आदि सिद्ध करके शङ्कराचार्य को एक शास्त्रार्थ में शङ्करविशि- षानुसार भारती को विदुषी होने का प्रमाण देकर स्त्रीशिक्षा का मण्डन किया गया है ॥ ३४		१३-	पठनपाठनप्रकरण-इममें पु- राणों के विषयुक्त होने का समाधान, सुहृत्त दिखाने का खण्डन किया गया है ॥	६४
७-	गायत्रीप्रकरण में स्वामी जी लिखित गायत्री के अर्थ की पु- ष्टि, भट्टेयखण्डन, और कुक- रूपतार्थ का खण्डन है ॥ ३८		१४-	पुराणेतिहासप्रकरण—	७३
८-	आगत्यप्रकरण में वेदानुसार आचमन का मण्डन, फफादि निवृत्ति का समाधान किया है ४३		१५-	तिलकादि अवैदिक चिन्हखण्डन ८०	
९-	द्विकाल सन्ध्यामण्डन, त्रिकाल सन्ध्या का आधुनिकपन ॥ ४५		* चतुर्थसमुल्लासमण्डन		
१०-	स्वाह्वार्थमण्डन, हवन से वायु- शुद्धि का वेदमन्त्रों से समाधान, मद्य मांस के हवन का खण्डन और पञ्चमहायज्ञ ॥	४७	१६-	वित्राहप्रकरण—	८१
			१७-	नियोगनिन्दा पर-उत्तर की सहाभारतोक्त निन्दितकथा १०९	
			१८-	वर्णव्यवस्था में गुणकर्मस्वभा- वानुसार व्यवस्थापन और जन्ममात्र की वर्णव्यवस्था दिखाने वाले ब्राह्मणों का ठीक ठीक अर्थ करके, विमा मानने का खण्डन किया गया है ॥	११३
			१९-	निन्दास्तुतिप्रकरण	११७
			२०-	देवता, ऋषि, पितर, इत्यादि संज्ञा का प्रकरण ॥	१२९
			२१-	आहुप्रकरण में २५ वेदमन्त्रों का अर्थ करके तथा अन्य प्रमाणों का भी ठीक २ अर्थ करके, ब्राह्मणादि को कराया भोजन	

सं०	विषय	पृष्ठ से	सं०	विषय	पृष्ठ से
	सृजितियों को पहुँचने का खण्डन किया गया है	१३८		दयालुता, जीवों के कर्मानुसार होने का सङ्गन है	१८८
२२	नियोगप्रकरण-इस में सन्, ऋग्वेद, निरुक्त, अथर्ववेद, कुष्मूक मृदुकी टीका, पाराशरीस्मृति, य-श्रवत्क्यस्मृति, वसिष्ठस्मृति, नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति, अमरकोष और उसकी टीका, इस सब प्रमाणों से नियोग-सङ्गन और राजा धेन से प्राचीन काल में भी नियोगप्रचार की सिद्धि (अन्यनिच्छेद्य सुतगे पतिं गत०) इस वेदवाक्य का वेद और निरुक्त से स्वाभी की लिखित अर्थ सिद्ध किया गया है।	१५८	२७-निराकारप्रकरण—		१८८
	* पञ्चमसमुल्लासमण्डन		२८-अवतारप्रकरण में परमेश्वर की निराकारता और अजन्मा होना, जीव का देह के साथ बन्धन, अद्वैतवाद का खण्डन, निरुक्त से ऋग्वेद में त्रित की कथा की भ्रान्ति का निवारण, दधीचिकथाभ्रान्तिनिवारण कर के अवतारवाद का खण्डन किया गया है ॥		१९२
२३-इस में सन्यासधर्म पर किये जा-क्षेपों का उत्तर ( विविधानिचरत्नानि ) इस का समाधान है	१८१		२९-सर्वशक्तिसत्यप्रकरण—		२१९
	* षष्ठसमुल्लासमण्डन		३०-पापनाशनाऽसंभवत्वप्रकरण—		२२३
२४-राजव्यवस्था का प्रकरण है	१८४		३१-जीवात्मस्वातन्त्र्यप्रकरण—		२३०
	* सप्तमसमुल्लासमण्डन	१८५	३२-जीवात्मलक्षणप्रकरण—		२३७
२५-देवताप्रकरण-इस में वेदोक्त ३३देवताओं का सङ्गन, पौराणिक ३०३३ देवताओं का सङ्गन है	१८५		३३-जीवात्मा की एकदेशीयता—		२४२
२६-ईश्वरप्रकरण-इस में ईश्वर की			३४-उपादानप्रकरण—		२४४
			३५-सहावाक्याऽऽज्ञासप्रकरण—		२४७
			३६-वेदप्राप्तिप्रकरण—		२५५
			३७-मन्त्रब्राह्मणप्रकरण—		२६१
			* अष्टमसमुल्लासमण्डन	२८१	
			३८-अद्वैतवादखण्डन—		२८१
			३९-आदिस्तुष्टिस्थानप्रकरण-इस में तिष्ठत में आदि सत्तुष्टिस्थिका समन्वय समाधान किया है=२८८		
			४०-(ब्राह्मणोक्त मुखवाक्रीत०) इस		

सं०	विषय	पृष्ठ से	सं०	विषय	पृष्ठ से
	मन्त्र पर विस्तारपूर्वक व्याख्या करके आधुनिक अर्थ के दोष दिखलाये हैं ॥	३०४	४८-वागमार्गप्रकरण	३६४	
४१-पृथिव्यादि लोकों का घूमना, पं० ज्वालामसाद की गणिताऽ-नभिज्ञता और विस्तारपूर्वक वेदों और प्राचीन ज्योतिष के प्रमाणों से पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना आदि ॥	३०९		५०-कालिदासप्रकरण	३६५	
* नवमसमुल्लासमण्डन ३१८			५१-रुद्राक्षप्रकरण	३६६	
४२ हम में भद्वैतखण्डन, सारलोक्यादि कर्ष प्रकार की मुक्तिका खण्डन मुक्तिसे पुनरावृत्तिका मण्डन है ३१८			५२-सह्याभारत में मिलावट	३६८	
* दशमसमुल्लासमण्डन ३६३			५३-पुराणों के देवतों में विरोध	३७०	
४३-९म में आचाराऽन्याचार विषय में छूतपात खण्डन और शूद्रा-ऽर्वाध पाकाऽधिकार का मण्डन सूत्रों से किया गया है ॥			५४-मूर्तिपूजामहाप्रकरण	३७१	
			५५-देवतों के आकार पर निरुक्त का विचार	३८१	
			५६-मूर्तिपूजापर १५युक्तियों का ख०	३८५	
			५७(देवतप्रतिमाहसन्ति०) का उत्तर	३८७	
			५८-जड़ोपासना के दोष	३९३	
			५९-शतपथ में पं० ज्वालामसादजी ने जो सह्यावीर रचना में (मूर्ति-निर्माणाय) पद अपनी ओर से मिठा दिया है, उस की पोल	३९८	
			६०-मूर्तिपूजा पर लिखे मन्त्रों का पदार्थ करके शुद्ध २ भावार्थ	४०४	
			६१-'मन्त्रपूर्वमहा०' की शङ्का का उत्तर	४०८	
			६२-वाल्मीकीय रामायण में प्रज्ञे	४१९	
			६३-तीर्थप्रकरण	४१९	
			६४-गुरुप्रकरण	४१७	
			६५-पुराणप्रकरण	४१७	
			६६-रथेनवायुवेगेन० का समाधान	४१९	
			६७-शुक्रदेव शिनेनागवधतनहीं सुनाई	४२०	
			६८-ग्रहणप्रकरण	४२३	
			६९-गुरुपुराणप्रकरण	४२७	
			७०-व्रतप्रकरण	४३२	
			७१-ब्रह्माण्डप्रकरण	४३३	
			७२-उपसंहार	४३६	

## उत्तरार्ध

### \* एकादशसमुल्लासमण्डन

४४-अनुसूक्तिका	३४५
४५-मन्त्र पढ़ने से द्रव्योत्पत्ति नहीं होती ॥	३४९
४६ शङ्करादिग्विजय से शैव शाक्तादि मतखण्डन	३५०
४७-शङ्कराचार्यकी विषयविद्याजाना	३५१
४८-जीव ब्रह्म का भेद	३५३

## ओ३म्

हम लोगनों की विदित हो कि संवत् १९५१ में मुम्बई वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय में "दयानन्दतिमिरभार" नामक पुस्तक, मुरादाबाद निवासी प० ज्योत्सना-प्रसाद मिश्र ने मुद्रित कराया है, जिस में उन्होंने श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराजकृत "सत्यार्थप्रकाश" के प्रकाश पर धूल फेंक कर बन्ध-कार फैलाने का उद्योग किया है परन्तु जिन लोगों को समझ है और जिन्होंने स्वामी जी का दर्शन किया है, उन से धर्मविषयक शङ्का निवृत्त की हैं, उन के रचे "सत्यार्थप्रकाश" आदि ग्रन्थ सत्यासत्य की खोज करने के लिये पढ़े हैं और उन के उपदेशों तथा पुस्तकों द्वारा सत्य वेदोक्त धर्म का स्वरूप जान लिया है, वे निस्सन्देह प्रचलित ईश्वर की मूर्तिपूजा आदि वेदविरुद्ध व्यवहारों को छोड़ चुके और इस प्रकार के लेखों से हम के अतिरिक्त और कुछ फल नहीं कि ग्रन्थकर्त्ता, एक धार्मिक पाहात्मा के लेखों में द्वेषभाव से व्याधोपा-रोपण करके अपने आप को घुराई का भागी बनावे। अथवा एक प्रसिद्ध पुरुष का प्रतिद्वन्द्वी बन कर केवल जनमानसनुष्ठानों में नाममात्र की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले। यद्यपि ऐसे लाघवसूचक पुस्तक कई बन चुके और सर्वसाधारण में उन का कुछ भी मान्य नहीं हुआ, ऐसी ही दशा इस की भी होती परन्तु मुम्बई के प्रसिद्ध पुस्तकविक्रेता "खेगराज श्रीकृष्णदास" के यहां मुद्रित होने और उन्होंने की विक्रय का अधिकार दे देने से एक बार भारतवर्ष और उस के आस पास के ब्रह्मा, आसाम और बिलोचिस्तान आदि देशों तक में इस का प्रचार होगया है, जिस से थोड़ी समझ के पुरुष धन में पड़ जाते हैं और संस्कृत न जानने वाले भार्य भी प्रायः संशयनिवृत्तपर्यं हम को पत्र लिखते हैं कि इस का खण्डन अवश्य शीघ्र छपना चाहिये ॥

यद्यपि हम को इस बात का कोई दुराग्रह नहीं है कि सत्यार्थप्रकाशादि स्वामी जी कृत पुस्तकों में भूल हो ही नहीं सकती। परन्तु जब तक यथार्थ में कोई भूल सिद्ध न हो जावे तब तक मनमाने अनुचित असत्य आक्षेपों का उत्तर देना आवश्यक जागते हैं। इसी कारण हम इस पुस्तक का खण्डन करते हुए भी यदि कहीं कोई सत्य आक्षेप देखेंगे तो उस पर लेखनों नहीं चढावेंगे। परन्तु इस पुस्तक में ऐसी भाषा न्यून ही है। क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने अत्यन्त ही पक्षपातपूर्वक पुस्तक लिखा है, जिस की मूलक तो पुस्तक के

नाम में भी सर्वनामरूप को आती होगी। भला ऐसे सामान्य पुस्तकों की ओर में पं० भूनाडन में विख्यात महात्मा के नाम "दयानन्दतिमिरपाहक" नामक पुस्तक लिखा जाना और उन का ऐसा उद्घाटन नाम रखना क्या थोड़े द्वेष को सूचित करता है? यदि पं० जगल प्रसाद जी सीधे सादे भावने गव-सम्बन्धी विश्राम से विरोध के कारण पुस्तक बनाते तो ईश्वरनाम प्रख्यात, सन्ध्या, अग्निहोत्र, ब्रह्मवय आदि विषय लखों पर तो लेखनी न चलाने क्योंकि ऐसे २ विषयों को तो सर्वसाधारण हिन्दू जानते ही हैं। परन्तु उन को तो यह कहावत चरितार्थ करनी थी कि—

### येन केन प्रकारेण कुर्यात्सर्वस्य खण्डनम्

जैसे बने वैसे सब का खण्डन करना। चाहे मृत्य हो चाहे जन्मत्य परन्तु संसार यह तो जाने ही था कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी इतने बड़े विद्वान् प्रसिद्ध थे, उन का खण्डन पं० जगलप्रसाद जी ने किया तो यह भी कोई बड़े विद्वान् होंगे। अब ऐसे ही कारणा से प्रसिद्धि का उपाय निकाला गया है—अस्तु। हम को इस में प्रयोजन नहीं। पं० जगलप्रसाद जी ने ११ मसूहों का खण्डन किया है। हम क्रमशः उन की समीक्षा करेंगे, अर्थात् यदि यथार्थ में कोई भूल सत्यार्थप्रकाश में होगी तो स्वीकार करेंगे और निश्चय शङ्काओं का निरास करेंगे, जिस से सर्वसाधारण को सत्यार्थप्रकाश के निर्गता का शुद्ध धर्मभाव प्रकट होकर वैदिकधर्म का प्रकाश होवे। इति ॥

मेरठ ९। ६। ९७ ई०

तुलसीराम स्वामी

### द्विरावृत्ति का निवेदन

हम इस की प्रथम मुद्रित पुस्तक निकल जाने में ग्राहकवर्ग की रुचि जानकर आज दूसरी बार छापना आरम्भ करते हैं, जिस में अवकाश कम होने पर भी जहां तहां नवीन संस्कार और शोधन भी करते जाते हैं ॥

तुलसीराम स्वामी

२०। १२। १७४

### त्रिरावृत्ति

में २० ति० भा० त्रिरावृत्ति के ६४ पृष्ठों तक के मोल्स का उत्तर बढ़ाया गया है ॥

तुलसीराम स्वामी

१५। ६। १३

ओ३म्

## अथ भास्करप्रकाशः

उवालाभासोपशमनं वा

ओ३म् । शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वयमा । शन्न  
इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे नमस्ते  
वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासित्त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि  
ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारम-  
वतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ओं शान्तिः ३ ॥ १ ॥

प्राणवृत्ति का और दिवस का अभिमानो देवता जो मित्र सो हम को  
सुखकारी हो इत्यादि अपना मनमाना अर्थ करके ८० ति० भा० पृष्ठ २ पं०  
३ । ४ में पं० उवालाभासाद् जी लिखते हैं कि "दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश  
में हम का अन्यथा व्याख्यान किया है सो त्याज्य है" ॥ २ । ५

प्रत्युत्तर—स्वा० दया० जी ने जितने हेतु अपने अर्थ की पुष्टि में दिये हैं  
उन का खण्डन किये बिना, केवल " त्याज्य है " कहने से त्याज्य नहीं हो  
सकता । स्वामी जी ने प्रकरण का बल दिया है कि स्तुति प्रार्थना उपासना  
को प्रकरण में मित्रादि \* नामों से ईश्वर ही का ग्रहण योग्य है, जिस को

\* ८० ति० भा० पृष्ठ २ में यजुः ३ । ३१ व ३३ के प्रमाण से मित्रादि  
३ देवता लिये हैं, सो ती प्रकरण में स्वामी जी भी प्राणादि का नाम मा-  
नते हैं, किन्तु स्वामी जी कुन ईश्वरार्थ में शङ्करभाष्यसहित वेदान्त सूत्र १ ।  
१ । २२, २३, २८ तथा १ । २ । ८, २४, २८ तथा १ । ३ । ८, १० और इन का  
शारीरकभाष्य, ज्ञानती, रत्नप्रभा और न्यायनिर्णय सब एक स्वर से " न  
देवताभूतं च " का व्याख्यान करके देवतार्थ का निषेध करते हैं । विस्तार से  
हमारा बनाया वेदान्तभाष्य देखिये ॥

सन्तोंने विस्तारपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में निदु किया है और उस का उत्तर आप ने कुछ भी नहीं लिखा । यदि ऐसा ही खण्डन जागे २ भी चला तो “ दाता बेली ” है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २ पं० १९ से—समीक्षा—इस लेख ( सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के ) से पहिला सत्यार्थप्र० गुजराती भाषा मिश्रित विदित होता है किन्तु इस में कोई गुजराती भाषा का शब्द पाया नहीं जाता भला वह तो अशुद्ध होचुका पर अब यह तो आप के लेखानुसार सम्पूर्ण ही शुद्ध है क्योंकि इस के बनाने के पूर्व न तो आप को लिखना ही आता था न शुद्ध भाषा ही बोलनी आती थी, इस से यह भी सिद्ध होता है कि इस सत्यार्थ से पूर्वचिंत वेदभाष्यभूमिका तथा यजुर्वेदादि भाष्यों की भाषा भी शुद्ध होगी इत्यादि ॥ २। २५ ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि जन्मभूमि की गुजराती भाषा होने से इस में उस का मेल होगया किन्तु वे स्पष्ट लिखते हैं कि मातृभाषा गुजराती थी और सम्प्रति संस्कृत ही बोलने आदि का काम था क्योंकि इस देश के लोगों के साथ ( जहां लेखकों को सत्यार्थप्रकाश बोल कर तात्पर्य समझा कर लिखाया ) संस्कृत ही में काम चलाया जाता था, अतः समझने समझाने में भूल होकर तात्पर्य ठीक २ न रहा । बहुत लोगों ने देखा है, वे अब तक वत्समान हैं कि स्वामी जी महाराज आर्यमताओं के स्थापन से पूर्व दिगम्बर हो गङ्गातट पर विचरा करते और संस्कृत का ही भाषण करते तथा संस्कृत में ही सेवा कृतमङ्गादि करने वालों को वैदिकधर्म का उपदेश तथा वेदविद्वद्गतों का खण्डन भी किया करते थे । उसी समय राजा जयरुष्णदास जी ने यह समझ कर कि इन के पवित्र विचार से लेख-द्वारा दूरदेशवर्ती लोगों का भी उपकार हो सकता है, प्रथम सत्यार्थप्रकाश काशी में छपवाया था । उस समय तक स्वामी जी गङ्गातटादि विविक्तस्थानों में ही प्रायः रहते थे यही कारण था कि भाषादि को अच्छे प्रकार न जांच पाये । और यह भी विदित रहे कि प्रथम का सत्यार्थप्रकाश लेख के समय से बहुत पीछे छपा । और भूमिका वा वेदभाष्य एक तो लिखने के थोड़े ही काश पीछे छपे और वे पुस्तक ( असिल ) मूल संस्कृत में स्वामी जी ने बोल २ कर लेखकों को लिखाये फिर उन की भाषा नीकर पण्डितों ने की । इस लिये ऊपर लिखा भाक्षर निर्मूल है ॥



स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोक्षरः स परमः स्वराट् ।  
स इन्द्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ॥ कैवल्योपनिषद् ॥

इस प्रमाण से जो स्वामी जी ने ब्रह्मा विष्णु आदि परमात्मा के नाम सिद्ध किये हैं इस पर पं० ज्वालाप्रसाद जी द० ति० १९०० पृष्ठ ३ पं० ५ से लिखते हैं कि—“अन्य है स्वामी जी आप ती दश ही उपनिषद् मागते थे आज मतलब पढ़ा ती कैवल्य भी मान बैठे । और बिना प्रमाण फिर ब्रह्मा विष्णु आदि को पूर्वज विद्वान् बताया । और आप का यह अर्थ भी अशुद्ध है कि वही ब्रह्मा वही विष्णु आदि है,” शुद्ध अर्थ यह है कि “वह ब्रह्मा रूप होकर जगत् की रचना करता, विष्णुरूप हो पालन करता” इत्यादि । और ब्रह्मा शिव आदि पूर्वज विद्वान् थे ती किस के पुत्र थे ? यदि कहो कि स्वयं उत्पन्न हो गये ती आप का सृष्टिकर्म जाता रहेगा कि बिना पितर के मनुष्य नहीं उत्पन्न होता इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—कैवल्य उपनिषद् क्या ! आप के सम्मुख ती अज्ञोपनिषद् का भी प्रमाण दिया जा सक्ता है क्योंकि आप उन को मानते हैं । जब कि “इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः” इत्यादि वेदगन्त्रों से स्वामी जी सिद्ध कर चुके कि ये सब नाम प्रार्थनोपासनाप्रकरण में ईश्वर के हैं ती फिर वेद के अनुकूल चाहे जिस उपनिषद् वा अन्य किसी ग्रन्थ का प्रमाण अमान्य नहीं होसक्ता । और आप का ती सत्य ही नहीं है कि जिन पुस्तकों को आप मानते हैं उन में से किसी के वाक्य को भी न माने । क्योंकि आप के मत में ती “संस्कृतं प्रमाणम्” है । दूसरी बात का समाधान यह है कि ब्रह्मा विष्णु आदि पूर्वज पुरुषविशेष देहधारी थे, यह बात ती सब हिन्दू मानते ही हैं, पुराणों और इतिहासों में उन के जन्मादि चरित्र वर्णित ही हैं, इस विषय में स्वामी जी को प्रमाण देने की आवश्यकता न थी क्योंकि सिद्ध को सिद्ध करना विष्टपेय है । ब्रह्मा जी आदि को देहधारी ती स्वयं ही लोग मानते हैं, हां, ब्रह्मा आदि नाम परमात्मा के भी हैं, इस विषय को लोग नहीं मानते थे, अतः स्वामी जी ने वेदों, मनुस्मृति और लोगों के माने हुये कैवल्योपनिषद् से भी यह सिद्ध कर दिया कि ये नाम परमात्मा के भी हैं । आप जी अर्थ करते हैं कि “वह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है” इत्यादि, यह आप का अर्थ असरार्थ में नहीं मिलता क्योंकि “स ब्रह्मा

म विष्णुः" इत्यादि का सीधा अक्षरार्थ यह है कि सः=यह, ब्रह्मा=ब्रह्मा है। सः=वह, विष्णुः=विष्णु है। इत्यादि। आप बताइये कि "म ब्रह्मा" का यह अर्थ कैसे हो गया कि "वोह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है" क्योंकि मूल में 'रूप होकर' यह अर्थ किसी पद से नहीं निकलता, अतः स्वामी जी का अर्थ ठीक और आप ही का भेटीक है और विना पिता के पुत्र नहीं होता, यह नियम सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् का है किन्तु सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ही सृष्टि के पिता होते हैं और आरम्भ का वही नियम है। स्वामी जी का लेख भङ्ग की तरङ्ग नहीं है किन्तु जीवनचरित्र में यदि बाल्यावस्था का भङ्ग पीने का कृतान्त लिखा होगा तो वह आप ही के माननीय भोजानाथ पार्वतीश की सामयिक उपसना का फल होगा, जिस के लिये पार्वती १२ वर्ष तक चोटती है, तब भी फोन अवश रहता है। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो भांग चरस आदि पीने वाले अपने पौराणिकों से पूछ लीजिये ॥

द० ति० भा० पृ० ३ पं० १८ से पृ० ५ पं० १३ तक स्वामी जी के सत्यार्थ-प्रकाश से नारायणादि परमेश्वर के १०० नामों में की व्याख्या उद्धृत की है जिन पर पं० ज्वालाप्रसाद जी ने कुछ उत्तर स्वयं ही नहीं लिखा, माने उस का स्वीकार ही कर लिया है इस लिये प्रत्युत्तर की आवश्यकता ही नहीं ॥

—:~:~:~:—

### मङ्गलाचरण

मङ्गलाचरण में द० ति० भा० पृष्ठ ५ से ७ तक इतने तर्क हैं:—

१-मङ्गलाचरण को आप नहीं मानते तो स्वयं "शब्दोमित्रादि" से मङ्गलाचरण क्यों किया ?

प्रत्युत्तर-स्वामी जी तान्त्रिकादि लोगों की परिपाटी "शैरवाय नमः, दुर्गायै नमः, हनुमते नमः।" इत्यादि का खड्डन करते हैं। ऋषि लोगों की परिपाटी "अथ" आदि से मङ्गलाचरण करना अच्छा मानते हैं, अतः ऋषिपरिपाटी से उन्होंने ने मङ्गलाचरण किया ॥

२-यदि आप आदि सध्य अन्त में मङ्गलाचरण करने से बीच में के भाग को अमङ्गलाचरण समझते हैं तो क्या सत्यार्थप्रकाश वेदाभाष्यादि पुस्तकों में भी मङ्गलाचरण आदि सध्य अन्त में आप ने किया सो क्या आप के पुस्तकों

का शेष भाग भी मङ्गलाचरण है ? सत्य है । अरब ने जो पोप आदि तुर्क-चग लिखे हैं वे वेद में कहीं विहित नहीं इस से मङ्गल ही हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने आदि गज्ज अन्त में क्षयपरिपाटी से मङ्गला-चरण किया और बीच २ में भी सर्वत्र असत्यसङ्गण और सत्यसङ्गण मङ्गलाचरण ही किया है । उन्होंने जे जोपादि शब्दों का प्रयोग भी सर्वसाधारण को धाँके से बचाने के लिये किया है, अतः वह भी मङ्गलाचरण ही है ॥

३—क्या स्वामी जी को परमेश्वर के कुछ नाम प्रिय और कुछ अप्रिय हैं ? जो “नारायणाय नमः । शिवाय नमः । सरस्वत्यै नमः” इत्यादि नामों को परमेश्वर का नाम बता कर भी इन नामों से मङ्गलाचरण का निषेध करते हैं ?

प्रत्युत्तर—निस्संदेह ये नाम परमेश्वर के ही हैं परन्तु स्वामी जी के समय में लोक में इन नामों से विशेष कर के पूर्वज पुरुषविशेषों का और वेदविरुद्ध अवतारों का ग्रहण करने का बहुत प्रचार था और है । अतः स्वामी जी ने यह समझ कर इन नामों से मङ्गलाचरण को रोका कि लोक में अवतार-वादि की कथा प्रचलित होकर वेदविरुद्ध मत मत्तान्तर फैलते गये और फैलते जाते हैं, जहाँ तक होसके मङ्गलाचरणादि से भी वेसे अशुद्ध संस्कारों की पुष्टि न हो, इस धिये ऐसा किया । उन को परमात्मा का कोई अप्रिय नाम न था ॥

४—क्या “स्मृ” कीटायाम् धातु से “राम” और “हृ” धातु से हरि शब्द सिद्ध नहीं होता ? फिर क्यों राम और हरि शब्दों को भुजा समझते हैं ? और “कृषिर्भूवाचकः शब्दोऽख्यः निर्द्वैतवाचकः । तयोरेक्यं परंभाम कृष्ण इत्यभिधीयते” इस प्रकार कृष्ण के गर्भ भी तो ईश्वर ही की हैं फिर इन के क्यों मङ्गलाचरणादि न किये जायें ॥

प्रत्युत्तर—राम, कृष्ण, हरि आदि शब्द चाहे व्याकरण से किसी प्रकार खँचातानी करके ईश्वराखँवाचक सिद्ध भी होजायें परन्तु इन शब्दों से वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर का ग्रहण नहीं करते पाये हैं, इस लिये स्वामी जी ने ऐसा किया और “कृष्ण” शब्द की व्युत्पत्ति तो आपने किसी व्याकरण से की भी नहीं ? क्या आप किसी व्याकरण वा निरुक्त में “कृषिर्भूवाचकः” आदि अपनी लिखी कारिका को दिखा सकते हैं ?

५—स्वामी जी ने प्राचीनग्रन्थों से ही विष्णुसहस्रनामादि द्वारा ईश्वर

के १००० नाम क्यों न लेलिये, अपने १०० नामों की ठयाख्या भिन्न क्यों की ? इस लिये कि हमारे मत में आर्यलोग इसी गई रीति पर चले ॥

प्रत्युत्तर-विष्णुसहस्रनाम के साथ गोपालसहस्रनाम भी ती है, उसे क्यों छोड़ते हो । क्या इस लिये कि उस में ती-

### “चोरजारशिखामणिः”

यह भी परमेश्वर का नाम है । बन रहने दीजिये, विष्णुसहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम, गीतगोविन्द आदि का भेद न खलवाइये और विदेशियों से हमी न कराइये । स्वामी जी ती आप के घर का भेद खूब जानते थे और आप की शुभचिन्तकता से केवल दिग्दर्शनमात्र ही पोल खोली है । यदि स्वामी जी वा हम लोग आप की तरह करते वा करें ती वही दशा हो जो “स्वर्ग में सठजेकटकमेटी” से भले कार भलकती है । बस इन्ही बखेड़ों को स्वामी जी उचाहना नहीं चाहते थे, अतएव उन्होंने गोपालसहस्रनामादि पर उपेक्षा ही की ॥

६-अपि पुस्तकों में के “ओ३म्” वा “अप” शब्द वेद के अनुकूल कैसे हैं ?

प्रत्युत्तर-यह आप का काम है कि आप इन शब्दों को वेदविरुद्ध सिद्ध करें । ओं खम्ब्रह्म । यजुः अध्याय ४० आदि शतशः प्रकरणों में ओमादि नाम जो आर्ष ग्रन्थों में आये हैं, उपस्थित हैं । नहीं ती आप मतलाइये किराम कृष्ण हरि आदि नाम वेद में कहां ईश्वरवाचक आये हैं ?

७-जीवनचरित्र में भालू मिला था इत्यादि ठठोल का प्रत्युत्तर देना असम्भ्यता है अतः तूष्णींभाव ठीक है ॥

### ओङ्कारप्रकरण-

२० ति० भा० एव ७ पं० २६ से लिखा है कि ओङ्कार की ३ मात्राओं से जो अर्थ स्वामी जी ने लिये हैं वे किसी मन्त्र, ब्राह्मण, शास्त्र, पुराण से नहीं मिलते इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-हम अन्य प्रमाण के लिखने की आवश्यकता नहीं समझते किन्तु जो मन्त्र आप ने प्रमाण दिया है और उस का निरुक्तपरिशिष्ट तथा भाष्य लिखा है, वही स्वामी जी के अर्थों की पुष्टि करता है । आप ने ती केवल मन्त्र, निरुक्त, भाष्य लिख दिया परन्तु यह न विचारा कि यह ती सब स्वामी जी के अर्थ की पुष्टि करता है । यथा-

### मन्त्र—

ऋचो अक्षरे परमे व्यामन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे विषेदुः ।

यस्तन्न वेद किमुचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समासते ॥

( ऋ० सं० १ मू० १६४ सं० ३९ )

### निरुक्त-परिशिष्ट

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वा  
यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समा-  
सते इति विदुष उपदिशति । कतमत्तदेतदक्षरमित्येषा  
वागिति शाकपूणिर्ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते  
नानादेश्वेषु च मन्त्रेषु । एतद् वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं  
विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम् । निरु० अ० १३ ख० १० ॥

पं० ज्ञानालाप्रसाद जी ने जहाँ से इस मन्त्र का निरुक्त आरम्भ हुआ है वहाँ से कुछ छोड़ कर “ इति विदुष उपदिशति ” यहाँ से ही लिखा है तथापि इस से उन की प्रयोजनसिद्धि न हुई, प्रत्युत स्वामी जी का ही तात्पर्य सिद्ध होता है ॥

### मन्त्र का निरुक्तस्थ अर्थ—

यद्यपि निरुक्तकार ने इस का दूसरा अर्थ आगे सूर्यविषयक भी किया है परन्तु हम प्रथम जिस ओङ्कारविषयक अर्थ को निरुक्तकार ने ब्राह्मण का प्रमाण देकर लिखा है उसी को पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं:—

( ऋचः ) ऋचार्ये, ( अक्षरे परमे व्यवने ) जन्मिनाशी परम रक्षक में ( य-  
स्मिन्मर्षे देवाः [ अधिनिषण्णाः ] जिस में सब दिव्यगुण स्थित हैं, [ उसी में  
स्थित हैं ] ( यस्तन्न वेद ) जो उस को नहीं जानता ( स ऋचा किं करिष्यति  
वह ऋचा से क्या करेगा ( य इत्तद्विदुस्तइमे समासते इति विदुष उपदिशति )  
“य इत्तद्वि०” इस से विद्वानों को उपदेश करता है कि—(कतमत्तदेतदक्षरम्)  
कीनसा वह अक्षर ? ( अधिनिषेवा वागिति शाकपूणिः ) शाकपूणि आचार्य  
उत्तर देते हैं कि “ गोइम्” यह वाणी है ) । ( ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने

धीयन्ते ) और ऋचायें निश्चय अविनाशी परम रत्नक में धारित हैं (नाना देवतेषु च मन्त्रेषु ) अनेक [ अग्न्यादि ] देवता वाले मन्त्रों में ( एतद्देवाए- तदक्षरम् ) यही है वह यही अक्षर है ( यत्सर्वा त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीनि ब्राह्मणम् ) जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या के प्रति ( बराबर ) है, ऐसा ब्राह्मण में लिखा है ॥

ऊपर लिखे निरुक्त के ( नानादेवतेषु मन्त्रेषु एतद्देवा० ) अर्थात् अनेक देवता वाले मन्त्रों में यही ओङ्कार अक्षर है । इस से स्पष्ट है कि वेद में जो “अग्निसांहे पुरोहितम्०” इत्यादि अग्निदेवत मन्त्र हैं वा वायु आदि देवतां वाले मन्त्र हैं उन का मुख्य तात्पर्य अग्न्यादि पदों से ओङ्कार ही है अर्थात् अग्न्यादि पदों से स्तुतिप्रार्थनोपासना प्रकरणों में वेद, परमेश्वर ही को बोधित करता है ॥

अब इस मन्त्र और निरुक्त से इतना तो सिद्ध हो ही गया कि वेदों में अग्न्यादि नाना देवता का तात्पर्य ओ३म् है इन लिये अग्न्यादि बहुत से अर्थ जो स्वामी जी ने ओ३म् से लिये हैं, वे युक्त हैं । अब हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि द० ति० भा० पृष्ठ० ८ संस्कृतभाष्य पं० १२ में “अग्निः” पं० १३ में “वायुः” और पं० १३-१४ में “आदित्यः” ये अर्थ स्वयं पं० उवाला प्रसाद लिखते हैं और भाषा पृष्ठ ९ पं० ६ में वही “अग्नि” पं० ७ में “वायु” और पं० ८ में “आदित्य” शब्द ओङ्कार की व्याख्या में उपस्थित है तब स-त्यार्थप्रकाश में लिखे अ, उ, मू, के अग्नि, वायु, आदित्य अर्थों में क्या भुन मिल गया और स्वामी जी ने जो अकार से विराट् अग्नि विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ वायु तेजसादि और मकार से ईश्वर आदित्य प्राज्ञादि अर्थ लिये हैं सो सावधान रूपनिषद् के निम्न लिखित वाक्यों से स्पष्ट निकलते हैं ॥ यथा—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा० ॥

जागरितस्थान=विराट् । वैश्वानर=अग्नि अकार पहली मात्रा ॥

स्वप्नस्थानस्तैजसउकारो द्वितीया मात्रा० ॥

स्वप्नस्थान=हिरण्यगर्भ । तैजस=तेजस उकार दूसरी मात्रा ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा० ॥

सुषुप्तस्थान=ईश्वर । प्राज्ञ=प्राज्ञ मकार तीसरी मात्रा ॥

देखना चाहिये कि सायङ्मुख के ऊपर लिखे वाक्यों में विष्णुवर तैजस और प्राज्ञ ये तीन अर्थ कण से ज, उ, म, के बीचे ही लिखे हैं जैसे स्वामी जी ने लिखा है। और स्वयं पं० उवाला० जी ही जो ज़रा ठयाख्या बढ़ाकर पाण्डित्य में गणना होने के लिये १० ति० भा० पृ० १० वा ११ में इन्हीं सायङ्मुखवाक्यों का अर्थ कुछक चपले से में गिलाकर वही अग्नि तैजस और प्राज्ञ अर्थ करते हैं और करें केसे ना ! मूल में वे शब्द उपस्थित हैं ॥

इस प्रकार यह ओ३म् का व्याख्यान स्वामी जी कृत और सायङ्मुख तथा १० ति० भा० में एकसा ही होने से वादी अपने आप ही परास्त होता है। हां एक बात शेष है, यद्यपि वह बात सत्यार्थप्रकाश के खखन मखन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती तथापि ओ३म् की चतुर्थमात्रा जो ज, उ, म का अवसान है, उस पर सायङ्मुख का वाक्य और शङ्करमतानुसार अर्थ कर के पं० उवाला० जी ने जो कुछ लिखा है उस से पाठकों को अद्वैतवाद की झलक आयेगी, जो अद्वैतवाद (जीव ब्रह्म की एकता) हमारी समझ में वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है, अतः इस भी पाठकों के अननिरासार्थ नीचे वह सायङ्मुखवाक्य और उस का स्पष्ट अक्षरार्थ किये देते हैं। यथा—

**अमात्रश्चतुर्थीव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥**

सायङ्मुखोपनि० ॥

( अमात्रश्चतुर्थीव्यवहार्यः ) बिना मात्रा चौथा [ अवसान ] किन्नी शब्द से व्यवहार में नहीं आसक्ता (प्रपञ्चोपशमः) उस में प्रपञ्च=जगत् का उपशम=लय है (शिवः) वह कल्याणमय है (अद्वैतः) वह अद्वितीय है अर्थात् उस के सदृश कोई नहीं। (एवमोङ्कारः) इस प्रकार का ओ३म् है। (य एवं वेद) जो ऐसे जानता है वह ( आत्मैव आत्मनात्मानं संविशति ) आप ही अपने स्वरूप से परमात्मा को संवेश करता है—ब्रह्म को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है ॥

बिना खेचातानी के सीधा अक्षरार्थ यही है, परन्तु केवल “अद्वैतः” के भाते ही पं० उवालाप्रसाद जी खिंच गये। अद्वैत शब्द का सुगम अर्थ सब कोई समझ सकता है कि “जिस के सदृश कोई न हो”। यह तात्पर्य नहीं निकल सका वा खेच राग से निकलता है कि “उस के अतिरिक्त कुछ न हो” ॥

यह ओङ्कार की व्याख्या और १० ति० भा० के प्रथम समुद्भास का खखन समाप्त हुआ ॥

ओं३म्

## अथ द० ति० भास्करस्य द्वितीयसमुल्लासखण्डनम्

द० ति० भा० पृ० १३ पं० ३ में स्वामी जी के लेख ( धन्य वह माता जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, सुशीलता का उपदेश करे ) पर आक्षेप करते हैं कि गर्भाधान से सुशीलता का उपदेश अपम्भव है ॥

प्रत्युत्तर—क्या आप नहीं जानते कि:—

**आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**

आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि और सत्त्व की शुद्धि में स्मृति निश्चल होती है । अर्थात् खाने पीने आदि व्यवहारों का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है और माता के अङ्गों से सन्तान के अङ्ग बनते हैं । यथा—

**अङ्गादङ्गात्संस्त्रयसि हृदयादधि जायसे ॥**

हे पुत्र ! तू अङ्ग २ में टपकता और हृदय से अधिकृत हो उत्पन्न होता है । जब कि माता के अङ्ग २ में सन्तान के अङ्ग बनते और माता की भोज-नादि व्यवस्था का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है तब गर्भाधन में ही लेकर माता के अच्छे व्यवहारों का प्रभाव होकर सन्तान अवश्य सुशील हो सकती है । दूसरी बात यह है कि जब आप पुराणों को मानते हैं और उन में नारद ने अपनी गर्भावस्था में ज्ञानोपदेश पाने का वृत्तान्त कहा है तो आप किस मुंह से इस विषय में शङ्का करते हैं ?

सत्पाथेप्र० पृ० ९८ पं० १६ जैसा ऋतुगमन की विधि का सुगम है, रजोदर्शन के ५ वें दिन से १६ वें तक ऋतुदान का समय है । प्रथम ४ दिन त्याज्य हैं शेष १२ में एकादशी त्रयोदशी छोड़ शेष दिनों में ऋतुदान दे । इस पर—

द० ति० भा० पृ० १३ पं० १३ से लिखा है कि क्या यह लेख ज्योतिष-विद्या से सम्बन्ध रखता है या नहीं ? मनु ने त्याज्य रात्रियों में दुष्टमन्त्राग और श्रेष्ठरात्रियों में श्रेष्ठ तथा युगम में पुत्र वयुगम में पुत्री का जन्म लिखा है जिसे आप फल को नहीं मानते तो भी गुप्त २ लिखते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस मनु और स्वामी जी के लेख का फलित ज्योतिष के साथ सम्बन्ध नहीं । रजोदर्शन से १३ वीं ११ वीं रात्रियों और युगमायुगम रात्रियों तथा प्रथम की ४ रात्रियों का बिचार पदार्थविद्या से सम्बन्ध है । फलित ज्योतिष तो बहुधा गणितशास्त्र तथा पदार्थविद्या का विरोधी होने से तय ज्य हो है । जैसा कि “जातकामरण” में—



पञ्चाशीतिर्भवेदायुर्वैशाखस्याद्यपक्षके ।

सार्पेऽष्टम्यां भृगोर्वारि निभनं पूर्वयामके ॥

मेषादि राशि में जन्मने वालों की आयु बताते हुए कहते हैं कि “तुला राशि वाले की मृत्यु ८५ वर्ष में वैशाख कृष्णा ८ भृगुवार अश्लेषा नक्षत्र पूर्वप्रहर में हो ” । अब इन फलित वाक्यों से पंखना चाहिये कि ममस्त ज्योतिष ( गणित ) का सिद्धान्त यह है और ऐसा ही तिथिपत्रों में होता है और नक्षत्रों के नाम पर सहीनों के नाम का कारण यही है कि वह नक्षत्र उस सहीने को पीणंगाभी वा उस के एक दिन आगे पीछे आता है । इसी भाव्य पर पाणिनि मुनि का सूत्र भी है । यथा—सास्मिन्पीणंगासीति ४ । २ । २१ जैसे कि चित्रानक्षत्र की पीणंगाभी वाला “ चैत्र ” कहाता है इसी प्रकार विशाखा से वैशाख, जंष्टा से ज्येष्ठ, आषाढा से आषाढ़ और श्रवण से श्रावणादि जानते । विचारना चाहिये कि जब चैत्र की पीणंगा की चित्रा हो तो वैशाख कृष्णा ८ को अभिजित् वा श्रवण हो सकता है जो चित्रा में ९ वां है, परन्तु ऊपर के लिखे श्लोक में अश्लेषा लिखा है जो चित्रा में २२ वां है जो कभी वैशाख कृ० ८ में आवेगा ही नहीं । जब इस प्रकार का जन्धेर असंख्य जगहों में गवीनकल्पित फलितग्रन्थों में उपस्थित है तो भला इन के रचने वालों की पदार्थविद्या और गणित ज्योतिष कहा जाता था ? और इन के मानने वाले दिन धोली शब्दकार में क्या नहीं जा रहे हैं ? अवश्य जा रहे हैं ॥

मत्पार्थप्र० में जो सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् स्त्री को मङ्गोच और पुरुष को स्तम्भान का उपदेश है जिस से दूमरे सन्तान छुट पुष्ट होकर भारोग्र रह कर धर्म अर्थ दान मोक्ष की प्राप्ति कर सकें । इस पर—

८० लि० सा० पृ० १३ पं० २१ से ठठोलबाजी की है जो ग्रन्थकर्ता का स्वभाव है कि—आप ने कोई भीषण न बता दिया जिस से विषयी स्त्री पुरुष आप से प्रसन्न होते हत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी महाराज ने तो स्पष्ट लिख भी दिया है कि—“पुनः सन्तान जितने होंगे वे सब उत्तम होंगे” मत्पार्थप्र० पृ० २९ पं० २१ में, परन्तु आपने पं० २० लिख २१ को जान बूझ कर छोड़ दिया और उलटा फल निकालने लगे कि “विषयी लोग प्रसन्न होते” । भीषण वैद्यकशास्त्र में लिखे ही हैं उन के लिखने की आवश्यकता न थी, अतः स्वामी जी ने शिक्षागान्न करदी ॥

सप्तवार्षेय १० पृ० ३० में जो “उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य-  
क्षीणतादि होते हैं” लिखा है। इस पर:-

२० ति० भा० पृ० १३ पं० २९ से लिखा है कि-जब माता पुत्र को यह  
शिक्षा करेगी तब निर्लज्जता होगी इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जो २ बातें सन्तानों की हानिकारक हों उन २ से मर्चेत करना  
बर्तों का ही काम है। यदि इस प्रकार हितकारक उपदेशों में सङ्कोच किया  
जाये तो सन्तानों की बड़ी दुर्दशा हो। जैसी कि आज कल हो भी रही  
है। परन्तु आप को इस से क्या प्रयोजन! आप तो “गणानां त्वा” आदि  
के सङ्गीधर भाष्य \* को लज्जा का रक्त समझते हैं ॥

२० ति० भा० पृ० १४ पं० ३ से लिखते हैं कि-स्वामी जी ने जो भूत  
प्रेमादि का खण्डन करने में मनु का यह श्लोक लिखा है कि--

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ मनुः ॥

अर्थात् जब गुरु मर जाये तो शिष्य, मृतक के उठाने वालों के साथ दश  
दिन में शुद्ध होता है। इस पर पं० ज्ञानल प्रसाद जी लिखते हैं कि-स्वामीजी  
जब कोई बात बताते हैं तो कोई श्लोक लिख कर उस का अर्थ उलटा कर  
देते हैं। इस श्लोक में ( पितृमेधं समाचरन् ) का अर्थ ही नहीं किया इस  
का यह अर्थ है कि- जब गुरु का शरीर छूट जाये तो शिष्य गुरु की अन्त्येष्टि  
क्रिया पिण्डादि विधान करता हुआ मृतक के उठाने वालों के साथ १० वें  
दिन शुद्ध होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- ठीक ध्यान देकर पढ़िये, स्वामीजी ने ( पितृमेधं समाचरन् )  
का अर्थ “दाह करानेहारा शिष्य” यह स्पष्ट लिखा है और दाहक्रिया ही  
पितृमेध है। पिण्डादिका नाम पितृमेध तो आपने उल्लिखित, अक्षरार्थ  
वही है जो स्वामी जी ने लिखा है। और मूल बात तो यह थी कि स्वामी  
जी इस श्लोक से यह दिखलाते हैं कि यदि प्रेत कोई ऐसी वस्तु होती जैसी  
आज कुछ लोग मानते हैं तो इस श्लोक में आये “प्रेतहारैः” पद से विरोध

\* इस का उत्तर न देकर “वाचते शुन्धानि” इस मन्त्र के स्वागिभाष्य  
का उपासम्भ दिया है, जो निर्मूल है। उस भाष्य में अक्षील शब्द स्वामी  
जी ने मूलविरुद्ध कुछ नहीं बढ़ाया ॥

जाता है “प्रेतहारैः” का अर्थ यह है कि “प्रेत-मृतक (लाश) को उठाने वालों के साथ” और यही अर्थ आप करते हैं, तो आपने भी सिद्ध ही माना कि प्रेत (लाश) को उठाने वाले “प्रेतहारैः” का अर्थ है। अर्थात् मनु के इस श्लोक में आये हुए ‘प्रेत’ शब्द का अर्थ तो आप ही स्वामीजी के समान “मृतक शरीर” ही मानते हैं तब स्वामी जी पर आपका कोई आक्षेप नहीं होपका। यह दूसरी बात है कि आप भूत प्रेतादि की सिद्धि में कोई अन्य प्रमाण दें। आगे जो प्रमाण आप ने दिये हैं हम उनका प्रतिवाद करेंगे और स्वामी जी ने जो “भूत” का अर्थ “होचुका” किया है सो ती निर्विवाद ही है। परन्तु स्वामी जी ने प्रकरणविरुद्ध कालवाचक “भूत” का अर्थ नहीं किया किन्तु भूतकाल में वह प्राणी देहधारी था, ऐसा मान कर जो एक समय जीवित था वह मरने पर “भूत”-“होचुका” कहाता है। कोई योनिविशेष, जैसी कि पीराणिक मानते हैं, नहीं है। और यह कि स्वामी भी सरगये जब उनके पीछे आये लोग परमहंस के साथ “भूत” पदवी लगाया करें। इसलिये ठयर्थ है कि जैसे मनुष्यमात्र के साथ मनुष्यपद लगा कर बोलना ठयर्थ है, इसी प्रकार मरे हुए सभी जब भूत कहते हैं, चाहे स्वामी जी हों चाहे हमारे आप के और संसार भरके भूत-पूर्व बड़े हों, तब उनके पीछे भूत पदवी लगाना ठयर्थ है। क्योंकि वह मनुष्य विशेष के साथ मनुष्यपद सामान्य लगाने के समान कुछ अर्थसाधक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० १४ पं० २७ से लिखते हैं कि-देखिये मनु वेद चरक सुश्रुत आदि से आप को दिखाते हैं ॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्

सर्पांसुपर्णांश्च पितृणां च पृथक् गणान् ॥ मनु० १ ॥ ३७

यक्ष, राज्ञस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सर्प, गरुड और पितृगणों को भी ब्रह्मा ने उदपन्न किया ॥

प्रत्युत्तर-कृपा करके इस श्लोक से पूर्व के ४ श्लोकों को और सुन लीजिये तब आपको विदित होजायगा कि यह श्लोक और इस का अर्थ क्या हुआ गया-

तपस्तप्त्वासृजदन्तु स स्वयं पुरुषोविराट् ।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिमृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।  
 पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितोदश ॥ ३४ ॥  
 अरीचिमत्रयङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।  
 प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥  
 एते मनूस्तु सप्तान्यामसृजन्भूरितेजसः ।  
 देवान्देवतिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥  
 यक्षराक्षसपिशाचांश्चेत्यादि ॥ ३७ ॥

अर्थ—परन्तु उस विराट् पुरुष ने स्वयं तप करके जिसे उत्पन्न किया, हे द्विजो ! वह इस मय का स्रष्टा मैं हूँ, यह जानो ( स्वयंभुव गनु का वचन ऋषियों से ) ॥ ३४ ॥ जब मैंने सुदुश्चरतप कर के प्रजा रचनी चाही तो आदि से दश महर्षि प्रजापतियों को रचा ॥ ३४ ॥ अरीचि अत्रि अङ्गिरा पुलस्त्य पुलह क्रतु प्रचेता वसिष्ठ भृगु और नारद को ॥ ३५ ॥ इन्होंने अन्य सात बड़े तेजस्वी गनुओं को रचा और देवतों, देवस्यागों और तेजस्विमहर्षियों को ॥ ३६ ॥ यक्ष राक्षसपिशाचादि को भी ॥ ३७ ॥

प्रकरणा का पूर्ण विचार करने से इन श्लोकों के अनुसार यह नहीं सिद्ध होता कि यक्ष राक्षसादिकों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया, किन्तु विराट् ने स्वायम्भुव गनु को, उस ने सरीक्यादि १० प्रजापतियों को और उन्होंने ने सब सृष्टि यक्ष राक्षसादि को रचा। आपने ऊपर यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध किया कि ब्रह्मा ने इन्हें रचा। इससे क्या निश्चय हुआ कि परमेश्वर ने तो यक्ष राजस पिशाच योनि ( गनुष्य के अतिरिक्त ) नहीं रचीं, किन्तु उस के विरुद्ध १० प्रजापतियों ने रच डालीं। इन गनुस्मृति के श्लोकों में इतनी विप्रतिपत्ति है १-जगत् का स्रष्टा परमात्मा है वा १० ऋषि ? २-श्लोक ३३ में मनु आप को सब जगत् का स्रष्टा बताता है फिर आगे श्लोक ३६ में ऋषियों को। ३-स्वायम्भुव तो कहता ही है कि मेरे पुत्र सरीक्यादि १० हुवे फिर उन पुत्रों ने अन्य ७ गनुओं को रचा ( देखो श्लोक ३६ ) सात गनुओं के नाम गनुस्मृति अ० १ श्लो० ६२। ६३ में इस प्रकार लिखे हैं:-

स्वारोचिपश्चोत्तमश्च तामसोरैवतस्तथा ।

चाक्षुषश्च महातेजाविवस्वत्सुतएव च ॥ ६२ ॥

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवोभूरितजसः ॥ ६३ ॥

अर्थ—स्वायम्भुवादि तैजस्वी १ मनु ये हैं कि—स्वाय भुव स्वरोषिव उत्तम  
तामस रैवत चक्षुष और विवस्वान् ॥

अब बताइये तो मही कि मरीचयादि का पुत्र स्वायम्भुव १ मनुओं के  
जन्तर्गत ( देखो श्लोक ३६ ) है ? वा मनु के पुत्र मरीचयादि १० (देखो श्लोक  
३५) हैं ? धन्य श्लोक के घड़ने वालों ! और प्रमाण देने वालों की तो क्या  
कहूँ । गीद में श्लोक बनाकर मनु में मिलाये ! और दण मारते हैं ! ! चलो  
चुपचाप बैठे रहिये ॥

भला ऐसे परस्परविरुद्ध बुद्धिविरुद्ध वेदविरुद्ध श्लोक से प्रेत सिद्ध होते  
हैं ? क्या न हो, आप के भाई पं० बलदेवप्रसाद तो भूत प्रताओं को मानने  
मुन्नी ही में लिये रहते हैं उन की थियासोफी तो प्रसिद्ध ही है तब आप  
क्या इतने में भी जाते ! ॥ ६० ति० भा० पृ० १५ पं० १ से—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्याग्निष्णोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

यजुः । २ । ३० ॥

पितरों का अन्न आहु में भक्षण करने की इच्छा से अपने रूपों को पि-  
तरों की समान करते हुए जो देवविरोधी असुर पितृस्थान में फिरते हैं तथा  
जो असुर स्थूल और सूक्ष्म देहों को अपना २ असुरत्व छिपाने के लिये धारण  
करते हैं उसमुक्त रूप अग्नि उन असुरों को इन पितृयज्ञस्थान से हटाता है ॥

प्रत्युत्तर—आप तो कहा करते हैं कि स्वामी जी उलटा अर्थ करते हैं ।  
आप स्वयं क्यों सीधा अर्थ छोड़ खेंचातागी करते हैं ? भला मन्त्र में पितरों  
और आहुओं का धानक कोई शब्द है ? नहीं है तो आप कहां से लाये ?  
मन्त्र का अन्वय और अर्थ इस प्रकार है—

अन्वयः—ये असुराः रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः सन्तः स्वधया चरन्ति, ये  
परापुरो निपुरो भरन्ति तान् अस्मिन्लोकादग्निः प्रणुदाति ॥

( ये असुराः ) जो स्वार्थी जन ( रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः ) वेष बदलते  
हुए (स्वधया चरन्ति) पृथिवी आकाश में घूमते हैं (ये परापुरो निपुरो भरन्ति)  
जो पराये से और निरुपेक्षा से अपने को पुराने ढाले अपना पोषण करते हैं  
( तान्गिरस्मिन्लोकात्प्रणुदाति ) उन्हें अग्नि इस लोक से खेद देवे । स्वधा

शब्द निघण्टु ३। ३० में द्यावापृथिवी के नामों से पड़ा है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष, चौर वृक्षों बहुकृपिये ढांकू आदि वेष बदल कर संसार को टगते हैं भविन (परमेश्वर) उन्हें दूर करे वा अग्नि=जीविकाग्नि के प्रकाश से उन अन्धकारमियों को पकड़ता और दण्ड देना चाहिये। इस मन्त्र में भूत प्रेतादि का कथन मात्र भी लेना नहीं। अथवा शतपथानुसार कर्मकाण्डपरक यह अर्थ है कि “अग्निं वा पृथिवीं के रहने वाले प्राणनाशक दुष्ट प्राणिवर्ग वा पदार्थ दूर हों” अब इस मंत्र में आगे परमात्मा ने यह बताया है कि अग्नि उन दुष्ट प्राणियों वा पदार्थों को दूर करता है। ज्ञात रहे कि असुर वा राक्षस शब्द से यहाँ उन वायु में रहने वाले दुष्ट पदार्थों वा कीड़ों से तात्पर्य है, जो रोगों को उत्पन्न करके प्राणनाश वा मृत्यु का कारण बनते हैं और अग्नि में होम करने से वे दूर होते हैं।

मन्त्रार्थः—( ये ) जो ( असुराः ) असुर ( रूपाणि ) रूपों को ( प्रति-सुञ्चमानाः ) बदलते ( मन्तः ) हुन ( स्वधया ) अन्न [ निघं २। ७ ] के साथ ( चरन्ति ) वायु में घूमते फिरते हैं और ( ये ) जो ( परापुरः ) घुरे शरीरों को और ( लिपुः ) निरुष्ट सूक्ष्म दुर्गन्धिमय शरीरों को ( भरन्ति ) धारण करते हैं ( तान् ) उन सब को ( अस्मात् लोकात् ) इस लोक से [ जहाँ यज्ञ होता है ] ( अग्निः ) अग्नि ( प्रणुदाति ) दूर कर देता है ॥

कौशा रूपट् वायुगत दुष्टकीड़ों का वर्णन है कि जिम का रूप शीघ्र २ बदल जाना है, जो घुरे और सूक्ष्म शरीरों वाले हैं और वे अग्नि के तेज से दूर होते हैं। शतपथ ब्राह्मण २। ४। ५ में लिखा है कि असुरों और राक्षसों को परमात्मा ने तमम् अन्धकार वा तमोगुण वस्तु खाने को दी हैं, जिम अन्न=मपनी खुराक के साथ वे घूमते हैं ॥ २० ति० भा० पृ० १५ पं० ९ से लिखा है कि—

भूतविद्वानामदेशासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युप  
सृष्टचेतसांशान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ७० सूत्रस्थान ११

अर्थ—भूतविद्या जो जाठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में चतुर्थ है उन को कहते हैं कि देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच और नाग आदि ग्रहों करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों को ग्रहशान्ति करने से आरोग्य होता है। आशय यह है कि सुश्रुतकार ने भी भूत, प्रेतादि योनि मानी हैं ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३० पं० २२ में जो लिखा है कि—“जिस को शङ्का, कुमङ्ग, कुसंस्कार होता है उस को भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होती हैं।” इस से स्वामी

जी का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भूत प्रेतादि योनिविशेष कहीं नहीं तथापि जिन के चित्त में भविष्या से इन की शङ्का वा भय उत्पन्न गया है उन को आवश्यक वह भय वा शङ्का ही तद्रूप बनकर दुःख देने लगते हैं। इसी प्रकार यहां सुश्रुत में भी जो कुछ सुश्रुतकार वा उन के नाम से अन्य किसी ने लिखा है उस से यह ती नहीं सिद्ध होता कि भूत प्रेतादि योनिविशेष हैं, किन्तु यह विहित होता है कि “उपसृष्टचेतसां” जिन के चित्त में भूत प्रेतादि का सङ्गान् भय गया है उनकी चिकित्सा शान्तिकर्म और बलि देना आदि जो भूत-तत्विद्या कहाती है, उससे होता है। जैसे इन्द्रजालविद्या एक प्रकार की छल-विद्या है वैसी ही यह भूतविद्या भी रहने, इतने से भूत प्रेतादि योनिविशेष नहीं सिद्ध होती। यदि कहा कि योनिविशेष नहीं हैं ती उनकी बलि देने से प्रायः रोग दूर क्यों हों जाते हैं ? ती उत्तर यह है कि जिन लोगों के हृदय में ये कुसंस्कार नहीं भों उन्हें न तो ये रोग हों और यदि उन्मादादि कोई रोगविशेष हो भों जिस में कुसंस्कारी पद्धतियों को भूत प्रेतादि का भय हो, ती किसी मन्त्र यन्त्र बलि आदि से कुछ भी लाभ नहीं होता। हां श्रान्तियुक्त पुरुषों को श्रान्ति से भूत प्रेत डाकिनी शाकिनी आदि की पीड़ा होती है और उन्हें की श्रान्ति इन्द्रजाल के समान भूतविद्या नाम छलविद्या से दूर करके प्रायः आरोग्य हो जाता है। इस में भी इन्द्रजाल के समान भीषणोपचार करते हैं, परन्तु रोगी को यही निश्चय कराते हैं कि अमुक प्रेतादि की अमुक प्रकार बलि आदि की जानी है, देखो अभी तुम्हें आराम हुआ जाता है। बात यह है कि उस रोगी को जैसेकीवत् अपने मन की श्रान्ति से रोग हो गया वैसे ही मन को संतोष दिलानेवाली बहकावट से आराम भी हो जाता है। क्योंकि “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः” मन की कल्पना का बड़ा सामर्थ्य है। सुना है कि अमेरिका देश में मन की श्रान्ति के फल की परीक्षा के लिये एक पुरुष जिस का प्राण किसी कारण सेना ही था उस को विश्राम दिलाया कि तुम्हारे शरीर के अमुक स्थान को नम काट दी जायेगी उस में खून (रक्त) निकलते २ तुम्हारा प्राण लिया जायेगा, तुम्हारे माथे और आंखों पर पट्टी बंधी रहेगी। जब उस पुरुष को ऐसा निश्चय दिला कर आंख बन्द करके बिठा कर उस के रक्त की जाड़ी के स्थान से उसे न काट कर अन्य जगह का छेदन किया जिस से रक्त एक बिन्दु भी न निकला किन्तु रक्त के बराबर गरमी वाला पानी बून्द २ करके नाड़ीछेदन के स्थान

पर टपकाते गये जिस से वह पुरुष समझता रहा कि मेरे देह से रक्तबिन्दु टपकती है। अब उसने इस निश्चय से कि मेरा रक्त निकलता है, थोड़े ही मिन्टों में उसका प्राणान्त हो गया। किमी गनुष्य को जो भूत प्रेतादि नहीं मानता था कहा गया कि अच्छा तुम अर्धरात्रि में अमुक जङ्गल में अमुक पीपल के वृक्ष के नीचे कील गाड़ आओ जब उस ने कील गाड़ी, दैवयोग से उस के अङ्गुरखे का मिरा कील में झलककर गढ़ गया। जब वह वहाँ से चला तो समने रुकने से समझा कि भूत अवश्य है उसी ने मेरा पल्ला पकड़ा है, अस्तु खेंच ताग कर अङ्गुरखा फाड़ तोड़ कर भाग आया परन्तु भाते ही प्रेमज्वर (आन्तुक) चढ़ा और उसी से मर भी गया। आशय यह है कि स्वामी जी के लेखानुसार प्रेतादियोनि न होने पर भी वृषा भ्रम से शाकिनी, हाकिनी आदि का रोग होजाता है उसी की निवृत्ति के लिये सुश्रुत में यह प्रतीकार लिखा है कि शान्ति और बलि आदि कराने से आरोग्य होता है किन्तु जिनको भ्रान्ति नहीं चढ़े न यह रोग हों और न बलि आदि से आरोग्य होता है ॥

व० ति० भा० पृ० १५ पं० १९ में लिखा है कि—निश्चय जानिये कि देवतों ने ही आप का प्राण शरीर से निर्गत कर दिया, नहीं तो ब्रह्मचर्य वालों की तो आप के कथनानुसार वही उमर होती इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—निश्चय जानिये कि देवतों का काम किमी का प्राण लेना नहीं किन्तु उन के लेखानुसार किमी राक्षस ने अवश्य उन का प्राण लिया, नहीं तो आप भी जिन के ब्रह्मचर्यबल को स्वीकार करते हैं ऐसे पूर्ण यती की अवस्था अवश्य बहुत होती परन्तु राक्षसों से उन की लोंकीपकारक देवछेष्टा सही न गई और सुनते हैं कि उनका प्राण विषद्वारा ले लिया ॥

व० ति० भा० पृ० १५ पं० २६ से लिखा है कि यदि फलितज्योतिष झूठा है तो आपने ही “कारकीये” में “उत्पातेन ज्ञापमाने” इस वार्तिक पर नीचे लिखा महाभाष्य है। यथा—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।

कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥

पीली विजुली चमके तो वायु चलि, लोहिन से धूप, कृष्ण से सर्वनाश और श्वेत से दुर्भिक्ष। कहिये यह फलित नहीं तो क्या है ? जन्मपत्र शोक



पत्र है तो कहिये आप के जन्म का दिन संवत् आपको उत्पन्न होने ही से याद है ? और कोई प्रमाण भी है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि वे सूर्यादि ग्रह प्रकाश और गरमी आदि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सके । उस महाभाग्य में जो बिजुली का फल लिखा है वह भी गरमी की न्यूनाधिकता और उससे होने वाला मात्र ही है, अधिक कुछ नहीं । और जन्मपत्र का फल आप के लेखा-नुसार यदि जन्मसमय का स्मरण रहना है तो यह हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु उस से धन धान्य स्त्री पुत्र जीविकादि का ज्ञान साध्य या जिस की सिद्धि में आप को वेदादि का प्रमाण देना या सो आप ने कुछ नहीं लिखा । और आगे—८० ति० भा० पृ० १६ पं० २० में लिखा है किः—

शनीग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्चराहुणा ॥ अथर्ववेद ॥

अर्थात् चन्द्रमा राहु आदित्यादि ग्रह सुखदायक हों इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—जैसे कोई यह प्रार्थना करे कि हम को पानी, पवन, अन्न आदि सुखकारक हों, क्या उस का यह तात्पर्य होता है कि ये पदार्थ चेतन हैं ? नहीं, केवल यह कि हमको इन पदार्थों से सुख मिले ऐसा चाहते हैं ॥ और रामचन्द्र जी के जन्मसमय ग्रहों के लिखे जाने का कारण यह है कि ग्रहों से ऐतिहासिकसहायता भविष्यत् के लिये बड़ी पुष्ट मिलती है । यदि आज कल उन ग्रहों के गणित से आजकल के ग्रहों का गणितफल निकाला जाय तो गतसमय का निश्चित ज्ञान हो सक्ता है ॥

८० ति० भा० पृ० १६ पं० २८ डोरा बान्धने से और मन्त्र पढ़के रक्षा नहीं होती तो आपने सन्ध्यामें गायत्री मन्त्रसे शिखाबन्धन और रक्षा क्यों लिखी है और शिखा बान्धने से रक्षा होजाय तो तलवार, तमंचा आदि ठग्यर्थ हो जायें इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो कृपा करके ऐसे कुतर्क न कीजिये जिन से आपके भी सम्मत विषयों में आक्षेप हो । महाशय ! सन्ध्या में शिखाबन्धन और रक्षा को तो आप और सत्सत् हिन्दु नामधारी मानते हैं उस में आप को शङ्का न करनी चाहिये, क्यों कि उस के खण्डन से आप का भी खण्डन होता है परन्तु यदि आप को यही हट है कि “ मेरी जाय सो जाय पर पड़ोसी की क्यों रहे ” तो उत्तर यह है कि गायत्री मन्त्र परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना का है परमात्मा अवश्य सब को रक्षक हैं । स्वामी जी ने आप के कल्पित देवतों के

शुभकर्म पर बाधोप किया है। मिखा बान्धने का फल-बालों की ओर से साध-  
धानता होना नहीं लिखा है। रक्षा के उपायों में एक उपाय परमेश्वर से प्रार्थना  
ही है। यदि कोई किसी रोग की एक औषधि लिखे तो क्या उस से अन्य  
कोषधियों की निष्फलता मिट्टु हो जाती है? नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर से  
प्रार्थना की प्रार्थना, तलवार आदि द्वारा रक्षाओं की व्यर्थ नहीं करती। हाँ,  
यह अवश्य है कि हम प्रार्थी लोग हम योग्य परमात्मा की दृष्टि में ठहरें कि  
वह प्रार्थना स्वीकार करे तो हम में भी सन्देह नहीं कि तलवार आदि उस  
की शानने कुछ वस्तु नहीं ॥ ८० ति० ११० पृ० १७ पं० ५ में लिखा है कि:-

सहस्रकृतधरत्नस्य बहिरेतन्निकं द्विजः ।

महत्तोष्येन सोमासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ मनु २ । २६

ओ३५, व्याघ्रति और गायत्री को नगर से बाहर १००० एक गाम पर्यन्त  
जाये ही द्विज महान् पाप से छूटे। देखो यह मनु ने मन्त्र का फल लिखा है  
तथा ऋष्यर्षण पाप दूर करने के निमित्त अपा जाता है। कीशल्या ने राम-  
चन्द्र के जननम होने से मन्त्र पढ़कर रक्षा की ऐसा वाल्मीकीयरागायण  
में लिखा है। और श्रीनारदकृत ऋषिधान में वेदमन्त्र जप से रोगादि शान्ति  
निर्णी है गया-

८०११ रात्रिसूक्तं जपेद्वात्री त्रिवारन्तु दिने दिने ।

भूजप्रेताहिचोरादिव्याघ्रादीनां च नाशनम् ॥ १ ॥

२४२३ कृणुष्वेति जपेत्सूक्तं श्राद्धकाले प्रशस्तकम् ।

रक्षोनां पितृतृप्यर्थं पूर्णं भवति सर्वतः ॥ २ ॥

८०१६ येनामावधमन्त्रं च जपेच्च अयुतं जले ।

बालग्रहान पीड्यन्ते भूजप्रेतादयस्तथा ॥ ३ ॥

तत्पर्य यह है कि रात्रिसूक्त, कृणुष्वेति सूक्त और "येनामावध" मन्त्र को  
३००० जपने से भूत प्रेतादि शान्ति, पितरों की तुष्टि आदि फल होता है इत्यादि  
मन्त्रोत्तर-गायत्री ओ३५ व्याघ्रति के जप का फल परपनिवृत्ति इस लिये  
ठीक है कि उस में ईश्वर की स्तुतिपूर्वक उत्तम बुद्धि की प्रार्थना है। और  
बुद्धि उत्तम होने से पाप में प्रवृत्ति नहीं होती, यह परपनिवृत्ति है। परन्तु  
यह ही मनु ने नहीं लिखा कि पुरोहितादि लोग दक्षिणा लेते और जपकर

के पाप उतार दें । स्तुति प्रार्थना का फल ( भस्म ) करने से ठीक तरह प्रयोज्य पड़ता है, यदि वह भी लगा कर करे परन्तु अन्य के किन्हीं अपाठ पुरश्चरणादि में यज्ञमानादि अन्य को फल पाठादि का नहीं होता । हां, यह ठीक है कि वेदाभ्यासादि करने वाले जाधिकार्य अन्य उद्योग जिनका नहीं मन लोगों की जाधिकार्य दक्षिणा देने से दाता को शुभाशुभ की प्रवृत्ति में हेतुना आती है इस लिये उसे कुछ पुण्य ही परन्तु ऊपर लिखे मनु के श्लोक वामन्य किमी रीति में यह नहीं आता कि अन्यकृत अपादि का फल साक्षात् अन्य को ही । कौशल्या ने भी वेदमन्त्रों द्वारा परमात्मा से रामचन्द्र की रक्षा-प्रार्थना की हो ती इन से मन्त्र यन्त्र तन्त्रों की वर्तमान रीति की पुष्टि नहीं होती और शीनककृत ऋग्विधान का जो आप प्रमाण देते हैं उस में इतनी बातों का प्रथम उत्तर दीजिये १-यदि यह ग्रन्थ प्राचीन है तो इस की पाठ की शैली नतन क्यों है । २ चौपादि व्याघ्रादि पद में दो बार आदि शब्द का प्रयोग क्यों है । ३-ऋग्वेद के कृण्वणपाजामुक्त और येवामावाधमन्त्र में तो भूत प्रेत का वर्णन है ही नहीं उन में अग्नि का वर्णन है । सायणाचार्य भी इन का अग्नि देवता लिखते हैं, भूतप्रेत नहीं । ४-अयुत का अर्थ ३००० आप कैसे लेते हैं । ५-“मन्त्रं च जपेच्च”ये दो चकार ठग्ये क्यों आये हैं । ६-“जपेच्च अयुत” में मवर्ण दीर्घ की मन्त्र न करने का क्या कारण है, यदि कहीं ति विवसाधीन है तो क्या किसी कवि का लौकिक शिष्ट प्रयोग ऐसा अन्यत्र भी कहीं है वा नहीं यदि है तो कहाँ और नहीं तो इन में ही ऐसा क्यों हुआ । ७-पीडयन्ति के स्थान में पीड्यन्ते कैसे हुआ । यदि पीड्यन्ते ठीक है तो “ग्रह नहीं पीडित किये जाते हैं” यह अर्थ होगा, कि “ग्रह नहीं पीड़ा करते हैं” ८-भूत प्रेतादि पद (१) में आया है पुनः (३) में क्यों दुबारा आया ॥ प्रथम तो इन श्लोकों में से इन दोषों का इटाना असंभव है दूसरे यदि अशुद्ध श्लोक मान भी लिये जायें तो क्या वेदमन्त्र वा सूक्त किसी की मना करते कि इन को जप करके भूत प्रेतादिकी खलविद्या न करो, पूर्व प्रकार सुश्रुत के प्रमाण पर भूत प्रेतादि विषय में जो उत्तर दिया गया वही यहाँ जानिये ॥

२० ति० भा० पृ० १८ पं० ४ से लिखा है कि-सत्यार्थप्र० पृष्ठ ३३ में ती मति ठिकाने शिर है जो द्विजशब्द ब्राह्मण सत्रिय वैश्य और जाति ही सिद्ध रखी है । परन्तु तीसरे समुद्धान में इस के विरुद्ध है सो उस का खण्डन यहीं होगा ॥

प्रत्युत्तर—द्विज शब्द से अन्यत्र भी ती ब्राह्मणादि ३ वर्णों ही का ग्रहण किया है। रही यह बात कि यहां तो जाति ही मिट्टी रखी है—सो नहीं, किन्तु विद्यारम्भ करने वाले मन्तान के माता पिता का वर्ण गुण कर्म स्वभा चानुसार ही यहां भी अभिप्रेत है और आगे जैसा आप खण्डन करेंगे उस का प्रत्युत्तर वहीं दिया जायगा ॥

द० ति० भा० पृ० १८ पं० ८ में लिखा है कि=मत्पार्यप्र० पृ० ३५ वहाँ का मान्य है उन के सामने उठ कर जाकर सन्नामन पर बैठा प्रथम नमस्ते करे, इत्यादि पर समीक्षा की है कि—यह नमस्ते की परिपाटी भी अजब ठङ्ग की चलाई है और परस्पर नमस्ते करने का प्रमाण कोई नहीं लिखा। छुटाई बढ़ाई नीच ऊंच की कुछ न रही, और बुद्धि की तिल झुलि देकर कहते हैं कि [ गगः ज्येष्ठाथ च कनिष्ठाय ] यजु १६। ३२ में छोटे बड़े की नमस्कार लिखा है। यह मन्त्र रुद्राध्याय का है जिस में ज्येष्ठ का अर्थ ठपट्टि शिव तथा कनिष्ठ के अर्थ समष्टिक्रप शिव के हैं। छोटे बड़े मनुष्यों की नमस्ते का विधान हम में नहीं है। आगे उपबहार की प्राचीन रीति लिखते हैं:—

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ॥

आददीत यतोज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

शर्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥

शर्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११८ ॥

इत्यादि १२० से १२१ तक मनु अ० २ के प्रलोक और उन का अर्थ लिखा है और यह भी लिखा है कि स्वामी जी इस स्थान पर मनुस्मृति देखते २ ऊंच गये। समाजियों को क्या सूझी है कि छोटा बड़ा भाई बैठा शूद्र वा गुरु मंत्र से नमस्ते ही करते हैं। जो समाजी परिहृत वैश्य शूद्रादि को नमस्ते करते हैं वे ( योनवैश्यभिवादस्व० ) के अनुसार शूद्रवत् ही हैं। पैसे का लोभ करो तो तुम्हारे पुरुषा तुम से चौगुणा धन कमाते थे। तथा विदेश में कहते हैं कि हमारा अनुक से नमस्ते कह देगा। भला परोक्ष में नमस्ते प्रयोग कब घटता है? चिट्ठी में यह बात नहीं बन सकी इससे नमस्ते कभी न करे, प्रणाम ब्रह्मवत् इत्यादि करे ॥

प्रत्युत्तर—आपने सत्पार्यप्र० पृ० ३५ से जो लेख उद्धृत किया है उस में जानबूझ कर वा भूल से एक भेद कर दिया जिस से अर्थ पलट गया। वह

यह है कि "उच्चासन पर बैठे" ऐसा चाहिये परन्तु आपने पृ० १० पं० १८ से "उच्चासन पर बैठे" प्रथम नमस्ते करे, यह लिख दिया जिस से अर्थ में यह भारी अन्तर हो गया, क्योंकि स्वामी जी का तात्पर्य भी इस शिक्षा से है कि छोटा बड़े को उच्चासन पर बैठे अर्थात् स्वयं नीचे बैठे और आपके उद्धृत अशुद्ध पाठसे उलटा यह तात्पर्य भ्रमकता है कि छोटा उच्चासन पर बैठा हुआ बड़े से नमस्ते करे। स्वामी जी का तात्पर्य मनु के इन श्लोकों से मिलता है, जिन्हें आप पृष्ठ १८ व १९ में लिखते हैं कि—

तं पूर्वमभिवादयेत् । प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ।

अर्थात् प्रथम अभिवादन करे और उठकर करे। यही स्वामी जी ने पृ० १५ पं० २ में लिखा है। रही यह बात कि स्वामी जी ने नमस्ते लिखा है, अभिवादन नहीं लिखा। अभिवादन, वन्दना, प्रणाम, प्रणति, गति ये एकार्थ हैं इस लिये इसमें कुछ भेद नहीं। छुटाई उठने, हाथ जोड़कर करने, प्रथम करने आदि से भले प्रकार सूचित होती है। यदि आप का यह पक्ष हो कि अभिवादन अन्य शब्दों से न किया जावे तो आप ने जो अन्त में दण्डवत् प्रणामादि लिखे हैं, वे भी असत्य हैं। और वर्तमान में ब्राह्मण आपस में नमस्कार करते हैं और उनमें आपसमें गुरु शिष्य, पिता पुत्र आदि सम्बन्ध के कारण छुटाई बड़ाई रहने पर भी नमस्कार शब्द के प्रयोग वा राम २ तथा यहां तक कि हिन्दू लोग मुसलमानादि से क्या अपने आपस तक में अलान करने लगे हैं तथापि आप उनपर कुछ नहीं कहते लिखते। "नमोज्येष्टाय च" इस मंत्र में ज्येष्ठ कनिष्ठ शब्द स्पष्ट छूटे बड़े के वाचक हैं और इसके आगे इसी १६ वें अध्याय में "स्तेनानां वतये" इत्यादि शब्द भी आते हैं जो शिष्य वा ईश्वर पक्ष में सर्वथा नहीं लग सके। यदि इसका विशेष ठयाख्यान देखना चाहो तो "शास्त्रार्थखुरजा" नामक पुस्तक में देख लीजिये। स्वामी जी की मनुस्मृति की देखते २ नहीं ऊंचे परन्तु आप की समझ निराली है जो आप अभिवादन प्रणाम नमस्ते आदि में भेद समझते हैं। स्वामी जी की अभिवादनादि शब्दोंका व्यवहार ज्ञान था, यह तो संस्कारविधि के वेदारम्भ संस्कारप्रकरण से अच्छे प्रकार विदित हो सका है जहां ठीक यही मनु के अनुसार अभिवादनका विधान लिखा है। देखो संस्कारविधि वेदारम्भ पं० १८ पृ० २७ जो समाजी परिहृत वेश्य आदि को नमस्ते करते हैं। वे अभिवादन मत्प्रभवाद्गके तात्पर्य की ठीक २ जानते हैं और आपके समान अभिमान

में नहीं पहुँचते हैं। वे योग्यतानुसार वर्त्ताव करते हैं। वे हर समय बड़े भी नहीं बनते। वे साधर्म्य और वैधर्म्य तथा सामान्य और विशेष का तात्पर्य समझते हैं। ध्यान देकर सुनिये। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मनुष्यत्व साधर्म्य में समान है, फिर एकही धर्मका बाधलम्बी होनेमें समान है, एक ही देशपर का उपागत होने में समान है, एक ही देश में रहने वाला होने में भी समान है, लोक में जाति भाई, देश भाई, धर्म भाई आदि उपवहार हैं। परन्तु यह सामान्य सम विशेष का बाधक नहीं जो विशेष छुटाई बड़ाई राजा प्रजा, गुरु शिष्य, पिता पुत्र, सेठय सेवकादि सम्बन्ध विशेषों से होती है। इस लिये आर्य पण्डित सामान्य और विशेष का ठीक तात्पर्य समझते हुए धर्मभाई, देशीभाई आदि व्यवहार को जाग कर अति-साम में पूर नहीं होते। और आप छुटाई बड़ाई का क्यों इतना विचार करते हैं, आप को यहां तो मूर्ख पण्डित आदि में कुछ विवेक ही नहीं “अ-विद्यो वा मविद्याया ब्राह्मणो नाम की तनुः” मूर्ख ही वा विद्वान् ब्राह्मण मेरा देह है, यह भगवान् का वाक्य है। आपके यहां तो ब्राह्मणों ने विष्णु भगवान् की छाती में छात मारी है, भला फिर ब्राह्मण मनुष्य को मनुष्य क्यों गिनने लगे हैं? और पण्डितों का तो कहना ही क्या है। और आप तो मूर्ख में मूर्ख ब्राह्मण को भी शूद्रवत् नहीं कह सके क्योंकि वह भगवन् का स्वल्प है फिर आप को मतानुसार प्रत्यभिवादन न जानने वाले पण्डित शूद्रवत् कैसे हैं? और पैसे का लोभ तो आर्यपण्डितों को नहीं है, यह तो आप को लेख से भी मिट्ट है क्योंकि आप ने भी लिखा है कि “तुम्हारे बड़े चौगुणी जीविका करते थे” और सचमुच करते हैं। ठीक है, यह चौगुणी जीविका ही पौराणिक पाखण्डों को नहीं छोड़ने देती और आर्यधर्म के विरुद्ध दंति० भा० जैसे पोछे लिखा रही है। और विदेश में जो नगस्ते कहला कर भ्रजते हैं या पत्र में लिखते हैं वह प्रत्यक्ष का अनुकरण लिखा जाता है इस लिये नगस्ते, अतिवादये आदि करना और गड़बत्त दण्डवत् भाड़ीपङ्क आदि त्याज्य हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २० पं० २३ से लिखते हैं कि “वाह बड़ी सुन्दर शिक्षा लिखी। धेद का प्रमाण नहीं यह शिक्षा स्वतः प्रमाण है वा परतः प्रमाण? योगि संकीर्ण, उपस्थेन्द्रियस्पर्श न करना आदि शिक्षा नहीं किन्तु सत्या गाथ कहने, भास्तिंग बनाने और वर्णसङ्कर करने की है ॥

प्रत्युत्तर-इस शिक्षा में इतने प्रमाण दिये गये हैं, देखो मत्पार्थक्याश  
पृ० २८ पं० ३ में:-

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेदः शतपथः ।

फिर पृ० ३० पं० १५ में:-

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समा० मनु और पृ० ३४ पं० ५ में  
सामृतैः पाणिभिश्च नन्ति गुरवो० महाभाष्य । पुनः पृ० ३५ पं० ७ में  
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयो० तैस्ति० अपरञ्च पं० २३ में  
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं  
मनःपूतं समाचरेत् ॥ मनु ॥ और वही पं० २७ में:-

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठिनः । चाणक्यः ।

इन के अतिरिक्त पुस्तक बढ़ने के भय से भाषा में जितनी बातें हैं  
वे प्रायः शास्त्रों का सार हैं, परन्तु आप को तो योनिसंकोच का द्वेष उप-  
स्थेन्द्रियस्पर्शत्याग का द्वेष है, फिर भला आप की शिक्षा के होते हुए स्त्रियों  
को प्रदरादि रोग और पुनर्वर्षों को स्पर्शाविशय से प्रमेहादि रोग क्यों न हों ।  
आप ने तो देश की रमातल पहुँचाने में अपनी शक्ति भर उद्योग करना ही,  
इतने पर भी यदि हम देश के शीघ्र वैदिकधर्म की आर प्रतिदिन उतनाह  
को बढ़ाते ही जायें, जनार्णों का पालन, ब्रह्मचर्य की प्रणाली का सुधार,  
संस्कृत की शिक्षा और देशहितैषिता फैलती ही जायें तो आपका क्या दोष ।  
आप ने तो अपनी करनी में कमर न की और न करेंगे परन्तु इतने पर भी  
यदि स्वामी दयानन्द मरस्वती जी के सत्यमङ्गल्य सुफल होते ही जायें तो  
आप तो जन्त में कहियेगा ही कि भाई युग का प्रभाव है !!! परन्तु न  
जाने जो वैदिकमार्ग के प्रचार में बाधा डालते हैं वह युग का प्रभाव है वा  
वैदिकधर्म का प्रचार और उस की दिनोंदिन उत्थिति युग का प्रभाव है ? अस्तु

यह दयानन्द ति० भा० का खण्डन और सत्यार्थप्रकाश  
के द्वितीय समुल्लास का मण्डन समाप्त हुआ ॥

गो३म्

## अथ तृतीयसमुल्लासखण्डनम् ॥

पृ० ति० भा० पृ० २१ पं० ४ में सत्यार्थप्रकाश के पृ० ३८ पं० १२ से नदृष्ट्य करके लिखा है कि:—

**कन्यानां सम्प्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् । मनु०**

स्वामी जी लिखते हैं कि ८ वें वर्ष उपरान्त लड़के लड़की घर में न रहें पाठशाला में जायें, यह आतिनियम और राजनियम होना चाहिये, जो हम के विरुद्ध करें दण्डनीय हों इत्यादि। हम पर समीक्षा करते हुये पं० ज्वाला-प्रसाद जी लिखते हैं कि इतना लम्बा चौड़ा अभिप्राय कौन से भक्तों से निकलता है ? इन्होंने अभिप्रायों ने नवशिक्षितों की बुद्धि पर परदा डाला है फिर “मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा” इत्यादि मनु ७ अ० १५१, १५२ लिख कर कहते हैं कि यह राजप्रहरण है, राजा को योग्य है कि भर्तृरात्रि वा दोपहर को विश्रामयुक्त हो मन्त्रियों सहित धर्म अर्थ काम का विचार करे वा आप ही। अपने कुल की कन्याओं के विवाह और कुमारों के विनयादिरक्षण का विचार करे। स्वामी जी का तात्पर्य इस से किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रखता। स्त्रियों का यज्ञोपवीत नहीं होता तब गायत्री का अधिकार कब है ? आप ने गायत्री पढ़ना लिख दिया तो यज्ञोपवीत भी क्यों न लिख दिया, मनाजी तो आप के लेख को पत्थर की लकीर मानते ही इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह श्लोक राजप्रकरण का है और यथार्थ में है ही, तो राजा को अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा का विशेष विधान करना किम लिये लिखा, जबकि प्रत्येक प्रजागणस्य पुरुष का भी कर्तव्य है कि वह अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा करें। तात्पर्य यथार्थ में यही है कि राजा अपनी प्रजा का पितृदुल्य रक्षक है, इसी लिये आप की विवहदुद्धतियों में कन्यादान के पूर्व, जिस को कन्यादान करना उचित है, यह निश्चय करते हुये लिखा है कि:—

**“अथ कन्यादानं कुर्यात्पिता तदभावे माता**

**तदभावे भ्राता तदभावे राजा इत्यादि” ॥**

अर्थात् कन्यादान में पिता उस के अभाव में माता उस के अभाव में भ्राता उस के भी अभाव में राजा इत्यादि का अधिकार है। इस से यह



अग्नि स्पष्ट निकलती है कि यदि कोई अपनी सन्तान के विषय में अपने कर्तव्य को पूर्ण न करे, न कर सके वा करने वाला न रहे तो वह कार्य राजा करे। वन यही तात्पर्य लेकर राजा की विशेष आज्ञा है कि वह प्रजावर्ग के पुन पुत्रियों के रक्षणशिक्षणादि का प्रबन्ध करे। वह प्रबन्ध दो प्रकार से हो सकता है १-पितृवर्ग जीवित और योग्य हों तो जाति वा राजा का नियम रहे जिसे वे चलायें। न करें और २-दूसरा यह कि उन के अभाव में राजा स्वयं करे। अब बताइये स्वामी जी ने इस में क्या मिला दिया। ८ वर्ष का तात्पर्य मनु के उन श्लोकों से निकल आता है जो उपनयन की अवस्था बताते हुये मनु ने लिखा है कि:-

**गर्भाष्टमेऽवदे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। इत्यादि मनु २।३६**

कन्याओं की यज्ञोपवीत न होने से गायत्रीमन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं तो लाजाहोम के समय “यं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका आयु-ष्ठानस्तु मे परिधन्तां ज्ञायतोमम स्वाहा”। और प्रतिष्ठा के समय विवाह में “ममज्जातु विश्वेदेवाः” इत्यादि वेदमन्त्रों के पाठ का अधिकार कहां से आ जायगा और स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी कैसे मानी जायगी और:-

**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व०**

के अनुसार कन्या ब्रह्मचारिणी होवें यह पाया जाता है, तब आप कन्याओं के ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन से ऐसे क्यों चौंकते हैं। क्या आप के पास कोई वेद का प्रमाण है कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य और वेदपाठ का अधिकार नहीं? द्विज कहने से जब कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का आप भी ग्रहण करते हैं और द्विज का अर्थ दो जन्म वाला है अर्थात् एक माता के उदर से प्रकट होना दूसरा गुरुकुल में प्रकट होना, तो हम पूछते हैं कि जब जन्म और संस्कार इन दोनों से द्विज बनता है और आप के मत में कन्या का द्विजत्वसम्पादक संस्कार नहीं होता तो:-

**उद्वहेत द्विजोभार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥**

जिस का अर्थ स्पष्ट है कि द्विज, लक्षणवती सवर्णा भार्या से विवाह करे। सवर्णा का अर्थ समानवर्ण वाली है। वर्ण ४ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं जिन में से पहले ३ द्विज इस लिये हैं कि उन के दो जन्म होते हैं तो बताइये तो सही कि कन्या के दो जन्म नहीं हुये और जगन्नी और

मायत्री इन दो सन्ताओं की जो कन्या प्राप्त नहीं हुई वह द्विज कैसे होगी और जो कन्या द्विज नहीं वह द्विजों की सघर्णा कैसे हो सकती है और सघर्णा में द्विजों को विवाह विहित है तौ आप के मत में द्विजों को कन्या ही न मिलेगी। अब स्त्रियों के वेदपाठाधिकार में प्रमाण सुनिये:-

१-इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ॥ श्रौतसूत्र ॥

इम मन्त्र को पत्नी पढ़े ॥

२-वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत् ॥ श्रौतसूत्र ॥

स्त्री को पुस्तक देकर वेद बोलवावे ॥

३-अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव ।

उद्धारण्यक । याज्ञवल्क्य की दो स्त्री थीं मैत्रेयी और कात्यायनी इन में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। यदि स्त्रियों को वेदपाठ का अधिकार नहीं तो मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी कैसे हुई ॥

४-शङ्कराचार्य ने सगहनगिरि की स्त्री ने शङ्कराचार्य से कहा कि-  
अपि तु त्वयाद्य न समग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पति-  
र्यदहम् । वपुर्दुर्मस्य न जिता मतिमन् अपि मां वि-  
जित्य कुरु शिष्यमिमम् ॥ ५६ ॥

हे शङ्कराचार्य ! आप ने मेरे प्रमिद्व्याग्रणी पति को अभी पूर्ण नहीं जीता क्योंकि उस का अर्धदेह मैं हूँ जब मुझे भी आप जीत लें तब मेरे पति को शिष्य करें ॥

शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि:-

यदवादिवादकलहोत्सुकतां प्रतिपद्यते हृदयमित्यवले । तद-  
साम्प्रतं न हि महायशोमहिलाजने नक्तयन्तिकथाम् ॥ ५६ ॥

तुम शास्त्रार्थ करने को चाहती हो परन्तु महायशस्वी लोग स्त्री से शास्त्रार्थ नहीं करते ॥

उम ने उत्तर दिया कि:-

स्वमतं प्रभेत्तुमिह योयत्तते सबधूजनोस्तुयदिवास्तिवतरः ।  
यतितव्यमेष खलु तस्य जये निजपक्षरक्षणपरैर्भगवन् ॥ ६७ ॥

भगवन् ! जो अपने मत का खण्डन करे चाहे स्त्री हो या पुरुष, अपने पक्ष की रक्षा में तत्परों को अवश्य उस के विजय करने में प्रयत्न करना उचित है॥

इस के अतिरिक्त उस समय विद्याधरी ने प्राचीन समय में ती स्त्री पुरुषों में शास्त्रार्थ होने का प्रमाण दिया कि—

अनुरवगार्ग्यभिधया कलहं सह याज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत्। जन-  
कस्तथा सुलभयाऽवलया किममीभवन्ति न यशोनिधयः॥६१॥

इसी लिये याज्ञवल्क्य ने गार्गी से और जनक ने सुलभा से शास्त्रार्थ किया था। क्या ये लोग यशस्वी न थे ? ॥ ६१ ॥

इस पर शङ्कराचार्य को उत्तर न आया और शास्त्रार्थ स्वीकार करना पड़ा। और उस शास्त्रार्थ में श्रुति (वेद) के वाक्यों पर विवाद हुआ। यथा—  
अयसाकथा प्रवृत्तेऽस्मत्पुरुषयोः परस्परजयोत्सुकयोः। मति-  
चातुरी रचितशद्वभरी श्रुतिविस्मयी कृतविचक्षणयोः॥६२॥

तब वह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ जिस में एक दूसरे के विजय करने की उत्सुक था। और बुद्धिचातुर्य, शब्दगारुभीयं और श्रुतिप्रमाण आश्चर्य दायक थे। ॥६३॥

अब बताइये कि स्त्री को वेद पाठाधिकार न था ती वेदविषयक शास्त्रार्थ विद्याधरी गार्गी और सुलभा ने कैसे किया। परन्तु हां, इतना पता अवश्य लगता है कि शङ्कराचार्य जो प्रथम शास्त्रार्थ करने में हिवकिचाये और टालना चाहता, इस से प्रतीत होता है कि उस समय जब कि शङ्कराचार्य हुये तब भी स्त्री जाति की अप्रतिष्ठा आरम्भ हुई थी, परन्तु जब का विद्याधरी ने प्रमाण दिया कि जनक और याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों से शास्त्रार्थ किया उस उत्तम समय में निस्सन्देह आप जैसे लङ्कीणहृदयों का जन्म न होने से देश का सीमावर्त्य था कि स्त्रियों को भी वेदपाठाधिकार समान ही प्राप्त थे ॥

५-इडश्च। अष्टाध्यायी ३। ३। ११ महाभाष्यम्—इडश्चे-  
त्यपादाने स्त्रियामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्। इडश्चेत्यत्रापादाने  
स्त्रियामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यं तदन्ताञ्च वा ङीष्कर्त्तव्यः।  
उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यायी, उपाध्याया ॥

देखिये इस उदाहरण में उपाध्यायी वा उपाध्याया उभ स्त्री का नाम है

जिस के पास जाकर (नङ्गिणियां) वेद पढ़ें। यदि स्त्री को पढ़ने का अधिकार नहीं तो पढ़ाने का अधिकार कहां से होगा। और यदि कन्या पाठशाला की उपाध्याया या उपाध्यायी से कन्यार्यें पढ़ने को जायें तो क्या लड़के उन से पढ़ने को जायें? क्या कहें यह लेख है कि लड़के लोग उपाध्याय से न पढ़ कर उपाध्यायी से पढ़ा करें? यदि नहीं तो कन्या ही “उपेत्याधीयते” अर्थात् उपनीत होकर पढ़ें, यह तात्पर्य हुआ और यह पाया गया कि कन्यार्यें भी उपाध्यायी के पास बैठे ही उपनीत होती थीं जैसे लड़के उपाध्याय के पास ॥

६-अनुपसृजनात् । अष्टा० ४ । १ । १४ ॥

महाभाष्यम्-आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ॥

इस से सिद्ध है कि स्त्रियां भी गुहकुल में जाकर वेदशाखा आदि पढ़ती थीं। इस सूत्र पर दूसरा उदाहरण है कि:-

७-काशकृत्स्नना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी । काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी ॥

इस से भी सिद्ध है कि काशकृत्स्न ऋषिकृत मीमांसा को पढ़ने वाली ब्राह्मणी का नाम काशकृत्स्ना होता था। मीमांसा शास्त्र में वैदिकमन्त्रों वा कर्मों की मीमांसा होती है ॥

इन प्रमाणों से सिद्ध हो गया है कि भार्य समय में कन्यार्यें उपाध्यायी के पास उपनीत होती थीं और उपाध्यायी उन्हें पढ़ाती थीं। पत्नी यज्ञ में मन्त्रपाठ करती थीं। वधू विवाह में मन्त्रपाठपूर्वक लागाहोम करती है। ती आवश्यक है कि उन का उपनयन मन्त्रोपदेश और स्वाध्यायादि होता था जैसा कि स्वामी जी ने वेदशास्त्रानुकूल लिखा है ॥

### गायत्रीप्रकरण

सत्यार्थप्र० पृ० ३८ पं० १२ स्वामी जी ने गायत्री और अर्थ संक्षेप से लिखे हैं और वहां “मूरिनि वै प्राणः” इत्यादि तैत्तिरीय के प्रमाण दिये हैं उस पर-

द० ति० भा० पृ० २२ पं० २१ से-समीक्षा-दयानन्द जी ने महाध्यातृतिथों के अर्थ में भी गोलमाल करा है। तैत्ति० के नाम से स्वयं कल्पना की है इत्यादि प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने कुछ गोलमाल नहीं किया। आप को “कुर्यात्तमर्वस्य खण्डनम्” का व्यसन हो गया है। इस प्रसङ्ग में तो आप बड़े ही चक्र में

भाये हैं। जो अर्थ स्वामी जी ने किये हैं वही आपने भी तां किये हैं फिर गोलमाल उन्होंने की है वा आपने। देखो द० ति० भा० पृ० २४ पं० १। २ "भूरिति वै प्राणः भुव इत्यपानः" तैत्ति० अनु० ५ फिर आप कैसे कहते हैं कि स्वामीजी ने स्वयं कलामा की है। "सन्ति" का अर्थ स्वामी जी ने "सर्वोत्पादक" किया है वही आप ने द० ति० भा० पृ० २५ पं० २० में लिखा है कि "सवनात्सन्निता" उत्पादक होने से "सविता"। "धियः" का अर्थ स्वामी जी ने "बुद्धियों को" किया है वही आप ने द० ति० भा० पृ० २५ पं० ९ में "बुद्धयोर्वेधियः" बुद्धिवां थी हैं, ऐसा लिखा है। आप सविता शब्द से आपने दिये प्रमाण के विरुद्ध सूर्यलोक का ग्रहण करेंगे और गायत्री से सूर्य देव की भौतिक उपासना मिट्ट करेगे तो आपने ही जो विस्मयपूर्वक गायत्री मन्त्र में भाये "भर्गः" पद का अर्थ लिखा है कि—

भट्तिभासयतीमान् लोकान्। रइतिरञ्जयत मानिभूतानि।  
गइतिगच्छन्त्यासमन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः ॥

इस का अर्थ भी आपने पृ० २५ पं० ५ में लिखा है कि—“सुषुप्तिप्रबोध वा महा-प्रलय, उत्पत्ति काल में सर्व प्रजा, परमात्मा में लीन होकर उत्पन्न होती हैं” ॥ देखिये आपने भी यहां “भर्ग” शब्द के अर्थ में परमात्मा का ग्रहण किया है। इस से मिट्ट हुआ कि स्वामी जी ने जो अर्थ किया है वह मङ्गत और शास्त्रानुकूल होने के अतिरिक्त आप के पुस्तक से भी पुष्ट होता है। यह दूसरी बात है कि आप ने पाण्डित्यप्रकाशनार्थ व्याहृतियों का अर्थ करते हुए तैत्तिरीय का पाठ बहुत सा भरदिया और आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ लिख दिये और स्वामी जीने वे सब अर्थ न लिखकर संक्षेप से एक अर्थ लिख दिया जो ब्रह्मयज्ञ में उपयोगी था और उन्होंने ने सत्यार्थप्र० पृ० ३८ पं० २२ में प्रथम ही लिख दिया है कि अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ “संक्षेप” से लिखते हैं। इस लिये उपपर यह तूतान गवागा और तैत्ति० का बहुत पाठ लिख पारना और कृपा लिखना कि स्वामी जी ने अपनी कल्पना तैत्ति० के नाम से की है, सब अनर्थ और अनर्थ है। और आपने जो:—

खल तात्मनोत्मा नेतः मृताख्यश्चेना मन्ना गन्तोत्सृष्टानन्द-  
यिता कर्त्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पृशति च ॥

और

विभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवं ह्याह । इत्यादि-

लेख ने बृहदारण्यक के इस पाठ को गोड़ दिया है कि:-

आत्मैत्येवापातीतात्रह्योतेसर्वएकंभवान्ति । बृह० अ० ३ ब्रा० ४ ॥

सो आपने चातुर्य नहीं किया किन्तु खुल्लम खुल्ला भूँठ लिखा है । भला पूर्वाक्त पाठ का इस से क्या सम्बन्ध । धन्य ! महाराज ! आपने इसी वःस्ते अपने पूर्वलेख (खश्वात्मनात्मा नेता) का पता जान बूझ कर नहीं लिखा जिस से कोई पना न चला लेवे, भला इस प्रकार के चातुर्य ने कभी सत्यार्थप्रकाश का खण्डन या विद्वानों की आखों पर धूलफेंक कर कार्यविद्धि होमकती है ? या अद्वैतपक्ष सिद्ध हो सकता है ? कभी नहीं । तथापि हम आप के खेरते लेख का अर्थ करके आप को दिखलाते हैं कि इसमें अद्वैत का क्या वर्णन है:-

( भात्मनः आत्मा नेता ) आप के ही लेखानुसार आत्मा अर्थात् गरीरेन्द्रियसंघात का जो नेता आत्मा है वही चेतो मन्ता गन्ता उत्सृष्टा भानन्दयिता कर्ता वक्ता रमयिता प्राप्ता द्रष्टा श्रोता और स्पर्ष्टा है । भला हम से द्वैत अद्वैत का क्या भिन्न हुआ ? और हमरे वाक्य:-

विभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवं ह्याह । अथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयति चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानीतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किंतदवाच्यम् ॥

का अर्थ यह है कि-व्यापक आत्मा देह में घुसा है, यह कहते हैं । जब द्वैतीभूत ज्ञान होता है तब समझा जाता है कि आत्मा सुनता, देखता, सूँघता, चखता और छूता है तथा सर्व को जानता है, परन्तु जब अद्वैत अर्थात् देहादि द्वितीय पदार्थों से सम्बन्ध छूट जाता है तब कार्य कारण धर्म से निर्मुक्त, वचन उपमा और नाम से रहित किम् और तद् शब्द का भी वाक्य नहीं होता । तात्पर्य यह है कि आत्मा में देखना, सुनना आदि व्यवहार, निर्देश, देवदत्तादि नाम-शरीरसम्बन्ध से बनते हैं, केवल में नहीं । भला हम से जीव ब्रह्म की एतता अनेकता क्या निकलती है ? कुछ नहीं ॥

द० ति० भ० ० प० २३ पं० २५ दयानन्द जी ने सत्यार्थप्र० पृ० ६०१ में बेटों

की ११२१ शाखा व्याख्यानरूप बताई हैं, परन्तु गायत्रीमन्त्र के अर्थ करने में किमी भी व्याख्यान की रीति से न लिखा। तथा वेदों की शाखा ११३१ हैं उन्होंने ने महाभाष्य के विरुद्ध ४ न्यून लिखी हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने संक्षेप के कारण आप ने मर्याद तैत्तिरीय शाखा का पाठ नहीं करा परन्तु जितना लिखा है वह मद्यतैत्तिरीय के अनुकूल ही है। हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि जो भयै स्वाामी जी न लिखे हैं वही आपने भी लिखे हैं। हाँ, उन्होंने ने प्रकरणामुक्त संक्षेप से और आप ने प्रकरणविरुद्ध विस्तार से लिखा है। दोनों की ११३१ शाखाओं में ४ संख्या मूल वेद भी अन्तर्गत गिनी हैं उन का पृथक् करके स्वाामी जी ने ११२१ गिनाई हैं, समझ कर देखिये ॥

द० ति० भा० पृ० २८ पं० १ स्वाामी जी ने सवितृपद का व्याख्यान यह लिखा है जो ( सुनोत्युत्पादयति मध्ये जगत् स सविता ) दयानन्द जी ती आपने की निघण्टु निरुक्त का पण्डित मानते हैं फिर यद् विरुद्ध अर्थ क्यों लिखा। क्योंकि निरु० अ० ५ खं० ४ में सवितृपद का उप ख्यान यह है कि ( सविता पु प्रवैश्वर्ययोः भू० प० त्वेचि सविता सर्वकर्मणां वृष्टिप्रदानादिना अभ्यनुज्ञाता ) पु धातु प्रमव और ऐश्वर्य अर्थ में है। प्रमव नाम अभ्यनुज्ञान का है अर्थात् फल देने वाले कर्म का स्वीकार करना। स० सविता देव वृष्टिरूप फल देने वास्ते यावत् प्राणीवर्ग के कर्म को स्वीकार करना है और ऐश्वर्य नाम प्रेरणा का है सो सविता देव सर्वजन्तुमात्र को कर्म में प्रवृत्त करना है। तब निरुक्त के मत में “सुव्रीतीति सविता” होना चाहिये और दयानन्द जी ने “सुनोति” यह प्रयोग रख कर “उत्पादयति” अर्थ लिखा है जो पाणिनिलिखित धात्वर्थ से विरुद्ध है क्योंकि “सुनोति” धातु का अर्थ अभिपद्य है। “अभिपद्य” नाम कण्डन का है सोमवल्ली का रम निकालने में रम का अभिपद्य नाम कण्डन होता है। स्वादिगणी पुञ् धातु का अर्थ उत्पादय नहीं। इन से पाणिनि के भी विरुद्ध है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप ने जो पाठ निरु० भा० ५ खं० ४ का लिखा है वह न तो निगमकाण्ड अ० ५ खं० ४ में है और न देवतकाण्ड अ० ५ खं० ४ में लिखा है। अतः या तो आप पता भूलें वा अन्य कुछ कारण हो हम लिये जब तक निरुक्त में इस पाठ का पता पं० ज्वालाप्रसाद न लगायें तब तक उत्तर देना ठगर्थ है। रही यह बात कि निरुक्तकार के मतानुसार स्वादिगणी पु प्रवैश्वर्ययोः धातु का प्रयोग “सुवति” होता है “सुनोति” नहीं, इस का उत्तर

यह है कि प्रथम ती आप का लिखा निरुक्त का पाठ उम पते पर भूल भी उपस्थित नहीं जो पता आपने उपा है, इस के अतिरिक्त निरुक्तकार ने कहीं धातुओं के गण भी नहीं बताये हैं कि भ्रादि आदि में से अमुकगणी धातु का प्रयोग है इस लिये आप का ( सू० प० ) लिखना असङ्गत है । निरुक्त में केवल प्रयोग से गण पहचाना जाता है जो आप के असत्यपते के निरुक्त में भी सुनोनि वा सुवति इन दोनों में से कोई प्रयोग भी नहीं है ती आप के लेखानुसार भी स्वामी जी का "सुतीति" प्रयोग निरुक्त के विरुद्ध नहीं प्रतीत होता । और पाणिनि का जो आप प्रमाण देते हैं कि पाणिनि ने स्वादिगणी पुञ्जधातु का अर्थ अभिपव लिखा है, उत्पादन नहीं, इसका उत्तर यह है कि महात्मा भी पाणिनि जी ने अभिपव अर्थ ती लिखा है परन्तु यह ती नहीं लिखा कि अभिपव का अर्थ उत्पादन नहीं वा कुछ अन्य अमुक अर्थ है? अर्थ समझना हमारा आप का काम है । मोमवल्ली के रस निकालने में इस धातु का प्रयोग होता है ती यह ती मगभिये कि रस निकालना वा रस उत्पन्न करना इस में क्या भेद है ? कुछ नहीं । रस निकालने का तात्पर्य भी ती यही है कि मोमरस का उत्पन्न करना । इस लिये स्वामी जी का लेख पाणिनि के विरुद्ध नहीं और आप ने जो "सुप्रसवैश्वर्ययोः" धातु को सू० प० लिखा क्या यह अदादि गण में नहीं है ? जब पु धातु भ्रादि अदादि और स्वादि तीनों गणों में है ती स्वादिगण में गण का आदि होने से मुख्य है । ती "मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" के अनुसार स्वादिगणी का ही ग्रहण भी चाहिये, जैसा कि स्वामी जी ने किया है ॥

द० ति० भा० पृ० २८ पं० १६ से लिखा है कि स्वामी जी ने देवपद की वृत्तपत्ति में "दीव्यति दीव्यते वा" यह दो प्रयोग लिखे हैं, परन्तु दिव धातु परस्मैपदी है उम का दीव्यति प्रयोग होता है किन्तु आत्मनेपदी न होने से "दीव्यते" प्रलाप है । यदि कहो कि कर्म में प्रत्यय सान कर आत्मनेपद ठीक है जो भी नहीं क्योंकि ऐसा होता ती स्वामी जी को "यः" के स्थान में कर्तृपद "येन" लिखना था । यदि कहो कि उस पक्ष में यः यह कर्मपद परमात्मा का वाचक है भी प्रकाश्य जड़ जगत् है जो ऐसा करने से प्रकाशता से जड़ता ईश्वर में आवेगी क्योंकि ईश्वर प्रकाश का कर्ता है न कि प्रकाशित कर्म । और देवपद कर्तृप्रकरणस्थपचादिगण में पड़ा है कर्मवाच्य में नहीं और ( सत्र मुखों का देने हारा ) यह देवपद का अर्थ नहीं हो



सकता क्योंकि दिव्य धातु के १० अर्थों में सुख देना अर्थ नहीं है । दयानन्द जी ने यह अर्थ कल्पना कर लिया इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-दीव्यते प्रयोग यथार्थ में कर्मवाच्य है और यही कारण आत्मने पद लिखने का है और प्रकाश “प्रकट होने” को भी कहते हैं क्योंकि पर-आत्मा भक्तों के हृदय में प्रकट होते हैं, इस लिये प्रकाश क्रिया के कर्म भी कहे जा सकते हैं, हम में कुछ दोष नहीं । पञ्चादिगण में कर्तृवाच्य लिखने से हमारी हानि नहीं क्योंकि स्वामी जी ने कर्तृवाच्य अर्थ भी तो लिखा ही है । कर्तृ-वाच्य अर्थ में “यः” है ही कर्मवाच्य में कर्तृपद अप्रयुक्त “येन” का अध्याहार हो-जायगा । “मम सुखों का देने वाला” यह पदार्थ नहीं किन्तु सावार्थ है । दिव्य धातु का “मोद-आनन्द” अर्थ है ही, मम स्वयम् आनन्दस्वरूप है वही अपने भक्तों को सब सुख दे सका है । इस लिये स्वामी जी का तारपर्यं निर्दोष है ॥

### अथाचमनप्रकरणम्

स्वामी जी ने जो आचमन का फल कथ्यस्थकफ और पित्त की निवृत्ति लिखा है और जलाभाव में आचमन की उपेक्षा की है, मार्जन से आलस्य दूर होना लिखा है उस पर द० ति० भा० पृष्ठ २९ पं० ९ से लिखा है कि ‘यदि आचमन का प्रयोजन यह है तो क्या सभी लोग सन्ध्याकाल में कफपित्त यमित होते हैं ? और सब को आलस्य और निद्रा ही दबाये रहती है ? यह निद्रा का समय नहीं और जल से कफ की निवृत्ति नहीं किन्तु वृद्धि होती है और ऐसा ही है तो हाथ में जल लेकर ब्राह्मतीर्थ से ही आचमन की क्या आवश्यकता है । और आलस्य दूर करने की हुलास की चुटकी ही क्यों न सूँघ ली जावे ? अथवा चायवा काफी पीलेवें, वा एमोनिया की शीशी पास रखें और स्नान करने से ही आलस्य न गया तो मार्जन से क्या होता है । इस से स्वामी जी का लिखना मिथ्या है । मनु के अनुसार आचमन की विधि नीचे लिखते हैं कि आचमन से आभ्यन्तरशुद्धि होती है । यथा—अ० २

ब्राह्मेण त्रिप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपसृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमङ्गुनिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

इत्यादि ६०। ६१ और ६२ तक श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यह है कि विप्र का ब्राह्मण वा देवतीर्थ में आचमन करना, उत्र्य में नहीं। ५८। अङ्गुष्ठ मूल में ब्राह्मण, अङ्गुलिमूल में काय, अङ्गुलियों के अग्र भाग में दैव और उन के नीचे विप्रतीर्थ है। ५९। प्रथम तीन आचमन करे फिर दो बार मुख घोबे और जल से इन्द्रियों देह और शिर को धुवें। ६०। फेन और उष्णता रहित जल में उचित तीर्थ में धर्मज्ञता शीघ्र चाहने वाले को मदा एकान्त में उत्तमनुबन्ध होकर आचमन करना चाहिये। ६१। ब्राह्मण हृद्यगत जल में, क्षत्रिय कण्ठगत, वैश्य जिह्वागत और शूद्र स्पर्श में शुद्ध होता है। ६२। आप के चले तो फोट पलून पहर कर मन्थ्या करेंगे फिर स्नान कौन करेगा और मन्थ्या परिक्रमा किस को करे आप की वा मन्थ्यार्थप्रकाश की ? क्योंकि निराकार ईश्वर की परिक्रमा असंभव है। (अपरा सगीपे) मनु में लिखा है कि जलाशय पर गायत्री जपे, परन्तु आप के मत में तो कफने घेरा हुआ पुरुष कोट्टी बझले ही में करेगा इत्यादि ॥

मन्युत्तर-कण्ठस्थकफ की निवृत्तिकण्ठ में थोड़ा जल पहुँचने में अवश्य होती है। स्वर स्पष्ट हो जाता है। जन कफरोग को बढ़ाता है परन्तु यह किसी रोग का तो इलाज नहीं किन्तु सामान्य प्रकार में कण्ठ में कफ रहता और मन्त्रोच्चारणादि में वहाँ का कफ बाधक होता है वह निवृत्त हो जाता है। यदि जल तरहोने में कफरोग को उत्पन्न करता है यह निषेध तो जितने वैद्यक के प्रयोगों में मिश्री, गुड़, शहत, गुड़ूची आदि तरयस्तु खामी के रोग में प्रयुक्त की हैं, सब व्यर्थ होंगएँ। यथार्थ में तरी के द्वारा दोष का नाश नहीं करना है किन्तु उसे शान्त रखना अभीष्ट है और आप ने जो मनु के श्लोक लिख दिये उन में स्वामी जी के लिखे फल का निषेध तो नहीं आया किन्तु आचमन के प्रकार का वर्णन है और ब्राह्मणादि वर्णों की उत्तरोत्तर न्यून जल में शुद्धि का प्रयोजन यह है कि अपने २ वर्णानुसार उन को उत्तमो २ शुद्धि भी न्यूनाधिक ही अपेक्षित है। ब्राह्मण को उत्तम होने में जितनी शुद्धि अपेक्षित है अन्यो को क्रमशः उस में न्यून अपेक्षित है, इत्यादि प्रकार में कारणावाद सर्वत्र खोला जासकता है। हम आप से यह पूछते हैं कि स्वामी जी ने कर्म तो वे २ लिखे ही जिन्हें आप भी मानते हैं परन्तु उस को पुष्टि के लिये यदि स्वामीजी ने कुछ युक्ति भी लिखीं तो क्या दोष हो गया ? और स्वामी जी के लिखने को तो आप न मानियेगा

परन्तु वेदवचन की कैसे न मानियेगा । देखिये यजुर्वेद । ३६ । १२ ॥

शन्नो देवा राभष्टय आपोभगन्तु पीतये । शंघोरभिस्त्रिगन्तु नः

इस का आध्यात्मिक अर्थ तो पञ्चमहागुणविधि के लिखे अनुसार है परन्तु बाधिवैयक्तिक और भौतिक अर्थ पर दृष्टिपात कीजिये-देख्य आपः नः पीतये शंसवन्तु । जोऽस्मान् शभिष्टये शंघोरभिस्त्रिगन्तु । अर्थात् दिव्यजगत् हमारे पीने के लिये सुखदायक हो और वह हम को मनोवाञ्छित सुख की वर्षावे । तात्पर्य यह है कि जलम दिव्य जल से ( जैसा कि मनु ७० २ श्लोक ६१ में स्वच्छ जल से आचमन लिखा है ) आचमनादि करने से सुख की प्राप्ति होती है । अर्थात् शारीरिक सुख तृप्ति शान्ति आदि के लिये जल को प्रयोग में लाना चाहिये । यही कारण इस मन्त्र के आचमन करने में विनियोग होने का है और आलस्यनिवृत्त्यर्थे मार्जन पर जो आप ने लिखा कि क्या मय को आलस्य दबाये रहता है ? और स्नान में आलस्य दूर न हुवा तो मार्जन से क्या होगा । महाशय ! प्रथम तो यह बात है कि जल की छींटा पड़ने से जैसी चेतनता होती है उस प्रकार की स्नान में नहीं होती दूसरी बात यह भी है कि भग्नो प्रातः सन्ध्या में तो स्नान करके बैठते हैं परन्तु सायं सन्ध्या में स्नान का नियम नहीं देखा जाता और तीसरी बात यह है कि जाड़े में भी एक बार नित्य स्नान करना उत्तम कर्म है और गरमी आदि में दो बार या जितने बार से देह शुद्ध रहे । परन्तु स्नान की कर्त्तव्यता, सन्ध्या की कर्त्तव्यता के बराबर नहीं रखी गई । जिस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में-

नतिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिमां ।

सशूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद्विजकर्मणः २ । १०३ ॥

दोष लिखा है कि “प्रातः सायं सन्ध्या न करे उसे शूद्र तुल्य बाहर किया जावे” इस प्रकार मन्वादि किसी धर्मशास्त्रकार ने प्रातःसायं स्नान न कर सकने वा न करने वालों को बहिष्करण नहीं लिखा इस से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि स्नान कर्त्तव्य नहीं किन्तु सन्ध्या के बराबर नहीं । अर्थात् स्नान १ के स्थान में १० बार भी करे और सन्ध्या न करे तो पतित ही हो जायगा । परन्तु स्नान न करके भी सन्ध्यापासन कर लेने वाला पतित नहीं होसकता तो सन्ध्या के अङ्ग आचमन मार्जनादि में स्नान से व्यर्थता लिखना ठीक नहीं । ब्राह्मतीर्थ से सुगम और उत्तम रीति से आचमन हो

सकता है और धर्मशास्त्र ने भी भिक्षु कर्मों के करदिये हैं इस लिए ब्राह्मण तीर्थ से आचमन करना अन्य रीति की अपेक्षा उत्तम है। हुलास की चुटकी से आलस्य दूर करने की विधि सन्ध्याकाल में मछलाखाँ में होती तो वह भी माननीय होती। परन्तु स्वामी जी का तीर्थ प्रयोगन यह था कि जो कुछ विधि शास्त्रानुकूल हैं उनको अनुकूल तर्क से पुष्ट किया जाये, न कि नई बात चलावे स्वामी जी के चेले कोट पतलून पहार कर तीर्थ सन्ध्या कर लेंगे परन्तु आप के चेले तो वेद शास्त्र सन्ध्या आदि सभी से छुट्टी पा गये और पाते जाते हैं। यदि स्वामी जी महाराज का पुरुषार्थ न होता तो अंग्रेजी शिक्षा के फैलते ही सब कर्म धर्म दूर हुवा पा। धन्य है स्वामी जी को जो कोट पतलून वालों को गिराओं से बचाकर सन्ध्या सिखवाई। परिक्रमा मन से परमात्मा की हो सकती है। परिक्रमा का यह अर्थ नहीं जो बाप ठाकुर जी की परिक्रमा समझते हैं कि बीच में ठाकुर जी को करके उनके चारों ओर घूमना। किन्तु परि=मय और, क्रम=घूमना अर्थात् मय और मग जावे और जहाँ जावे वहाँ परमात्मा की ही पावे, पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर ऊपर नीचे सर्वत्र परमात्मा की ही पावे। यह परिक्रमा है। ( जपों भगीपेठ जलाशयों के किनारे हरिन मुख पत्र पुष्पादि से रम्यस्थान में सन्ध्या करे और बाप कोठी बंगलों पर क्यों चढ़े हैं। यदि कोठी बंगलों में सुन्दर फव्वारे लगे हों, एकान्त हो, पुष्पादि के गमलों से सुसज्जित हो तो क्या हानि है। इस प्रसङ्ग में शास्त्रीय प्रमाणों से काम न लेकर आपने ठठोलबाजी बहुत की है, अतः हम को अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० ३० पं० २२ से लिखा है कि स्वामी जी ने जो दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करना लिखा है सो क्या अधिक करने में कोई पाप है? परमेश्वर का नाम जितना अधिक लिया जाय श्रेयस्कर है इसलिये स्वामी जी का दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र का विधान ठीक नहीं ॥

प्रत्युत्तर-जब आप को त्रिकाल सन्ध्या का कोई प्रमाण न मिला तो धन्य ! यही लिख दिया कि परमेश्वर का नाम श्रेयस्कर है। हम भी तो कहते हैं कि परमेश्वर का जितना अधिक स्मरण करो अच्छा है परन्तु प्रसङ्ग तो यह है कि जिस सन्ध्योपासन के बिना किये द्विज पतित हो जाता है उस का विधान तो स्वामी जी के लेखानुसार ही शास्त्र से केवल दो काल में सिद्ध है। यूनं तो “ अधिकस्याधिकं फलम् ” के अनुसार त्रिकाल सन्ध्या की

अपेक्षा भी समस्त दिन उसकी संपासना करो तो क्या पाप है ? तब आप की प्रिकाल सन्ध्या जो वेद और धर्म शस्त्र की मर्यादा से भिन्न भाव में प्रचरित है उस की निर्मूलता स्वामी जी ने लिखी सो ठीक ही है ॥

द० ति० भा० पृ० ३० पं० २६ से लिखा है कि सन्ध्या० पृ० ४२ पं० १५ स्वाहा शब्द का यह अर्थ है कि जैसा ज्ञान आत्मा में वैसा ही बोले । मनीषा-यह स्वाहा शब्द का अर्थ कौन ने निरुक्त से निकाला भला ऊपर जो भाप ने लिखा है कि "प्राणाय स्वाहा" तीव्रता यह अर्थ हुआ कि प्राण अर्थात् परमेश्वर के अर्थ जैसा ज्ञान आत्मा में होवे वैसा बोले । भला यह क्या बात हुई इसमें हवन की कौन सी कला सिद्ध होती है । सुनिये स्वाहा अव्यय है गिम के अर्थ हवित्यागन करने के हैं जो देवता के उद्देश से अग्नि में हवि दिया जाता है उस में स्वाहा शब्द का प्रयोग होता है जैसे "प्राणाय स्वाहा" प्राणों के अर्थ हवि दिया या प्राणों के अर्थ श्रेष्ठ होम हो ॥

प्रत्युत्तर-स्वाहा शब्द के उक्त स्वामी जी कृत अर्थ में प्रमाण सुनिये जो उन्होंने ने "पञ्चमहायज्ञविधि" में लिखा भी है:-

स्वाहा कृतयः स्वाहेत्येतत्सुआहेति वा स्वावागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा तिसामेषा भवति ॥

निरु० दैवत कां० भा० ८ खं० २० ॥

इस में से "स्वा वागाहेति" का अर्थ भी "पञ्चमहाय०" में लिख दिया है कि "यास्वकीया वारहानमभ्ये वर्त्तते सा यद्वा तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाक्यम्" । अर्थात् जैसा ज्ञान मन में हो वैसा कहे किन्तु बाहर भीतर में भेद करके कपट व्यवहार न करे । यह तो प्रामाण्य हुआ । अब यह भी सुनिये कि प्राण नाम परमेश्वर का है तो "प्राणायस्वाहा" का क्या अर्थ हुआ । इस का यह अर्थ हुआ कि परमेश्वर के लिये अर्थात् उस की प्रसन्नता के लिये सत्यही बोलना कपट न करना और जो अपने जो आहुति देना अर्थ लिखा है वह भी ठीक है और वह स्वामी जी ने भी "पञ्चमहायज्ञविधि" में निरुक्त के "स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा" इस वाक्य का प्रमाण देकर लिखा है परन्तु यहां सत्यार्थप्रकाश में यह मसक्त कर कि पञ्चयज्ञ का विधिपूर्वक लेख भी पञ्चमहायज्ञविधि में है ही यहाँ सब लोग पढ़ कर जानलेंगे कि इसलिये संक्षेप से सन्ध्योपासनादि की शिक्षा के प्रसङ्ग में छोड़ा सा लिख दिया । संक्षेप के

के कारण जैसा "पञ्चमहा०" में स्वाहा शब्द के कई अर्थ निरुक्त के प्रमाण से लिखे हैं वे विस्तारभय से यहां नहीं लिखे। और" स्वाहा भाष्य है "यह जो आप ने लिखा तो क्या स्वामी जी ने हम के अव्यपत्त्य का निबंध किया है? यदि नहीं किया तो व्यर्थ आप क्यों पुस्तक बढ़ाते हैं?

२० ति० भा० पृ० ३१ पं० ८ से अग्निहोत्रविषयक सत्यार्थप्र० के लेख पर हतने आक्षेप हैं:—

१—यज्ञपात्रों की आकृति वेद विरुद्ध है ॥

प्रत्युत्तर—आप कृपा करके वेदोक्त आकृति लिखते तो जाना जाता कि स्वामी जीने वेदविरुद्ध लिखा। परन्तु आप के प्रमाणशून्य कथनमात्र से कोई नहीं मान सकता ॥

२—यदि अग्निहोत्र का फल जग वायु की शुद्धि है तो पोड़ीमी बाहु-तिपां में क्या होगा किमी आदित्य की दूकान में आग लगा देने चाहिये जल वायु की शुद्धि तो प्राकृत नियम से ही होती है वन में अनेक सुगन्ध पुष्प वायु में प्रसरण को स्वयं ही प्राप्त होते हैं। वायुशुद्धि गन्ध से ही सकती है। जलशुद्धि निर्मली के बीज से हो सकती है ॥

प्रत्युत्तर—हम भी आप से कह सकते हैं कि यदि अन्न से क्षुधागिवृत्ति होती है तो क्या किमी हलवाई की दूकान लूट खाइयेगा वा अनाजमण्डी का चर्चण करलेगा उचित होगा? जैसा आप किमी की घृत की दुकान में आग लगाने से कहते हैं। प्राकृत नियम से जै। दुर्गन्धयुक्त पदार्थों के बदले सुगन्ध का प्रसाद परमात्मा करते हैं वैसे ही मनुष्यों के उत्पन्न किये गये दुर्गन्ध फैलाना रूप पाप की निवृत्तिके लिये वा अग्नि वायु जल आदिभौतिकदेवव्रह्मण की निवृत्ति करने भायत् जलादि अशुद्ध को शुद्ध करने के लिये परमात्मा ने वेद में हम को हवन का फल बताया है। यथा—

वसोः पवित्रमसि द्यौरस पृथिव्यसि मातरिश्चनो घर्मांसि० ।

इत्यादि। यजुः अ० १ सं० २

"यज्ञो वै वसुः" शतपथ १।५।४।९। वसु जो यज्ञ है वह पवित्र है। दिव्यगुणयुक्त है। विस्तार युक्त है, वायुशोधक है। मूल मन्त्र में मात-रिश्च शब्द वायु के लिये है। "मातरिश्वा के वायुः" निरु० ७ । २६ ॥ इत्यादि शतशः प्रमाण वेदों में यज्ञफल सूचक हैं जिन्हें विस्तारभय से यहां कहां तक उद्धृत करें। गन्ध में सुगन्ध है वा दुर्गन्ध जो यह भी नहीं जानता उस से

गन्ध की गन्ध आपही को भावेगी । निर्मली से जल की गन्धी ही कीबल नोचें बैठ सकती है, अन्धरोगकारक वस्तु नहीं । परन्तु वायु और भेदी तककी शुद्धि करके यज्ञ संभार भर का उपकार करता है । यदि प्रत्येक मनुष्य पूर्वोक्त कृतियों के समान गौ आदि पालें और नित्य हवन यज्ञ करें तो थोड़ा आहुति न रहें किन्तु भरत के २० करोड़ आर्यवंशियों की १० । १० आहुति मिलकर २ अरब प्रतिदिन की आहुतियों से समस्त देश में आनन्द मङ्गल हो जावे । परन्तु वेद में तो देवनों ( जल वायु आदिकों का दूत " अग्नि " लिखा है, जैसा कि हम नीचे लिखेंगे और आप स्वयं देवदूत बनकर सूर्य चन्द्रादि भौतिकदेवों के मान की सायत्री पुत्रवाका अपने घर लेजाने की ही परिपाटी स्थिर रखना चाहते हैं तब भला यह लोकोपकार कैसे हो ॥

३-यदि सन्नपाठ का कारण यह है कि मन्त्रों में हवन के फल का वर्णन है तो " गायत्री और विश्वानिदेव " इन मन्त्रों से आप ने क्यों आहुति लिखी इन मन्त्रों के अर्थ तो अग्निहोत्र के फल को नहीं बताते ॥

प्रत्युत्तर-मुख्यमन्त्रों में जैमे अग्नये स्वाहा । सोमय स्वाहा । वायवे-स्वाहा । वरुणाय स्वाहा । प्राणाय स्वाहा । इत्यादि में वायु जल प्राण आदि के अर्थ तो हैं ही परन्तु हवन की सायत्री विशेष हो तो गायत्री आदि मन्त्रों से परमात्मा की स्तुतिार्थनोषादना करता जावे और शेष सायत्रों को अग्नि में चढ़ादेवे यह तात्पर्य स्वाामी जी का है । किसी मुख्य यज्ञ की कोई आहुति विशेष तो गायत्री से स्वाामी जी ने नहीं लिखी । जो अग्निहोत्र के विशेष मन्त्र " समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्ति-नृहव्याजुहोतम् " इत्यादि हैं उन में तो अग्नि में समिधाहोम घृतहोमादि का अर्थ स्पष्ट है ही । दुर्गापाठ के तुल्य-

" गर्गं रक्षणं मूढं मधु यावत्पयाम्बहम् " गदिरा की आहुति वेद में नहीं लिखी ॥

४-गायत्री से प्रथम छुटिया बन्धवाहं फिर रक्षा की फिर जप किया अब भी फूला । आगे २ वंजिन लगाकर रेल चलायेंगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर स्वाामी जी ने यदि रक्षादि क र्थ किये तो अनर्थ क्या किया परन्तु आप तो अपने बड़ों को मानते हैं कि उन्होंने ने गायत्री के जप में ही इतना सामर्थ्य बढ़ाया था कि धोती गिराधार आकाश में सुखाने, जल में आगि जलती, किसी काम में चाहते तो ले लेते इत्यादि । और इन में रुदेह

नहीं कि हम आप के समान गायत्री को सामर्थ्यहीन नहीं समझते, जैसा आप का भाई धर्म से विधर्म होजावे ती आप की गायत्री गङ्गा यमुना आदि कुछ नहीं कर सकती । यहां यह बात नहीं, किन्तु आप के मुरादाब द में और अन्यत्र शतशः पतित भाईयों का उद्धार इस सामर्थ्यवान् गायत्रीमन्त्र ने हम ने किया और देखिये भागे २ क्या करेंगे, घबराते क्यों हो । गायत्री मन्त्र की विचित्र शक्ति को देखना क्या २ काम देती है। कदाचित् आप भी भी भूत प्रेता गायत्री से दूर किया करते हैं और यज्ञमानों से दक्षिणा लिया करते हैं । फिर बिना दक्षिणा मांगे स्वामी जी ने गायत्री से रक्षा और होमादि का विधान किया तो बुरा क्या किया ॥

५-जलवायु की शुद्धि प्रयोजन है ती प्रातःसायं कानियम क्यों ? स्नानादि की आवश्यकता क्या है? पात्रों की क्या आवश्यकता है? घूँहें या हाथों में भोजन दें। और मन्त्रपाठ बिना हवन करो तब भी कष्टरूप रह सकता है ॥

प्रत्युत्तर-प्रातःसायं ही मन्त्र कामों के प्रथम और मन्त्र के पश्चात् प्रधान कार्य करने चाहिये । तथा वेद ने भी "सायं सायं गृह्णतिर्नोऽप्रातः प्रातर्गृह्णतिर्नो" ( अथर्ववेद कां० १९ अनु० ७ सं० ३ । ४ ॥ ) प्रातःसायं ही इस का विधान किया है । समय भी यही ऐसा है जिन में प्रायः चित्त स्थिर शान्त और अन्यकामों से निश्चित होता है इत्यादि अनेक कारण हैं जिन से प्रातः सायं समय ही उत्तम है । शुद्धिकारक कर्म करते हुये क्या देह को शुद्ध करना आवश्यक नहीं जो स्नान को व्यर्थ बताते हो । पात्रों के बिना यह कार्य भिन्न नहीं होता जैसा उस कार्य के लिये बनाये हुए विशेष पात्रों से और यों ती कड़ाही का काम तवे और घाली का काम तंबिये आदि से अभाव में लिया ही जाता है और अभाव में हवन भी स्थिर पर करते ही हैं, परन्तु जिस २ कार्य के लिये जो २ पात्र बनाये गये हों वह २ कार्य उन २ पात्रों से जैसा उत्तम होता है वैसा अन्यथा कदापि नहीं हो सकता इस कारण पात्रविशेष का लिखना सार्थक है ॥

६-यजुर्वेद के अ० ५ सं० ३७ अ० ११ सं० ३५ । ३७ और उन का अर्थ लिखकर कहते हैं कि ये मन्त्र परलोक स्वर्गप्राप्त्यर्थ अग्नि की स्तुति विधान करते हैं । अग्नि देवदूत है । अग्नि हमारा धन संपादन करो । संघामों की विदीर्ण करो । अन्न हमें देओ । शत्रु को जीतो । देवतों को हवि पहुंचाओ । यज्ञमान का पालन करो । अपने लोक में ठहरो । पुष्करपत्र पर भले प्रकार बैठो इत्यादि अग्नि की स्तुति लिखी है ॥



प्रत्युत्तर-हम आप के किये अर्थों को मानलें तब भी कोई हमारे पक्ष की हानि नहीं क्योंकि जल वायु की शुद्धि से शीर्ष धैर्य आरोग्य बल पुष्टि आदि बढ़ते हैं जिम से धन, जय, अन्न, कल्याण की प्राप्ति होती है। इस से वह बात खण्डित नहीं होती जो हम ने ऊपर यशुः अ० १ पं० २ से वायु की शुद्धि यज्ञद्वारा सिद्ध की है। और अग्नि को देवदूत अर्थात् वायु आदि देवतों को उन के लिये दिया हुआ भाग पहुंचाने और उस से उन को प्रमन्न अर्थात् स्वच्छ शुद्ध अन्नकून करने वाला तो हम भी मानते हैं, स्वामीजी ने भी माना है। परन्तु आप तो अग्नि के स्थान में अग्निमुख ब्राह्मणों (गामगात्र) के ही द्वारा सब देवतों की पूजा सामग्री के चट कराने की रीति ही अच्छी समझते हैं। अग्नि के द्वारा (जो देवदूत है) देवभाग उन को प्राप्त कराना तो आप "आग में भोकना फूंकना" आदि कठोर शब्दों से व्यवहार करते हुये अच्छा ही नहीं समझते। और द० ति० भा० पृ० ३२। पं० २५ और पृ० ३३ पं० ३ में जो मनु के अ० ३ श्लोक ७६। ७४। ७३ से यह लिखा है कि "विद्या पढ़ने पढ़ाने, ज्ञान, हवन, ३ वेद पढ़ने औद यज्ञादि के करने से ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। अग्नि में डाली आहुति सूर्य को प्राप्त होती, उस से दृष्टि, दृष्टि से भस्म, भस्म से प्रजा को उत्पन्न करती है। ७६। आहुतजप, हुत हवन, प्रबुन, भूतबलि, ब्राह्महुत श्रेष्ठब्राह्मण की पूजा, प्राशितभ्रातृ। ७४। अग्निहोत्र में युक्त होय तो जगत् को धारण करता है" इत्यादि का उत्तर यह है कि वेदादि के पढ़ने से आभ्यन्तर और हवनयज्ञ से बाह्य जलादि की शुद्धि होकर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक मनुष्य, परब्रह्म की प्राप्ति के योग्य होता है, इस में विवाद ही किसे है। परन्तु आप स्वामी जी के विरुद्ध वायु आदि की शुद्धि की हेतुता न हो, ऐसा कोई फल यज्ञ का बतावें। किन्तु आप तो आहुति से वर्षा और जलादि द्वारा प्रजा का धारण पोषण मनु के प्रमाण से लिखते हैं, जिसे स्वामी जी और हम लोग निर्विवाद मानते हैं और वह वायु की शुद्धि दृष्टि होकर अन्नादि शुद्ध पदार्थ खाने योग्य उत्पन्न हों तभी संसार का धारण पोषण हो सकता है, सो ठीक है। हमें आप के समान पक्षपात नहीं कि ठीक बात आप लिखें और स्वामी जी के लेख की पुष्टि करें, तब भी हम न मानें। ओक ७४ में अहुत, प्रबुत, हुत, प्राशित, ब्राह्महुत ये पञ्चमहायज्ञों के नामान्तर हैं, इस से हमारा कोई विरोध नहीं, आप की विशेष दृष्टिद्वि नहीं, अर्थ पुस्तक बढ़ाई गई है। और पृ० ३३ पं०

१५ में मन्त्र के श्लोक में जो संध्या और हवन में पापनिवृत्ति लिखी है, सो ठीक है, संध्याकी द्वारा आभ्यन्तर राग द्वेपादि और हवनमें वायुविकारादि बाह्य दोष निवृत्त होते हैं, इन में स्वामी जी की लेख का खण्डनही आपने क्या किया। देव यज्ञ का विशेष मण्डन देखना हो तो मेरा व्याख्यान "वैदिकदेवपूजा" देखिये ॥

### अथ स्त्रीशूद्राध्ययनप्रकरणम्

२० नि० भ ० पृ० ३३ पं० २९ से पृ० ३४ पं० २५ तक सत्यार्थप्रकाश पृ० ४३ । ३१ । ७१ । ७४ के लेख अधूरा करके शङ्का की है कि स्वामी दयानन्दमास्वामी भी मन्त्रभाग छोड़ शूद्र को पढ़ना सुश्रुत से प्रमाणित करके फिर "यद्येसां" आदि मन्त्र में शूद्र को पढ़ने का अधिकार निखते हैं। और "तुम कुश में पड़ो" इस को दुर्बचन बता कर उलटाहना दिया है ॥

प्रत्युत्तर—अधिकार शब्द के दो अर्थ हैं, १- 'योग्यता' २- 'स्वत्व'। स्वामी जी ने वा अन्य किसी ऋषि ने जहां २ शूद्र को मन्त्रमंहिता छोड़ कर अन्य सब कुछ पढ़ना लिखा है उस का तात्पर्य योग्यतापरक है अर्थात् शूद्र मन्त्र-मंहिता पढ़ने की अयोग्य है वा उस के पढ़ने की योग्यता से रहित है। जैसे स्कूल में सब विद्यार्थी ऊँची कक्षा में पढ़ने को योग्य नहीं होते किन्तु कोई कोई होते हैं। जो नहीं होते उन्हें कहा जा सकता है कि वे ऊँची कक्षा ( क्लास ) के योग्य नहीं वा उन्हें उस कक्षा में पढ़ने का अधिकार नहीं है ॥

'स्वत्व' अपनापन को कहते हैं। और जहां २ वेदमन्त्रों, ऋषिवाक्यों और सत्यार्थप्र० में वेद पढ़ने का शूद्र को अधिकार है यह लिखा है उस का तात्पर्य स्वत्व ( इमतहक़ क़ ) परक है। अर्थात् जैसे ईश्वररचित अन्य पदार्थों में उपाकार ग्रहण करने का योग्यतानुसार सब को स्वत्व ( अधिकार वा इम-तहक़क़ ) है उनी प्रकार वेद जो ईश्वर का दिया ज्ञान है उस पर भी सब का स्वत्व ( हक़ ) है। तदनुसार शूद्र का भी अधिकार ( हक़ ) है ॥

योग्यता और स्वत्व में भेद है। योग्यता न होने से अयोग्य पुरुष उस पद पर बैठाया भी जावे तो भी अशक्त होंगे। और स्वत्व न होना वह कष्टाता है कि चाहे योग्य भी हो तब भी स्वत्व न होने से उस पद पर नहीं बैठाया जा सके। जैसे देवदत्त के धन का स्वत्व ( हक़ ) उस का पुत्र ही रखता है। अन्य किसी का पुत्र चाहे इम योग्य है कि वह उस धन को लेकर बर्त सके परन्तु अधिकारी ( हक़दार ) नहीं है वस इसी प्रकार शूद्र अपनी अयो-

योग्यता के कारण अनधिकारी है, परन्तु स्वत्व के कारण अधिकारी (मुस्तहक) है। क्योंकि एक ही पिता परमात्मा को वेदविद्या देने से उस के पुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र दि सब ही अधिकारी (मुस्तहक) हैं। जैसे किमी पिता के चार पुत्र में से योग्यता के तारतम्य (कमी बेसी) से कोई अधिकारी हो और कोई न हो परन्तु स्वत्व सब को है अर्थात् जब ही उन में से कोई अयोग्य अपनी अयोग्यता दूर कर ले तब ही अधिकारी हो जायगा। परन्तु दूसरे पुत्र का पुत्र पूर्वोक्त अन्य पिता के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार परमात्मा के चारों पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। उन में से जो अयोग्य है वह कोष का फल नहीं पाता परन्तु अयोग्यता दूर करके योग्य होने पर सब को उस पर अधिकार (इमतहक) अवश्य प्राप्त है। जैसे अन्य किसी का पुत्र अन्य किसी के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सकता। वैसे परमात्मा की वेदसंपत्ति का अधिकारी योग्य होने पर भी कोई शूद्रादि कुलोत्पन्न होने मात्र से) न हो यह नहीं होना चाहिये, न हो सकता है ॥

दयानन्दतिगिरभास्कर पृष्ठ २५ पंक्ति ३ ॥

**संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च । शारीरक सूत्र ३६**

अध्याय १ पा० ३

विद्या पढ़ने के लिये उपनयनादि संस्कार सुनने से शूद्र वेदविद्या पढ़ने का अधिकारी नहीं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस पूर्व लिख चुके हैं कि अनधिकार का जहां जहां वर्णन है वह योग्यता के अभाव से है ॥

५० ति० भा० पृ० ३५ पं० ७ मनु के अ० २ श्लोक १७१ । १७२ से लिखा है कि उपनयन संस्कार से पूर्व वेदपाठाधिकार नहीं ॥

प्रत्युत्तर—अयोग्य दशा में शूद्र को अपनी अयोग्यता के कारण अधिकार नहीं। अयोग्यता से योग्यता को पहुँचने की सन्धि में यद्यपि शूद्र शब्द का प्रयोग पूर्वावस्था के अभ्यास से रहो परन्तु योग्यता प्राप्त होते ही वह अधिकारी हो जाता है जैसा कि आप के ही लिखे मनु के वक्ष्यमाण श्लोकों से सिद्ध है:—

**न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।**

**नास्याधिकारो धर्मोऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १० । १२६ ॥**

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।

मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।

तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

अर्थ - न शूद्र में कुछ पातक है, न वह संस्कार योग्य है, न उस का धर्म में अधिकार है, न धर्म करने का उसे निषेध है ॥१२६॥ धर्म की हड्डा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्र से रहित करके भी सत् पुण्यों के आचरण करते हुये दोनों को नहीं प्राप्त होते किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥१२७॥ निन्दा को न करने वाला शूद्र, जैसा २ अच्छे पुण्यों के आचरणों को करना है वैसा २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है १२८ यह श्लोक तथा अर्थ हमने ८० ति० भा० का ही उद्धृत किया है हम कुछ देर के लिये इसी की ठीक मान लेते हैं और पाठकों से निवेदन करते हैं कि ये श्लोक और इन का अर्थ स्थानी जी के सन्यासप्रकाशस्थ सिद्धान्त को पुरा करता है वा पं० उज्जालाप्र० जी के सिद्धान्त को ? १२६ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि शूद्र को न धर्म का अधिकार न धर्मका निषेध है। अर्थात् साधारणतया अयोग्यता के कारण जिन १ धर्मकार्यों को वह नहीं कर सकता उन्हीं का अधिकार नहीं परन्तु जिन २ धर्मकार्यों की योग्यता उस में होती जावे उन २ को करता जावे क्योंकि धर्मकार्य का निषेध भी नहीं है। १२७ और १२८ वें श्लोकों में इसी की ओर भी स्पष्ट किया है कि धर्मेष्ट शूद्र, जैसे २ सदाचार (धर्म) को करता है वैसे २ इस लोक और परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। हम पं० उज्जालाप्र० जी से पूछते हैं कि परलोक की उत्कृष्टता तो आप कहेंगे कि स्वर्ग प्राप्त होता है देवयोगि प्राप्त होती है परन्तु इस लोक की उत्कृष्टता इस के अतिरिक्त क्या है कि शूद्र, शूद्र न रहे। तत्पर्य यह है कि यद्यपि शूद्र अयोग्यता के कारण धर्माधिकारी नहीं होता परन्तु जैसे १ योग्यता बढ़ाता जावे वैसे २ अधिकारी होता जावे और अपने से उत्कृष्ट (वर्ण) पद को प्राप्त होता जावे इसमें कोई धर्मशास्त्र का निषेध (रोक टोक) नहीं है ॥

८० ति० भा० पृ० ३५ पं० २६ अथ वेद मन्त्र का अर्थ बुनिये (यथेनां) इस से पूर्व यह मन्त्र है:-

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायु-  
श्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्चदोश्च-  
सन्नते ते मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे  
सन्नमतामदः सप्तसंश्रितो अष्टमीभूतसाधनी सकामां २ ॥  
अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥

यज्ञः ६ । १ अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-द्यौः, आपः-वरुण  
ये ८ दो २ परस्पर सम्प्रत्य हैं । मेरे काम को यश करो तथा हे परमात्मन् !  
पञ्चतानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी आप का आयतन हैं तात्पर्य यह है  
कि इसी आठवीं वाणी को अनुवृत्ति (पथंगां) मन्त्र में जाती है इस लिये  
इस मन्त्र में उस वाणी का वर्णन है जो यज्ञ के अन्त में यजमान ( दीयताम्  
= दीजिये ) भुज्यताम्=खाइये ) बोलता है । वेदवाणी का प्रकरण नहीं ।  
यह १० ति० भा० का आशय है ॥

प्रत्युत्तर-आप इस मन्त्र में वाणी का प्रयोक्ता यजमान को बताते हैं  
परन्तु आपके माननीय महीधर अपने भाष्य में इस ऋषा की ब्राह्मीगायत्री  
लिखते हैं, जिस का तात्पर्य यह है कि इस ऋषा का ब्रह्म वा ब्रह्मा देवता  
और गायत्री छन्द है । तब बताइये कि आपका लेख महीधर के विरुद्ध कैसे  
माना जाये । नहीं २ आप का लेख तो अपना कुछ है ही नहीं किन्तु आप  
ने तो महीधर से ही लिया है, महीधर को भी यह न सूझा कि प्रथम मन्त्र  
के शारम्भ में तो इस द्वितीय मन्त्र को गायत्री ब्राह्मी लिखा फिर टीका  
करते समय एक अर्थ में स्मरण रखता द्वितीय में भूल गये । इससे पूर्व मन्त्र  
का अर्थ महीधर ने प्रथम इस प्रकार लिखा है:-

परमात्मानं प्रत्युच्यते । हे स्वामिन् ! यस्य तव सप्तसंश्रितानि  
अधिष्ठानानि अग्निवारुन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्युवरुणा-  
ख्यानि तत्राष्टमी भूतसाधनी पृथ्वी भूतानि साधयति उत्पा-  
दयति भूतसाधनी भूमिं त्रिना भूतोत्पत्तेरभावात् इत्यादि ॥

अब परमात्मा के प्रति कहा जाता है कि हे स्वामिन् ! जिस आप के  
७ अधिष्ठान १ अग्नि, २ वायु, ३ अन्तरिक्ष, ४ आदित्य, ५ द्युलोक, ६ जल,

७ वरुण हैं । उन में ८ वीं पृथ्वी है जो कि भूतसाधनी है क्योंकि भूमि के बिना भूतोंतात्ति अस्मात् है इस कारण पृथ्वी को भूतसाधनी कही ॥

आगे चलकर महीधर ने दूसरा अर्थ किया कि:-

विज्ञानात्मा बोध्यते । यस्य तव सप्त संसदः पञ्च बुद्धी-  
न्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्तायतनानि अष्टमी भूतसाधनी  
भूतानि साधयति वशीकरोति भूतसाधनी वाक् इत्यादि ॥

अर्थ अथवा विज्ञानात्मा के प्रति कहा जाता है कि जिन आप के ७ आयतन हैं ५ ज्ञानेन्द्रियां ६ मन ७ बुद्धि । इन में आठवीं वाणी है जो भूत-साधनी अर्थात् भूतों को वश में करने वाली है ॥

अब विचार करना चाहिये कि मूल मन्त्र “अग्निश्च पृथिवी च” इत्यादि में अग्नि आदि ७ अधिष्ठानों के नाम और ८ वीं पृथिवी का नाम स्पष्ट आया है फिर खेतान करके भी ५ ज्ञानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी यह अर्थ कैसे हो सका है और महीधर ने ज्ञानेन्द्रियादि अर्थ किया तो उसे यंत्र या कि अग्नि आदि ८ पदों से जो मन्त्र में आये हैं अपने अभीष्ट अर्थों को व्याकरण निरूपक आदि किसी प्रमाण से सिद्ध करता और महीधर ने नहीं किया तो उस को मानने और उस के सहारे से अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले पं० ज्वालाम० जी को वह अर्थ किसी प्रकार सिद्ध करना या ऐसा न करके केवल अप्रामाणिक लेखमात्र से ७ ज्ञानेन्द्रियादि और ८ वीं वाणी अर्थ लेना सर्वथा असंगत है । हम कोई दूसरा अर्थ भी नहीं करते किन्तु महीधर ने जो प्रथम एक अर्थ मूलमन्त्र के अक्षरानुकूल किया है उसी के ऊपर पं० ज्वालाम० जी तथा पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि वहां वाणी का वर्णन नहीं, फिर उनी वाणी की अनुवृत्ति से जो (यथेसां वाचम्) इस अगले मन्त्र में वेदवाणी का ग्रहण नहीं करते सो ठीक नहीं है और पूर्व-मन्त्र में यदि मनघञ्जन्त अर्थ में से वाणी की अनुवृत्ति लाई भी जावे तो सामान्य करके विज्ञानात्मा की सामान्य वाणी का ग्रहण होगा परन्तु यज्ञ-ज्ञान की दीयतम् भुज्यताम् आदि वाणी का अर्थ करना तो महीधरकल्पित द्वितीय अर्थ से भी असङ्गत है ॥

हमारे पक्ष में दोनों मन्त्रों की सङ्गति इन प्रकार हो जाती है कि पूर्व मन्त्र में अग्नि, वायु, पृथिवी आदि शारीरिक उपकार करने वाले ८ पदार्थों

का वर्णन करके भगले मन्त्र में कपलु परमात्मा ने आत्मिक उपकारार्थे वेद का वर्णन करके आत्मा के उपकार का मार्ग बताया और कहा कि मैंने तुम को यह कल्याणी वशी दी है, तुम ब्रह्मण, तन्त्रियादि सब लोगों को इस का उपदेश करो यह ज्ञान की दक्षिणा है इस दक्षिणा का दाता देवी का प्रिय होता है इत्यादि ॥

यहां तक हमने इन के और सहीधर के द्वितीय अर्थ की समझति तथा स्वामी जो इन अर्थ की समझति दिखाई अब जो तक हमें ने स्वामी जो के अर्थ पर लिये हैं उन का प्रत्युत्तर देते हैं ॥

१-यदि वेद "वाणी" है तो उसके वक्ता का शरीर भी होगा और अग्नि वायु आदित्य अक्षरि के हृदय में वेद का प्रादुर्भाव मानना भी न बनेगा और शूद्र को वेद के पठन पाठन का अधिकार मानना अशुचि में शुचि अद्विक्रम अविद्या है ॥

प्रत्युत्तर-वेद को वशी शब्द से व्यवहार करना, भाविनी संज्ञा को लेकर है अर्थात् परमात्मा जानते हैं कि हमारे उपदेश लिये मन्त्रों की ऋषि लोग वाणीद्वारा संसार में फैलायेंगे तब यह उपदेश वे वाणी कहलायेगा। भाविनी संज्ञा इस को कहते हैं जैसे कोई पुरुष भौत चिन्ते समय भारभ की झंट रखता हो और उस में कोई पुच्छे कि क्या फांते हो तो वह भाविनी=भागे होने वाली संज्ञा का प्रयोग करके कहता है कि भौत चिन्ता हूं तो यद्यपि उस को "हृत्ता चोयते" कहना था परन्तु "चित्तिश्चोयते" कहना है। इसी प्रकार तार पूरने वाला कहता है कि कपड़ा खुलता हूं क्योंकि तार पूरने में कपड़ा बन जायगा और झंट चिन्ते से भौत बन जायगी। इसी प्रकार परमात्मा भी यह जानते हुये कहते हैं कि ऋषियों के हृदय में उपदेश करने में उन की वाणीद्वारा प्रचार होगा, इसलिए शरीर का शङ्का करना व्यर्थ है। मध्ययोगाख्यमूयजुः ५०।८ इत्यादि अनेकशः प्रमाण इस विषय के हैं कि परमात्मा अकाय=शरीर रहित है। शूद्र को अध्ययन करना अशुचि को शुचि मानना नहीं किन्तु अज्ञानों अशुचि जीव को पवित्र वेदोपदेश के द्वारा शुचि करना है ॥

२-स्वामी जो ब्रह्मणादि वर्णों की गुणकर्मस्वभावानुसार मानते हैं तो इन मन्त्र में भाये हुये ब्रह्मणादि पद जातिपरक हैं वा गुणकर्मस्वभाव परक? यदि जातिपरक हैं तो तुम्हारी सिद्धान्तहराणि है और गुणकर्मस्व-

आवपरक हैं तो उपदेश करना व्यर्थ है ?

**प्रत्युत्तर**—इम मन्त्र में आये ब्राह्मणादि पद गुणकर्मस्वभावानुकूल वणों के सन्तानपरक हैं और पिछली तथा होने वाली संज्ञापरक हैं और इस भी तो आप से पूछेंगे कि ब्राह्मणादि पद केवल जन्मपरक हैं वा गुणकर्मस्वभावानुगत जन्मपरक हैं। यदि केवल जन्मपरक हैं तो ईसाई मुसलमान दि मतों में गये हुए जन्म के ब्राह्मणों को भी ब्राह्मणत्व प्राप्त है। यदि गुणकर्मस्वभाव और जन्म सब मिलाकर ब्राह्मणादि पद का वाक्य कोई पुन्य होता है तो आप के मत में भी वही शङ्का रहेगी कि उपमयनादि संस्कारों के समय वेदोपदेश के पूर्व बिना गुणकर्मस्वभाव के आप भी ब्राह्मणादि पदों का व्यवहार कैसे करेंगे ? केवल भाविनी संज्ञा वा माता पिता की संज्ञा से। हमलिये जो उत्तर आपका होगा वही यहाँ हमारा भी जानिये ॥

३-यह यशुर्वेद के २६ वें अध्याय का मन्त्र है इस से पूर्व भी वेद है और आगे भी। इस प्रकार का उपदेश आदि वा जन्तु में चाहिये या मध्य में नहीं। क्यों " इमाम् " =इस वाणी को—ऐसा निर्देश समीपस्थ में होता है दूरस्थ में नहीं ॥

**प्रत्युत्तर**—"इमाम्" का अर्थ यह है कि "इमामुक्तां वक्षामाणां च" अर्थात् यह वाणी जो पूर्व कहीं और और आगे कहेंगे। इम मन्त्र से पूर्व और पश्चात् जो वेद और उस के मन्त्र हैं वे समीपस्थ तो हैं ही आप दूरस्थ कैसे समझते हैं। जब कि इस दूसरे मन्त्र से प्रथम का मन्त्र पूर्व समीप है और तीसरा मन्त्र आगामी समीप है तो दूर कहां हुआ ? यदि कहो कि अन्य मन्त्र तो दूर रहे तो ४ वेदों के आदि वा अन्त में कहने पर भी समस्त वेद समीप न रहता किन्तु सन्निहित मन्त्र और उस के पद और प्रथमाक्षर वा अन्तिम क्षर के बीच में आते ही अन्य सब वेद दूर हो जाता। धन्य आपकी दूर समीप का अर्थ समझने वाली बुद्धि को ! जब आप मार्ग में चलते हुये कहते हैं कि अमुक नगर यहां से समीप है तो उस नगर के दूरस्थ गृह को छोड़ अन्य घर दूर रहेंगे और उस एक गृह का नाम नगर नहीं हो सकता तो भला बुद्धि से शोधें तो सही कि नगर के समीपस्थ की विवक्षा थी वा नगर के एक देश गृह वा उस की सब में खरली भीत वा सब से समीप भीत के पलास्टर की ?। इस प्रकार २६ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र से पूर्व और पश्चात् आये और आने वाले समस्त वेद की विवक्षा है वा समीप कहने से केवल वेद के



आदिरूप वा अन्तरूप अक्षरपात्र की ? धन्य ।

४-अरण्य शब्द से स्वामी जी ने अतिशूद्र लिया है उस को ती वेदीप-  
देष्टु मर्त्यया निष्फल है । जैसे ऊबर में बीज बोना ॥

प्रत्युत्तर-ऊबर में बीज बोया हुआ उपजना असम्भव है परन्तु अतिशूद्र  
का उपदेश करने से कुछ ना कुछ समझना सम्भव है इसलिये ऊषाभूमि का  
दृष्टान्त असङ्गत है ॥

१० ति० भा० ३१ सं० १८:-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम । गोपाय मा शेषधिष्टे०

इत्यादि निरुक्त लिख कर शूद्रा की है कि इन में नीच कुटिल शूद्रों की  
कदापि विद्या नहीं देनी । स्वामी जी इस निरुक्तरूप आश्वेदमन्त्र को गढ़ाव  
कर गये इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम ती इस निरुक्त में विद्या का लेख है वेद का लेख नहीं  
और यदि विद्या शब्द से वेद का ही ग्रहण करो तो शूद्र का नाम तक यहाँ  
नहीं आया फिर शूद्र को वेदानधिकार कैने सिद्ध होगया, कुछ भी नहीं ।  
निरुक्त अ० २ खं० ४ का पाठ और अर्थ यह है:-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेषधिष्टेहमस्मि ।

असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

(विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम) विद्या विद्वान् के पास आई [ और बोली कि ]  
( गोपाय मा ) मेरी रक्षा कर (अहं ते शेषधिरस्मि) तेरा निधि मैं (खजाना) हूँ  
( असूयकाय ) चुगलखोर (अनृजवे) कुटिल और (अयताय) जो यती नहीं उस  
को (न मा ब्रूयाः) मेरा उपदेश मत कर (वीर्यवती तथा स्याम्) इसमें मैं वीर्य-  
वती हूँ ॥ एक ती पं० उवाचाम० जी ने इस को पा० २ पते से लिखा है ।  
निरुक्त में अध्याय और खण्ड हैं, पाद नहीं हैं । यदि पाद शब्द खण्ड को  
जगह भूल से लिखा गया ती दूसरे खण्ड में भी यह पाठ नहीं किन्तु चतुर्थे  
खण्ड में है । दूसरी बात यह है कि आपने "शेषधि" का अर्थ "सुखनिधान" <sup>१</sup>  
किया है परन्तु निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि "निधिः शेषधिरिति" शेषधि का  
अर्थ निधि=खजाना है । तीसरी बात यह है कि यहाँ कुटिल, अज्ञितेन्द्रिय,  
चुगलखोर को विद्यादान का निषेध है परन्तु शूद्रका कुटिलत्वादि दोषयुक्त होना  
आवश्यक नहीं न यहाँ शूद्र पद आया है । यदि किसी ब्राह्मण के सम्मान

में भी कुटिलत्वादि दुर्गुण हों तो उन दुष्ट को शिष्य न करे यह तात्पर्य है ॥  
तात्पर्य ही नहीं किन्तु भगले निरुक्त में स्पष्ट विप्र शब्द आया है। यथा:-

अध्यापिता ये गुरूनाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।

यथैव तेन गुरोर्भांजनीयास्तथैव तान् भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ नि० २।४

जो पढ़ाये हुये विप्र, मन वचन कर्म से गुरु का आदर नहीं करते जैसे वे गुरु के भोजनीय नहीं वैसे उन का पढ़ा हुआ सकल नहीं। इस से स्पष्ट है कि कुटिल शिष्यों की निन्दा का प्रकरण है वणं वा ज्ञानि निन्दा का प्रकरण ही नहीं पूर्व पृ० ४६ में गुरु के श्रोत में सदाचारी कौटिल्यरहित शूद्र की चक्षुषदमसि लिख चुके हैं, कुटिल को नहीं। यहां तक शूद्रानधिकारखण्डन हुआ अब स्त्री के अनधिकार का खण्डन सुगिये:-

२० ति० भा० पृ० ३७ पं० ३१ में “ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्” का अन्वय उलट कर लगाया है कि “ब्रह्मचर्येण युवानं पतिं कन्या विन्दते” ब्रह्मचर्य में जवान हुये पति को कन्या प्राप्त होंगे। तात्पर्य यह है कि पति का ब्रह्मचर्य हों, कन्या का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-आप ही के किये अन्वय में भी दो बातें तो मिट्ट हो गईं १-विवाह में पति की युवावस्था होना। सम्प्रति प्रचलित ८।१० वर्ष के बालकों का विवाह आप के लेख में भी विरुद्ध है। २-यहां सामान्य उपदेश है कि कन्यामात्र युवा ब्रह्मचर्ययुक्त पति से विवाह करें तो यहां ब्राह्मणी आदि द्विज कन्या का वर्णन नहीं किन्तु सभी कन्याओं का है तो शूद्र कन्या भी ब्रह्मचर्य में युवा होते हुये पति से विवाह करे और शूद्रा कन्या का शूद्रपति से विवाह होगा तो इस विधि में ब्रह्मचर्ययुक्त सामान्य करके सब ही कन्याओं के पति होने चाहिये और जब तक वेदादि शास्त्र में कोई प्रमाण स्त्री के अनधिकार का न दिखलाओ तब तक अन्वय में ऐसी खैचतान भी ठीक नहीं। आपने स्त्री के अनधिकार में नाम मात्र की उल्टे सीधे गर्थ करके भी कोई वेदमन्त्र नहीं लिखा। लिखते कहां से है ही नहीं ॥

२० ति० भा० पृ० ३७ पं० ३२ में पृ० ३-पृ० ६ तक “इमं सन्त्रं पत्नी पठेत्” की सङ्गति की है कि इस सन्त्र के विवाह में बोलने का विधान है पढ़ने का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-आप को यह भी खबर है कि पत्नी शब्द का अर्थ क्या है ? “पत्युर्गो यज्ञसंयोगे”। अष्टाध्यायी ४।१।३३ में पत्नी शब्द यज्ञसंयोग में मिट्ट है अर्थात् यज्ञ में योगदान की स्त्री पत्नी कहाती है। कन्या के विवाह में

सम विवाहका यज्ञ का यजमान कीन होना है ? कन्या का पिता आदि । फिर उस की स्त्री कीन हुई ? कन्या की माता आदि । ती भग्न अन्वाधुन्य कैसे चलेगी कि “इसं मन्त्रं पत्नी पठेत्” का तात्पर्य विवाहपरक है और आप की विवाहपद्धति में कहीं लिखा है ? कि “इसं मन्त्रं पत्नी पठेत्” कहीं नहीं । विवाहपद्धतियों में कन्या वा वधू शब्द का व्यवहार है पत्नी शब्द का नहीं क्योंकि विवाह संस्कार में जिस कन्या का विवाह है वह यजमान की पत्नी नहीं किन्तु यजमान की कन्या है । यह मन्धेर कैसे चले सकता है ॥

**वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।**

**पातसेना गुरीवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ मनः ॥**

इस का अर्थ यह नहीं है कि स्त्रियों का विवाह ही उपनयन है किन्तु ( स्त्रीणां वैवाहिको विधिः, पतिमेवा, गुरीवासः, गृहार्थः, अग्निपरिक्रिया, वैदिकः संस्कारः स्मृतः ) स्त्रियों को इतनी बातें वैदिक हैं । वैवाहिकविधिः, पतिमेवा, गुणकुलदान, गृहस्थाश्रम और अग्निहोत्र करना ॥ ती भला अब अग्निहोत्रादि यज्ञ, यज्ञ में यजमानपत्नी होकर मन्त्रपाठ, गुरुकुलवास, ये सब बातें स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार सूचित करती हैं वा अनधिकार ?

उत्तर अधिकार ॥

६० ति० भा० पृ० ३८ पं० ८ में,

**योनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।**

**स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनः ॥**

जो ब्राह्मण वेद न पढ़े और अन्यत्र परिश्रम करे वह वंशमहिम जीते हुए ही शूद्रत्व को प्राप्त होना है । जो ब्राह्मण वेद न पढ़े वह शूद्रतुल्य हो जावे परन्तु शूद्र भी वेद पढ़े तो न पढ़ने वाले ब्राह्मण को शूद्रतुल्य कहना व्यर्थ हो जावे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-इस से शूद्र को अनधिकार तो सूचित नहीं होता किन्तु वेद न पढ़ने वाले ब्राह्मण को जीते ही अर्थात् इसी जन्म में शूद्रत्व लिखा जिन से यह निदृष्ट हो गया कि जो ब्राह्मण वेद हीन हो जाता है तो इसी जन्म में शूद्र हो जाता है अर्थात् वर्ण बल गाना है । शूद्र को अधिकार रहने से जब शूद्र वेद पढ़ कर तद्भूत द्विती को गुणकर्मस्वभावयुक्त हो जाता है

तब शूद्र नहीं रहता, द्विज हो जाता है। जैसे वेद न पढ़ा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ॥

८० ति० भा० पृ० ३८ पं० १७-२० ईश्वर में शूद्र को अनधिकारी करने से पक्षपात नहीं आता जैसे सब को कर्मानुसार धन सन्तानादि देने न देने से पक्षपात नहीं किन्तु न्याय है वैसे ही शूद्र में समझी ॥

प्रत्युत्तर धन सन्तानादि में भी चाहें कर्मानुसार प्राप्त न हो परन्तु किसी की धनोपाज्जन वा सन्तानोत्पादन का अनधिकारी नहीं किया किन्तु धनोपाज्जन और सन्तानोत्पादनायें प्रयत्न करने का सब को अधिकार है। प्रयत्न का सफल निष्फल होना कर्माधीन है। वैसे ही आप के दृष्टान्त में भी मांगो शूद्र को वेदाध्ययन में प्रयत्नवान् का तो धनोपाज्जनादि प्रयत्न के सदृश अधिकार ही है किन्तु अध्ययन करने पर भी विद्वान् होता न होना शूद्र वा ब्राह्मण कोई हो सब को अम और प्रारब्धकर्मादि के आधीन है ॥

८० ति० भा० पृ० ३८ पं० २२

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।

गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्राह्माधिगमिकं तपः ॥ मनुः ॥

इस श्लोक में द्विजः पद से ब्रह्मचारी पुरुष का ग्रहण है ब्रह्मचारिणी कन्या का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-द्विजः पुंलिङ्गनिर्देश से यदि पुरुष ही का ग्रहण है तो मनुष्य शब्द के पुंलिङ्ग होने से मनुष्य पद में भी स्त्रीजाति का ग्रहण न होगा चाहिये। धर्मशास्त्रों में जितने काम करने न करने को सामान्य निर्देश से विधिवाक्य वा निषेधवाक्य लिखे हैं उन के करने न करने, मानने न मानने वाली स्त्री को कोई दोष ही नहीं ? अपराधियों के दण्ड विधानसंग्रह में पुरुष निर्दीर्घ है तो उस प्रकार के अपराध करने वाली स्त्रियां सब छूट जानी चाहियें ? धन्य ! पक्षपात !! जब स्त्रियों के अगधिकार का कोई वाक्य न मिला तो यह खेंच तान !!!

८० ति० भा० पृ० ३८ पं० ३० कन्या को वेद न पढ़ना यह पूर्व ही लिख चुके हैं इति ॥

प्रत्युत्तर-पूर्व क्या। आप चाहे बात २"में इस वचन को "तकियाकलान" बगलें आप को अधिकार है परन्तु स्त्रियों के वेदाध्ययनाधिकार में आप

को ऐन भी श्रुति स्मृत का वाक्य न मिला न लिखा। सत्यार्थप्र० से ही बनावटों श्रुति-

## स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्

ले ली होती। कोई यह तो जानता कि श्रुति के प्रमाण से सिद्ध किया है। अन्य प्रसङ्गों में तो खैर आपने उलटे सीधे शर्षे करके एक आध वाक्य गिख ही सारा है परन्तु स्त्रियों के अनधिकार विषय में तो वह भी न बन पाया, वास्तु खूब मुँह की खाई ॥

## अथ सृष्टिक्रमप्रकरणम्

४० ति० भा० पृ० ३९ से आरम्भ से पृ० ४० पं० २२ तक का भाष्य यह है कि स्वामी जी ने जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातों को असम्भव मानकर त्याज्य बताया है सो ठीक नहीं क्योंकि परमात्मा की विसृति का अन्त कोई नहीं जान सकता जब नहीं जान सक्त तो उस की सृष्टि का क्रम किसी को कैसे विदित हो सकता है उस की सृष्टि में सब कुछ है और हो सकता है। स्वामी जी जिस बात को अपनी बुद्धि से नहीं समझ सकते उसी को सृष्टिक्रम के विरुद्ध कह देते हैं। यदि माता पिता संयोग बिना पुत्रोत्पत्ति असम्भव और सृष्टिक्रम विरुद्ध है तो "तस्माद्ब्रह्माभावायन्त०" वेद में लिखा है कि उस परमात्मा ने छोड़े भेड़ बकरी आदि उत्पन्न किये। फिर यह भेड़ बकरी आदि बिना माता पिता हुए ? वाईश्वर की लुगाई मानींगे ? रागायण महाभारतादि में मृतक जिवाना, पर्वत उठाना आदि लिखा है आप रामायण भारतादि को मानते हैं। इस लिये जो असमर्थ को असम्भव है वह समर्थ को सम्भव है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-निस्सन्देह परमात्मा अनन्त और उस की समस्त सृष्टि का क्रम मनुष्य को अविज्ञेय है परन्तु इस से आप सम्भव असम्भव की उपवस्था का लोप न कीजिये। स्वामी जी ने उतनी ही बातों को असम्भव लिखा है जो रात्रि दिन एक क्रम से हमारे आप के देखने में आती हैं, परमात्मा की वह सृष्टि जहाँ तक हमारा ज्ञान नहीं पहुँचा चाहे कैसी ही हो परन्तु तथापि जानी हुई बातों में कोई क्रम अवश्य है। यदि क्रम न हो तो गेहूँ बोने व ले कृषक को यह विद्या न होना चाहिये कि इस के फल गेहूँ ही होंगे कदाचित् चणे भादि हो जावें और परमात्मा की भूमैयुनी सृष्टि को आप मान्यी मेथुनी भादि सृष्टियों से गिलाकर दोष देते हैं यह बेमन्नी है। सृष्टिक्रम सृष्टिके लिये है वैसे परमात्मा का क्रम परमात्मा के लिये है।

जिम सृष्टि के मनुष्यादि प्राणा अपने २ गुण कर्म स्वभाव मानस्य नियम के विरुद्ध नहीं करते थे। ही परमात्मा भी अपने पवित्र गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। यदि करता है तो क्या परमात्मा कभी पाप करता है ? झूठ बोलता है ? मरता है ? नहीं, नहीं। इस लिये परमात्मा का भी क्रम है। और सृष्टि का भी क्रम है रामायण महाभारत को स्वामी जी ने माना यह लिखना झूठ है। देखो स.यार्थ १० पृ० ६० पं० २५ में "मनुस्मृति वाल्मीकि रामायण महाभारत के उद्योगवर्णान्तर्गत विदुर्नाति आदि अछूते २ प्रकरण पढ़ें" इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के अछूते २ प्रकरण पढ़ाये जायें छुरे २ नहीं महाभारत के आदि पर्व में लिखा है:—

### चतुर्थिशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्

व्यासजी ने २४००० श्लोकों में भारत संहिता बनाई। वर्तमान समय में १०८००० एक लक्ष में अधिक श्लोक महाभारत में हैं वे सब व्यासचित नहीं हैं यही दशा रामायणादि की है। दूसरी बात यह है कि रामायण भारत भागवतादि में लिखी सृष्टिक्रम विरुद्ध अवश्यव बातें ती साध्य पक्ष में हैं। जिन को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करना आप का काम था। आप ने "साध्य" ही को प्रमाण में धर दिया। न्यायशास्त्र में "साध्यप्रमाण" हेतु भी हेतुभास= निश्चय हेतु माना है तो आ। ती साक्षात् साध्य ही का हेतु से प्रमाण-कोटि में धरते हैं। असमर्थ मनुष्य को इतना समर्थ मानना कि अङ्गुली पर पर्वत उठाया यही ती असमर्थ है और उन मनुष्यों को ईश्वर मानना साध्य है, मिथु नहीं। इस लिये सृष्टिक्रम का न मानना न्यायशास्त्र के ८ प्रमाणों में ७ वें सम्भव प्रमाण को अपने हठ में न मानना है और सृष्टिक्रम ईश्वरक्रम सब ठीक है और सब के विरुद्ध बातों का मानना मूर्खता है ॥

### अथ पठनपाठनप्रकरणम्

१० ति० भा० पृ० ४१ पं० १६ में "स्वामी जी ऋषियों की पूर्ण विद्वान् लिख कर भी उन के ग्रन्थों में वेदानुकूल मानना अन्य न मानना लिखते हैं इस लिये वे नास्तिक हैं क्योंकि वे ऋषिप्रणीत भासोक्त ग्रन्थों का अपमान करते हैं। मनु में लिखा है कि:—

योऽत्रमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

जो वेद और शास्त्रों का अपमान करे यह वेदविन्दक नास्तिक जाति पङ्क्ति और देश में बाहर किया जावे ॥

प्रत्युत्तर पूर्ण विद्वान् ऋषि थे इस का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि वे, वेदमण्डिता परमात्मा में अधिक थे किन्तु मनुष्यों में वे पूर्ण विद्वान् थे । उन के वेदविरुद्ध वचन को ( यदि उन के ग्रन्थों में उन का या उन के नाम से अन्य किसी का कोई वचन वेदविरुद्ध जान पड़े ) न मानना उन का अपमान नहीं किन्तु मान्य है क्योंकि मनु आदि ऋषि लिख गये हैं कि वेदवाक्य स्मृति माननीय नहीं । यथा:-

**या वेदवाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुट्टप्यः । इत्यादि**

और जो वेदशास्त्र का अपमान करे यह बाहर किया जावे । यह वचन स्वामी जी पर नहीं किन्तु आप पर घटता है क्योंकि स्वामी जी तो यह कहते हैं कि "वेदविरुद्धस्मृतिवाक्य नहीं मानना" हम से वे वेद का मान्य करते हैं और आप उन के विरुद्ध मानते यह कहते हैं कि वेदविरुद्ध भी स्मृतिवाक्य मानना । वेद का अपमान साक्षात् ही आप करते हैं और ऋषियों का भी अपमान हम लिये करते हैं कि ऋषि लाग वेदवाक्य स्मृतियों को नहीं मानते और आप मानते हैं । हम प्रकार आप, परमात्मा और ऋषि दोनों का अपमान करते हैं । कहिये अब आप को कहां भेजा जावे ॥

२० ति० भा० पृ० ४२ पं० ४ मे-यदि वेदानुकूल ही मानना अन्य न मानना तो पञ्चयज्ञादि की विधि कीन २ मन्त्र के अनुकूल है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो हम यह नहीं कहते कि हम मन्त्रों में साक्षात् ही सब विधि देखला सकते हैं किन्तु हमों का सिद्धान्त तो जैमिनीय मीमांसा के:-

**विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्**

**मी० अ० १ पा० ३ सू० ३**

के अनुसार यह है कि शब्दप्रमाण के साक्षात् विरुद्ध बातें न मानी जावें परन्तु विरोध भी न हो और साक्षात् विधिवाक्य भी न मिले तो अनुमान करना चाहिये कि यह विधि किसी प्रकार किन्हीं ऋषियों ने वेद में साक्षात् वा छत्रनि आदि से देखा ही होगा । तथापि उद्गाता आदि का विधान नीचे लिखे मन्त्र में मूलरूप पाया जाता है:-

**ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति शक्-**

रीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विमिमीत  
उत्सवः ॥ ऋ० मं० १० अष्टक ८ अध्याय २ मं० अन्तिम ॥

अन्वितव्याख्यानाम्—[ त्वशब्दः सर्वनामसु पठित एकशब्दपठ्योपः ]  
एको होता (पुपुष्वान् ऋचां पोषमास्ते) स्वकर्माधिकृतस्मन् यत्र तत्र पठिता  
ऋचो यथाविनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति ( तत्रः शक्नोषु  
गायत्रं गायति ) एक उद्गाता शक्नुतेपलक्षितासु उच्छन्दोविशेषयुक्तास्वृक्षु गायत्रं  
गायत्रादिनामकं साम गायति ( त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति ) एको ब्रह्मा,  
अपराधे जाते सप्तप्रतीकाररूपां विद्यां वदति ( त्वो यज्ञस्य मात्रां विमिमीत  
उ ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्ता विमिमीते विगिहृतया परिच्छिनत्ति ॥

अर्थात् एक होता ऋचाओं की विनियोगानुसार सङ्घटित करता है, एक  
उद्गाता शक्नुतेपलक्षितासु उच्छन्दोयुक्त गायत्र गान करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ  
अपराध वा भूल चूक होने पर उसका प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु  
यज्ञ के परिणाम वा इयत्ता को निर्धारित करता है ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० ११ से जय आपब्राह्मण, निघण्टु, निरुक्तादि की  
सहायता से वेदार्थ करते हैं ती ब्राह्मणादि स्वतः प्रमाण क्यों नहीं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह बात नहीं है कि निरुक्तादि की सहायता बिना वेदार्थ  
हो ही न सके । जब तक निरुक्तादि ग्रन्थ नहीं बने थे तब भी वेद और  
उन का अर्थ या ही मिले निरुक्तादि के प्रमाण इस लिये दिये जाते हैं कि  
जो वेद का अर्थ हम करते हैं उस प्रकार अन्य भी श्रुत २ ऋषि लिखते हैं  
जिस से हमारे समझे अर्थ की पुष्टि होती जावे ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० १८ इन ग्रन्थों में अंगभी वेदविरुद्ध नहीं है ।  
इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्र० में भी यह तो नहीं लिखा कि निरुक्तादि ऋषिप्रणीत  
ग्रन्थों में वेदविरुद्ध है ही है किन्तु यह लिखा है कि यदि इन में वेदविरुद्ध  
हो तो त्याज्य है नहीं तो नहीं । अर्थात् ऋषि यद्यपि पूर्ण विद्वान् थे, उन  
के ग्रन्थों में पुराणप्रणेताओं के से गध्य नहीं हैं, यावच्छक्य ऋषियों ने वेदा-  
नुकूल ही लिखा है परन्तु लौ भी निदान ऋषि लोग सर्वज्ञ परब्रह्मन से भक्त  
एव यदि कहीं किसी आर्यपथ में वेदसंहिता के विरुद्ध कुछ वचन पाये जायें  
तो वहां वेद माना जावे अन्य ग्रन्थ नहीं और यह बात कुछ स्वामी जी ने  
ही नहीं लिखी किन्तु जैमिनि जी भी गीतांसा शास्त्र में लिखगये हैं कि-



विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसतिहानुमानम् । १ । ३ । ३ ॥

विरोध हो तो त्याज्य है और विरोध न हो तो अनुमान करे कि अनुकूल है। यदि वेद से विरुद्ध कोई बात भी इतर ग्रन्थों में आती तो जैमिनि जी ऐसा क्यों लिखते। आप स्वामी दयानन्द स० जी के लेख को न मानियेगा तो जैमिनीय सीसांसा को तो मानियेगा? फिर आप का यह लेख कैसे सत्य हो सक्ता है कि इन ग्रन्थों में अंश भी वेदविरुद्ध नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० ४२ पं० १९ में ( सन्त्रब्राह्मणयोः वेदानामधेयम् ) सन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद कहा जाता है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह आपस्तम्ब की यज्ञपरिभाषा है। परिभाषिक शब्दों का जो अर्थ ग्रन्थकार नियत करते हैं वह सार्वत्रिक नहीं किन्तु उसी अधिकरण में माना जाता है। जैसे पाणिनि जी अष्टाध्यायी में “अदेङ्गुणः” १ । १ । १७ लिखते हैं कि अ, ए, ओ, ये तीन गुण हैं तो व्याकरण ही में गुण शब्द से अ, ए, ओका अर्थ लिया जायगा अन्यत्र नहीं। यदि साङ्ख्य शास्त्र में गुण शब्द आता है तो सत्व, रजः, तमः का अर्थ लिया जाता है। और वैशेषिक में रूप रस गन्धादि २४ गुण माने गये हैं। सो वे २ अपने २ ग्रन्थ में परिभाषिक ( इस्तरलाही ) शब्द हैं। यदि कोई ठपाकरण में गुण से सत्व रजः तमः समझे तो अज्ञान है, वा सांख्य में गुणशब्द से अ, ए, ओ समझे तो सुखता है। इसी प्रकार यज्ञ के प्रकार वर्णन करते हुए आपस्तम्ब के सूत्रों में जहां वेद शब्द आता है वहां ही सन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है न कि सर्वत्र ॥

६० ति० भा० पृ० ४२ पं० २२ में लिखा है कि सत्यार्थप्र० पृ० ३० के लेखानुसार यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में भी वेदविरुद्ध अंश हैं तो वे भी ( विषयपुक्ता अवस्थायाः ) विषयुक्त अन्न के तुल्य त्याज्य है फिर ऋषिप्रणीत को पढ़ने योग्य क्यों मानते हो ॥

प्रत्युत्तर—पूर्वापर प्रसङ्ग देखिये सत्यार्थप्र० पृ० ३० में पुराणों के लिये विषयुक्त अन्न का दूष्टान्त है वह ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में नहीं घटता। पुराणों के कर्त्ताओं ने ईर्ष्या द्वेष आदि से असत्य बातों का ढेर किया है वह अवश्य विषयुक्त है जिस के सङ्ग से पुराणों का सत्य विषय भी विषयुक्त अन्न तुल्य हो गया है परन्तु ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में जो कुछ कहीं भूल भी हो वह ईर्ष्या द्वेषादि से नहीं किन्तु अलक्षता से है इस लिये इसे विषय नहीं कह सक्ता किन्तु

यह ऐसा है जैसे किसी जीवध में कुछ मिट्टी फटकर भादि मिल गया हो तो उसे छांट कर जीवधमात्र ग्रहण करना योग्य होता है इसी प्रकार ऋषिप्रणीत जीवध रूप ग्रन्थ में अस्पष्टता ने आये मिट्टी फटकर भादि निकाल कर जीवधोपम शार्वग्रन्थ पढ़ने चाहिये ॥

### पुराणों का त्रिष-

सर्वन्तु समवेक्ष्येदन्निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥

अर्थ-विद्वान् पुरुष को उचित है कि सब बातों की ज्ञान की आंख से देखकर श्रुति अर्थात् वेद के प्रमाण से पहले धर्म को स्वीकार करे ॥

### तिलकों में विरोध-

पद्मपुराण में कहा है:-

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्य श्मशानसदृशं मुखम् ।

अत्रलोक्य मुखं तेषामादित्यमवलोक्येत् ॥

(तथा) ब्राह्मणः कुलजोविद्वान् भस्मधारी भवेद्भदि ।

वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥

अर्थ-जो लंबा तिलक ( वैष्णवी मार्ग का ) धारण नहीं करता उस का मुंह श्मशान के तुल्य है अतएव देखने योग्य नहीं कदाचित् देख पड़े तो इस का प्रायश्चित्त करे अर्थात् तुरन्त सूर्य का दर्शन कर लेवे ॥ १ ॥ ब्राह्मण-कुलज जो विद्वान् होकर भस्म धारण करे उस को शराब के जूठे वासन की भाँति त्याग देवे ॥

अब देखिये इस के विरुद्ध शिवपुराण में क्या लिखा है:-

विभूतिर्यस्य नो भाले नाङ्गे रुद्राक्षधारणम् ।

नास्ये शिवमयी वाणी तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥

अर्थ-विभूति ( भस्म ) जिस के नाथे पर नहीं और अङ्ग में रुद्राक्ष नहीं पहिने । मुँह से शिव २ ऐसा न कहे वह वास्नाल की भाँति त्याज्य है ॥ इसी प्रकार पवित्रीचन्द्रोदय में भी वैष्णवों को साताह बी है:-

यस्तु सन्तप्तशङ्खादिलिङ्गचिह्नधरोनरः ।

स सर्वयातनाभोगो चाण्डालोजन्मकोटिषु ॥

अर्थ-जो मनुष्य तपे हुए शङ्खादिकों के चिह्न को धारण करता है वह सब नरकयातनाओं को भोगना है और कोटिजन्मपर्यन्त चाण्डाल होगा है ॥

ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट विदिन होता है कि तिलक धारण करने के विषय में पुराणों में सर्वथा परस्पर विरोध है अर्थात् शैवसम्प्रदायी शकाङ्कित सम्प्रदायियों के तिलक को खुरा कहते और वैष्णवसम्प्रदायी शैवादि सम्प्रदायियों के तिलक को अष्ट बनाते हैं इस से यह निश्चय हुआ कि यदि पुराणों को सत्य माना जाय तो सर्व प्रकार के तिलकधारी अष्ट पतित और नरक के अधिकारी ठहरते हैं अतएव पुराण अजाल में फँसाने वाले हुए जैसा कि पद्मपुराण में स्पष्ट लिखा है:-

व्यामोहाय चराचरस्य जगत्श्चैते पुराणागमास्तां

तामेष हि देवतां परत्रिकां जल्पन्ति कल्पावधि ।

सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुस्समस्तागमा

व्यापारेषु विवेचनं व्यक्तिकरं नित्येषु निश्चीयते ॥

अर्थात् गितने पुराण हैं सब समुच्च को अग में डालने वाले हैं उन में जानेक देव ठहराये गये हैं एक ईश्वर का निश्चय नहीं होता । केवल एक भगवान् विष्णु पूज्य हैं ॥

हे पौराणिक भक्तो ! जब सभी पुराण अग में डालने वाले हैं जैसा कि ऊपर के वचन से स्पष्ट है तो तुम्हें अग से बचाने वाला आर्यसनातन के अतिरिक्त और कौन है ॥

पुराणों में देवताओं की निन्दा

ज्ञागवत में लिखा है:-

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।

पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥

मुमुक्षवो घोररूपान् हिरवा भूतपतीनय ।

नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥

अर्धे-जो शिव के भक्त हैं और उन की सेवा करते हैं सो पाखण्डी और सच्चे शास्त्र के वैरी हैं इस लिये जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं सो भयानक वेष भूतों के स्वामी अर्थात् महादेव को छोड़ें और नारायण की शान्त-कलाओं की पूजा करें ॥

अब पद्मपुराण में शिव की स्तुति में यह श्लोक कहे हैं:-

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते ।

शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम् ॥

तस्माद्वै विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन ॥

अर्थ यह है कि-जब लोग विष्णु का दर्शन करते हैं तब महादेव क्रुद्ध होता है और उस के क्रोध से मनुष्य सहानरक में जाते हैं इस कारण विष्णु का नाम कभी न लेना चाहिये ॥

उनी पुराण में ये श्लोक हैं:-

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।

समं सर्वैर्निरीक्षेत स पापण्डी भवेत्सदा ॥

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः ।

न स्पृष्टव्या न दृष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ॥

अर्थ यह है-जो कहते हैं कि और देवता अर्थात् ब्रह्मा महादेव इत्यादि नारायण के समान हैं सो पाखण्डी हैं इन के विषय में इन और बात न बढावेगे क्योंकि जो ब्राह्मण विष्णु को नहीं मानते उन को कभी न छूना न देखना और न उन से बोलना चाहिये ॥

फिर पद्मपुराण में विष्णु की स्तुतियों में यह श्लोक है:-

येऽन्यं देवं परत्वेन यदन्त्यज्ञानमोहिताः ।

नारायणाज्जगन्नाथात् ते वै पापखिडनो नराः ॥

अर्थ यह है कि-जो लोग किसी दूसरे देवता को नारायण से जो जगत् का स्वामी है बड़ा करके मानते हैं सो अज्ञानी हैं और लोग उन को पाखण्डी कहते हैं ॥

फिर इसी पुराण में परस्पर विरोध देखो जैसे:-

एष देवो महादेवो विज्ञेयस्तु महेश्वरः ।

न तस्मात्परमङ्गिञ्चित् पदं समधिगम्यते ॥

अर्थ यह है कि—महादेव को महान् ईश्वर जानना चाहिये और यह संत सनकी कि उस से कोई बड़ा है। फिर इस से विरुद्ध देखो:-

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते ।

तं पनोजाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः ॥

अर्थ यह है कि—विष्णु को छोड़ कर जो दूसरे देव को मानते हैं जो उस मूर्ख के समान हैं कि जो गङ्गा के तीरे प्यासा बैठा कुआ खोदता है ॥

इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु श्रीकृष्ण पराशर शिव भन्नामा वृद्धरूपति इन्द्र आदि सहानुभाव जो कि प्राचीन काल में अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् राजा महाराजा हुए हैं और सत्त्वशास्त्रों में उन का बड़ा मतकार किया गया है और जिन्हें अपि मुनि देवताओं की प्रशियां दी गई हैं, पुराण उन की निन्दा करते और कोई ऐसा दूषण नहीं जो इन देवताओं पर नहीं लगते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ४३ पं० १५ से कौमुदी की निन्दा करते थे परन्तु उन के मरणान्तर अस्ते में निकली, सला व्याकरण में क्या मिथ्यापना है जो कौमुदी आदि को त्याज्य लिखा। काव्य न पढ़ें तो व्युत्पत्ति कैसे हो इनमें क्या बुराई है। आप के “संस्कृतवाक्यप्रबोध” में सैकड़ों अशुद्धि हैं जिस से शुद्धि भ्रष्ट हो जावे। तर्कमंथर क्यों त्याज्य है, उस में वैशेषिक के विरुद्ध क्या बात है। मनु में भी प्रसिद्ध है ती यह भी विषाक्त अक्षयत्त क्यों न त्याग दिया। जब भाषा के सत्र ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं ती क्या सत्यार्थप्रकाशादि भाषा के ग्रन्थ कपोलकल्पित नहीं? यदि सुहूर्त मिथ्या हैं ती संस्कारविधि के पुण्य नक्षत्र उत्तरायणादि मिथ्या क्यों नहीं? और सुश्रुत सूत्रस्थान २ अध्याय में:-

उपनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तेषु० इत्यादि ॥

ब्राह्मण का उपनयन अच्छे तिथि करण मुहूर्त और नक्षत्र में करे इत्यादि और शकुन भी सुश्रुत में लिखा है। सूत्रस्थान अ० १०—

ततो दूतनिमित्तशकुनं मङ्गलानुलोभ्येन । इत्यादि ॥

पार्श्व के दूत निमित्त का जावे ती शकुनादि अच्छे पढ़ें तब रागी को देखे छुवे और पूछे। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-व्याकरणादि सभी विषयों के अविप्रणीत ग्रन्थों का पढ़ना हम लिये अच्छा है कि उन में अपने मुख्य विषय के वर्णन के साथ साथ उदाहरणादि के बिना उस समय के धर्म आचार व्यवहार आदि की भी चर्चा कुछ न कुछ आती ही है जिस से विद्यार्थी पर कुछ न कुछ प्रभाव अविषयों के चालचलन का पड़ा ही है। इसी प्रकार कौमुदी आदि के पढ़ने से उस समय के सिद्धान्त विचार व्यवहार आदि का भी विद्यार्थी पर बुरा प्रभाव न पड़े हम लिये स्वागीजी ने अविप्रणीत ग्रन्थों के प्रचारार्थ लिखा है। भाष्यनिक व्याकरण काठयादि में आंकुषादि पर मिथ्याःरोपित दूषणों का वर्णन है इस लिये उन से विद्यार्थी पर बुरा प्रभाव पड़ेगा अतः त्याज्य लिखा है। संस्कृतवाक्यप्रयोग में खापे आदि की अशुद्धि हों वे पढ़ने वाले शुद्ध फरके पढ़ लेंगे परन्तु कोई अविप्रिद्वान्तविरुद्ध बात तो नहीं जिन से विद्यार्थी का आचरण बिगड़े। तत्कंसंग्रह में वैशेषिक से क्या विरुद्ध है यह तो आप के वैशेषिक पढ़ा है ता तो ज्ञात होता वैशेषिक में:—

**द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानामित्यादि ।**

छः पदार्थ हैं। तत्कंसंग्रह में इस के विरुद्ध—

**द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावाः सप्तपदार्थाः०**

इत्यादि में सात पदार्थ हैं। मनु में प्रसिद्ध है परन्तु भगवद्भूति अविप्रणीत ही है और बहुत न्यून जो कुछ मिलावट हुई है उसे वेद का सिद्धान्त जानने वाले सहज में जान सकते हैं। वह पुराणों के समान जानबूझ कर ग्रन्थ का ग्रन्थ ही तो बनार्य नहीं। भाषाग्रन्थ मात्र को स्वामी जी ने त्याज्य नहीं लिखा, मत्पार्थप्र० खोलकर देखिये पृ० ७१ पं० २७ में यह लिखा है कि “कृत्विणी-मङ्गलादि और सब भाषाग्रन्थ” हम लिखने से स्पष्ट विदिन होता है कि कृत्विणीमङ्गल के मद्दग ओकृष्ण महाशय के शुद्ध चरित्रों को अश्लील अयुक्त रीति पर वर्णन करने वाले ही भाषाग्रन्थ त्याज्य हैं, न कि सत्यार्थप्रकाशादि उत्तम ग्रन्थ। सुहृतादि ग्रन्थों के निश्चय लिखने का तात्पर्य यह है कि उन २ सुहृतां में लिखे फल निश्चय हैं यथार्थ में सुहृत् समयविशेष को कहते हैं। शुभसुहृत् में उपनयनादि लिखने वाले सुहृतादि ग्रन्थकारों का आशय यह है कि जिन सुहृत् में अनुकूलता सब प्रकार से हो वह शुभसुहृत् है न कि अनुकूलता तो १० बजे दिन को हो और ज्योतिषी जो कहते हैं कि शास्त्रों राजि

को मुहूर्त अच्छा है। उत्तरायण इस लिये अच्छा है कि यह देवदिन है। क्योंकि १ वर्ष को देवदिन मानने पर दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण दिन है। इसी प्रकार वार्षिकग्रन्थों की बातें निश्चयोजन नहीं हैं। शकुन का केवल इतना फल युक्त है कि जब किसी कार्य को मनुष्य चलता है तब यदि अच्छे पदार्थ सम्मुख हों तो चित्त को बालहृद् होने से उस कार्य में अधिक उत्साह होता और उसमें कार्य अच्छा बनना सम्भव है। अन्य शकुनावली आदि में लिखे ऊटपटांग शकुनों को मानना और समझना कि "शकुन के विरुद्ध कार्य होनी नहीं सकता" भ्रमता है। क्योंकि केवल शुभ शकुन से चित्त पर कुछ घृणा प्रभाव भी पड़े और दूसरी बातें सब अनुकूल हों तो शकुन कुछ नहीं कर सकता। तार्किक यह है कि ऋषियों की सम्मति के अनुसार शुभ अशुभ कार्यों को देखकर चित्त पर उस का कुछ न कुछ प्रभाव होता है यह ठीक है परन्तु जिस प्रकार प्रथम ग्रन्थों में लिखे शकुनों के विरुद्ध उग काग ही नहीं करते, चाहे कभी ही अन्य अनुकूलता हों, और चाहे जितनी प्रतिकूलता हो भी पर भी केवल शकुन के तारों से जो लोग कास बिगाड़ते हैं, यह भ्रमता है ॥

### अथ इतिहासपुराणप्रकरणम् ॥

२० ति० भा० पृ० ४५ पं० से लिखा है कि-शतपथादि का नाम पुराण नहीं-  
मध्याहुतयो वा तावता देवानां यदनुशासनानि० । इत्यादि

शतपथ का पाठ लिखकर कहते हैं कि "आशय यह है कि विद्या वाक् वाक्प इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी इन का पाठ अवश्य है जो इन को अध्ययन करते हैं देवता प्रसन्न होके उनके सब कार्य पूर्ण करते हैं"

प्रत्युत्तर-कोई पूछे कि प्रमाण तो आप को यह देना था कि भागवतादि का नाम पुराण है, शतपथादि का नहीं। आप यह लिखते हैं कि इन का पढ़ना अवश्य है। सला इनका पढ़ना अनावश्यक कीज बताता था। स्वामी जी ने तो यही लिखा है कि भागवतादि पुराण नहीं किन्तु नवीन हैं, शत पथादि पुराण हैं, उन्हीं का पढ़ना आवश्यक है, उन्हीं के पढ़ने से देवता प्रसन्न होते हैं। अच्छा उत्तर दिया? कोई गावे शीतला, मैं गाऊं गमान ॥

फिर २० ति० भा० पृ० ४५ पं० १५ में-

स यथाद्रैन्याग्नैरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवम्०

शत० का पाठ लिखकर पं० २० में लिखते हैं कि अग् यजुः नाम अथर्व

इतिहास पुराणादि सभी परमेश्वर के आश हैं, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप यह तो ध्यान दें कि आपको मिट्टी क्या करना है और मिट्टी क्या करते हैं। मैं फिर स्माण दिलाता हूँ कि “सागवतादि पुराण हैं” यह आपका माध्य है। “शतपथादि पुराण हैं” यह स्वामी जी का माध्य है। अब न तो ईश्वर के आश होने से यह मिट्टी होता है कि सागवतादि का नाम पुराण है, न यह मिट्टी होता है कि शतपथादि को पुराण नहीं कहते, किन्तु आपको लेखानुसार इतना अवश्य निश्चलना है कि पुराणविद्या उपनिषद् श्लोक सूत्र व्याख्यान अनुव्याख्यानानादि सब ईश्वर का आश है। मैं यह पूछता हूँ कि यदि श्लोक ईश्वर के आश हैं तो क्या “त्रयोवेदस्य कर्तारोभगवद्भूतनिशाचराः” इत्यादि नास्तिकनिर्मित श्लोक भी ईश्वर के आश हैं? इस पक्ष का अच्छे प्रकार खण्डन और इस शतपथ की कथिका का अर्थ सब मेरे बनाये “ऋगादिताप्यमुनिकेन्दूपराने द्वितीयोऽंगः” में लिखा है, जिन को विशेष जिज्ञासा हो, वहाँ देखें ॥

२० ति० भा० पृ० ४६ पं० ११ में जो “अरे अस्य महतोभूत०” और इस का अर्थ लिखा है। इसका उत्तर भी मेरे बनाये “ऋगादि-द्वितीयोऽंगः” में लिखा है ॥

२० ति० भा० पृ० ४६ पं० २४ में आश्वलायनसूत्र लिखा है-

अथ स्वाध्यायमाधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गि-  
रसोब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासः पुराणा-  
नीत्यमृताहुतिभिर्यद्वृचोधीते पयसः कुल्या अस्य पितृन्स्वधा  
उपक्षरन्ति यदयजूंषि घृतस्य कुल्या, यत्सामानि मध्वः कु-  
ल्या, यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या, ब्राह्मणानिकल्पान् गा-  
थानाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृतस्य कुल्या, यथाश्व-  
न्मन्येत तावदधीत्येतया परिदधाति। नमोब्रह्मणे, नमोस्व-  
ग्नये, नमः पृथिव्यै, नमोऽपोपचीभ्यो, नमोवाचे, नमोवाच-  
स्पतये, नमोविष्णवे महतेकरोमीति ॥



भाष्य यह है कि जो ऋगादि चारों वेदों को भीर ब्राह्मणादि ग्रन्थों को कल्प गाथादि सहित पढ़ते हैं उन के पितरों का स्वधा से अभिवेक होता है, ऋग्वेदाध्यायी के पितरों को दूध की, यजुर्वेदपाठियों के को घृत की, सामाध्यायियों के को मधु, अथर्वध्यायियों के को सोम और ब्राह्मण कल्प नाराशंसी इतिहास पुराण पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की कल्पना प्राप्त होती है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-साध्य की मिट्टि का यहां भी पता नहीं । क्यों कि इस से भी ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं हैं, यह भी सिद्ध नहीं होता और न यह होता है कि भागवतादि का नाम पुराण है । किन्तु तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में स्वाध्यय [ पढ़नेवाले ] यज्ञ को पितृयज्ञ की उपमा दी गई है कि जैसे पितरों की सेवा दुग्ध घृतादि से की जाती है वैसे ब्रह्मचारी जो गुरुकुल में रहता है यह अपने माता पिता को घर छोड़ जाता है, उसका वेदादि पढ़ना ही मानो पितृसेवा है । वह जो ऋग्वेद पढ़ता है सो ही मानो पितरों के लिये दूध की कुल्या [ नहर ] खड़ाता है, यजुः पढ़ता है सो घृत की, जो साम पढ़ता है सो मधु की, जो अथर्व पढ़ता है सो सोम की, जो ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ता है जो कि कल्प गाथा नाराशंसी इतिहास पुराण कहते हैं सो मानो अमृत की नहरें खड़ाता है । इस से यह ती सिद्ध न हुआ कि ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं हैं, न यह कि भागवतःदि पुराण हैं, किन्तु चारों वेदों को साह कर फिर ब्राह्मणों को वेदों के पश्चात् और पृथक् गिनाने से ब्राह्मणों का वेदों से पृथक् होना, वेद न होना, वेदों से दूसरी श्रेणी का होना और उनके पुराण इतिहास गाथादि नाम होना ही पाया जाता है ॥

६० ति० भा० पृ० ४७ पं० १२ में-

सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारोवेदाः साङ्गाःसरहस्याः  
बहुधाभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एक-  
त्रिंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणोऽदोऽत्राकोवाक्यमितिहासः  
पुराणं वैद्यकमित्येतावाऽलुब्धस्य प्रयोगविषयः ।

महाभाष्य । १ भाष्यिक

यदि नाराशंसी का नाम ही पुराण होता तो साङ्ग लिखकर फिर पुराण लिखने की क्या आवश्यकता थी । पूर्वोक्त वाक्यों से सिद्ध है कि ब्राह्मण, उप-

निबद्ध सूत्रादि से भिन्न ही कोई पुराण और इतिहास संज्ञा वाले ग्रन्थ हैं । इतिहास का पुराण विशेषण मानो तो इतिहास पुंलिङ्ग है उस का विशेषण पुराण नपुंसकलिङ्ग नहीं हो सका, अतः पुराणमे इतिहासभी कोई भिन्न ग्रन्थ हैं॥

प्रत्युत्तर-यदि उक्त महाभाष्य में यहीं ब्राह्मण पद भी आता और इतिहास पुराण शब्द भी भिन्नविषयक आते तो भिन्न हो जाता कि ब्राह्मण मे इतिहास भिन्न हैं परन्तु जय ब्राह्मण पद नहीं और इतिहास पुराण शब्द हैं तो इस कह सकते हैं कि ये ही पद ब्राह्मण के ऐसे भाग के नाम हैं जिन में कोई कथाप्रसङ्ग है वह ब्राह्मणभाग इतिहास है । जैसे:—

जनमेजयोह वै पारिक्षितोमृगयाञ्जुरिष्यन्हं साम्यामशिक्ष-  
न्नुपावतस्थइति तावूचतुर्जनमेजयं पारिक्षितमभ्याजगाम ।  
सहोवाच नमोवां भगवन्तो कौ नु भगवन्ताविति । गोपय ।  
प्रपाठक २ ब्रा० ५ ॥

यहां परीक्षित के पुत्र जनमेजय की मृगयायात्रा और दो परगहंशों ( संन्यासियों ) का मिलना उन को नमस्कार करके पूछना कि आप कीन हैं ? इत्यादि इतिहास है ॥ और सृष्टि के आरम्भ समय के ऋषियों का वर्णन जिस में हो वह ब्राह्मणग्रन्थों का भाग "पुराण" कहाता है । जैसे:—  
अग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः । शतपथ । ११ । ५।

अग्नि वायु आदि ऋषियों ने ऋगादि वेद हुये । अग्नि वायु आदि तत्त्व न थे किन्तु जीवविशेष थे । यह सायणाचार्य अपनी ऋग्वेदभाष्य भूमिका में लिखते हैं:—

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ॥

\* द० ति० भा० तृ० पृष्ठ ६५ पर वेद में इतिहास भिन्न करने को अथर्व काण्ड २० । १२० । १० का प्रमाण दिया है कि—

“ जनः सभद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः ” ।

उत्तर-यहां अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का नाम नहीं है, किन्तु परि= चारों ओर, ईक्षिता=देखने वाले राजा के राज्य में प्रजा सुख से बढ़ती है, यह अर्थ है । वानदेव्यं साम ( यजुः १२ । ४ ) में ऋषिपर्याप वामदेव है, व्यक्ति का नाम नहीं ॥

अर्थात् जीवविशेष अग्नि वायु आदित्यों ने वेदों को प्रकट किया है । हम से हम रीति से इतिहास और पुराणये दोनों नाम ब्राह्मणों के ही हुये । इतिहास पुराण का ओ भाग्य हमने किया और ब्राह्मण ग्रन्थों के उदाहरण दिये यही अर्थ आप भी द० ति० भा० पृ० ४६ पं० १० में लिखते हैं कि "जिस में कोई कथा प्रसङ्ग होता है सो इतिहास । जिस में जगत् की पूर्वोक्त्या सर्गादि का निरूपण होता है सो पुराण" सो ये दोनों बातें ब्राह्मण ग्रन्थों में ( जैसा कि हमने ऊपर गोपय और शतपथ का प्रमाण दिया ) भी पाई जाती हैं, इन से ये इतिहास पुराण हुये । यदि कोई यह गड़बड़ा करे कि एक ही स्थान पर ब्राह्मण पुराण इतिहास गाथा नाराशंसी ये सब नाम क्यों आये हैं जब कि ये सब एकाग्र हैं । तो उत्तर यह है कि "ब्राह्मण" यह सामान्य नाम है और इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी आदि उस के विशेषों के नाम हैं । जैसे "गृह" सामान्य शब्द है और हर्म्य ( महल ) भवन शाला आदि उस के विशेष हैं । इसी प्रकार यहाँ भी जानो । और आपने ओ यह कहा कि साङ्ग कहने से अङ्गों में नाराशंसी भी आ जाती फिर साङ्ग लिख कर पुराण क्यों पृथक् लिखते । सो महाशय ! क्या आप वेदों के छः अङ्गों को भी नहीं जानते कि शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये छः अङ्ग कहाते हैं । इन में कल्प कहने से श्रौतमूत्रादि का ग्रहण है । और पुराण इतिहास ये दो नाम ब्राह्मणों के उस विशेष भाग के हैं जिसमें ऊपर लिखे अनुमार कथादि का प्रसङ्ग है । और यह भी जानना चाहिये कि यदि उपनिषदादि मिलाकर सब वेद हैं तो "चत्वारोवेदाः" कहकर फिर "सर-हस्याः" इत्यादि की क्या आवश्यकता रहती । भिन्न ग्रहण से जाना जाता है कि ये ग्रन्थ वेद से भिन्न ही हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ४७ पं० २९ से पृ० ४८ तक न्यायदर्शन के भा० ४ सूत्र ६२ और उस का वात्स्यायन भाष्य और उस का भाषार्थ लिखा है उन सब को लिखने से ग्रन्थ बढ़ेगा परन्तु मुख्य अंग उस का यह है कि—

" इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदाणां वेदइति " और "यद्योमन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तिमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"

अर्थात् इतिहास पुराण ५ वां वेद है तथा मन्त्र ब्राह्मण का विषय यज्ञ है, इतिहास पुराण का विषय लोक का वृत्तांत है और लोकव्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय है । यहाँ ब्राह्मण से भिन्न इतिहास

पुराण का विषय पढ़ा है और भिन्न २ नाम भी, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—एक ही ग्रन्थ का सामान्य विषय एक होता है और उसी ग्रन्थ के विशेष भागों के विशेष विषय भिन्न २ होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण सामान्य का विषय यज्ञ है। यह लिखकर ब्राह्मण के वे विशेष भाग जिन का नाम पुराण और इतिहास है, जिन के दो उदाहरण भी हमने ऊपर लिखे हैं, उन भागों का भिन्न “लोकमृत” विषय है। इस कथन से विषयभेद ही सिद्ध होता है, ग्रन्थभेद नहीं। क्या एक ग्रन्थ में अनेक विषय नहीं होते? आप को ही इस २० ति० भा० में अनेक विषय हैं, फिर क्या यह एक ग्रन्थ नहीं? और यह कि इतिहास पुराण की प्रामाणिकता में ब्राह्मण ने प्रमाण दिया है कि यह पञ्चम वेद है। इस का उत्तर यह है कि वेद तो ४ ही हैं। इतिहास पुराण को पञ्चमवेद कहना उन की प्रशंसा है, जैसे किसी पुरुष की प्रशंसा में कहते हैं कि यह तो दूसरा युधिष्ठिर है वा दूसरा कृत्स्नपति है। यथार्थ में युधिष्ठिर वा कृत्स्नपति दूसरे नहीं हैं परन्तु धर्मोत्सा और विद्वान् अधिक होने से दोनों की उपमा दी जाती है। इसी प्रकार इतिहास पुराणसंज्ञक ब्राह्मणभाग की यह प्रशंसा है कि ये पांचवां वेद हैं। क्या आप यथार्थ में जैसे चारों वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुष के बनाये नहीं इसी प्रकार यह समझते हैं कि इतिहास पुराण भी वास्तव में ५ वां वेद है और ये भी अपौरुषेय हैं? यदि ऐसा है तो आप अन्य पौराणिकों के सदृश यह भी न मानते होंगे कि पुराणों के कर्ता व्यास हैं। अन्त में आप को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह वाक्य प्रशंसापरक है। यदि यह कहो कि ब्राह्मण का कोई भाग पुराण है तो उस में अपनी प्रशंसा आप ही क्यों की गई, तो उत्तर यह है कि मनु ने भी अपनी प्रशंसा में यह कहा है कि—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।

अर्थात् अल्पविद्या वाले लोगों के बनाये ग्रन्थ आज जनते हैं, कल नष्ट होते हैं, जो कि इस मनु के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ है। इस से मनु ने अपनी प्रमाण और प्रशंसा, दूसरों (अल्पविद्यारचितों) का अप्रमाण और निन्दा की है, सो ठीक है। यदि अपने विषय में उचित प्रशंसा वा कथन कोई न करे तो दूसरे द्वारा प्रशंसा न होने तक उस में अट्टा वा प्रामादय कैसे हो। यदि अपने विषय में स्वयं प्रामाणिकता का कहना अच्छा नहीं तो आपने ही अपने इस २० ति० भास्कर की प्रशंसा और प्रामाणिकता को अताने के लिये

भारत में सुर्खी से चन्चलों के नाम और टाइटिल पेज पर “वेद ब्राह्मण शास्त्र स्मृति पुराण वैद्यकादि प्रमाणां से गलंकृत” यह प्रशंसा और प्रामाण्य क्यों लिखा है और जब आप ने ही टाइटिल पेज पर वेद शब्द लिख कर फिर ब्राह्मण और पुराण शब्द भिन्न लिखे हैं तो भीतरों की क्या कहते हैं कि पुराण ५ वां वेद हैं। यदि पुराण ५ वां वेद हैं तो जैसे वेद कहने में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन ४ का कार्य आ जाता है, वैसे ही ५ वें का भी कार्य आ जाता है।

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० १२ में अथर्ववेद के मन्त्र में इतिहास पुराण गंधा और माराशमी पद को देख कर कहते हैं कि वेद में भी इतिहासादिस्पष्टता है ॥

प्रत्युत्तर—वेद में सामान्य शब्द इतिहास पुराणादि हैं, किसी शिवपुराण अग्निपुराणादि भाषा के अतिमत्त पुराण का नाम नहीं। वेद में यदि “मनुष्य” शब्द आजावे तो क्या आप कहेंगे कि देखो वेद में मनुष्य शब्द है और हम (पं० ज्ञानामसाद) भी मनुष्य हैं इस लिये हमारा वर्णन वेद में आया है। हम का सविस्तर उत्तर मेरे बनाये “ऋगादिभाष्यसूक्तिकेन्द्रपरागे द्वितीयोऽधः” में छपा है, वहाँ देख लीजिये। जैसे आप ने महामोहविद्रावण, मत्पार्थ—भास्कर, मत्पार्थविशेक, महताबदिवाकर, मूर्तिरहस्य, मूर्तिपूजा आदि पुस्तकों के आशयों को हटा करके पिछेपछा किया है वैसे हम अच्छा नहीं समझते ॥

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० १६ में—एवमिमेनैवेवेदा गिमिताः सकल्पाः मरु-हस्याः ब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः। इत्यादि। गोपथ के वाक्य को उद्धृत करके शङ्का की है कि यदि ब्राह्मण और इतिहास एका ही पुस्तक के नाम होते तो “सब्राह्मणाः” कहकर “सेतिहासाः” न कहते ॥

प्रत्युत्तर—आप तो अभी पुराणों को ५ वां वेद लिख चुके हैं फिर “रुवै वेदाः” कहने में इतिहास भी ( जो आप को लेखानुसार ५ वां वेद है ) अन्तर्गमन था, फिर “सेतिहासाः” क्यों कहा ? इस लिये आप का तर्क आप ही के पक्ष में दोषारोपण करता है। ब्राह्मण शब्द सामान्य कहकर भी ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद् और इतिहास का फिर से गिनाना यह सूचित करता है कि ब्राह्मण वा वेद के जिस भाग में विशेष कर ब्राह्मविद्या है उस भाग का नाम भिन्न उपनिषद् पढ़ा और जिस ब्राह्मण भाग में लोकवृत्तान्त है उस का नाम भिन्न इतिहास पढ़ा। इसी से वे पुनः भी गिनाये गये। जैसे “भगवद्गीता” महाभारत के अन्तर्गमन है परन्तु विशेष प्रकरण का विशेष नाम “भगवद्गीता” यह भिन्न भी है। इसी प्रकार यहाँ जानिये ॥

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० २६-भीर सूत्रकार ने भी तो "अश्वमेध" प्रकरण में ८ वें दिन इतिहास भीर ९ वें दिन पुराण का पाठ करना लिखा है। इन से निश्चय हो गया कि पुराण इतिहास, ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं ॥

प्रत्युत्तर- धन्य हैं! आप का ऐसा निश्चय ही जाता है तभी तो इतना पुस्तक बढ़ाय बैठे। जाला " ८ वें ९ वें दिन में पुराण इतिहास सुना आदि" इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि ब्राह्मणों से पुराणादि पृथक् हैं? प्रत्युत यह सिद्ध होगया कि सूत्रकार के समय में आप के माने व्यासकृत १२ पुराण ती घे ही नहीं, हम से सूत्रकार ने ब्राह्मण ग्रन्थों ही को लक्ष्य करके इतिहास पुराण का पाठ लिखा है। व्यास जी से पूर्व भी कई राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये उन यज्ञों में ८ वें ९ वें दिन ब्राह्मणग्रन्थों ही का पाठ किया होगा ॥

द० ति० भा० पृ० ५० भीर ५१ में मनु, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, अमरकोष के श्लोक जिन में पुराणशब्द और पुराण का लक्षण है, लिखे हैं परन्तु उनमें से किसी में भी "ब्रह्मवैवर्तादि का नाम पुराण है" यह नहीं लिखा तो फिर सामान्य पुराण शब्दमात्र आने से कुछ भी सिद्ध नहीं होसकता। हाँ, इस पुराण निधिप्रकरण भरमें केवल एक श्लोक द० ति० भा० पृ० ५० में लिखा है कि-

एवं वेदे तथा सूत्रे इतिहासेन भारतम् ॥

पुराणेन पुराणानि प्रोच्यन्ते नात्र संशयः ॥

सो इस श्लोक का कुछ पता नहीं लिखा कि यह किस ग्रन्थ का श्लोक है। हमारी समझ में तो यह पं० जवालाप्रसाद का ही कृत्य है। जैसा इस श्लोक में लिखा है कि "इस प्रकार वेद व सूत्र में इतिहास से भारत और पुराण से पुराणों का ग्रहण है इस में संशय नहीं" ॥ ऐसा ऊपर के लिखे वेद ब्राह्मण महाभाष्यादि में कहीं भी नहीं। मनु, रामायण को तो आप भी व्यास जी से पूर्व रचित मानते हैं फिर मनु वा वाल्मीकि के प्रमाणों से व्यासकृत पुराणों का ग्रहण करना अज्ञान नहीं तो क्या है? इति ॥

तिलकप्रकरणम्-

मत्स्यार्थप्र० पृ० ७३ पं० १९ में जो तिलकादिधारण से "पापनाशक" विश्वास को निर्या कहा है उस की समीक्षा द० ति० भा० पृ० ५१ व ५२ में इस प्रकार की है कि जैसे "मनस्ते" दयानन्दिपों का, "परमात्मा जयति" इन्द्रगणपत्पत्न्य का, और का चिन्ह गवर्नेमेंट की वस्तु का चिन्ह है वैसे ही तिलकादि के भेद

रूपप्रदायों के बिहू हैं और चन्दन के गुण राजनिघण्टु में लिखे हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—“ नमस्ते ” बिहू नहीं किन्तु शिष्टाचार है । और बिहू होना और बात है तथा पापनिवृत्ति का उपाय समझना और बात है । स्वामी जी पापनाशक विश्वास का खण्डन करते हैं । और भिन्न वेदविरोधी सम्प्रदायों के बिहू धारण करना भी गलत नहीं । आप जी चन्दन के गुण बताते हैं तो केवल लेपन और क्वायादि में पाग करने को हैं जिस से कोई नकार नहीं करता । स्वामी जी चन्दन के शर आदि लगाते थे और आर्य लोग भी लगते हैं, उन को बुद्धि शुद्ध है । आप के ऊर्ध्वपुण्ड्र दि में चिताभस्म के तिलक का विधान होने से मूर्दे के राख का बुरा प्रभाव आप के शैव अनुयायियों पर पड़ा है इसी से वैदिकधर्म के विरोधी बने हैं ॥

५० ति० पृ० ५२ आप का मत वेद है तो मन्वादि के प्रमाण क्यों लिखे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर वेद अन्य मन्त्रग्रन्थों का मूल है इस लिये स्वामी जी ने वेद और वेद के अविकट अन्य शास्त्रों के प्रमाण दिये हैं । संन्यासी (स्वामी जी) ने रुपये नहीं छोड़े, न नफे से पुस्तक खर्चे किन्तु लोकोपकारार्थे भायों ने समिति करके स्वामी जी के द्वारा वैदिक धर्मग्रन्थी पुस्तकों के प्रचारार्थ वैदिक ग्रन्थालय स्थापित किया था और है, स्वामी जी ने उस में का स्वयं कुछ नहीं भोगा । आप जरा काशी के स्वामी विशुद्धानन्द जी आदि पर तो दृष्टि डालिये कि कैसा ठाठ व विभूति है ॥

इति तुलसीराग स्वामिविरचिते भास्करप्रकाशे तृतीयममुद्रास-संख्यनम्

॥३॥

अथ ५० ति० भास्करस्य चतुर्थसमुद्रासखण्डनम्

सत्यार्थे प्र० पृ० ५८ में लिखा है कि ( नमस्तिष्ठा ५० ) इस मनु के जन-सार मामीप्य में विवाह नहीं करना और उन मनु धर्मशास्त्र की आज्ञा की पुष्टि में ८ युक्तियाँ भी स्वामी जी ने दे दी हैं तो पं० ज्वालाप्रसाद जी वा किसी भी मनु के मानने वाले को धर्मशास्त्र की सहायक युक्तियों का विरोध उचित नहीं । परन्तु पं० ज्वालाप्रसाद जी को तो पीछा ही करना है । इस लिये इन सहायक युक्तियों का भी प्रतिवाद ही किया है । सो

यद्यपि ऐसे छोटे विषयों पर ग्रन्थ बढ़ाना तो ठीक है तथापि उन में से मुख्य २ बातों का उत्तर हम को अवश्य देना है सो लिखते हैं ॥

हम उन युक्तियों की स्पष्टता करते हैं जो पण्डित जगन्नाथसाह जी ने सभीप विवाह के गुणों में दी हैं। वे और उन के अनुयायी सदा पट्टीम में ही विवाह कर लिया करें। स्वामी जी ने तो अपनी शस्त्रानुसारिणी एवं लोकोपकारिणी बुद्धि ने दूर देश में विवाह की रीति पर बल देकर चाहा था कि भार्यधर्म का गौरव देश देशान्तर तक रहे और यदि दीर्गाय से पूर्वकाल के समान भार्यों का सम्बन्ध देशान्तर या द्वीपान्तर में नष्ट न होता तो ईसाई सुमाई आदि वेदविरुद्ध मत फैल कर मनुष्यजाति की दुर्दशा ही क्यों होती। और क्यों सङ्कीर्णदृश्य मनुष्यों की संख्या बढ़ती, क्यों अनैक्य और फूट बढ़कर एक मनुष्य जाति के स्थान में अनेक हिन्दू मुसलमान आदि जातियाँ बनती, क्यों एक वैदिकधर्म के अनेक मत बनते ? परन्तु सामान्य लोग उन की दूरदर्शिता गम्भीर्य को नहीं समझ सकते। दीर्भाग्य ॥

हां, एक बात ६० ति० पृ० ४९ में यह लिखी है कि सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ७८ में जो:—

**परोक्षप्रियादृश हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । शतपथ**

प्रमाण दिया है सो यह “कहीं की हँट कहीं का रोड़ा” के समान है क्योंकि शतपथ में यह देवताप्रकरण है, विवाहप्रकरण नहीं और ऐसा पाठ है कि:—

तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते ।

तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते ।

तं वा एतमङ्गं रसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते । शतपथे  
अग्निर्ह वैतमग्निरित्याचक्षते । तत् इन्द्रो मखवान् भ-  
वन्मखवान्ह वैतं मघवानित्याचक्षते परोक्षम् परोक्ष-  
कामा हि देवाः श० १४ । १ । १ । १३ ॥

गोपथ ब्राह्मण के प्र० प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं। इस कारण वरण शब्द को वरुण, मुच्यु को मृत्यु और



अङ्ग रत्न को अङ्गिरा कहते हैं। शतपथ में लिखा है देवता परोक्षकामा हैं इस कारण परोक्ष में अग्नि को अग्नि, अश्व को अश्व, और मरुतान् को मरुतान् कहते हैं इत्यादि। दयानन्द जी ने विवाह में प्रसंग लगा दिया ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने भी इस को विवाहप्रकरण का नहीं बताया किन्तु दृष्टान्त दिया है कि जैसे देवता परोक्षप्रिय हैं वैसे मनुष्यों के इन्द्रियों में भी दैवता रहते हैं इस कारण मनुष्य को भी दूर से मिली वस्तु में अधिक प्रीति होती है, इस लिये दूरस्थों का विवाह अधिक प्रीतिप्रद होगा, यह तात्पर्य है। यह नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ में दूरदेश के विवाह की विधि है किन्तु मनु को वाक्य को ब्राह्मण ग्रन्थ से पुष्ट किया है। दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है तदनुसार केवल इतना अंश ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रमाण है कि “परोक्ष को देवता प्यार करते हैं” ती परोक्षों के विवाह में भी प्यार अधिक होगा और आपने जो परोक्ष विवाह का खण्डन किया सो दैवत प्रकृति से विरुद्ध हुआ तब आसुरी प्रकृति का है वा अन्य कुछ? सो आप ही विचार लें। परोपकारक स्वामी जी को “कहीं की हूँ” का उल्लाहना न दें। गोपथ ब्राह्मण में यह पाठ कई ठिकाने उपस्थित है ॥

१-प्रपाठक १ कण्डिका १ तथा २ तथा कण्डिका ७ में ३ बार कथिहता ३९ गया-

परोक्षप्रियाद्वय हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विवः ।

और आपने जो—

परोक्षकामा हि देवाः । श० १४ । १ । १ । १३ ॥

लिखा है उस का भी अर्थ यही है कि देवता परोक्ष वस्तु की कामना करते हैं। तब स्वामी जी का कहना खुरा लगने का कोई कारण द्वेष के अतिरिक्त नहीं है ॥

रही यह बात कि शतपथ में यह पाठ नहीं जो कि स्वामी जी ने लिखा है। सो प्रथम तो शतपथ समस्त का पाठ किसे बिना ऐसा कहना कठिन है कि शतपथ में नहीं। क्योंकि आप ने जो १३ वीं कण्डिका का पाठ लिखा है वह भी शतपथ में पूरा २ उस प्रकार नहीं जैसा आप ने लिखा, किन्तु पूर्ण कथिहता इस प्रकार है—

स उ एव मखः सविष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभश्चमखवाहू  
वैतं सघवानित्वाचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः ।

श० १४ । १ । १ । १३ ॥

किन्तु १३ वीं कण्टिका पूर्ण ऊपर लिखे अनुसार बर्जित के छपे शतपथ में उपस्थित है; देख लें । इस में आप का लिखा—

### अग्निहोत्रैतमग्नि०

इत्यादि पाठ देखने तक की नहीं । तब तो आप ही ने “कहीं की छोट कहीं का रोड़ा” किया है । और इस में यह भी प्रतीत होता है कि सनस्त शतपथ का पाठ तो दूर रहा किन्तु इस १४ । १ । १ । १३ का पाठ भी आप ने देखा जाला नहीं और अटकलपट्ट लिख दिया । तब कैसे आप दृढ़ विश्वास करते हैं कि यह पाठ शतपथ में नहीं है ॥

दूमरा—यह भी हो सकता है कि शतपथ के “परोक्षकामा हि देवाः” का और गोपथ के “परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यस्तद्विषः” का एक ही आशय होने से दोनों पुस्तक गिन स्वामी जी ने पढ़े थे उन की बाणी से ‘गोपथ’ शब्द के स्थान में ‘शतपथ’ शब्द मौखिक लेखक को लिखाते समय निकल गया हो या स्वामी जी ने गोपथ शब्द उच्चारण हुआ परन्तु लेखक ने ‘गो’ के स्थान में ‘शत’ लिखा गया हो । सनस्त सत्यार्थप्र० के सह-स्त्रायधि प्रमाण स्वामी जी ने मौखिक ही लेखकों को लिखाये हैं । यह बात इस में भी पाई जाती है कि सन् १८८४ के प्रयाग में छपे दुबारा सत्यार्थ-प्रकाश तक में गितने प्रमाण छपे हैं उन में सब ग्रन्थों के नाममात्र ही छपे हैं, विशेष पता नहीं, यदि ग्रन्थ देख कर लिखते तो अप्यावादि के पते भी लापते लिखते जैसा कि लोगों के हज़ारा मचाने से संवत् १८४८ के अजमेर के छपे सत्यार्थप्रकाश में मनु आदि ग्रन्थों के बहुत से पते पश्चिमतों से ढूँढ़वा कर छपाये हैं । स्वामी जी महाराज अपने विचार को सत्य, पक्षपात-रहित, दृढ़ जानते थे, इस लिये पते ढूँढ़ कर लिखने लिखाने की देरी करना आपने परोपकारक जीवन में पूर्णता चाहें हुये कामों का विप्रतारक समझते थे, सीसरे-स्वामी जी ने शतपथ शब्द गोपथ शब्द के स्थान में जानबूझ कर बदल कर कोई स्वार्थ भी सिद्ध नहीं किया । दोनों का तात्पर्य एक होने से उन के विद्वान्त की पुष्टि के लिये दोनों ही ग्रन्थों के पाठ न्यायक हैं ।

केवल गोपथ के पाठ में "भवन्ति" यह क्रियापद् अधिगता है। जो, यदि न होता तो अध्याहार भी यही होसका था। इस लिये आप का इनका अखेड़ा सवागना उचित नहीं है। और आप ने जो पृ० ५१ पं० ६ में "तं वा एतं वरुणं सन्तं वरुण इत्यावसते" इत्यादि पाठ लिखा है सो ग्रन्थ का नाम भी नहीं कि कहां का है ? और पं० ११ में जो "गोपथब्राह्मण के प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं इस कारण वरुण को वरुण, इत्यादि" यदि यह अर्थ ऊपर के संस्कृत का होने से और गोपथ प्रपा० १ कं० ७ में दूढ़ने से हमने साग भी लिया कि यह संस्कृत पाठ गोपथ का है, तो आप ने गोपथ और शतपथ को मिला कर अर्थ क्यों किया ? इन का आपस में क्या सम्बन्ध, जब ग्रन्थ ही भिन्न २ हैं ॥

६० ति० भा० पृ० ५९ पं० २२-ऊपर लिखी सत्यार्थप्रकाश की बातोंओं का सिद्धान्त यह है कि २५ वर्ष में कन्या, ४८ वर्ष में पुरुष विवाह करे ॥

प्रत्युत्तर-यह सिद्धान्त नहीं है किन्तु सिद्धान्त यह है कि १६ वर्ष से २५ तक कन्या तथा २५ से ४८ वर्ष तक पुरुष के विवाह का काल है। इस से पूर्व और पश्चात् नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० ५९ पं० २६-निस के भरण पोषण का भार सदैव की शिर पर लिया जाय उस का जो भाव उस को भार्यात्व कहते हैं ॥ फिर-

पृ० ६२ पं० २६-इस समय की प्रथा के अनुसार पांच वा तीन वर्ष में द्विरागम होता है, फिर एक या दो वर्ष में गाया जाई खुलती है जिस को ( रीगा ) कहते हैं। इस समय तक स्त्री की अवस्था पन्द्रह वा सोलह वर्ष की हो जाती है। और वर भी २५ वा २६ वर्ष का हो जाता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यदि आप सदैव के लिये भरण पोषण का भार लेने से भार्या मानते हैं तो इन द्विरागमन और रीगा तक के ५।७ वर्ष तक भरणपोषण का भार पिता पर रहने से आप के मतानुसार वह लड़की इस की क्या कहती जाय ? उतने काल तक आप के प्रचलित मत में भर्ता तो नाम ही का भर्ता है। यथार्थ में भरण पोषण तो पिता करता है, उसी के घर में रहती है ॥

६० ति० भा० पृ० ५९ पं० २९ ( तस्य स्वीकाररूपं ज्ञानं विशेषस्य सम-वायविषयः तपोर्भेदात् वरकन्ययोः विवाहकर्तृत्वकर्मत्वेति ) अर्थात् भार्या का स्वीकार रूप जो विशेष ज्ञान है तिस में समवाय और विषय दो प्रकार के भेद होने से इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-उक्त संस्कार का भावानुवाद न जाने कौन से व्याकरण से किया है। पं० उवालायसाद् जी का न्याय भी निराला है जिस में वर कन्या का समवाय सम्यन्त्र ज्ञान विशेष है। “ज्ञानम्” और “विशेषस्य” का अर्थ “विशेष ज्ञान है” भी मनोखा ही है ॥

६० ति० सा० पृ० ६० पं० ६ ( अष्टवर्षो भवेद्गौरी ) यही श्लोक लिखा है जो पराशर जी ने लिखा है। यह केवल संज्ञामात्र खान्धी है। यह नहीं कि ८ वर्ष की गौरी ही हो जावे। तुम्हारा ज्ञान दयानन्द या तो भ्रान्त ही रहना था, दुःख क्यों हुआ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-संज्ञा सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार की होती हैं। अस्तु आप ने गौरी आदि संज्ञाओं को निरर्थक मान लिया, अब हम कुछ नहीं कहते। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को यथार्थ में अविद्याग्रस्त लोक पर दया करने ही भ्रान्त था, अन्यथा लोकोपकार में दुःख क्यों सहते ॥

६० ति० सा० पृ० ६० पं० २० वे-इसी से ८ वर्ष से १२ वर्ष पर्यन्त कन्या का विवाहकाल है। जैसा मनु जी लिखते हैं:-

त्रिंशद्वर्षोद्वहेस्कन्यां ह्यष्टां द्वादशवार्षिकीम् ।

अष्टवर्षोष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ८ । ८४ ॥

३० वर्ष का पुनर्व १२ वर्ष की कन्या से विवाह करे। जो मनोहर हो। १४ वर्ष का ८ वर्ष की से। हम से शीघ्र करने में धर्म में पीड़ा होती है ॥

प्रत्युत्तर-आप ने “धर्मे सीदति सत्वरः” का अर्थ चलाया किया। यथार्थ यह है कि-धर्मेसीदति=धर्म गष्ट होता हो तौ। सत्वरः=शीघ्रकारी। अर्थात् यदि कोई विपत्तिकाल हो जैसा कि यवनराज्य में हुआ ( जिस को मनु ने अविध्यत् में विपत्तिकाल की सम्भावना से लिखा हो वा अन्य किसी देश काल के ज्ञाता ने लिखा हो ) तौ शीघ्र विवाह करे अर्थात् ८ वर्ष की से १४ वर्ष का भी विवाह करे। क्योंकि इसी नवमाध्याय के ५६ वें श्लोक में कह आये हैं कि:-

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ।

अर्थात् इस से आगे आपत्काल का स्त्रीधर्म कहूंगा। तदनुसार ५६ वें श्लोक से हम ८४ वें श्लोक तक नियोग तथा मूल्य देकर कन्या ग्रहण का वर्णन करते करते यहां विवाह की अवस्था भी आपत्काल की ही कही है

और यही “धर्मे सीदति सत्वरः” इस चतुर्थ पाद का तात्पर्य था, जिस को आपने लीट दिया ॥

६० ति० भा० पृ० ६० पं० २७ से—शास्त्रों में ऋतुमती स्त्री के पान न जाने का महादोष कथन किया है। उस का कारण यह है कि वह समय सन्तानोत्पत्ति का होता है और ऋतुदाग बिना विवाह कर्त्ता। यदि विवाह होनाय तो ऋतुमसय में संयोग हो, जिस से कदाचित् सन्तान की उत्पत्ति हो जाती है, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप तो ऊपर लिख आये हैं कि संयोग तो १५ वा १६ वर्ष की अवस्था में ही होता है क्योंकि ५।७ वर्ष गीना रीना आदि में लगते हैं, भी यहां आकर क्यों चीकड़ी सूख गये कि रजस्वला के पास न जाने से महादोष है, लिखते हो। हमारे मत में तो ठीक है क्योंकि इन विवाह और संयोग के बीच ५।७ वर्ष का अवधान नहीं मानते और शास्त्रानुसार चतुर्थीर्धमे में ऋतुदान मानते हैं परन्तु आप तो बीच में कई वर्ष पिता के घर में रहना मानते हैं तब आप को इन प्रश्नों का उत्तर देने को रहा:—

द्विरागमन और रीना तथा भाया जाई खुलते समय तक भरण पोषण पिता करता है तो आप के मत में तापां भिम की हुई? भर्ता कौन हुआ? पिता के घर रजस्वला होती रही तब ऋतुगामी भिमे होना चाहिये? और ऋतुगामी न होने से महादोषभागी घर होगा उस का प्रायश्चित्त क्या है? अथवा द्विरागमन से पूर्व घर भाया करे और धूपके से ऋतुदान दे जाया करे वा क्या करे?

दयानन्दतिनिरासकर पृष्ठ ६१ पङ्क्ति ३—मुश्रुत अध्याय १० ॥

अयास्मै पञ्चविंशतिवर्षीय द्वादशवर्षीं पत्नीमावहेत् ॥

विद्यामन्पत्र पुरुष को जिस की अवस्था २५ वर्ष की हो उस को १२ वर्ष वाली से ठाहा करना योग्य है इस से यह सिद्ध होता है कि पुरुष की अवस्था २५ वर्ष से कम न हो तब विवाह करे और कन्या की १० अथवा १२ वर्ष से कम न हो ॥

प्रत्युत्तर—जब कि मुश्रुतकार शारीररक्षण १०।४७ में यह कहते हैं कि २५ वर्ष का पुत्र १६ वर्ष की स्त्री गर्भावग योग्य होते हैं और १९ वर्ष की से २५ वर्ष के पा विवाह हो तो जब कि स्त्री १६ वें वर्ष में पहुंचे तब तक पुरुष २९ वें में

पहुँचे। ती सुश्रुत को पूर्वोपर लेख क्या विस्तृत हैं? और सुश्रुत ने १२ वर्षों के अंग्रे लिखा। उन से आप १० वा १२ ये दो वर्ष कैसे ले आये? हम ती यह मागते हैं कि सुश्रुतकार जो वेद्य थे, उन्होंने बङ्गाल भादि देशों को लक्ष्य में रख कर वहाँ के निवासार्थ यह दूररा वचन लिखा है। जिन से यह सिद्ध होता है कि जहाँ जब युवावस्था होती हो वहाँ तब ही विवाह करे। यही खेन का निष्कर्ष है। देशभेद से व्ययसंख्या भले ही भिन्न २ रहे। परन्तु २ वर्ष की लड़की किसी देश में भी युवति नहीं जाती इस लिये आप का लेख जो "अष्टवर्षा भवेत्" के मध्यम में है, किसी युक्ति मथवा सुश्रुतादि के मत से पुष्ट नहीं होता ॥

व० नि० भा० पृ० ६१ पं० ९-में सहवासलज्जा भय अनुराग और स्नेह यह सब बाल्यावस्थाभ्यस्त होने चाहियें, पङ्क्ति १४-इन प्रकार बाल्यावस्थाभ्यस्त सहवास स्त्रियों के अच्छे छे संयोग का मुख्य कारण है ॥

प्रत्युत्तर-आप का तात्पर्य यह है कि पति पत्नी में अनुराग सहवास आदि बाल्यावस्था से अभ्यास किये बुझे तभी हो सकते हैं जब बाल्यावस्था में विवाह हो। ती क्या यह अभ्यास की युक्ति स्त्रियों की ही अपेक्षित है, पुत्र को क्यों नहीं, क्योंकि पुत्र को ती आप भी २४ वर्ष से पूर्वोवस्था में विवाह के लिये कोई प्रमाण नहीं लिखते। धन्य है, जब बाल्यावस्था से ही पति पत्नी का एक दूसरे में अनुराग सहवास का अभ्यास करना हो, यह शिक्षा दी जा रही है तभी ती शास्त्र की उन मर्यादा का भङ्ग होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में विषय की कामना भी नहीं करनी चाहिये। इसी शिक्षा से देश की दुर्दशा हुई ॥

व० नि० भा० पृ० ६१ पं० २१-यदि १६ वर्ष वा २५ वर्ष की अवस्था में विवाह करे ती दुश्चरित्र होने की बड़ी शङ्का है ॥

### पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्

प्रत्युत्तर-"पत्या च विरहः" का अर्थ यह है कि पति से अलग रहना स्त्रियों को बिगाड़ता है। सो महाराज! यदि युवावस्था में विवाह हो ती पतिविरह होने की सम्भावना न्यून है। परन्तु आप ती स्वयं कहते हैं कि ५।७ वर्ष द्वितीयमन पर्यन्त विवाहिता कन्या पिता के घर रहती है। तब पिता के घर रहने और पति से अलग रहने से यह दोष भूरी आप के मत में ही आता है ॥

८० ति० भा० पृ० ६१ के अन्त और ६२ के आरम्भ में जो बड़ी अवस्था में विवाह के दोष बताये हैं उन का चत्तर इम प्रकार है—

प्रत्युत्तर—विवाहिता कन्या के सग में विषयवासना अधिक आसक्तता है क्योंकि वह जानती है कि यदि मेरी कोई कुचेष्टा माना पिता आदि देखेंगे तो शीघ्र द्विरागमन करदेंगे। मुझे दोष नहीं लगेगा। अत्रेवाहिता गुनकुल में पुरुष का दर्शन अथवा पर्यन्त वर्जित रहने से विषयामक्त नहीं होगी ॥

८० ति० भा० पृ० २० पं० २३ में २० वर्ष का पति होना योग्य है वा १५ वर्ष का, इस में कसती किसी प्रकार नहीं ॥

प्रत्युत्तर—१५ वर्ष के पुरुष के विवाह में ती आप के लिखे प्रमाणों से शी विरोध है। सला कन्या की बात ती दूसरी है। विवाह तथा संयोग के समय में वर्षों का अन्तर व्यभिचार का हेतु है। इस लिये सुश्रुत के मतानुसार गर्भाधान के योग्यताबाली अवस्था में ही विवाह करना चाहिये। जिस प्रकार विनाभूख भोजन अजीर्ण रोग करता है वही प्रकार विना सत्तानोत्पत्ति योग्य अवस्थाके विवाह करना भी व्यभिचार वैधव्य आदि रोगों का मूल है ॥

८० ति० भा० पृ० ६३ पं० ५—ने स्त्री रूप को प्यासी होती है जानै कीनपी जाति के पुनप को पसन्द करे.....इस में वर्णमङ्गल की उत्पत्ति होती है ॥

प्रत्युत्तर—ती क्या कन्या की माता भी स्त्री होने से रूप की प्यासी होगी और वह किसी अन्य वर्ण से विवाह करदेगी ती बड़ी दोष नहीं आयेगा? स्वयंवर में जो स्वयन्व्रता है वह शास्त्रानुसारिणी वर्णव्यवस्था को तोड़ कर नहीं किन्तु अपने वर्ण में है। तथा विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष को पसन्द भी नहीं करसकती ॥

८० ति० भा० पृ० ६३ पं० १२ में—जब कि कन्यादान शब्द विवाह में कहा जाता है ती कन्या बिना पिता की अनुमति कैय पतिव्रता करसकती है ॥

प्रत्युत्तर—आप आपनी ही विवाहपद्धतियों को देखते ती घात होता कि उन में प्रथम यह लिखा है कि—

### अथ वरं वृणीते

अर्थात् कन्या वर का वरण करती है। यह नहीं लिखा कि माता पिता कन्या से वर का वरण कराते हैं कि इसे वरण कर। किन्तु—

स्वतन्त्रःकर्त्ता ॥ १ । ४ । ५४ ॥

उस सूत्र के अनुसार "वृणीते" क्रिया का स्वतन्त्रकर्ता कन्या है। कन्या दान पीछे होता है, जब कि पहिले कन्या स्वयं वरणा करलेवे, जिसे वह वरण कर लेवे, उसी वर के जिये पिता की ओर से कन्या और माय में वस्त्राभूषणादि देना शिष्टाचार है। उस का तात्पर्य यह नहीं है कि पतिवरण करने में माता पिता अपनी कन्या को परतन्त्र करें कि इसे ही वरो, किन्तु प्रक्षय्य पूर्ण करके शास्त्र पढ़ी लिखी द्विजकन्या शास्त्रानुसार अपने वर्ण में से स्वतन्त्रतापूर्वक अनुकूल पति का वरण करे। शास्त्रविरुद्ध स्वतन्त्रता का नाम स्वतन्त्रता नहीं किन्तु स्वेच्छाचार अभर्म है ॥

६० ति० भा० पृ० ६३ पं० १७ से—

यात्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।

पुत्राणां भर्त्तारं प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ।

तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥

( मनु ७० ५ श्लोक १४८, १५१ )

आस्थावरुपा में पिता के वश में, यौवन में पति के वश में, भर्ता के मरने पर पुत्रों के वश में स्त्री रहे, परन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे ॥१४८॥ जिसे इस को पिता देदे वा पिता की अनुमतिसे भ्राता देदे, उसकी यावज्जीवन सेवा करती रहे और मरने पर श्राद्धादि करे, कुल के वशीभूत रहे, मर्यादा को न लङ्घन करे ॥ १५१ ॥ इत्यादि प्रमाणों से स्त्री स्वयं पति वरण नहीं कर-सकती स्वयंवर राशों में होता है ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम श्लोक का तात्पर्य तो यह है कि आस्थावरुपा में पिता का, यौवन में भर्ता का, वृद्धावरुपा में पुत्रों का कङ्क्षा माने, उन के विरुद्ध न चले। यह कहाँ से निकल आया कि शास्त्रानुकूल अपने वर्ण के पति का की स्वयं वरण न करे। पिता भ्राता आदि उस के स्वयं पतिवरण के विरोधी भी क्यों होने लगे हैं जब कि वह पतिवरण के शास्त्र पढ़ कर तदनुकूल पति वरण करेगी। द्वितीय श्लोक की यह ध्वनि निकालना पक्षपात है कि जिसे देदे उस की सेवा करती रहे, किन्तु स्वयंवरपूर्वक पिता वा भ्राता की दान को हुई अपने पति को शुश्रूषा में श्रद्धापूर्वक तत्पर रहे तथा मरने पर भी मर्यादा जीते पति ने वांछी हों उन का लङ्घन न करे। श्राद्ध का भूत



श्लोक में पता भी नहीं, परन्तु आप को आदुक्त ऐसा मुद्दा लगा है कि सर्वत्र वही दृष्टि पड़ता है और राजों में स्वयंवर होता है, अन्यो में नहीं। इस का कहीं धर्मशास्त्र में विधान भी है? वा आपका कहना भी प्रमाण है और यदि स्वयंवर से स्त्री को स्वतन्त्रता होती है और आप के विचार में स्त्रियों की स्वतन्त्रता अधर्म है तो यह तो बतलाइये कि स्वतन्त्रता के रोकने वाले धर्मशास्त्र के ये व्यवस्था जिन के आधार से आप स्त्रियों की स्वतन्त्रता बुरी समझते हैं, उन श्लोकों में कहीं क्षत्रिया कन्याओं को वर्ज दिया है? क्या ये श्लोक चतुर्थार्थ के लिये नहीं हैं। क्या आप उन श्लोकों को क्षत्रियों पर नहीं लगाने में कोई प्रमाण रखते हैं? यदि वे श्लोक स्वतन्त्रता को रोकते हैं तो राजों की कन्याओं के स्वातन्त्र्य को भी रोकेंगे। इस लिये मन माना सिद्धान्त नहीं बन सकता कि राजकन्या स्वयंवर करें और अन्य कन्या न करें। शास्त्र में राजकन्या और अन्य कन्याओं के पतिव्रतण में भेद नहीं प्रतिपादित किया, न आप ने कोई ऐसा प्रमाण दिया ॥

६० ति० भा० पृ० ६३ पं० २२ से—

रामचन्द्र महाराज का १५ वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ था यह पारम्यिक से सिद्ध है और अभिमन्यु का भी थोड़ी ही अवस्था १४ वर्ष की अवस्था में हुआ था इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो आप ने वे श्लोक भी नहीं लिखे जिन से रामचन्द्र और अभिमन्यु का १५। १४ वर्षों में विवाह पाया जाय। द्वितीय आप १५। १४ वर्ष की अवस्था में पुरुष के विवाह का कोई मनु धर्मशास्त्र का प्रमाण बताइये। यदि आप के लिखे अनुसार भी ब्रह्मचर्य का समय साने तो भी १७ वर्ष से पूर्व नहीं हो सकता। आप पृष्ठ ६० में ३० वर्ष के पुरुष को १२ वर्ष की, २४ वर्ष के को आठ वर्ष की कन्या बता चुके हैं, उधरा पृष्ठ ६१ में कुश्रुम के मत से २५ वर्ष के को १२ वर्ष की बता चुके हैं तो क्या रामचन्द्र और अभिमन्यु ने धार्मिक होकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिमत ब्रह्मचर्य काल को न माना सो न सही, परन्तु आप के अभिमत को भी नहीं माना? और रामचन्द्र जी ऐसा धर्मशास्त्र के विरुद्धाचरण करने पर भी सर्वोदात्तपक्ष कहेलाते रहे? और क्या १५ वर्ष के रामचन्द्र को ५ वर्ष की ही सीता विवाही गई थी? यदि नहीं तो फिर अवस्था का २५। ८ वा १०। १२। वा २५। १२ में जो अन्तर आप के मत में भी पुरुष और स्त्री में

रहना चाहिये, वह भी रामचन्द्र जी ने न माना ? और बाल्मीकीयरासायना में जो सीता और रामचन्द्र की युवति और युवा होने की मित्र गीचे को श्लोकों में वर्णित हैं, वे क्या किसी आर्यभट्टाजी ने मिला दिये हैं ?

बाल्मीकीयरासायण बालकाण्ड सर्ग ७२ श्लोक ७ कल्पतक्षयन्त्रालय छापा मुद्रण सं. १८८९ में, वमिष्ठ व विश्वामित्र ने रामचन्द्र की वंशवर्णन ( शाखोद्धार ) के पश्चात् विवाह के पूर्व कहा है कि:—

**पुत्रा दशरथस्यैव रूपयौवनशालिनः ।**

अर्थात् ये दशरथ के पुत्र रूप और यौवन से युक्त हैं ॥ यदि १५ वर्ष की अवस्था रामचन्द्र जी की थी तो लक्ष्मण उन से भी छोटे थे, अतः उन ने भी वही अवस्था थी । और चारों भाइयों का विवाह जनकपुरी में साथ ही हुआ था और इस श्लोक में दशरथ के चारों पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को यौवनशाली लिखा है तो विचारना चाहिये कि यौवन किस अवस्था का नाम है । कुम्भल के सतानुसार—

**आपञ्चविंशतैर्वीर्यनम् ॥ आपोडशाहृद्विः । सूत्रस्थानअ०३५**

१६ वें वर्ष तक वृद्धि अवस्था तथा २३ वें तक यौवन होता है । फिर क्या वमिष्ठ विश्वामित्र अज्ञानी थे ? जो १५ वें वर्ष में रामचन्द्र को यौवनशाली कहते । और लक्ष्मण तो रामचन्द्र जी से भी छोटे थे फिर इन को यौवनशाली कैसे कहा जा सकता था ॥

अब जिन सीता आदि ४ कन्याओं का राम आदि ४ वरों से विवाह हुआ, उन की अवस्था का वर्णन मुनिये और देखिये कि आप की लिखी व्यवस्थानुसार विवाह से १ । ३ । ५ वा ७ वर्ष पश्चात् द्विरागमन पर्यन्त वे पिता के घर नहीं रहें किन्तु सभी रासायण बालकाण्ड सर्ग ७७ श्लोक १४ में लिखा है कि:—

**रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ॥**

अर्थात् भर्ताओं के साथ एकान्त देश में मुदित हुई वे सब रमण करती आईं । फिर क्या रामचन्द्र १५ वर्ष के ही एकान्त रमण करने लगे और लक्ष्मण यती इस से भी पूर्व ? और इस आप के हियाब से लक्ष्मण की स्त्री ८ । १० वर्ष की बग में ही ? । अन्य महाराज ! चाहिये तो यह था कि श्री-रामचन्द्र आदि शिष्टों के मार्ग पर आप चलते, औरों को घलाते, उल्टे आप

## चतुर्थखण्डनामः

रामचन्द्र जी को ही इस कलियुगी बालविवाह  
भाजकल के लोगों की भांति रामकृष्णदादि की स्त्रियां भी—

**बहू खी, घर छोटे लाला**

के समान थीं ? हम वंशीवीर रामायण का ही प्रमाण देते हैं या  
किन्हीं अंगरेजसाजियों ने बंजर लिखे प्रतीक रामायण में मिला दिये या  
क्या हुआ ? इस आप के लिखे १५ वर्ष कहां गये ॥

बाल्मीकीय रामायण अयोध्या-काण्ड

**पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ।**

**चिन्तामभ्यगमद्वीनो वित्तनाशादिवाऽधनः ॥**

**सर्ग ११८ श्लोक ३१ ॥**

अत्रि ऋषि की स्त्री जनसूया के प्रति सीता अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाती  
है कि पतिसंयोग सुलभ मेरी आयु को देख मेरा पिता चिन्ता को प्राप्त  
हुवा, जैसे धननाश ने निर्धन । पतिसंयोग सुलभ आयु ऋतु मे पूर्व नहीं होती ॥

और इसी प्रकार क्या अभिगम्य ने भी धर्मशास्त्रों पर हरताल लगाकर  
१४ वर्ष की अवस्था में विवाह कर लिया या ?

५० ति० भा० ६० ६४ पं० १ से—इस समय सब लोग जो चारों वर्ग के हैं  
बहुधा बालकों को फारसी पढ़ाते हैं और इस फारसी ने ऐसी दुर्दशा करदी  
है कि योही अवस्था में ही बालक फारसी के शेर गज़ल दीवान आदि पढ़  
कर कामचेंष्टा में अधिक मन लगाते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह तो लोगों का अपराध है कि बालकों को ऐसे शेर गज़ल  
दीवान पढ़ा कर बिगाड़ते हैं । शास्त्र का अपराध नहीं । आप से यह तो  
न बन पड़ा कि उपदेश और पुस्तक द्वारा इन कुशिक्षा को रोकते किन्तु इस  
से यह फल निकालने लगे । एकती कुशिक्षा ही बालकों की दुर्दशा कर रही  
है, तिस पर बालविवाह का तुरा ॥

५० ति० भा० ६० ६४ पं० ११ से—

जब ४८ वर्ष में ( जो क्षीण अवस्था होती है ) जैसा कि लिखा है कि—  
“वतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किंचित्परिहाण्येति । आषोढ-  
श्रावृद्धिः आपंचत्रिंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतः संपूर्णता, ततः किंचित्परि-

हाकिश्चेच्छि<sup>१</sup> अर्थ—इस शरीर की चार व्यवस्था हैं वृद्धि जीवन संपूर्णता और किञ्चित्परिहाण। जन्म से लेकर १६ वर्ष तक वृद्धि अवस्था कहाती है अर्थात् बढ़ती है और २५ से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त संपूर्णता अवस्था कहाती है, पुनः ४० वर्ष से उपरान्त कुछ कुछ घटने लगती है व्याह्र किया तो दो तीन वर्ष उपरान्त ही पूर्ण अराग्रस्त पुरुष और पूर्ण युवावस्था युक्त स्त्री होती है तो बच 'युतस्य तन्मणी विषम्' बुढ़े को तरुणी विष है, उन को तो बहुत प्रमत्त भाता ही नहीं, बस वे किसी भी नययुवा की खोज करने धर्मरुपुत होबी हैं और जो यह कहो कि ब्रह्मचर्य से आयु बढ़ती है सो यह भी नहीं देखा जाता क्योंकि स्वामी जी ने तो पूर्णता से ब्रह्मचर्य धारण किया था, परन्तु अष्टावन वर्ष की अवस्था में ही शरीर छूट गया यदि स्वामी जी का ४० वर्ष में किसी बीस वर्ष की अवस्था युक्त स्त्री से विवाह होता तो यह विचारी अब गिर पटकती या नहीं। हां प्राणायाम सदा-चार तपादि कामों से निश्चय आयु वृद्धि को प्राप्त होती है केवल वेद वेद पाणी से यहने तथा श्रुतिमें पढ़ने ही से घमोत्सा नहीं होता ॥

श्रुत्पतर—यह देख इस लिये ठयर्थ है कि जो कोई ब्रह्मचर्य ४० वर्ष रखेगा वह भीष्ट वृद्ध नहीं हो सकता। ४० वर्ष के ऊपर क्षीणता का वर्णन सामान्य २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखने वालों के लिये है। प्रत्यक्ष है कि स्वामी जी महाराज ५९ वर्ष की आयु तक साधारण पहलवानों से अधिक बलिष्ठ जितेन्द्रिय रहे। आप ने इसी पुस्तक के ११ वें समुल्लास पृष्ठ २९५ में स्वामी जी को विष दिया जाना लिखा है। तब क्या आप कह सकते हैं कि वे ५९ वर्ष में वृद्धावस्था के कारण मनाप्त हुये? कदापि नहीं, वे १०० वर्ष पर्यन्त जीते और अगत् का उपकार करते परन्तु शेष ४१ वर्ष के होने वाले अगदु-पकारविरोधी किसी दुष्ट से प्राण ले अगत् की हानि का अपराध गिर पर ले अपना काला मुंह किया, इस में ब्रह्मचर्य का क्या दोष है? और उम्र की वृद्धता किसी प्रकार मिट्ट नहीं और आप ने १६ से २५ तक जीवन अवस्था का अर्थ में लिपा दिया ॥

द० ति० भा० पृ० ६४ पं० २६ से—

अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे ।

क्षमा सत्यं दयाशौचतपस्तेषां न विद्यते ॥ वाल्मी० ॥

राक्षसों के घर में भी अग्निहोत्र और वेदों परन्तु उन में क्षमा सत्य

दशा और पवित्रता और ज्ञान युक्त तप नहीं था हम से वेर अस्तव से मुक्त नहीं थे और यदि ब्रह्मचर्य ही आयु का वृद्धि करनेवाला होता तो स्वामी की की आयु ४०० वर्ष की होती क्योंकि ये अपने को योगी भी तो मानते थे अथवा पूरे भी ही वर्ष की होती जो ब्रह्मचर्य में ही आयु बढ़ती है तो आप का ब्रह्मचर्य ठीक नहीं और जो ब्रह्मचर्य ठीक तो आयु क्यों नहीं बढ़ी ब्रह्मचर्य में तो वीर्य की अधिकता होती है जिस में शरीर में पूर्ण बल होता है जैसा योगशास्त्र में लेख है ( ब्रह्मचर्योद्दीपनः ) अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य का लाभ होता है हां योगाभ्यास प्राणायाम समाधी में आयु की वृद्धि होती है अन्यथा आयु पूर्वकर्मानुसार निर्णीत होती है जैसे नीति में लिखा है कि:—

आयुः कर्म च क्षितं च विद्या निधनमेव च ।

पंचैतानोह सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

आयु कर्म धन विद्या धरण यह पांच वस्तु देही के गर्भ में ही भिद्यत हो जाती हैं सब हो बाग कर्मानुसार होती है इसी प्रकार जिन के कर्म में वैधव्य है क्या उसे कोई सेटने की समर्थ है यदि कर्म मिश्रता हो जाय तो जगत की व्यवस्था ही मिट जाय यह धरण जीवग सब ही कर्मानुसार है । यदि वही हुवे विवाह हो तो क्या बड़ी उम्र में कोई विधवा नहीं होती क्या बड़ी उम्र में विवाह करके कोई कर्म को सेट सकता है इस समय के विवाह और संयोग की रीति वाग्भट के अनुसार होनी चाहिये क्योंकि कलियुग के वास्ते यही अधिकांश में प्रमाण है ॥

अत्रिः कृतयुगे चैव त्रेतायां चरको मतः ।

द्वापरे सुश्रुतः प्रोक्तः कलौ वाग्भटसंहिता ॥

मतयुग में अत्रिसंहिता, त्रेता में चरकसंहिता, द्वापर में सुश्रुत और कलियुग के लिये वाग्भट संहिता है अब देखना चाहिये कि वाग्भट किस समय में स्त्री पुरुष का संयोग कथन करता है ॥

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ।

शुद्धे गर्भाशये मार्गं रक्ते शुक्लेऽनिले हृदि ॥१॥

वीर्यवन्तं सुतं सूते ततोऽन्यूनान्दत्तः पुनः ।

रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥२॥

पूर्ण मोलह वर्ष की स्त्री बीच वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के साथ संग करने से बहुत गर्भाशय और गर्भाशय का मार्ग तथा रुधिर वीर्य और पवन हृदय में होने से स्त्री सामर्थ्यवान् पुत्र को प्रगट करे इस से न्यून अवस्था वाले पुरुष और स्त्री के संयोग होने से रोगी और अल्पायु और दुष्ट बालक होता है ॥

प्रत्युत्तर—अग्निहोत्र और वेद राक्षसों के घा में दम्भपूर्वक दिखाने को ही सकते हैं, अट्ठापूर्वक नहीं। क्योंकि उन में प्रह्ला होवे तो तब के छेकानुसार समा मत्प दया औच और तप का भी धारणा करें। तथा भाषके पुराणों में तो रावण का भी उग्र तप करना और हिरण्यकशिपु राजस का तप करना तप करके मृत्यु न होने के लिये दिन रात्रि, देव मनुष्य पशु आदि से मृत्यु न होना, वर खांग कर भस्म रहने का उद्योग करना, लिखा है। फिर आप किस प्रकार कहते हैं? और रामायण के श्लोक को कैसे मान सकते हैं? यदि स्वामी स्त्री के पितृ पितामह भी ब्रह्मचर्य योगान्यामादि युक्त होते तो निस्सन्देह उन की अवस्था ४०० वर्ष वा ३०० की होती और त्रिष न दिया जाता तो अब भी वे १०० वर्ष में बहुत होते। परन्तु ब्रह्मचारिवध से अपना काला मुख्य करने वाले को परलोक में नरकयातना जो भोगनी थी। (ब्रह्मचर्याद्वीर्यलाभः।) इस प्रकार योग में कई सूत्र नहीं है किन्तु—

**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगशास्त्र साधनपाद २ सूत्र ३८**

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा में वीर्य का लाभ होता है। वीर्य बल पर कृत शीघ्रान्ति को बढ़ाता है। जिस से आयु बढ़ती है। यदि ब्रह्मचर्य में नहीं बढ़ती किन्तु पूर्वजन्म के ही कर्मानुसार होती है तो आप ने पृष्ठ ६३ पं० २४ में क्यों लिखा है कि—

“प्राणायाम सदाचार तप आदि के करने से निश्चय आयु वृद्धि को प्राप्त होती है” ॥

फिर आप “आयुः कर्म च” इत्यादि श्लोक का यह तात्पर्य कैसे निकालते हैं कि आयु पूर्वजन्म के ही अनुसार हो सकती है। और ब्रह्मचर्य से बढ़ नहीं सकती। यदि नहीं बढ़ सकती तो आप के लिखे प्राणायामादि से भी नहीं बढ़ सकती। इस लिये इस श्लोक का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि पूर्वजन्म के कर्मानुसार आयु, कर्म, धन, और विद्या और मृत्यु निपत तो होती हैं, परन्तु उस के वर्तमान अति उग्र पुण्य वा पाप हरे जाने तो से नियत आयु आदि घट बढ़कर परमात्मा की ओर से फिर २ निपत होती रहती है ॥

## अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ।

जिम प्रकार एक पुरुष को एक वर्ष के कारागार का दण्ड नियत किया जावे और वह कारागार में रहता हुआ कोई अन्य अपराध कर बैठे तो दण्ड की अवधि बढ़ा दी जाती है और अच्छे प्रकार रहने से घटा जा दी जाता है । किन्तु मृत्यु तब तक सत्य तक किये कारागार नियत अवश्य रहती है । यदि आप आयु का बढ़ना अमममव मार्गों से तो आप के मन में उन सब कथानों से विरोध भावों का जिन में अनेकों ने तब करके अपनी आयुर्वृद्धि मांगी है, तथा अगर होता तब आप के नित्य पुस्तक प्रतिपादन करते हैं, तथा वैद्यक के समस्त 'आयुष्य' शास्त्र के योग ( नुसखे ) और धर्मशास्त्र के समस्त 'आयुष्य' धर्मालुम्बान ठगने हों जायेंगे । और जितनी हिंसा होती है उन सब में कोई दोष ही न रहेगा क्योंकि आयु प्राणिमात्र की नियत है, उन से पूर्व कोई किसी को नहीं मार सकेगा और जो भारेगा, वह सानों आप के मन में परमेश्वर का भेजा ( जल्लाद् ) है । जो परमेश्वर की नियत की दुई अवधि पर उसे मारता है । और—

### “नहीदुःशमनायुष्यम्”

इत्यादि वाक्य ठगने हों जायेंगे जिन में आयु घटने के दुष्करों को “अमायुष्य” कहा है ॥ कामे को कोई नहीं मेट सकता तो—

### “अकालमृत्युहरणम्”

कहकर जो मन्दिरों में खरणाघन दिया जाता है सो भी असत्य है ? यदि सत्य है और अकालमृत्यु से बचा सकता है तो आप का कहना ठीक नहीं कि आयु घट बढ़ नहीं सकती और क्या ब्रह्मचर्यरूप दुष्कर तप-धर्मों बुल्लू पर जल और तुलसीपत्र की बराबर भी नहीं जो आयु को बढ़ासके ? बहुत से पुजारी दूमरों को अकालमृत्युहरण कहते २ स्वयं भी भ्रम गर जाते हैं । और बड़ी उमर में विवाह होने से विधवा अवश्य न्यून होती हैं । मृत्यु के रजिस्टर से प्रमाण मिल सकता है कि बालक और बड़ अधिक मरते हैं, और युवा म्यून ॥

आप का लिखा “अत्रिःकृतयुगे” इत्यादि श्लोक कौन से आर्यग्रन्थ का है जिम के अनुसार कलियुग में वाग्भट्ट ही का वैद्यक माना जावे; और सुसुतादि का नहीं । तथा “कलियुगे” का अर्थ “कलियुग के लिये” कैसे हुआ । किन्तु

“कलियुग में” होना चाहिये। हमारी भगवत् में तो उक्त श्लोक यदि माना जाय तो उस का अन्वयार्थ भी यह है कि सत्ययुग में अश्विनी और ज्येष्ठ में चरक तथा द्वापर में सुभ्रा हुये और कलियुग में वाग्भटसंहिता यनी। इस लिये यह कलियुगी संहिता उन ऋषियों के ग्रन्थों का विरोध करके नहीं माननी चाहिये जो प्राचीन युगों में हुये हैं। और यदि थोड़ी देर को वाग्भट को ही माना जाय तो भी इन श्लोकों में १६ वर्ष की स्त्री और २० वर्ष का पुरुष कहा है। ‘दशवर्षा भवेद्गौरी’ तो इस से भी बड़ा ही जाता है। और यदि कलियुग में वाग्भट के अतिरिक्त सुभ्रादि के प्रमाण नहीं मानने चाहियें तो आप ने जो इस पीछे में सुभ्रात और चरक के प्रमाण दिये हैं वे अब आप का जन्म और पुरुषार्थ कलियुगार्थ होने से सारे व्यर्थ हैं ?

२० ति० भा० पृ० ६५ पं० २८ में—“द्वादशाद्वत्तरादूर्ध्वर्मापंचाशत्तमताः स्त्रियः सामि सामि भगद्वारा प्रकृत्यैवार्त्तं स्त्रवेत्” बारह वर्ष से लेकर ५० वर्ष की अवस्था पर्यन्त महीने २ स्त्री रजोवती होती हैं अब इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि १० वर्ष से ऊपर तो कन्या का विवाह करे और १६ बीस वर्ष की अवस्था में पुरुष का विवाह करना इस में कमी कमी न करे यह निह्नुत है इस में भी सोलह वर्ष मध्यम और बीस वर्ष का विवाह उत्तम है इसमें विद्या भी पूर्ण हो जायगी और कठिन रोग जो बाल्यवस्था के हैं उन से भी बच जायगा आगे प्राग्भट तो बलवान् है ही पुनः तीन अथवा पांच वर्ष में द्विरागमन होने तक दोनों की अवस्था वैद्यक के अनुसार पूर्ण हो जायगी और जो १६। २० में विवाह हों तो द्विरागमन की आवश्यकता नहीं ॥

प्रत्युत्तर—आप के लिखे श्लोक से ज्ञात होता है कि बारहवें वर्ष से ऊपर स्त्री रजस्वला होती है। यदि इसे माना जाय तो शीघ्रबोध का—

### दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला

यह श्लोक भगवत् मानना पड़ेगा। क्योंकि इस में १० वर्ष के उपरान्त ही रजस्वला लिखा है। फिर इस सब का तात्पर्य यह कैसे निकला कि १० वर्ष से ऊपर कन्या का विवाह करे। किन्तु ऊपर लिखे श्लोक में तो १२ वर्ष उपरान्त तो रजस्वला होना ही लिखा है फिर—



अणि वर्षाण्युदीक्षेन्न कुमार्यृतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् । मनु०६।९०

अर्थ—कृतुमती (रजस्वला) होने पर कुमारी ३ वर्ष पर्यन्त उदीक्षा करे तत्पश्चात् सदृश पति मे विवाह करे। अब बारह १२ और ३:१५ के पश्चात् वही स्वामी जी का लिख। सोलहवां वर्ष आगया। एक बात और भी है कि हम ऊपर लिखे श्लोक में “विन्देत” का कर्ता कुमारी है। कर्ता स्वतन्त्र होता है अर्थात् कुमारी स्वतन्त्र कर्तृभूत अपने सदृश पति को प्राप्त हो जावे हम में यह नहीं कहा कि जिस कुवे खत्ती में पिता डाले उसी में जा पड़े। इस में “सदृश” पर भी है जिस से भाव का कटाक्ष कटता है कि स्वामीजी ने गुण कर्म स्वभाव मिलाया व्यर्थ लिखा है। स्वामी जी ने जो कुछ लिखा है उस में बहुतशः मनु के प्रमाण लिखे हैं हम लिये स्वामी जी ने स्वयं नहीं लिखा किन्तु मनु का मत लिखा है। भाव जो मिद्वान्त करते हैं कि १०वर्ष से ऊपर स्त्री और १६ वा २० वर्ष में पुरुष का विवाह करे इस में कोई शास्त्र प्रमाण नहीं। और जो युक्ति दी हैं कि इस में बाल्यावस्था के कठिन रोग भी बच जायेंगे और विद्या भी पूर्ण हो जायगी। सो भी ठीक नहीं। क्योंकि जीतलादि रोगों का समय सामान्यतया जन्म से १५ वर्ष तक देखा जाता है। और प्रायः बालकों के मृत्यु १५ वर्ष तक इन रोगों से होते हैं। और सोलहवें वर्ष में पुरुष की विद्या क्या पूर्ण हो सकती है? तब तक ती बुद्धि परिपक्व भी नहीं होती। भाव विवाह की अवस्था को घटा कर विद्या का भी छोप करते हैं, अविद्या में धूर्तों की धूर्तता खूब चलती है, जिस से अविद्वान् गृहस्थों को बड़े कष्ट होते हैं। और भाव के अभिमत उत्तमकोटि के विवाह में द्विरागमन की आवश्यकता नहीं तो द्विरागमन का मुहूर्त बताने बाढ़े शीघ्रबोधादि व्यर्थ होंगे वा नहीं? जो यथार्थ में वेद और धर्मशास्त्रों से बढ़कर एक नया संस्कार घड़े बैठे हैं। द्विरागमन का कहीं मनुधर्मशास्त्र भर में लेख ही नहीं फिर भाव उस के सहारे व्यवस्था क्यों बांधते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ६६ पं० ८ से—

अब वर कन्या के फोटोग्राफ ( अर्थात् तमचीर वा प्रतिबिम्ब ) की खीला सुनिये भला हम में कौन सी श्रुति प्रमाण है कि वर की तमचीर कन्या और कन्या की वर के अध्यापकों के पास जाय अब वर की तमचीर

दया के पास गई तो वह सूरत के निवाय ओर क्या देख सकती हैं और जीवनचरित्र कहाँ से पावे जब कि दोनों ही अध्यापकों के पास पढ़ते हैं और कुछ समय जीवनचरित्र की आवश्यकता क्या है क्योंकि केवल विद्या अध्यापन के निवाय और उन का जीवनचरित्र क्या होगा यही कि आमुक्त २ ग्रन्थ पढ़े हैं वा और कुछ यदि और कुछ हो तो वोह क्या हो और उन में कौन से चरित्र लिखे जाय यही प्रयोजन होगा कि जिन दिन से जन्म लिया आठ वर्ष तक खेला फिर पढ़ने लगा इन के निवाय और क्या होगा और उस जीवनचरित्र का लेखक और साक्षी कौन होगा भाप या भाप के चेले और यदि अध्यापक लिखें तो एक दो अध्यापक के पास ५० शिष्य हों और यह एक २ का २५ वर्ष का जीवनचरित्र बनावे तो विद्यार्थियों को कौन पढ़ावे और फिर बिना लाभ २५ वर्ष का इतिहास लिखने कौन बैठेगा ? और एक पुस्तक हो तो लिख भी दें । जहां पचास वा ६० हों वहां की क्या ठीक, क्योंकि जब अध्यापकों के पास विद्यार्थी रहते तो उन की व्यवस्था वे ही ठीक जानते हैं, जब वे घन लेकर पुस्तकें बनावेंगे तो यह भी हो सकता है कि अधिक धन देने वाले के शीशुओं को छिया कर गुण ही लिखेंगे क्योंकि वे तो यह जानते ही हैं कि यदि शीशु लिखेंगे तो विवाह नहीं होने का और अपनी प्रकार लड़की भी फर सकती हैं कि जो कुछ घर से खर्च आवे कुछ जीवनचरित्र लिखने वाले के भी भेंट करेंगे क्योंकि जब ४०० रुपये तन के भीकर भी बहुधा घुंस खाते हैं तो जीवनचरित्र लिखने वाले की क्या क्या है “ यदि नास्तिक गिरिसेरु पड़ाहीं । कहो तूण केहि लेखे माहीं ” यदि यहो कि अब ऐसे नहीं होते हैं तो और सुनिये, यदि सन्हां ने लड़की लड़की के शीशुओं का जीवनचरित्र लिखा तो अब उन में कौन विवाह करे वे जिन की जान को रोखें अधिवा का तो भाप ने विधोग भी लिखा और सारहभर्ता करने लिखे परन्तु वे करारी क्या करें वे पति करें या नहीं वा कुछ सारह से अधिक करें यह कुछ स्वाभी जी ने लिखा नहीं क्योंकि जो शीशु-रूप हैं उन से विवाह कौन करे और तसवीर देखकर पसन्द करने उपरान्त उप से अधिक रूप गुण मिलने से वे स्त्री दूपरे के सङ्ग करने की इच्छा कर सकती हैं इस से तसवीर निलाना ठीक नहीं शोक की बात है जि जन्मपत्र जिन से रूप, रङ्ग, स्वभाव, विद्या, आयु आदि सब कुछ विदित हो जाय, वह तो निकम्मा और यह तसवीर निलाना ठीक । धन्य है इस बुद्धि पर इस कारण

यही उत्तम है कि माता पिता को पुत्र का अधिक समेह होने से वे चित्त लगा कर कुल गुण सम्पन्न पुरुष को भाव ही देखें तथा उस के व्यवहार की परीक्षा स्वयं अपने सम्बन्धियों के द्वारा करावें अर्थात् कि भय भी होता है हाँ, माई आदि के भारों से सम्बन्ध कर देना महामूर्खता है, स्वयं देखना चाहिये और बालरूप से आठवें वा नववें वर्ष तक का इतिहास क्या कार्य देगा, क्या धूरि में लोटना, पढ़े २ सूत्रादि करना, भोजन कू हटना पानी कू सम्भा कटना यह भी उस में लिखा जायगा, जब कि यज्ञोपवीत हो कर गुरु के सिद्धा पढ़ने गये तो सिधाय पढ़ने के और क्या जीवनचरित्र होगा। यह जीवनमृत्युनाम आप ने जन्मपत्र के स्थान में चलाने का विचार किया है। (जिस जन्मपत्र में कुल, गोत्र, जन्म दिन आदि सब कुछ विदित हो जाता है) ॥

प्रत्युत्तर-ऊपर हम मनु के श्लोक में "मदृश" शब्द दिखा चुके हैं, हम लिये देह के बाहरी अङ्गों की तुल्यता फोटो \* से भले प्रकार विदित हो सकती है और आन्तरिक गुण दोषों की तुल्यता जीवनचरित्र से ज्ञात हो सकती है। जीवनचरित्र कुछ बहुत बड़ा पुस्तक नहीं होता, किन्तु विद्यार्थी के चाल चलन, विद्या, योग्यता, स्वभाव आदि का परिचय गुरु को अवश्य हो जाता है। जब कि सर्वथा गुनकुल में विद्यार्थी रहें तब का तो कहना ही क्या है, किन्तु आजकल स्कूल और कालिगों में ६ वा ४ घण्टे पढ़ने की जाने वाले विद्यार्थियों के सर्टीफिकेट में भी हेडमास्टर वा प्रिंसिपल लोग उस विद्यार्थिगण के समस्त संक्षिप्त मुख्य २ चरित्र को लिख देते हैं। दुष्ट पुरुष अध्यापक होने के ही योग्य नहीं, स्वामी जी ने आप विद्वान् धनोत्सा स्त्री पुरुषों को आचार्य बनाना लिखा है फिर वे घूम खाकर बुरे को भला और भले को बुरा नहीं लिख सकते और स्वयं धनोत्सा स्वामी जी ने धर्मोत्सा आचार्यों का निषेध करना लिखा है। इतने पर भी यदि कोई अधर्मेपूर्वक असत्य जीवनचरित्र लिख दे तो यह उस का दोष है, स्वामी जी का नहीं। आप के मतानुसार जो जन्मपत्र मिलाया जाता है, उस को भी कोई पड़-दामलिष्ठ लालची व्योतिषी जैसे कि प्रायः हैं, असत्य कल्पित मङ्गली का अमङ्गली और निरुष्ट समय नक्षत्रादि में जन्म को अच्छे नक्षत्रादि और अच्छे को बुरे करके लिख दें और जैसा कि कोई २ लिख देते हैं, तब क्या वही आपत्ति आप के मत में नहीं आती? आप की समझ में खेलने और पढ़ने के सिवाय कुछ चाल चलन ही विद्यार्थी का नहीं हो सकता? जिस से आपका

\* भागवत में चित्रलेखा ने श्रीकृष्ण जी के पुत्र की तमबोर ऊषा को दिखाई है तब विवाह हुआ है। उस पर हरताल घर दीजिये ॥

लोक वा शास्त्र से कितना परिचय है, यह भले प्रकार पाठन समझ लेंगे, साक्षी अन्य कीन होता, आप विद्वान् धर्मोत्सा प्रधानाध्यापक ही साक्षी होंगे। आप के जन्मपत्र बनावटी नहीं हैं। इस की कीन साक्षी देता है ? यह तो बताइये। केवल अवगुण का ही जीवनचरित्र कोई नहीं हो सता क्यों कि न्यूनाधिकगुण अवगुण दोनों सभी में होते हैं, बस तारतम्य सब का किसी न किसी से मिल ही जावेगा और सला जिस के जन्मपत्र में बुरे योग पड़े हों उस पुरुष वा कन्या का आप के मत में क्या परिणाम होगा ? क्या वे दहेज के अभाव के समान माता पिता को जन्म भर शाय न देंगी ? और पुरुष व्यक्ति-चारदि न करेंगे ? ११ पति की तान बार बार क्यों तोड़ते हो नियोग प्रत्यक्ष में पुराणों के व्यक्तिचारप्राय चरित्रों का खूब ही नमूना दिखाया जायगा, धैर्य रखिये। निज कन्या और कुमारों को स्वामी जी के लिखे अनुसार गुणकुल में समावर्तन से पूर्व कुमारों और कन्याओं का मुख तक न दिखाया जाय और अष्ट प्रकार के सेयुनों से वर्जित रक्खा जावेगा, वे अन्य का पसन्द करना तो क्या ? जिग स्त्री वा पुरुष में भी ( गृहग्रन्थ के पवित्र धर्म के शक्ति-रिक्त केवल कामचेष्टा पूर्ति के निमित्त ) आनक्त न होंगी। परन्तु इन गहन पवित्र ब्रह्मचर्य के गृहात्म्य को स्वामी दयानन्द सा अनुभवी बालग्रन्थ-चारी ही जान सकता था। आप क्या जाने। जन्मपत्र जो फलितज्योतिष के समीक्षणानुसार सत्य ही नहीं यह रूप रंग स्वभाव विद्या आदि का परिचय क्या देसक्य है ? अच्छे रहे प्रत्यक्ष रूप, रङ्ग, स्वभाव, विद्या, भाव आदि की जांच तो न की जावे और जन्मपत्र के डोसले से ये रूप रङ्ग आदि सब बातें मिल गईं जावें। क्यों न हो, जिस में ज्योतिषियों की ठगई जारी रहे ॥

६० ति० भा० पृ० ६७ पं० १३ से—

अब स्वामी जी को यह पूछते हैं कि तुम्हारे माता पिता और तुम्हारा जीवनचरित्र ४० वर्ष तक का कहाँ है ? यदि कोई चेला कहे कि दयानन्द-दिग्विजयार्क दयानन्द जी का जीवनचरित्र है तो यह तो किसी बालपरिश्रमी ने उग की मृत्यु के उपरान्त रचा है और जो कहो स्वामी जी बनाकर रख गये हैं तो बिना साक्षी स्वयं लिखन प्रमाण नहीं क्योंकि अपना चरित्र आप ही कोई लिखे तो वोह अवगुण नहीं लिखता बढ़ाई की इच्छा से इस कारण वोह जीवनचरित्र प्रमाण नहीं ॥

प्रत्युत्तर-विवाहार्थियों के जीवनचरित्र विषय में आनन्द ब्रह्मचारी

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र का उल्लाहना देना प्रकरणान्तर है। तथापि सत्यार्थप्रकाशस्य त्रिवर्षों के उत्तर में स्वामी जी के जिनचरित्र पर भाष्य करना भी प्रकरणान्तर है। आप को स्वामी जी के जीवनचरित्र का विश्राम होना द्वेष के कारण असम्भव है। परन्तु पं० लेखराग जी ने जितना अन-करके देशान्तर में श्रवण करके और जहां २ स्वामी जी गये वहां २ जाकर जो कुछ शक्ति भर ज्ञात किया उस में स्वामी जी के बतलाये हुये से विरुद्ध कुछ भी नहीं मिला और इसी से पं० लेखरागसंगृहीत जीवनचरित्र प्रासा-गिक समझा जाता है। आप को अब स्वर्गवासि महात्मा के जीवनचरित्र को खोजने से विवाहार्थी चरित्र के प्रकरण में क्या प्रयोजन है, सो तो बतलाइये ?

२० ति० भा० पृ० ६९ पं० १९ से—और पढ़ाने वालों के सामने विवाह करने को कहते हैं पर थोड़ी सी भोलट से कहते हो प्रत्यक्ष हो क्यों नहीं कह देते कि हेसाई हो जाओ क्योंकि हेसाइयों में यह प्रथा प्रचलित है कि पादरी साहय स्कूनों में विवाह करा देते हैं जिसे गिरजा घर कहते हैं प्राचीन समय से ती भाज तक पिता माता भाई सम्बन्धियों के सम्मुख कन्या के ही घर विवाह होता चला आया है फिर आप ने यह भी खूब ही लिखा है ( नि कन्या और वर की सम्मति लेकर पश्चात् पिता से अघ्यापक लोग कहें ) वाह मुनाक़ात कराकर पिता से खबर करना यही रीति संशोधक की सङ्ग्रेणी का नियम है जब कन्या के सामने बीस पुरुषों का फ़ोटो आया तो सब में कोई न कोई लटक अन्दाज़ निराली होगी पसन्द किसे करें लोकानुसार—एक को स्वीकार करना पड़ेगा परन्तु वित्त में खोह और पुरुषों का भी कटाक्ष समझा रहेगा और यही व्यभिचार का लक्षण है क्योंकि सब अपने से उत्तम ही को चाहते हैं स्वामी जी ने गुणकर्म मिलाने लिखे कन्या की इच्छा विशेषमें हुई वे अघ्यापक गुण मिलाने लगे और कहने लगे कि इस में से कोई पसन्द करलो तो अब चाहें लाचारी से वे अङ्गीकार करलें पर मन में तो और ही पुरुष रहा और यही दशा पुरुषों की है तो अब कहिये खोह पति का अचल प्रेम और परस्पर की सम्मति कहाँ रही यह तो बड़ी पराधीनी होगई और गुण कर्म क्या मिलायें कर्म तो सब का पढ़ना ही ठहरा फिर मिलायें क्या यही कि जो पुस्तक लड़का पढ़ता हो वही लड़की और आप ने अध्ययन के निवाय सीना रसोई भादि मिखाना तो लिखा ही नहीं बस डयाह होने पर दोनों पुस्तकें आदि पढ़ें गृहस्थी का कार्य आप को शिष्यवर्ग कर जाया करेंगे

और कदाचित् कोई कन्या कुमाल काढ़ना जानती हो तो उस को चति भी कुमाल काढ़ने वाला होना चाहिये नहीं तो कर्म कैसे मिलेगा और गुण कौन से मिलाये जाय यदि किसी में तमोगुण होती दूसरा भी तमोगुणी होना चाहिये जो रातदिन लड़ाई हो और यह कैसी बात कही गुणकर्म न मिलें तो क़ारी रहो विधवा की तो कानागि खुझाने को यह क्या करी कि ११ पति तक करने में दोष नहीं और कुमारी पर यह कोप कि व्याह ही न करो भला उस को सन्तान उत्पत्ति की इच्छा और कामवाधा को कौन पूर्ण करेगा खूब ही भङ्ग पीकार लिखा है और निर्धन से तो भापकी रीति का विवाह बन ही नहीं सका क्योंकि जब पूर्ण विदुषी स्त्री आई तब रमोई कोन करे लाचार किसी को नीकर रखना पड़ेगा उन के पास इतना द्रव्य है नहीं भय लगा क्लेश होने सब पड़े भय रमोई कोन करे शायद् शूद्र मिलजाय तो भाश्चर्य नहीं मेरे कहने का यह आशय नहीं कि कन्या को मत पढ़ाओ पढ़ाना बेशक चाहिये परन्तु गृहस्थ के कार्य भी प्रबलता से सिखाने चाहिये जिन का प्रतिक्षण प्रयोजन पड़ता है जिन के जाने बिना भी क्लेश होता और स्त्री फूहर कहाती है ॥

प्रत्युत्तर-पढ़ाने वाले के सामने विवाह करना भाप ईनाई रीति समझते हैं सो भूल है । ईसाइयों को पादरी विवाह कराता है, स्कूल के मास्टर और प्रिन्सिपल नहीं । स्कूलों को गिरजाघर लिखना भी असत्य है । और अपने सत्यार्थप्रकाशक युवावरूपा के विवाहपरक वेदनत्रों का उत्तर क्या दिया ? चुप लगा गये । देखा सत्यार्थप्रकाश चतुर्थसमुल्लास-

युवा सुवासाः परिवीत आग्रात् । इत्यादि ऋ० ३ । ८ । ४

यही मन्त्र भाप की विवाहपद्धतियों में वर को वस्त्र पहनने का लिखा है । जिस में स्पष्ट “युवा” पद पड़ा है ॥ तथा-

आ धेनवो धुनयन्तामश्वीः शवर्दुधाः शशया अप्रदु-  
ग्धाः । नव्या नव्या युवतयो० इत्यादि ॥

इन मन्त्र में भी “युवतयः” शब्द आया है । और युवावरूपा भाप के ही लिखे प्रमाणों द्वारा स्त्री और पुरुष की १६ और २४ वर्ष में पूरी होती है

कन्या वा वर की शास्त्रानुसार ‘मदूश’ में इच्छा होना धर्म है । अनदूश वा बिरुदुवर्ष में होना अधर्म है । यदि लोक वा शास्त्र की मर्यादा का त्याग करके कोई कन्या वा वर इच्छा करने लगे तो यह स्वामी जी की सत्यार्थ-

प्रकाशस्थ शिवा का दोष नहीं किन्तु अघर्मियों का है। यों तो आप की प्रचरित परिपाटी का उल्लङ्घन करके भी बहुत से अनिचार होते हैं, क्या उनमें आप का दोष बताया जा सक्ता है? आप जिस प्रकार की अनेक आगुह्य करते हैं वे ब्रह्मचर्य के स्वाद न जानने वालों में सम्भव हैं परन्तु स्वामीजी लिखित ऋषिपरिपाटी में नहीं। कुमाल को ही लिये फिरते हो, स्वामीजी ने समस्त शिष्यकला कीशल भी शिक्षा में मिलाया है, फिर आप का कुमाल काढ़ना किस में रहा। स्वामी जी ने नहीं लिखा कि गृहकन्य न मिलाया जाय, फिर आप का विदुषी स्त्रियों को फूहर लिखना आप की समझ रही, स्वामी जी तो इस मनुष्यजन की मानते और उपदेश करते थे कि—

**सदा ग्रहृष्टया भाठयं गृहकार्येषु दक्षया**

स्त्री को गृहकार्य में चतुर और प्रसन्न होना चाहिये। वास्तवस्थता में विवाह करके स्त्री पुरुषों की विद्याहीन फूहर और मिखटू रखना आपकी शिक्षा है। और गुरु की सम्मति से विवाह करना मनु के इस प्रमाण से स्वामी जी ने माना है जो सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि—

**गुरुणानुमतः स्नातश्च समावृत्तो यथाविधि ॥ मनु ३।४**

फिर आप गुरु की अनुमतिपूर्वक विवाह को ईसाई रीति कीसे बताते हैं?

५० ति० भा० पु० ६८ पं० १८ से—स्वामी जी ने यह गुप्त बात न लिखी क्या पूछे यही कि उपदंश नपुंसकतादि रोग तो नहीं हैं वा आकर्षण स्थापन जाता है वा नहीं सो यह बात बिना परीक्षा किये कैसे विदित हो सकती है जो गुप्त बात है उसे अध्यापक कैसे देखें क्या वे भी किसी प्रकार उन से निर्लज्जता युक्त साधन करें शोक। गुप्त बात को खोल ही कर लिखदें कि विवाह से प्रथम एक बार संयोग भी हो जाय तो सब सेव खुल जाय यदि पुष्टता आदिक हो तो वरन करें नहीं तो दूसरे की फिक करें अन्यथा निज-दोष देखने कहने वाले बहुत थे हैं पर कन्या की परीक्षा कि यह अध्यापी नहीं है किनी अच्छे डॉक्टर से करानी चाहिये क्योंकि बांझ हुई तो सन्तान कहां अथवा दो बार नास विवाह से प्रथम संयोग होता रहे जो गर्भस्थिति हो जाय तो विवाह करलें नहीं तो त्यागन करदें इस प्रकार करने से कोई विवाहित पुरुष निर्बंध न होगा और स्वामीजी की इष्टसिद्धि भी होगी और जिन के पास धन आदि का प्रबन्ध न होवे क्या वे बैठे हुए आप की आशी-

बोध दें बहुत तो ऐसे हैं जो रोज़ लाते और गुजरान करते हैं वे सला खान-  
पान का प्रबन्ध ( इकरारनामो ) कैसे लिख सकते हैं वन धनी बाड़े निधन  
बहुत विवाहित बाड़े क़ारी क़ारी अधिक होने से कामाग्नि से पीड़ित हो,  
कुमार्य में ही पदार्पण करेंगे और ४८ वर्ष का कष्ट शरीर दश बीस दिन  
व्रतन भोजन करने से कैसे यथेच्छ पुष्ट होजायगा बाइ स्वामीजी की वैद्यक  
तो पूर्ण है और इन जरामुख अवस्थाका फ़ोटो भी मगोहर होगा विवाह का  
समय भी कैसा अद्भुत रखता है जब रजस्वला से शुद्ध हो उस दिन विवाह करे  
और आप की बनाई संस्कारविधि के अनुसार व्याह करावे, यह तो बड़ी  
ही भलीक़िक्त बात कही जब आप की संस्कारविधि नहीं थी, तो काहे के  
अनुसार विवाह होता था, भला अब तो आप कहते हो ब्राह्मणों ने ग्रन्थ  
कल्पना कर लिये पूर्ण अवि मुनि विवाहक्रिया कोन से ग्रन्थ के अनुसार  
करते थे क्योंकि यह आप की पुस्तक तो जबतक बनी ही नहीं थी, तो उन  
के विवाहादिक भी अशुद्ध ही हुए और स्वामी जी ने उसमें बनाया ही क्या  
है वेदमन्त्र तो पूर्वकाल से ही थे, आप ने उस में भाषा लिखदी है और  
पठनपाठविधि में सब भाषाग्रन्थ त्याज्य मानने से यह भी भाषा मिश्रित  
होने से त्याज्य ही है कार्य मन्त्रोंद्वारा होता है भाषा से कुछ प्रयोजन ही नहीं  
किर दयानन्द जी ने उस में क्या बनाया और जहां जब भी यह संस्कारविधि  
नहीं है वहां केलङ्का लङ्की क्या क़ारे ही रहें और संस्कारविधि की शिक्षा  
कैसी उत्तम है “पुरुष स्त्री की छाती पर हाथ धरके स्त्री पुरुष के हृदय पर  
हाथ धरके कहे तुम मेरे मन में मदावस्ते रहो” जहां कुटुम्बी बट्ट बैठे हों वहां  
चारियों की यह डीठता, यह आप का कन्या का अधिक अवस्था का विवाह  
और नियोग यह दो लज्जानाशक व्यभिचार के खंभ हैं ॥

प्रत्युत्तर—विवाह करने की इच्छा, प्रयोजन, तथा अन्य सर्वसाधारण के  
सामने न पूछने योग्य कई बातें सम्भव हैं, क्या वे निर्दोषता से सब  
के सामने पूछी जातीं, तब सनातनधर्म पूरा होता ? क्या रोगादि की परीक्षा  
करना कराना आदि भी आप अधर्म समझते हैं ? यदि वर, वधू के पोष-  
खादि का पण न करे तो क्या—

**ममेयमस्तु पोष्या मह्यं तथादाहृहस्पतिः ।**

अर्थात् मुझे इस ( वधू ) का पोषण करना योग्य होगा, मुझे मुझे पर-  
जातना ने दिया है ॥



इत्यादि विवाहमन्त्रों को भी आप न जानते होंगे ? फिर आप शास्त्र को उल्लङ्घन करके कैसे लिखते हैं कि निर्धन पुरुष खान पान का प्रबन्ध न कर सकेंगे । क्या निर्धन वा अल्पधनी लोग गृहस्थ का निर्वाह नहीं करते ? अङ्गुलाडीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का दर्शन आप को नहीं हुआ, नहीं तो:-

**ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः**

**कार्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ॥**

ब्रह्मचारी जो अग्निवत् देदीप्यमान, कण्ठाग्निचारी, दीक्षित, उन्मी खूँडों वाले, सिंह तुल्य पुरुषों को जरामुख न बतलाते ॥

संस्कारविधि का अर्थ क्या आप वेदिकाग्रस के छपे पुस्तक विज्ञेय ही को समझते हैं । जिस में संस्कारों का विधान हो, उसी पुस्तक से तात्पर्य है । जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि “वेदमन्त्र तो पूर्वकाल से ही थे, आप ने उस में भाषा लिख दी है” तो फिर उन्हीं मन्त्रों से पूर्व काल में विवाह होता था । अब समस्त लोग वेदभाषा को नहीं समझते इस लिये समझाने को भाषा लिखनी पड़ी, तो स्वामी जी की भाषा वेदमन्त्रों की भाषाविधिति हुई और उन जालमन्त्रों में नहीं आसक्ती, जो विद्वारों की वतसह जैसे वेदविरोधी पुस्तक हैं ॥

“पुरुष स्त्री की छाती पर हाथ धरके स्त्री पुरुष के हृदय पर हाथ धर के कहे तुम मेरे मन में सदा बसते रहो”

इस हज्जारत पर आप का क्या कटाक्ष हो सका है जब कि विवाह में मन्त्र ही है कि-

**मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते असतु । इत्यादि**

इसी का अर्थ स्वामी जी ने लिख दिया । आप ने इतनी विवेकता अपनी ओर से करदी कि “हृदय पर” के स्थान में “छाती पर” लिख दिया । तबक अपनी विवाहपद्धति को भी देख लेना प्य । उस में भी ती-

**मम व्रते ते हृदयं दधामि ।**

यह मन्त्र लिखा है । और लिखा है कि-

**वध्वा दक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वदक्षिण-**

**हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमाब्रमते ॥**

गर्भ-वधू के दहने कन्धे पर अपना दहना हाथ लेनाकर उस का वरय छूना है । फिर उसी में देखिये—

वधवाः सीमन्ते वरः सिन्दूरं ददाति ॥

गर्भ-वधू की मांग में वर सिन्दूर देता है । फिर—

ततोऽग्नेः प्राच्यां दिश्युदीच्यां वा अनुत्तम

आगारे आनुडुहे चर्मणि० ॥ इत्यादि ॥

गर्भ-अग्नि से पूर्व वा उत्तर दिशा के ठहरे कमरे में बैल के चर्म पर वधू को लेटावे ॥

जरा बतलाइये तो यह क्या होता है । फिरः—

विवाहादारभ्य त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ

स्यातां जायापती इत्यादि ॥

विवाह से ३ रात्रि तक क्षारलवणवर्जित भोजन करें श्री और पुत्र । इतना ही नहीं भागे और भी देखियेः—

“एकपात्रे सहाश्रीतः”

एक पात्र में साथ दोनों खावें । थोड़ा और देखियेः—

अथ खट्वादिरहिते भूभागे कटादिना स्वास्तुते त्रिरा-  
त्रमेव शयीयातां समग्रं संवत्सरं विवाहादारभ्य न मिथुन-  
मुपेयाताम् । द्वादशरात्रं च त्रिरात्रं चेति ॥

गर्भ-फिर खाट बाट कुछ न हो, किन्तु कटाई बिछाकर पृथिवी पर छेवल ३ रात्रि तक दोनों सोवें । फिर १ वर्ष तक मिथुन को न प्राप्त होवें । वा १२ रात्रि तक वा ३ रात्रि तक ही ॥

महात्मा जी । यह ती स्पष्ट विदित होता है कि आप की विवाहपद्धति-यों पर आज तक “गृह्यदर्श भवेद्गौरी” का प्रभाव नहीं पड़ा है । तभी तो कम में ऐसे ठपकहार लिखे हुए हैं जो अनुसूती ही के विवाह में पढ़ सकते हैं ॥ अब आप का द्विरागमन किधर रिल गया ? जले जानुवों । जरा सनक कर कलन सटाया करो ॥

६० नि० प्रा० पृ० ६९ पं० १६ से पृ० ७० पं० २३ तक सत्यार्थवक्ताश के गार्ह-  
स्थ्य विषयक लेख को बड़ी निर्लज्जता से लिखा है। स्वामीजी का तात्पर्य  
तो समयनिर्धारण से था कि जो २ व्यवहार स्त्री पुरुषों में हंते ती हैं ही  
किन्तु ठीक समय पर हों। हम लिये उन का लेख कर दिया है। अस्तु स्वामी  
जी का तात्पर्य तो समय पर दाम्पत्यव्यवहार के प्रचार का था, जिस के  
कुसमय होने से हीन हीन जायेंजाति इस दुरवस्था को प्राप्त हुई। परन्तु  
जाप टुक महाभारत की तो देखें जो पुराणों का बाबा है !!! आदि पर्व  
अध्याय १०४ में। उत्तथ्य की स्त्री ममता थी। उत्तथ्य से गर्भवती ही को छोड़े  
भाई बृहस्पति ने जा घेरा। एक गर्भ तो स्थित है दूसरे की तैयारी। भीर  
भीतर वाला एही लगा कर रोकता है। धन्य है महाभारत से वेदों का धर्म  
यही फैलाया जाता है ?

अथोत्तथ्य इतिख्यात आंसीद्वीमानृषिः पुरा । ममता नाम  
तस्यासीद्वार्या परमसम्मता ॥ ८ ॥ उत्तथ्यस्य यवीयांस्तु  
पुरोधास्त्रिदिवीकसाम् । बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपदात्  
॥ ९ ॥ उवाच ममता तन्तु देवरं वदतांवरम् । अन्तर्वत्नी  
त्त्रहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति ॥ १० ॥ अयं च मे महाभाम  
कुक्षावेष बृहस्पते । औत्तथ्यो वेदमन्त्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत ११  
अमोघरेतास्त्वं चाऽपि द्वयोर्नास्त्यत्र संभवः । तस्मादेवं च  
न त्वदा उपारमितुमर्हसि ॥ १२ ॥ एवमुक्तस्तथा सम्यग्बृहस्पति-  
रुदारधीः । कामात्मानं तदात्मानं न शशाक नियच्छितुम् १३  
स यभूव ततः कामी तथा सार्धमकामया । उत्सृजन्तं तु तं  
रेतः सगर्भस्थोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥ भोरतात मा गमः कासं  
द्वयोर्नास्तीह संभवः । अल्पावकाशो भगवन्पूर्वं चाहमिहागतः  
॥ १५ ॥ अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्तुमर्हसि । अश्रुत्वैव  
तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः ॥ १६ ॥ जगाम मैथुनायैव

ममतां चारुलोचनाम्। शुक्रोत्सर्गं ततोबुध्ना तस्या गर्भगतो  
मुनिः ॥ पद्भ्यामरोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः ॥ १७ ॥

अर्थात् प्राचीनकाल में एक उत्तमपुत्राग ऋषि होना गया, ममता नाम्नी  
बड़ी अच्छी स्त्री की स्त्री थी ॥ ८ ॥ उत्तम का छोटा भाई देवर्षि का पुरो-  
हित महातेजस्वी बृहस्पति ममता के पास गया ॥ ९ ॥ कुछ बड़े मधुरभाषी  
देवर ने ममता कोली कि मैं तो आप के बड़े भाई से गर्भवती हूँ इस लिये  
आप रहने दीजिये ॥ १० ॥ और हे बड़भागी ! यह उत्तम का पुत्र मेरी कुक्षि  
में है । हे बृहस्पते ! हम ने यहां भी छः बङ्गवाला ये पढ़ा है ॥ ११ ॥ और  
आप का धीर्य भी ठपक नहीं जा सका और यहां दो की गुल्लक नहीं इस  
लिये आज तो मेरे पास आना योग्य नहीं है ॥ १२ ॥ इस प्रकार उस बड़ी  
बुद्धि वाले बृहस्पति ने उस (ममता) ने कहा भी परन्तु वह अपने काम  
को न रोक सका ॥ १३ ॥ निदान वह कामी उस कामरहिता के शिर झुक  
और जब..... करने लगा तो यह गर्भस्थ कोला कि ॥ १४ ॥ अर्थात्  
काम के वशीभूत न हुआ। यहां दो की गुल्लक नहीं है, जगह थोड़ी है  
और मैं पहले जा पहुंचा हूँ (इस लिये मेरा कड़वा है) ॥ १५ ॥ और आप का  
शुक भी बूझ नहीं जा सकता । इस लिये तकलीफ न दीजिये ॥ परन्तु  
बृहस्पति ने उस गर्भस्थ की एक न सुनी ॥ १६ ॥ और उस से जैष्ठ्य के लिये  
पहुंच ही गया । क्योंकि उस की आंखें बड़ी अच्छी थीं ॥ जब गर्भगत मुनि  
ने शुकपात होते जाना तो बृहस्पति के शुक का नाम दोनों पैरों की पट्टियों  
से रोक दिया ॥ १७ ॥ यदि ऐसी घिनोनी शिष्टा से भी ( जिस में बेद्वेषता  
ऋषियों की इस प्रकार निम्ना है ) आप को घृणा नहीं आती और उसे  
कोई आप बेद्वेष्य धर्म के अनुपायी बनना नहीं चाहते, तो भाव्य ॥

२० ति० सा० पृ० ३० पं० २४ से—

“अनुपनीतं शूद्रमध्यापयेत्” विना यज्ञोपवीत शूद्र को बेद पढ़ावे ।  
तो संस्कार की क्या आवश्यकता है । जब ४८ वर्ष उपरान्त ब्रह्मचर्य हो  
शुभेना तब वनों में योग्यता से कर दिया जायगा । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश में आप का लिखा ऐसा संस्कृत और ऐसी भाषा  
कहीं नहीं, आप रचना करते हैं । किन्तु वहां शुक का प्रभाव है कि—

“शूद्रमपिकुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके”

“और जो शूद्र कुलीन शुभनक्षत्रयुक्त हो तो उस को गन्धर्वसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे” ॥

इस में “वेद पढ़ावे” नहीं है। किन्तु वेद छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, यह लिखा है। इस लिये आप का अनुवाद ठीक नहीं और आप के लिखे मतानुसार संस्कृत पाठ भी ठीक नहीं है। रही यह शङ्का कि गुण कर्म स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था में छोटे बालकों के वर्ण की व्यवस्था नहीं हो सकेगी इस का उत्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में कुछ गुण कर्म स्वभाव अवश्य होते हैं। क्या बालकों में कोई भी गुण कर्म स्वभाव नहीं होते? प्रायः अपने माता पिता के तुल्य ही गुण कर्म स्वभावों का बीज बालकों के हृदय में होता है और यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो उसी की वृद्धि हो कर पूर्ण द्विजत्व को प्राप्त हो सकता है। इस लिये द्विजों के बालकों में भावी द्विजत्व और शूद्र के बालक में भावी शूद्रत्व की संभावना रहती है। इस लिये जब तक कि कोई सन्तान अपने आप को अपने पिता आदि के गुण कर्म स्वभाव से विकट्ट प्रमाणित न कर दे, तब तक अन्य वर्ण नहीं माना जा सकता। परन्तु यदि शूद्र को कुछ भी न पढ़ाया जावे तो उस की उत्पत्ति का द्वार ही बन्द हो जावे। इस लिये स्वामी जी शूद्रों के प्रमाण से उन की भी प्रथम भव्य शास्त्रों के पढ़ाने को मार्ग दिखाते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ६० पं० २९ से “हे बालक मैं तुझे मधु घृत का भोजन देता हूँ। तुझे मैं वेद का ज्ञान देता हूँ। हे बालक भूलोक अन्तरिक्ष लोक स्वर्गलोक का ऐश्वर्य तुझ में प्रारब्ध करता हूँ” विचारने की बात है क्या यह स्वामी जी का तन्त्र नहीं है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप सत्यार्थप्रकाश छोड़ संस्कारविधि में पड़ेंगे। वहाँ भी आप की लिखी इवारत कहीं नहीं लिखी। आप स्वामी जी पर आक्षेप करते हैं और उन के ग्रन्थ के विकट्ट कल्पना करते हैं। हाँ उन्होंने:-

प्र ते ददामि मधुनी घृतस्य । इत्यादि

मन्त्र लिखा है सो क्या आप की सम्मति में स्वामी जी ने रस लिया है? क्या आप की माननीय पद्धतियों में—भूस्त्वयि दधामि। इत्यादि नहीं है? देखो दशकर्मपद्धति जातकर्म। यथाये में बालक में ज्ञानशक्ति और यज्ञशक्ति जन्म से ही नहीं किन्तु जब से जीवात्मा प्रवेश करता है तभी से होती है। किन्तु उसी शक्तिद्वारा उस का अनुभव जैसे २ बढ़ता जाता

है वैसे २ वह जाना जाता जाता है ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजायति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ मनु० ४।२०

यथार्थ में संसार में किनी प्राणी को कोई ज्ञान एक साथ बड़ी अवस्था ही में प्राप्त नहीं हो जाता, ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक बालक जन्म से ही कुछ न कुछ सीखता है। कुछ न कुछ जानता है। तदनुसार जन्मते ही उसे परमेश्वर और वेद के समर्पण करणा बालक के कुछ न कुछ झुपार का कारण अवश्य है। तथा माता पिता का विशेष चेतित होना और वैदिक मन्त्रालु होना भी सन्तान और मा माप दोनों का संस्कारक है। आप संस्कार को मानें वा न मानें परन्तु उन मन्त्र को तो जानते ही होंगे, जिसका यह अर्थ है।

और ऐश्वर्य की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक है और सब से अधिक मनुष्य अपना ऐश्वर्य चाहता है, यदि संसार में अपने से अधिक ऐश्वर्य को है किनी का चाहता है तो वह अपनी सन्तान का चाहता है। वही स्वाभाविक इच्छा मन्त्र से प्रकट होती है ॥

२० ति० भा० पृ० ११ पं० १३ से—(त्रीणि वर्षा०) इस श्लोक का अर्थ यह किया है कि—“जिस कन्या के पिता मातादि न हों वह ऋतुवती होने पर तीन वर्ष तक (उदीक्षेत) अपने कुटुम्बियों की प्रतीक्षा करे कि यह विवाह करदे जब यह समय भी बीत जाय तो अपनी जाति के पुरुष को जो अपने कुल गोत्र के सदृश हो उसे वरण करे यह आपद्धमे है। अन्यथा जी को स्वयं वरण का न्यकुल छोड़ कर अधिकार नहीं है”। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस आप के अनर्थ को हटाने के लिये एक श्लोक इस के पूर्व का भी लिखे देते हैं:-

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।

न चैवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ९ । ८९

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।

उध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ मनुः१।८९॥

अर्थ—( कन्या ) पुत्री (ऋतुमती) रजस्वला हुई ( कामम् ) चाहे (गर्भं रणात्) सन्तुप्यन्त ( अपि ) भी ( तिष्ठेत् ) रहे ( तु ) परन्तु ( एनाम् ) इस

को (गुणहीन) गुणरहित को लिये ( न वैव ) नहीं ( प्रयच्छेत् ) देवे ॥८८॥  
( कुमारी ) द्वारी कन्या (अनुमती) रजस्वला (सती) होती हुई (श्रीणिवर्षाणि)  
तीन वर्ष (वर्षेभ्यः) खोज करे (तु) और ( एतस्मात् कालात् ) इस समय से  
( अर्धम् ) ऊपर ( मनुष्यम् ) तुल्य (पतिम्) पति को ( विन्देत् ) प्राप्त हो ८०

इस में 'पिता साता न हों' और कुटुम्बियों की प्रतीक्षा की अनुमति  
कहाँ से आई ? और क्षत्रियकन्याओं को पतिव्रता स्वयं करने और अन्य  
वर्णों को न करने के विधिविधेय का कोई वाक्य किसी पुराण का ही दिया  
होना । या अपनी ही चलाते हो । धाय को गुण दोष जानने की सुश्रुत  
व्यवस्थित है । क्या सत्यार्थप्रकाश ही में सब बातें लिखी जाती ? जो वरिद्ध  
हैं उन को धायी का नियम स्वयं स्वासी जी ने नहीं किया । क्या आप ने  
सत्यार्थप्रकाश में नहीं देखा कि—

“जो कोई वरिद्ध हों धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के  
दूध में उत्तम औषधि जो कि बुद्धि पराक्रम आरोग्य करने वाली हों उनको  
शुद्ध जल में सिजा बीटा खान के दूध के समान लज्ज मिलाने वाला को  
पिलावे । ” देखते तो आप ऐसा न लिखते कि “ एक खा सब को कणम  
करना बुरा है ” इत्यादि ॥

५० ति० भा० पृ० ३१ पं० १५ से—विदुषाः कानुमार कन्या से वर दूना होगा  
उत्तम है क्योंकि मध्यम है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप तो “ऊपलवर्षाऽष्ट०” प्रमाण से तिसुणा वर कह चुके हैं जब  
किर नहीं आगये कि ८ वर्ष की कन्या से क्योंकि १९ वर्ष का वर और क्योंकि ही  
का नियम है तो २ दिन की कन्या से ३ दिन का वर भी क्योंकि होता है ।  
परन्तु यह क्योंकि आगे नहीं रहती । ८ वर्ष की कन्या से १९ वर्ष का वर  
क्योंकि हुआ, परन्तु यही कन्या जब १६ वर्ष की होगी तब वर २० वर्ष का  
होगा तो क्योंकि का सवाया ही रह जायगा और आगे २ सवाया भी न  
रहेगा । क्या विवाह समय की क्योंकि लगाई जायगी वा युवावस्था की ?

### धर्मादिव्यवस्थाप्रकरणम्

५० ति० भा० पृ० ३२ पं० ११ से—

किं गोभ्रोतुसीत्यासीति सहोवाचनाद्भेदोदभौयद्गोभ्रोहस्त्यप्युक्तं

मातरश्च सा मां प्रत्यग्रथीदहं चरंती-परिचारिणी बौधनेत्त्वामलसेखादनेन  
 वेदं यद्गोत्रस्त्वगमि जाबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसौ तिस्रोऽथ  
 सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति । तथैवाप नैतदब्राह्मणं वक्तुं इति  
 सन्निधेऽमोभ्याहरति । आहोभ्ये ॥

किं हे सौम्य तेरा क्या गोत्र है । जाबालि बोले यह मैं नहीं जानता  
 मैंने माता से यह पूछा था वन ने कहा मैं घर के कामकाज में फँसी रहूँ थीं  
 युवावस्था में तेरा जन्म हुआ पिता परलोक निधारे मुझे गोत्र की खबर नहीं  
 तुम्हारा नाम सत्यकाम तेरा नाम जाबाला है । यह बात सुन गीतमजी ने  
 जाना कि ब्राह्मण बिना सत्ययुक्त क्लरहित ऐसे वाक्य और कोई नहीं कह  
 सकता क्योंकि “ऋग्वेदो हि ब्राह्मणः” ब्राह्मण स्वभाव से सरल होते हैं,  
 इससे उसे निश्चय ब्राह्मण जान कर कहा कि सनिधा लेभा और विधिपूर्वक  
 उपनयन कराकर विद्या पढ़ाई ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने तो जाबालि का नाम ही लिखा था । बाप ने  
 प्रमाणसहित ज्वीरा लिख दिया । जाबालि की माता के इन कहने से कि न  
 जाने तू किस से पैदा हुआ, मैं नहीं जानती और ऐसा ही जाबालि ने  
 गीतम जी से स्वीकार किया तो सत्यवादित्व और सरलत्व जो ब्राह्मण के  
 गुण हैं उन्होंने से ही गीतम ने उसे ब्राह्मण नाम लिया और कह दिया कि  
 सनिधा ले भा । वन ठीक है, जो ऐसा सत्यवादी और सरलस्वभाव तू है  
 तो फिर चाहे जिस गोत्र में उत्पन्न हुआ है, गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण  
 ही है ॥ बाप यदि जाबालि के वीर्यदाता पिता का पता लगा देते कि वह  
 ब्राह्मणकुलोत्पन्न था तो बाप का पक्ष मजबूत । जिसे बाप नहीं माय मके ॥

और गोत्र शब्द की ध्वनि यहां वर्णपरक है । गोत्र के ऋषिपरक नहीं ।  
 क्योंकि गीतम का तात्पर्य वर्ण ब्रह्मणे से था, तभी तो ब्राह्मणत्व का निश्चय  
 करके प्रश्न मनास हो गया ॥

विद्यानिष्ठ का तप करके ब्रह्मा द्वारा ब्राह्मण बनाया जाना बाप स्वयं  
 भी लिखते हैं । यही हम कहते हैं कि यदि कोई गीचा वर्ण तप आदि शुभ  
 गुण कर्म स्वभाव युक्त हो जाये तो बलुर्वैदविद्ब्रह्मा (संज्ञक) विद्वान् की ही  
 हुई व्यवस्था से वह ब्राह्मण हो जाना चाहिये । उत्तम विद्या वाला ब्राह्मण  
 के योग्य होता है, इस से यह नहीं गिकलता कि कत्रिय वैश्य विद्याहीन  
 होते हैं । विद्यानिष्ठ विद्वान् ये परन्तु कत्रिय पद योग्य विद्वान् ये । फिर



ब्राह्मण पद सीध तप करने से ब्राह्मण कहलाये ॥ केवल विद्या पढ़ने से ब्राह्मण होगा सत्यार्थप्रकाश में भी नहीं लिखा किन्तु श्रम दमस्ति सर्व लक्षण संपन्न होने से माना है ॥ तप करने का तात्पर्य भी यह होता है कि “स्वाध्यायस्तपः शमस्तपो दमस्तपः” शम-दम-स्वाध्यायादि तप कहाते हैं । स्वामी जी ने भी:-

**स्वाध्यायेन त्रैर्होमैः । इत्यष्टि मनु० २।२८ ॥**

चतुर्थ मनुशास में स्वाध्यायादि सब गुण कर्म स्वभावों से ब्राह्मणत्व माना है, न केवल पढ़ने से ॥

यदि जाप के कथनानुसार सप्तस्त्रों वर्ष का तप सत्य माना जाय तो जाप ही के कथनानुसार उस युग में अधिक अवस्था थी तब महस्त्रों वर्ष के तप की आवश्यकता थी, अब अल्प आयु में अल्प तप से ब्राह्मणत्व होजाता चाहिये ॥ अब ही उच्च वर्ण को प्राप्त हो सकते हैं, यह तो स्वामी जी ने भी नहीं माना । परन्तु कोई भी नहीं हो सकता, ऐसा भी नहीं । किन्तु जो जो उन सग लक्षणों से युक्त हों वे २ अवश्य पूर्व भी हुये और अब भी होने चाहिये ॥

द० नि० भा० पृ० ७४ पं० १४ से—

यथा काष्ठमथो हस्ती यथा चमेमथो सुगः पञ्च विप्रोऽगधीयानस्त्यस्ते नाम विद्वन्ति ॥ अ० २ श्लो० १५७ ब्राह्मणस्त्वगधीयानस्तृणाभिरिव शाम्यति ॥ तस्मै हठं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते ॥ अ० ३ श्लो० १६८

जैसे काष्ठ के हाथी चमेड़े के सुग नाम माना होते हैं वही प्रकार बेपटा ब्राह्मण केवल श्रम का ब्राह्मण है ॥ १५७ ॥ बेपटा ब्राह्मण तुमहीं की अग्नि की ताड़ से शान्त हो जाता है उसे हव्य कव्य न देनी चाहिये उसे देना राख में होन करना है ॥ १६० ॥

प्रत्युत्तर-ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से जिन का नाम प्रथम उपनयनादि के समय ब्राह्मण या वह चमड़े का सुग और काष्ठ के हाथी के समान लड़कों के खिलाते रूप ब्राह्मण है । अर्थात् बालकों के समान अज्ञानी वीरगणिक लोग हमें ब्राह्मण ही मानते रहते हैं, परन्तु वह तुण का अग्नि के समान जलमे समय ती भावी शाश्वत ब्राह्मण कहाया, पर गुण कर्म स्वभाव हीन होते ही जैसे तुणाग्नि से भस्म हो जाती है । वैसे वह ब्राह्मण से अन्य हो जाता है । जैसे तुणाग्नि फिर अग्नि नहीं रहता किन्तु भस्म

निस्तृण हो जाता है, ऐव ही निस्तृण हो जाता है । जैसे भस्म को अग्नि मान कर उस में होम करना वृथा है ऐसे ही उस जन्म के ब्राह्मण और पंडितों से अब्राह्मण को ब्राह्मण मान कर श्रद्धा दानादि देना वृथा है । इस से न देना चाहिये ॥

६० ति० भा० पृ० ७४ पं० २९ और पृ० ७५ पं० १ से—

अह्नादह्नात्संभवसि हृदयादधिजायसे । आत्मासि पुत्रमा  
मृथाः सजीवशरदः शतम् ॥ ० ॥ आत्मावै जायते पुत्रः ॥

इन दो वाक्यों के प्रमाण से यह सिद्ध करना चाहता है कि जब अङ्ग १ से पिता को पुत्र उत्पन्न होता है तब ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होगा इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह ठीक है कि पिता माता को अङ्ग २ से सन्तान उत्पन्न होता है । परन्तु सन्तान का देहमात्र उत्पन्न होता है । आत्मा नहीं । हम लिये आप यदि कोई ऐसा प्रमाण देते जिस में देह का नाम ब्राह्मण होता तो ब्राह्मण देह से दूसरे ब्राह्मण देह की उत्पत्ति सामान्य होती । जिस प्रकार आम को बीज से आम ही उत्पन्नता है वसी प्रकार मनुष्य के बीज से मनुष्य ही उत्पन्नता । यह नियम तो ठीक है । परन्तु ब्राह्मण से ब्राह्मण ही उत्पन्न यह अधिक संभव तो है किन्तु इस को विरुद्ध कभी न हो सके, यह नियम नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० ७६ पं० १० से—

यत्पुरुषं व्यभुः कतिधाव्यकल्पयन् मुखं क्लिप्तस्यासीत्किञ्च ब्रू किमुक्तवा-  
दावचयेते । यजु० अ० ३१ सं० १०

( प्रश्न ) जिस परमेश्वर का यज्ञ किया उस की कितने प्रकारों से कल्पना हुई उस का मुख भुजा तक कील हुए, और कील पाद कहे जाते हैं, इन के उत्तर में ( ब्राह्मणोच्येति ) यह सन्त्र है जिस का भाष्य इयानन्द जी अशुद्ध करते हैं इस का अर्थ यह है कि ( ब्राह्मणः ) ब्राह्मण ( अर्य ) इस परमेश्वर का ( मुखम् ) मुख ( नासीत् ) भुजा ( रात्रयः ) कत्री ( बाहुः कृतः ) बाहुकप से निष्पादित भुजा ( अर्य यत् ऊरु तत् वैश्यः ) इस की जो ऊरु हैं तद्रूप वैश्य भुजा ( पद्भ्यां ) चरणों से ( शूद्रः ) शूद्र ( न जायत ) उत्पन्न भुजा । इस प्रकार से इस सन्त्र का अर्थ है ॥

प्रत्युत्तर—और ती आपने सब कार्य ठीक किया परन्तु (पद्मपाम्) चरणों से यह पद्मनी का कार्य ही ठीक नहीं क्योंकि आप ही पूर्व मन्त्र में (पादा वक्ष्येते) प्रयत्ना विभक्ति का कार्य कर चुके हैं कि “कीन पद कहे जाते हैं” ती इस उत्तर देने वाले मन्त्र में भी पद्मनी विभक्ति नहीं किन्तु—

### व्यत्ययो बहुलम्

इस पाणिनि के सूत्रानुसार यही कार्य करना चाहिये कि “शूद्र पाद कहा जाता है” न यह कि “चरणों से शूद्र उत्पन्न हुआ”

और जब कि आप स्वयं लिखते हैं कि “उस की कितने प्रकारों से कल्पना हुई” ती यह स्पष्ट है कि स्वामी जी को लिखने अनुसार ब्राह्मणादि ४ वर्ण मुखादि के मुख्य कर्म करने से पुरुष के मुखादि कल्पना किये जाने चाहियें। इस के अतिरिक्त मन्त्र में भी कल्पनावाचक (व्यकल्पयत्) पद वर्तमान है। इस से यह समझना अयुक्त है कि परमेश्वर के यथार्थ में मुखादि अवयव हैं वा उस के मुखादि उपादान कारण से ब्राह्मणादि वर्ण उत्पन्न हुये। यही कल्पना (चन्द्रमा मनसो जातः) इत्यादि में भी समझनी चाहिये। यों ती ब्राह्मणादि सभी वर्ण मुखादि सब अङ्गों से काम करते हैं परन्तु इतने से वर्णसङ्कर नहीं होता। किन्तु प्रधानता से जो जिन काम को करता है वह काम वर्णव्यवस्था के कारण होते हैं। जैसे दुष्टों को दण्ड देने आदि प्रबन्ध करना मैजिस्ट्रेट का काम है ती क्या अपने बालकों को थोड़ा दण्ड देने से मा आप आदि वा (मास्टर) आप्यापक लोगों की मैजिस्ट्रेट संज्ञा हो सकती है? कदापि नहीं ॥

इसी प्रकार व्यापारादि निमित्त वा अन्य कार्याय इधर उधर जाने जाने मात्र से सब की वैश्य संज्ञा नहीं होती ॥

यह कहना कैसी अज्ञानता की बात है कि निराकार परमेश्वर होता ती उन से निराकार ही सृष्टि होती, साकार नहीं ॥

क्या कुम्हार सुबनय नहीं है ती सुबनय पात्र नहीं बना सकता? क्या स्वर्णमय आभूषण बनाने वाला सुनार भी स्वर्णमय ही होता है? क्या आप परमात्मा को जगत् का उपादानकारण समझते हैं?

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । श्वेताश्वतर

उक्त परमात्मा का कोई कार्य नहीं। अर्थात् वह किसी का उपादान

कारण नहीं। फिर यह शङ्का क्यों रह सकती है। मनुष्यादि प्राणियों को पर-  
मात्मा ने अव्यक्त प्रकृति की व्यक्त करके सभी में बनाया और वेदों का प्रकाश  
प्राणियों के हृदय में किया। इस के भाप का सङ्कारवद् निर्मूल है ॥

भाप ही के पृ० ७८ पं० २ में कहे (अपाणिपदोऽव्यक्त) इत्यादि प्रमाण  
से सिद्ध है कि वह व्यापनता से बिना हस्त पादादि की सहायता के ही  
सब काम कर सकता है ॥

**लोकानां तु विवृदुर्धर्मं मुखयाहूतपादतः । मनु**

इस का भी भाग्य यही है जो ऊपर (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्)   
इत्यादि मन्त्र से वर्णन किया गया ॥

क्या योगि ने उत्पत्ति में योगि उपादान कारण है ? जो तत्त्वत्त्व बलान्न  
की अशङ्का करते हैं। नहीं २ योगि केवल उत्पत्ति द्वार है और उपादान  
कारण तो भङ्ग २ है जैसा कि ऊपर भाप ही लिख चुके हैं कि:—

**अङ्गादङ्गात्संभवसि ॥ इत्यादि**

द० ति० भा० पृ० ७९ पं० ९ से:—

यमानन्द जी ब्राह्मी का अर्थ यह करते हैं कि “ब्राह्मण का शरीर बनता  
है” यह अशुद्ध है क्योंकि ब्राह्मण का शरीर तो माता पिता से बनता है ॥

प्रत्युत्तर—सहात्मा जी ! ब्राह्मी का अर्थ “ब्रह्मप्राप्ति के योग्य” है तब  
फिर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य क्या कोई अब्राह्मण हो सकता है ? और यहां  
“तनु” पद भी है फिर शरीर सहित आत्मा ब्राह्मण बनता है, यही भाव  
हुवा और भाप के लिखने अनुसार पाठ भी सत्यार्थप्रकाश में नहीं है किन्तु  
“(इयम्) यद् (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्रह्मण का (क्रियते) किया जाता  
है” ऐसा पाठ है जिस की उपनि स्पष्ट है कि शरीर भी अभिप्राय में है ॥

द० ति० भा० पृ० ७९ पं० १२ से—यच्छाक्त मन्त्रों से सुवर्ण की शलाका के  
मधु घृत चटावे ॥

प्रत्युत्तर—भाप तो पूर्व संस्कारविधिरूप मधु घृत प्राशन का खण्डन कर  
चुके थे। अब मनु के श्लोक का अर्थ करते कैसे बजार उठे ?

जन्म से संस्कार करने का प्रयोगण पूर्व बता चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ८० में जो वाक्य ब्राह्मणादि के भिक्ष २ यज्ञोपवीतादि  
विषय में लिखे हैं वे सब जन्म से ब्राह्मणादि के पुत्रों के विषय में हैं। जिस

प्रकार दीवरर चिमने वाला पहली डेढ़ रखते समय भी यही व्यवहार करना है कि सफाई चिमता हूँ। यद्यपि पहली डेढ़ का नाम सफाई नहीं। इसी प्रकार सरखी ब्राह्मणत्वादि जो अनुमान में हैं उर्ध्वी के अनुसार सब व्यवस्था गुणकानुसार जानने में भी ठीक रहनी है। भाव के समान ही संस्कार-विधि के मोट में ये सब बातें लिखी हैं ॥

८० ति० जा० पृ० ८२ पं० ११ और जो पढ़ावे ती प्रायश्चित्त लगे ॥

प्रत्युत्तर-भला ( संस्कारस्य विशेषाश्च वर्णाणां ब्राह्मणः प्रभुः ) इन में प्रायश्चित्त का अर्थ कहाँ से आ गया ? किन्तु संस्कार की विशेषता से अन्य उर्ध्वी का ब्राह्मण गुण है। इतना ही अर्थ है ॥ अब कि भाग-

वैश्यकर्मस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

शूद्रस्याऽपिस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

क्षेत्रकर्मस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

इन चारों वर्णों को स्वयं लिख चुके हैं और इन में कर्म और स्वभाव शब्द रूप से आये हैं तो स्वामी जी के मुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण लिखने पर क्यों आक्षेप करते हैं। जो जिस का स्वाभाविक काम है वह उस के विपरीत नहीं हो सकता। वस जो लोग जिन वर्ण में उत्पन्न हुये हैं वे यदि उस २ पितृवर्ण का काम न करें तो जानना चाहिये कि यह इन का स्वाभाविक कर्म नहीं है, स्वाभाविक होता तो उन के विपरीत न कर सकते। हम लिये जो स्वाभाविक रीति पर प्रधानता से जिस कार्य में रत हैं उन का वही वर्ण समझना चाहिये ॥

ब्राह्मण ही के छः कामों को सब नहीं कर सकते। और ती क्या। स्वयं ब्राह्मणकुलोत्पन्न ही सब नहीं कर सकते, न करते हैं। फिर यह कहना किताना निर्मूल है कि बड़ा बनना सब चाहते हैं। हम लिये सब ब्राह्मण ही बन जायेंगे। ब्राह्मण होना तो बहुत कठिन है किन्तु छोटा मोटा राजा बनना उतना कठिन नहीं है, क्योंकि विषयों के ग्रहण से विषयों का त्याग अत्यन्त कठिन है और प्रायः प्रत्येक मनुष्य संसार का यह चाहता है कि मैं राजा हो जाऊँ, परन्तु क्या इच्छासाध से कोई बन सकता है ? यदि

विषयवाही राजा ही नहीं बन सकता तो विषयपत्यागी ब्राह्मण बनना कितना कठिन है ॥

पट्टेनाम का नाम ब्राह्मण स्वामी जी ने भी कहीं नहीं लिखा इस लिये यह कहना ठीक है कि यदि पट्टे का नाम ब्राह्मण हो तो क्षत्रिय विषय भी ब्राह्मण ही हो जाते ॥

परशुराम को ब्राह्मण कहने का कारण यही था कि उन्होंने राज्य-प्रबन्ध नहीं किया। क्या क्रोध में भर कर बहुतांशों के प्राण लेने मात्र से क्षत्रिय हो सकता है? द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या के प्रधान आचार्य थे। इसी से वे भी पढ़ाने भादि प्रधान गुण कर्म स्वभावानुसार ब्राह्मण माने गये ॥

कर्ण जब परशुराम से पढ़ने गया तब उस ने इस लिये नहीं पढ़ाया होगा कि उन्हें क्षत्रियों के जनपदों के कारण उन पर क्रोध था और त्रेता के परशुराम जी से द्वापरान्त के कर्ण का पढ़ने जाना भी विम्व्य है। यदि पुराणों के अनुसार त्रेता के पुरुषों की १०००० वर्ष की आयु भी मानें तब भी द्वापर के अंत तक परशुराम जी की स्थिति असम्भव है। जब आप कहते हैं कि "कर्ण में कौन से गुण क्षत्री के नहीं थे सब ही थे" तो सिद्ध हुआ कि क्षत्रिय गुणों से परशुराम जी ने उसे क्षत्रिय जान ब्राह्मण बनाने के झूठ बोलने पर नहीं पढ़ाया। कर्ण को द्रौपदी भादि ने क्षत्रिय नहीं माना तब यदि कर्ण में पूर्ण क्षत्रियत्व होता तो पौरुष दिखाता। उस ने लज्जित हो धनुष रख दिया इस से उस की निर्बलता स्पष्ट है तभी तो द्रौपदी ने नहीं वरण किया। गरुड़ के कबट में ब्राह्मण न पचना आदि साध्य हैं। सिद्ध का दुष्टान्त होना चाहिये। विद्यापढ़ाने से आरम्भ में वर्ण उस के पति के गुण कर्म स्वभावानुसार पुत्र का भी अनुमान किया जाता है। पश्चात् जैसा हो। यदि वर्ण नटल हो तो जो लोग स्नेह्यादि संपर्क वा स्नेह मत ग्रहण कर लेंगे वे भी पूर्व के भायें वंशानुसारी वर्ण में बने रहें ॥

### शूद्रोब्राह्मणतामेति

इत्यादि अलक्षणीय प्रमाण को देख कर ६० ति० भा० पृ० ८५ पं० १८ से कहते हैं कि—

शूद्राणां ब्राह्मणाज्जातः ज्ञेयसाचेतप्रजायते। अज्ञेयान्ज्ञेयसींजातिं गच्छ-  
त्वाप्तमगाद्युगात्। मनु १०। ६४

शूद्रा में ब्राह्मण से परशवारूप वर्ण उत्पन्न होता है जो की उत्पन्न हो

भीर वह ब्राह्मण से विवाही जाय भीर उन से कन्या ही वह ब्राह्मण से विवाही जाय तो वह पारश्वराख्य वर्ण सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है । इत्यादि । फिर पं० ९७ में यहां ( ता ) अत्यय सदृश अर्थ में है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-अच्छे रहे । जो बात एक जन्म में न मानी वह सात जन्म में मानी । यह पारश्वराख्य अनोखावर्ण जब शूद्रा को ब्राह्मणों से सात बार तक विवाह कर ७ ब्राह्मण शूद्रा से विवाह करने से भ्रष्ट बने तब एक ब्राह्मण सातवें जन्म में बने । ७ ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व खोवें शूद्रा को घर में डालें तब यह आप की वर्णोन्नति हो । और जातः अग्नेयान् इन पुंलिङ्ग पदों से कन्या अर्थ वा स्त्री जन्म कर ७ वें तक ब्राह्मण से विवाही जाय । यह अर्थ कहां से आया । तथा “ भासप्तमात् ” का अर्थ “ सातवें जन्म में ” कैसे हुआ आहु के अर्थ मर्यादा भीर अतिविधि हैं । तो यह अर्थ होगा कि सात तक ( अग्नेयान् ) नीचा वर्ण ( अग्नेयी जातिम् ) उच्च जातिको प्राप्त होता रहता है, न यह कि पहले छः नीच रहें और सातवां उच्च बने । इस लिये यह श्लोक ब्राह्मणों के विगाड़ने का है । और ब्राह्मणता में ( ता ) भाव अर्थ में है सदृश अर्थ में कोई व्याकरण का नियम “ ता ” का नहीं । यदि हो तो बतावें । भाव अर्थ में “ ब्राह्मणतामेति ” का अर्थ यह होगा कि “ ब्राह्मण भाव को पाता है ” अर्थात् ब्राह्मण हो जाता है । खंवातानी क्या है ॥

८० ति० भा० पृ० ८६ पं० ३ से-

भाष्यसूत्रिका में आप ने लिखा है कि कुचर्या अधर्माचरण निर्बुद्धि मूर्खता पराधीनता परसेवादि दोष दूषित विद्या ग्रहण धारण में असमर्थ हो खो ही शूद्र है यथाहि यत्र शूद्रोनाध्यापनीयो न आवणीयश्चेत्युक्तं तत्राप्यनाभिप्रायः शूद्रस्यप्रज्ञाविरहितत्वाद् विद्यापठनधारणविचारासनयेत्यात्तस्याध्यापनं आवणं व्यर्थमेवास्तिनिष्कलत्वाच्च” यह स्वामीजी की संस्कृत है कि शूद्र प्रज्ञा ( बुद्धि ) न होने से विद्या पठन धारण विचार में असमर्थ होने से पढ़ना सुनना निष्कल ही है ॥

इस लेख से स्पष्ट है कि शूद्र उस को कहते हैं जिस पर पढ़ावे से कुछ न आये और उस का पढ़ाना भी निषेध है फिर आप ही वेद पढ़ने की आज्ञा देते हो जैसा लिखा है कि ( शूद्रायावदानि-शूद्र को भी यह वेद पढ़ावे ) तो भला जो अभ्यपन के योग्य ही नहीं जोह कैसे वेद पढ़े अब





प्रत्युत्तर—तात्पर्यं तो यह है कि जो शूद्र होने से नष्टानी पुनः क्षत्रियों का उपदेशक बन जावे और चमत्कार करके भयभीत का उपदेश करे तो राजा उसे दण्ड दे। इस से यह तो नहीं सिद्ध होता कि वह शूद्र जन्म से होता है वा कर्मोदि से ॥

४० ति० सा० पृ० ८७ पं० २ से—

अतएव शतपथे । स वै न सर्वेषां संवदे, देवान्वा एव उपावर्तते, यो दीक्षते स देवानामेको भवति, न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते, ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा, ते ह यज्ञियास्तस्माद्यज्ञे न शूद्रेण संवादी विन्देदेतेषामेकैकं प्रयादिनम् ॥

प्रत्युत्तर—इस का अक्षरार्थ यह है कि—“यह सब से संवाद न करें, क्योंकि कि वह देवों के काम में है जो कि दीक्षित होकर यज्ञ करता है, वह नकेला देवतों का हो जाता है और देवता सब से संवाद नहीं करते, किन्तु ब्राह्मण वा क्षत्रिय वा वैश्य से ही करते हैं क्योंकि (ये ३) यज्ञ वाले हैं। शूद्र से संवाद नहीं प्राप्त होवे किन्तु इस (ब्राह्मणादि ३) में से ही किसी एक से बोले ॥

इस में भी जन्म से वा कर्म से कुछ नहीं लिखा, इस लिये जाप को पक्ष का पक्षक नहीं और शतपथ का पक्ष भी नहीं लिखा ॥

४० ति० सा० पृ० ८७ पं० १३ में—जैसे दीवार तमबीरों सहित दीवार ही रहती है परन्तु वोह गच्छी कही जाती है ॥

प्रत्युत्तर—जैसे दीवार लिप्री पुती तमबीर लङ्गी उत्तम होती है, वैसे ही पड़ा लिखा सुसूचित ननुष्य मनुष्य ही रहता है, परन्तु गच्छा अर्थात् ब्राह्मणादि उत्तमपद को प्राप्त हो जाता है और ऊँह फूटी विकृत दीवार भी दीवार तो कहाती है, परन्तु वह कुंठल, खण्डल आदि दुर्गमों से पुकारी जाती है। ऐसे ही कुपद ननुष्य भी शूद्रादि नामों से ॥

४० ति० सा० पृ० ८७ पं० १७ से—

मार्हद्भिर् ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्श्वरथराजस्यस्य, रायोक्ताजीय वैश्यस्य ॥

प्रत्युत्तर—ये सामवेद के स्थल नहीं हैं, किन्तु इस ३ नाम के साम हैं जो सामवेद की संहितास्थ ऋचाओं में से निकले हैं। तत्पर्यय यह है कि ब्राह्मण यज्ञ करे तो उसे “मार्हद्भिर्” नामक साम पढ़ावे, क्षत्रिय को पदार्थ, वैश्य को रायोक्ताजीय, शूद्र को ब्रह्म किये नहीं कहा कि वह अयोग्य होने से यज्ञकर्ता

ही नहीं होता। इस में भी जन्म वा कर्म कुछ नहीं कहा और आप ने यह पना भी नहीं दिया कि यह किस ब्राह्मण के किस स्थल का पाठ है। संस्कारे च तत्प्रधानतयात् । वेदे निर्दिष्टात् । इत्यादि का उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि न ग्रन्थ का नाम, न जग में जन्म वा कर्म का वर्णन ॥

द० ति० भा० पृ० ८७ पं० २४ से—

‘यद्युहवा एतत् प्रगशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रे नाध्येतव्यम्’ ॥

प्रत्युत्तर—यह भी छे पते प्रमाण है और शूद्र के समीप बैठ कर वेद न पढ़े इस का तात्पर्य यह है कि क्लास भिन्न २ रहनी चाहिये, शूद्र शूद्रों में बैठे, ब्राह्मणादि ब्राह्मणादिकों के साथ अपनी क्लास ( कक्षा ) में बैठ कर पढ़ें यह पढ़ने का क्रम है। जाति वा वर्ण का जन्म वा कर्मादि से होना इस में नहीं कहा ॥

शूद्राणामनिरवासितानाम् । प्रत्यभिवादे शूद्रे ॥

शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ।

इन सूत्र वार्तिकों में शूद्र का प्रयोग है। परन्तु शूद्रत्व जन्म से है वा कर्म से, यह कुछ भी नहीं लिखा, अतः आप का पक्षपोषक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ८८ पं० १३ से—

‘तेनतुल्यक्रियाचेद्वृत्तिः’ सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति अतश्च गुणसमुदाये एवंस्थाह ॥

तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारणम् । तपः श्रुताभ्यां योहीनीजाति- ब्राह्मण एवमः १ तथा गौरः शुचयाचारः पिङ्गलः कपिलकेश इति ॥

मय यह शब्द गुण समुदायों में वर्तते हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इति तप करणा वेद पढ़ना श्रेष्ठ कुल यह ब्राह्मण का (कारणम्) लक्षण है जो ब्राह्मण बन करके हीन है केवल ( योनिः ) ब्राह्मणकुल में जन्म मात्र है छोड़ जाति से ब्राह्मण है लक्षण सम में नहीं है क्योंकि गौर वर्ण पवित्राचरण पिङ्गलकपिलकेश यह भी ब्राह्मण के लक्षण हैं यदि यह न हों और छोड़ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है तो वह जाति से बाहर है यह भाव्यकार मानते हैं “जानिहीने सन्देहाद्गुरुपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते” और जातिहीन गुण-हीन में भी सन्देह से ब्राह्मण शब्द वर्तता है। गुरुहीने यथा “अब्राह्मणो-यं यस्तिष्ठन्मुच्यति” यह अब्राह्मण है जो खड़ा होकर मुत रहा है। सन्देह में ऐसे कि गौर वर्ण पवित्राचार पिङ्गलकपिलकेश युक्त देखकर बोध होता है

किं यह क्या ब्राह्मण है पीछे जानने से यदि कोई जाति ब्राह्मण हो तो ब्रह्म-  
स्मृत्योपनिषि ऐसा कहा जाता है यदि भाष्यकार को जाति शूद्र का जानना  
इष्ट न होता तो शुचि भाषारादि युक्त पुरुष को यह ब्राह्मण है या नहीं  
ऐसा क्यों लिखते ॥

प्रत्युत्तर-इस में ब्राह्मण के लक्षण और कारण बनाये हैं कि विद्या तप  
और जन्म ( ब्राह्मणकुल में ) ये ३ बातें ब्राह्मण होने का कारण है । परन्तु  
यह नियामक नहीं कि विद्या और तप न भी हों तब भी ब्राह्मण ही पूर्ण  
कहावे । जैसे जल अग्नि सृष्टिका ये चहे के कारण हैं । परन्तु यह नियम  
नहीं कि सृष्टिका से चढ़ा बने ही बने । किन्तु बनाना चाहें तो बन सकता  
है । अर्थात् ब्राह्मणकुल में जन्म लेना भी ब्राह्मण बनने के कारणों में एक  
कारण है क्योंकि संस्कारपूर्वक शरीर बनता है । परन्तु मिट्टी से चट बन  
सकता है किन्तु हँट भी बन सकती है, ठीकरे भी बन सकते हैं । इसी प्रकार  
ब्राह्मणकुल में जन्म लेने से ब्राह्मण भी बन सकता है और सत्रिप वैश्य वा  
शूद्र भी बन सकता है । और उस को जाति ब्राह्मण कहना ऐसा ही है जैसे  
कोई ब्राह्मण वा राजपुत्र ईसाई होवे तब भी उसे जाति का ब्राह्मण वा  
राजपुत्र कहते हैं किन्तु उस के साथ सहस्रोजनादि काम नहीं करते । ऐसे  
ही जन्म मात्र के ब्राह्मण जातिब्राह्मण हैं अर्थात् दानाध्यायनादि कार्ययोग्य  
नहीं । अर्थात् जन्ममात्र व्यर्थ है । उस अकेले से कोई काम नहीं । और जो  
जन्म तप विद्यादि सब गुणों से युक्त हो केवल रक्त उस का काला हो, क्या  
उसे जाप ब्राह्मण नहीं कहते या जानते ? हमारी समझ में तो गौर वर्ण  
होना इत्यादि ब्राह्म गौण चिह्न हैं, मुख्य नहीं । क्योंकि यदि रक्त पर ही  
वर्णव्यवस्था ही तो किसी देश में सर्वथा काले ही और किसी में गोरे ही  
होते हैं, तो फिर देशमात्र में एकही वर्ण होना और जानना चाहिये क्या ?  
२० ति० भर० सू० ८८ पं० २२-

निषेकादिहममानान्तो नम्रेयंस्योदितो विधिः ।

तस्यैवात्राधिकारीस्मिन्नेयोनाम्यस्य कस्यचित् ॥ अ० १

प्रत्युत्तर-तृतीयश्लोक का पाठ ऐसा है कि "तस्य आधिकारीस्मिन्" का  
जाप का पाठ ठीक नहीं । और इसमें भी जन्म वा कर्मोदि का वर्णन नहीं  
है किन्तु मनु भी अपने पुस्तक मनुस्मृति के यज्ञ के अधिकारी उस पुरुष  
को ठहराते हैं कि विधि के यतीधन से जन्मवैधिवर्क संस्कार हीसे ही

अन्य ऐसे गैरे को नहीं ॥

२० ति० भा० पृ० ८९ पं० ८ से—

पुनः गोपयद्वास्त्वणे पूर्वभागे २३ ब्राह्मणम्

सान्तपनाद्दहविरत्येषहवै सान्तपनोऽग्निर्यद्ब्रह्मणो यस्य गर्भाधानपुंमवन सीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणात्प्राञ्जनगोदानचूडाकरणोपमयना -  
प्लवनगिहोन्नतचर्यादीनिकृताग्निभक्षितिसमाप्तपनोऽथ योयमनग्निकः स  
कुम्भेलोष्टः ( तद्यथा ) कुम्भेलोष्टः प्रसिद्धो नैवशीचाद्यौपकल्पते नैवशस्यंनि  
र्वर्तयति एयमेवायं ब्रह्मणोऽनग्निकस्तस्य ब्रह्मणस्यामग्निकस्य नैवदैवं दद्यात्  
पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाऽग्निषो मयश्चाग्निषः स्वर्गङ्गनामवन्ति ॥

अर्थ—जिम ब्रह्मण के जन्म के गर्भाधान पुंमवन सीमन्तोन्नयन जातकर्म  
नामकरण निष्क्रमण ( बाहर निकलना तीसरे दिन ) अन्नप्राञ्जन गोदान  
चूडाकरण उपवीत अग्निहोत्र ब्रह्मचर्यादि संस्कार हुये हैं वो ब्रह्मणजाति  
और गुण कर्म से यथार्थ है उमी को सान्तपन कहते हैं जिम ब्राह्मण के ये  
संस्कार नहीं हुये वह ऐसा ही है जैसा घड़े में मिट्टी का डेला, क्योंकि वह  
कैला हुआ डेला पवित्रता नहीं करता न कुछ (शस्य) खेती का कार्य बनाता  
है इसी प्रकार से अग्निरहित और संस्कार रहित ब्राह्मण है ऐसे ब्रह्मण को  
देवता और पितृसंबन्ध में कुछ भी न देना न वेद आश्रित न यज्ञ आश्रित  
इस की स्वर्ग छे जाने वाली होती हैं ॥

प्रत्युत्तर—इस में केवल ब्रह्मण पिता से जन्मने वाले की निन्दा है ।  
अर्थात् जो ब्रह्मणकुल में जन्म लेकर भी गर्भाधानादि संस्कारों से रहित  
है उसे ब्राह्मण नाम कर दानादि नहीं देना चाहिये । यदि ब्रह्मणजन्म से  
ही होता तो ऐसे लोग भी दानादि लेने के अधिकारी होते जैसे कि आज  
कल गया के पड़के आदि हो रहे हैं ॥

२० ति० भा० पृ० ९० में यह आशेष है कि कुछ कर्म स्वभावानुसार वर्ण  
व्यवस्था मानने में यह अनर्थ होगा कि पिता के भगादि पदार्थों का दाय-  
भाग छूट जायगा ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—अब भी तो ईसाई मुसलमानादि होने से दायभाग छूटता ही  
है । राजपूतवस्था हो जाने पर कुछ अनर्थ नहीं हो सकता ॥

२० ति० भा० पृ० ९० पं० २४ से—

उपेष्ट एवमुपहृषीयातिऽन्तर्धनमग्रेष्ठता । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-क्या किसी के दो पुत्र हों और बड़ा बेटा धर्म त्याग दे तो वह पिता के धन का अधिकारी हो सकता है ? कदापि नहीं । वही प्रकार राजकीय व्यवस्था हो जाने पर वर्ण त्यागने पर भी दायतावादि सब काम ठीक चल सकते हैं ॥

८० ति० भा० पृ० ८१ पं० १७ से ८५ तक में (स्वाध्यायेनव्रतेः०) इस श्लोक का यह तात्पर्य निकाला है कि स्वाध्यायादि कर्मों से ब्राह्मण नहीं होता किन्तु मुक्तिप्राप्ति के योग्य होता है ॥

प्रत्युत्तर-मुक्तियोग्य होना तो ब्राह्मण होने से भी ऊँचा है । क्योंकि ब्राह्मणों में भी सहस्रों में कोई ही मुक्ति का अधिकारी होता है । भला जो मुक्तियोग्य हो गया वह ब्राह्मण वा संन्यास के योग्य क्यों नहीं हुवा ॥

८० ति० भा० पृ० ८१-८३ में यह आशय है कि-“येनाऽस्य पितरो याताः” इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि बाप दादे के मत को न छोड़े । जो ब्राह्मणादि ईसाई मुसलमान हो जाते हैं वे भी जाति के ब्राह्मणादि ही कहाने और रहते हैं, किन्तु नीचों के साथ भोजनादि करने से पतित कहाते हैं ॥

प्रत्युत्तर-यदि बाप दादे का मत न छोड़ना अर्थ है तो ५० वर्ष ठहरे रहो, जो लोग आर्यसमाज में आ गये फिर उन की सन्तान को कभी मत कहना कि अपना मत छोड़ दो । आजकल जिस पियोसाजिकलखौसाइटी से भूत प्रेतादि हिन्दूपन के अन्ध विद्वानों को मानने के कारण धर्मसमाजों का बड़ा मेल जोल है और समस्त हिन्दू शिक्षित लोग मिसेस एमीबेसेन्ट को हिन्दू क्या ब्राह्मणों से भी अधिक मानते हैं । आप की क्या राय है ?

### निन्दास्तुतिप्रकरणम्-

८० ति० भा० पृ० ८३-८४ में लिखा है कि यदि दोषों को दोष कहना भी स्तुति है तो (सत्यं ब्रूयात् मित्रं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यममित्रम् । सन्तु०) से विरोध आवेगा । क्योंकि अमित्र दोषों का सत्य कहना भी बुरा है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-सत्यं ब्रूयात्० इत्यादि श्लोक सम्प्रदानात् धर्म का प्रतिपादक है । अर्थात् ऐसा करने वाले साधारण मलेमानुष कहाते हैं । परन्तु यद्यपि तो यही है कि “गुरोरपि गुणावाक्या दोषा वाक्या गुरोरपि” शत्रु के गुणों की प्रशंसा और गुह के भी दोषों का कथन करना । परीवादात्करो भवति० इत्यादि श्लोक असत्य दोषाऽरोपण का फल कहता है । इति ॥

८० ति० भा० पृ० ८५ पं० १५ से —

समाप्ता-अब यहाँ से स्वामी जी लापलीला चलाते हैं यहाँ पितर देवता ऋषि सब एक ही प्रकार और एक ही अर्थ में घटाते हैं इन छोटी-सी में यह सब पृथक् २ हैं इन लिये देव ऋषि पितरों को एक ही कहना युक्त नहीं है क्योंकि ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ नृयज्ञ पितृयज्ञ इन को यथाशक्ति न जाने दे, पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण आहु पितृयज्ञ, होमादि देवयज्ञ और भूतबलि भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ अग्निपितृभोजनादिक यह पाँच हैं, वेदाध्ययन से ऋषियों का पूजन करें, होम से देवताओं का, आहु से पितरों का, अब से मनुष्यों का और भूतों को बलि कर्म कर पूजन करें ॥

“कुर्याद्ब्रह्मः आहुमन्नाद्येनोदकेन वा । पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीति-  
मायहन् ॥ ७० ॥ श्लो० ८२ मनु० ॥ एकमप्याशयेद्विप्रं पित्र्यैर्पांचयज्ञिके ॥”

पितरों से प्रीति चाहनेवाला तिल यव इन करके और पय मूल फल जल इन से आहु करे पितर को अर्थ एक ब्राह्मण भोजन करावे जब कि वेदाध्ययन से ऋषि, होम से देवता आहु से प्रसन्न से मनुष्यों का पूजन करे, यदि यह सब एक ही होते तो पृथक् २ वस्तुओं से पृथक् प्रसन्न होने वाले कैसे होते यदि देवता विद्वानों ही को कहते हैं तो क्या वोह हवन से प्रसन्न होते हैं तो उन की प्रसन्नता के वास्ते हवन कर देना चाहिये यदि विद्वान् भूखे आयें तो घोड़ासा होम कर देना वे भूत प्रसन्न हो जायेंगे इन से विद्वान् मस्त होते देखे नहीं जाते इस कारण विद्वानों का ही देवता नाम और कोई पृथक् जाति नहीं है यह कहना स्वामी जी का भूँट है वेदों में देवजाति पृथक् लिखी है यथा हि “अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता” इत्यादि ॥

प्रपुतर-स्वामी जी ने ऋषि देवता पितर का एक ही अर्थ नहीं किया किन्तु देवता=सामान्य विद्वान्, पितर=माता पिता आदि ज्ञानी पालक, ऋषि=पढ़नेवाले। यह तीनों भिन्न २ लिखे हैं । आप का एक समझना भूल है ॥

आप पढ़ने वालों को श्रम में डालते हैं कि स्वामी जी ने ऋषियज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञादि को एक कर दिया । स्वामी जी ने ( ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा० ) इन श्लोक के भिन्न २ पाँच यज्ञों के ५ यजनीयों की गिनती यहाँ नहीं की है किन्तु एकले पितृयज्ञार्थ तर्पण में जो देव ऋषि पितरों का तर्पण है, उस तर्पण के ३ अङ्गों के वर्णन में तीन प्रकार के पुरुषों का तर्पण लिखा है । इसी लिये-

## एकमस्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके

इस श्लोक का अर्थ यह हुआ कि पञ्च सहायकों में जो तीसरा पितृयज्ञ है और पितृयज्ञ के अन्तर्गत माता पिता आदि वृद्धागियों के अतिरिक्त देव और ऋषितर्पण भी सम्मिलित है। उस पितृयज्ञान्तर्गत देवतर्पण वा ऋषितर्पण में एक ही विद्वान् को भी तृप्त कर देना पर्याप्त है ॥

देवता विद्वानों ही को कहते हैं यह स्वामी जी ने नहीं किया, किन्तु पितृयज्ञ के अन्तर्गत जो देव ऋषि पितर इन तीनों में देव शब्द है, उस का तात्पर्य विद्वान् लोगों से है और देवयज्ञ जो होम से किया जाता है, उस के देवता तो अग्नि, वायु, जल, मेघ, सूर्य, चन्द्र, वनस्पति आदि ३३ देवा-न्तर्गत स्वामी जी ने भी जाने ही हैं। इस लिये पितृयज्ञान्तर्गत देवशब्द से “अग्निर्देवता वातोदेवता” को लगाना बड़ी अज्ञान की बात है ॥

स्वामीजी ने अ० भूमिका में स्वयं ३३ देवों का व्याख्यान किया है, विद्वान् लोगों को देवता कहने से स्वामी जी का तात्पर्य शतपथ ब्राह्मणानुसार यह नहीं है कि विद्वानों से एक कोई देवता नहीं हैं, किन्तु अपने २ प्रकरण होनादि में वायु आदि देवता हैं, परन्तु पितृयज्ञ में विद्वान् भी देवता हैं, यह तात्पर्य है ॥

इसीसे “वाग्ब्रह्म” का उत्तर हो गया कि वाणी को ब्रह्म कहने का भी यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म शब्द से वाणी ही का ग्रहण किया जाय। किन्तु वाणी के प्रकरण में ब्रह्मशब्द से वाणी का ग्रहण इष्ट है ॥

देवतों का व्याख्यान विस्तारपूर्वक देखना चाहें तो हमारे बनाये वैदिक “देवपूजा” नामक पुस्तक को देखें, यहाँ ग्रन्थ बड़ेगा ॥

देवतों को ३३ करोड़ मानना मूल है। समस्त वेद शास्त्रों के शब्द भी ३३ करोड़ गिनती में नहीं, फिर वितने देवतों के नाम कहाँ? किन्तु ३३ देवों की ३३ कोटि अर्थात् समुदाय हैं। इन्हीं कोटि शब्द का अर्थ अज्ञान से करोड़ समझ लिया है। अतः और सहस्र शब्द निघण्टु ३।१ में बहुत के लब्ध में कहे हैं। तदनुसार ३३ शत वा ३३ सहस्र का अर्थ भी गणनापरक नहीं, किन्तु ३३ की संख्या को जातिपरक बहुत होना बताया गया है ॥

अ० भूमिका में शतपथ ब्राह्मण के प्रकरण से अग्न्यादि ८ वसु, १२ आदित्य वैत्रादि, ११ रुद्र प्राणादि, अश्वि, अप्यर्ध, ये ३१ वा ३ वा ९ वा १ देवता हैं। सब की व्याख्या स्पष्ट लिखी है, तब कोन भ्रम कर सकता है कि स्वामीजी

ने बिह्वान् के अतिरिक्त देवता नहीं माने ॥

आत्मीयैषां रथोभयत्यात्मा श्व आत्मायुधमात्मेयश्च

आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य । निरु० ७ । ४ ॥

इस निरुक्त का अर्थ यह है कि वायु आदि भौतिक देवों का परमात्मरूप ही रथ, घोड़ा, आयुध, वाण आदि सब कुछ है अर्थात् परमात्मारूप सवारों में ही वे वायु आदि चलते फिरते हैं, परमात्मा के रथ से सानध्य से चलचारण करते हैं, किन्तु इन में स्वल्प देवतायना नहीं है। सो ठीक ही है क्योंकि—

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतोभाति

कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य

भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठोप० ॥ ५ । १५ ॥

न परमेश्वर के सामने सूर्य का प्रकाश कुछ वस्तु है, न चन्द्रमा, न तारे, न बिजुलियाँ, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या है। प्रत्युत उसी के प्रकाशित होने से यह सूर्यादि देवगण प्रकाशित है और उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं ॥

१० ति० ११० पृ० ९३ पं० २८ से रूपं रूपं मद्यथा इत्यादि ॥ अ० और पृ० ९८ पं० ३ यद्द्रूपं कामयते इत्यादि निरुक्त ॥

प्रत्युत्तर—ऊपर लिखे निरुक्त का यह तात्पर्य नहीं है कि परमेश्वर स्वयं निम्न रूपों को धारण करता है और न यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा वा इन्द्रदेवता उस के अंश हैं। यदि ऐसा हो तो परमात्मा स्वरूप भी न रहा तथा उसको एकरस, निर्विकार, निष्कार प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों और उपनिषद्ओं का क्या अर्थ करोगे ? यथार्थ निरुक्त के उद्धृत शब्दों के मन्त्र का अर्थ यह है। यथा—

यद्द्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । रूपं रूपं मद्यथा

योभधीति इत्यपि निगमोभवति । निरु० अ० १० खं० १७ ॥

अर्थ जिस २ रूप की परमात्मरूप बनाने की इच्छा करते हैं वह वह देवता होता है अर्थात् परमात्मा जिस २ देवता की जिन २ रूप में बनाना चाहते हैं, बनाते हैं। उन की कामना मात्र से यह विभिन्न सृष्टि सूर्योदि ३३ देवताओं में युक्त होती है। इस विषय में निरुक्त तार नीचे लिखे शब्दों के मन्त्र का प्रमाण देते हैं। यथा—



हं हं मयत्र बोधयति मायाः कृण्वानस्तत्त्वं । परि स्वाम् ।  
त्रिर्दिवः परिमुहूर्तमाग्रात्स्वैर्मन्त्रैर्मुहूर्तं दिवसिः पर्यागात्  
रूपं रूपं बोधयति ॥

सं० ३ सू० ५३ सं० ८ ॥

अन्वयः—यत् अन्तुपा ऋतावा स्वां तन्त्वं परि मायाः  
कृण्वानः सन् मयत्रा स्वैर्मन्त्रैर्मुहूर्तं दिवसिः पर्यागात्  
रूपं रूपं बोधयति ॥

( यत् ) जो कि ( अन्तुपाः ) किसी विशेष ऋतु में ही नहीं किन्तु  
सदा सोमादि ओषधिरसों का पीने वाला ( ऋतावा ) ऋत नाम उदक वा  
जल वाला [ सोमादि ओषधियों का रस रूप जल जिस के किरणों में पृथ्वी  
से उड़ कर जाता है । ऋतम्=उदकम् निघंटु १।१२ ] (स्वां तन्त्वं परि) अपनी  
पिबकर देह के चारों ओर जो ( मायाः कृण्वानः ) बुद्धियों को करता हुआ  
प्रकाश से तम निवृत्त होकर ओषध बुद्धि का कामरण होता है; रात्रि में  
अन्धकाररूप तमोगुण से निद्रा उपरक होती है; निद्रा में बुद्धि तिरोभूत हो  
जाती है, सूर्य अपने उदय से फिर बुद्धियों को प्रादुर्भूत करता है । माया=  
मन्त्रा=बुद्धि निघंटु ३। ९० ] ( मयत्रा ) इन्द्र=सूर्य (स्वैर्मन्त्रैः) इन्द्र देवता  
वाले मन्त्रों से ( दिवः ) सूर्य लोक और जहाँ तक उस का प्रकाश जाता है  
वहाँ से ( मुहूर्तम् ) एक मात्र में ( त्रिः ) प्रातः सवन माध्यन्दिनसवन और  
सायं सवन इन पञ्च के तीनों सवनों में तीनों घार ( परिभा अगात् ) व्याप्त  
होता है ( रूपं रूपम् ) प्रत्येक दृष्ट को ( बोधयति ) अतिशयता से बुझाता है  
अर्थात् बनाता है [ सूर्य नामैव है, अग्नि की तन्मात्रा रूप है, इस लिये  
प्रत्येक रूप सूर्य से उद्भूत होता, सूर्य के बिना रूपोत्पत्ति नहीं हो सकती,  
आंख से रूप ही देखते हैं । आंख का भी इन्द्र देवता है तथा इन्द्र की सहा-  
यतासे ही आंख देख सकती हैं । इन्द्र वम देवता का नाम है जो सूर्य अग्नि  
दीपकादि सगन्त चमकवाले पदार्थों में चमक है ] आशय यह है कि परमात्मा  
अपनी इच्छा से इन्द्र देवता अर्थात् चमक को बनाते हैं वह चमक मुख्यकर  
अधिकता से सूर्य में रहती है अतः सूर्य को भी विशेष कर इन्द्र कहते हैं ।  
वही इन्द्र हर एक रूपवान् पदार्थ में रूप का कारण है, उस के बिना कोई  
रूप नहीं हो सकता । इस लिये वही सब रूपों को बनाता है । यह कह

गया। जब बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इस से किसी देवता का सृष्टमयादि मूर्ति में जाना मिट्ट नहीं होता। किन्तु मूर्ति ही क्या सभी रूपवान् पदार्थों में इन्द्र देवता जिस का नाम समक है विराजमान है। परन्तु ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेदभाष्यभूमिका में इन्द्रादि ३३ देवता अवश्य माने हैं परन्तु वे परमात्मा के तुर्य वा कुङ्कन्यून भी उपास्य देव नहीं हो सकते, क्योंकि जह हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ९० पं० १४ ने-पुनः केन उपनिषद् में देवताओं का परस्पर संवाद है-ब्रह्म ह देवेभ्योऽभिगम्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजयेदेवा असह्ययन्त तप्रेक्षन्ताऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं गहिमेति ॥ केन उप० ॥

ईश्वर ने देवताओं को जय दी उस की कटाक्ष कृपा से सब देवता महिमा को प्राप्त होते हुवे और फिर यह जाना कि यह सब जगत् हमारा ही जय किया है और हमारी ही महिमा है तब ईश्वर यज्ञरूप अवतार ले प्रकट हुवे और वे देवता परस्पर उग का दत्तान्त पूछने लगे ( तेभिन्म-ब्रुवन् ) इत्यादि वाक्य हैं कि उन्होंने ने अग्नि वायु आदि से पूछा तुम इन को जानते हो ? उन्होंने ने कहा नहीं हमी प्रकार देवता अनेक विधि से सूचित होते हैं और देवताओं का लोक पृथक् प्रतीत होता है जैसे इन्द्र का स्वर्ग से जाना लिखा है ॥

यत्र ब्रह्म च सत्रष्टु सम्पद्भी चरतः सह ॥

तंलोकम्पुण्यप्रक्षेपं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजु० ब० २० मंत्र २५ ॥

जहाँ ब्राह्मण जाति और सत्रिय जाति संग मिले रहते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ वास करते हैं उस पवित्र लोक को मैं देखू यजमान का वाक्य है ॥

“यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्पद्भी चरतः सह । तंलोकम्पुण्यप्रक्षेपं यत्र सेदिर्कं विद्यते यंम० २२:म० २६” जिस लोक में इन्द्र वायु देवता मिले हुए विचरते हैं जिस लोक में दुःख नहीं है उस लोक को मैं प्राप्त करूँ ॥

प्रत्युत्तर-इस में देवतों का संवाद नहीं है, प्रत्युत यह दिखाया गया है कि सभी २ अज्ञानवश ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अग्नि, वायु, सूर्योदि देवतों की ही महिमा दृष्टि पड़ती है ब्रह्म ती विषय में ही नहीं जाता, सब देवतों का ही जय है। परन्तु इन देवतों का भी सासद्वय परमात्मा के अधिकार में है, उस के बिना ये कुछ नहीं कर सकते और अहम

ती स्वयं "वाग्देवता" इत्यादि लिख चुके हैं फिर भस्मा वायु-अग्नि आदि देवता जात चीत संवाद केमे कर सकते हैं ?

( यत्र ब्रह्म ) इस मन्त्र का अर्थ भाप का किया ही ठीक है कि जिन लोक अर्थात् देश में ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर विरोध नहीं करते, मिले रहते हैं उस पवित्रलोक को मैं देखूँ । इस से तो यही ब्राह्मण क्षत्रियों का लोक सिद्ध होता है, न कि अन्य कोई ॥ क्योंकि यहां भस्मि पवित्र देवता भी वास करते हैं और ब्राह्मण क्षत्रिय भी रहते हैं । यज्ञमान की प्रार्थना यह है कि अग्निहोत्रादि देश में होते रहें और विद्यावत् तथा ब्राह्मणों में मिल रहे । निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि—

अग्निः पृथिवीस्थानः ॥ निरु० ७ । ५ ॥

अग्नि देवता का स्थान पृथिवी है । फिर भाप पृथिवी को देवलोक क्यों नहीं मानते ? जब कि भाप भी अग्नि को देवता लिख चुके हैं । हां सूर्यादि अन्य देवों के अन्य लोक भी हैं, परन्तु पृथिवी भी देवलोक है, और पृथिवी स्वयं देवता है जैसा कि आठ वसुधों में पृथिवी को दूसरा वसुधत-पण १४ । १६ । ४ में लिखा है कि—

कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च ॥

( यत्रेन्द्रश्च वायुश्च ) का भी यही तात्पर्य है कि यज्ञमान चाहता है कि यज्ञ से मुझे ऐसा फल मिले कि इन्द्र विजुली वा सूर्य वायु का जहां भला प्रभाव हो, वहां मुझे वास मिले । जहां मेघ, सूर्य, वायु, आदि की अनुकूलता से दुःख न हो, सुख हो । ( अत्र और यत्र ) दोनों प्रयोग इस लोक के लिये जाते हैं । जैसे—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः ॥

जहां यहाँ भी ( यत्र ) पद का अर्थ अन्य लोक करोगे ?

२० ति० १००-पु० २९ पं० ९ से २४ तक १—देवादि की पूजाप्राप्तः सज्ज करे । २—देवताओं वा ब्राह्मणों का दर्शन करे । ३—देवता काम सिद्ध करते हैं । ४—अग्नि-सुखनदयों को कहते हैं । ५ देवता स्वर्ग में रहते हैं ॥ प्रे ५ वातें कहें हैं ॥

मत्सुतस्—ठीक है जोजगत्ति से पूर्व ही पुत्रों की पूजा करे २ देवता सूर्यादि वा विद्वान् लोगों और ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ताओं का दर्शन करे ३ देव

दर्शन का तात्पर्य यज्ञशाला में जाना यज्ञ करना भा है, क्योंकि आप भी लिख चुके हैं कि " होमोदैवोबलिर्भूतः " होम करना देवयज्ञ है । १-चर्य कल वायु आदि देवता ज्ञानी लोगों के काम प्रत्यक्ष रेल तार विमान चक्की आदि में कर रहे हैं ॥ ४-आषि ठीक कूहनदर्शी को कहते हैं । ५-स्वर्ग सुख वा युक्तोक्त का नाम है, सो विद्वान् पुरुष सुख में रहते और सूर्यादिभौतिक देव शुद्धोक्त अर्थात् स्वर्गलोक में रहते हैं । हमसे हमांगी विद्वान्त हामि नहीं ॥

६० लि० भा० पृ० ९९ पं० २५ मे-

ज्ञानी जी ने जो मत्पार्यप्रकाश पृ० ९९ पं० २८ में "विद्वानोहिदेवाः" यह लिखा है कि विद्वानों का नाम देवता है ( यहां यह भी रहस्य लिखा है ) जाह्नोऽहम् चारों वेदों को जानने वाले हैं तब का नाम ब्रह्मा और तब में स्थित हैं उनका भी नाम देव विद्वान् है ऐसा लिखा है यह लेख बुद्धिमान् विचारों से कितना निर्मूल है देवता शब्द और वे किस प्रकार के होकर रहते हैं यह सब कुछ हम पूर्व कथन कर चुके हैं पर यह लक्षण देवता का नहीं देखा कि चारों वेदों को उपाङ्ग सहित आगने से ब्रह्मा होता है यह तो कहिये कि आप वेदों के उपाङ्ग आधिकृत और वेद के पश्चात् बने बताते हो जिस समय तक कि वेदाङ्ग नहीं बने थे संहितामात्र वेद था तो उस समय ब्रह्मा संज्ञा ही न होनी चाहिये यी फिर अथर्ववेद में लिखा है ( भूतानां प्रथमं ब्रह्मा इ जज्ञे ) सृष्टि में सब से पहले ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये बिना उपाङ्ग इन्हें ब्रह्मा किस से बना दिया जो आप का ही नियम होगा तो वेदाङ्ग बनाने वालों का नाम महाब्रह्मा होना, क्योंकि पढ़ने वालों से ग्रन्थकर्ता बड़े होते हैं और जो साङ्गवेद जानने से ही ब्रह्मा कहावे तो राखण को ब्रह्मा वा देवता क्यों नहीं कहते मालूम तो ऐसा होता है आप ने यह ठग्न अपने को ब्रह्मा और देवता कहलाने का निकाला था परन्तु मित्र ग बुद्धा कोई भी ऐसा भक्त चेला न हुआ जो आप को ब्रह्मा नाम से पुकारता यदि वेदाङ्ग जानने से ब्रह्मा होते तो वसिष्ठ, गीतन, नारदादि सब ही ब्रह्मा हो जाते परन्तु आज तक एक ही ब्रह्मा चुने हैं । आषि अध्ययन से देवता हवन से पितर आहु और हवन से प्रपन्न होते हैं यह तीनों पृथक् हैं । देवता आहुति से प्राप्त होते हैं विद्वान् भोजन से । देवताओं के आकार और वृत्ति तथा निवास-स्थान वर्णन ११ वें समुद्राव से मित्र करने यहाँ ती केवल उलका होना ही सिद्ध किया है ॥

मत्स्यर-ती क्या जाय ( विद्वान्मोहि देयाः ) इस ज्ञानपथ को नहीं मानते ? ब्रह्मा वही पुरुष हो सकता है जो चारों वेद जानता है । क्योंकि यज्ञ में जब किसी विद्वान् को ब्रह्मा वरण किया जाता है तो उसे चारों वेदों के ज्ञान के आवश्यकता पड़ती है । जैसा कि आपस्तम्बीयश्रौतसूत्र में लिखा है:—

ऋग्वेदेन होता करोति ॥ १९ ॥ सामवेदेनोद्गाता ॥ २० ॥

यजुर्वेदेनोऽध्वर्युः ॥ २१ ॥ सर्वैर्ब्रह्मा ॥ २२ ॥

अर्थात् ऋग्वेद से होता काम करे मानवेद से उद्गाता, यजुर्वेद से अध्वर्यु और सब ( चारों ) वेदों में ब्रह्मा । इस लिये स्वामी जी का लिखना ठीक है ॥

ऋषियों ने वेदों में मूलमात्र सब विषयों का पाया, सभी को अङ्कवपाङ्गों में विस्तारपूर्वक लिखा । ब्रह्मा और उसका यज्ञ में काम नीचे लिखे ऋग्वेद के मन्त्र में वर्णित है और निरुक्तकार ने भी इस ऋचा को होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा इन चारों अतिवर्जों के कामों के विनियोग में माना है और कहा है कि:—

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे । इत्यादि । निरु० १ । ८ ॥

किर निरुक्तकार ने ही यह नीचे लिखा मन्त्र दिया है जो जय रहित हूँ लिखते हैं:—

ऋचां त्वःपोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायन्ति शकरीषु ।  
ब्रह्मा त्वो वर्वति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विभिर्भीत उ त्वः ॥

( ऋ० १० । ११ । ११ )

अन्वितव्याख्यानम्—[ त्व शब्दः सर्वनामसु पठित एकशब्दपर्यायः ] एको होता ( पुपुष्वान् ऋचां पोषमास्ते ) स्वकर्माधिकृतस्सन् यत्र तत्र पठिता ऋचो यथा विनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति ( त्वः शकरीषु गायत्रं गायति ) एक उद्गाता शक्यपलक्षितासु च्छन्दोविशेषयुक्तास्वृक्षु गायत्रं गायत्रादिनामकं सामं

गायति ( त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति ) एको ब्रह्मा,  
अपराधे जाते तत्प्रतीकाररूपां विद्यां वदति ( त्वो यज्ञस्य  
मात्रां त्रिमिमीत उ ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्तो  
त्रिमिमीते विशिष्टतया परिच्छिन्नान्तः॥

अर्थात् एक होता ऋचाओं की विनियोगानुसार संहृतित करता है,  
एक उद्गाता शक्त्वादिछन्दोयुक्त गायत्र गाग करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ  
अपराध वा भूल चूक होने पर उस का प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु  
यज्ञ के परिमाण वा वयता को निर्धारित करता है ॥

ऊपर लिखे ४ ऋत्विज् ४ वेदों के ज्ञाता यज्ञ को पूर्ण करते हैं । इनमें  
से १-“ होता ” है जिस का यह काम है कि मन्त्रसंहिता में यथास्थान  
पठितमन्त्रों को उस यज्ञविशेष में विनियोग के अनुसार ठीक ठाक करे ।  
जैसे पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में स्वान्तिगत प्रकरणानुसूल सूत्र पढ़े हैं  
उन से वैयाकरण लोग जब कोई प्रयोग सिद्ध करते हैं तब विद्यार्थी को सि-  
खलाते समय स्लेट भादि पर विग्रह ( शब्दरूप ) लिख कर फिर जिन २  
सूत्रों की उन प्रयोग के सिद्ध करने में आवश्यकता होती है उन २ सूत्रों का  
उच्चारण करते हुवे उन २ सूत्रों के अर्थानुसार कार्य करके प्रयोग सिद्ध करते  
हैं इसी प्रकार किसी यज्ञविशेष को सिद्ध करने के लिये होता नाम ऋत्विज्  
चाहिये जो यज्ञ को ठीक २ सिद्ध करे । २-“ उद्गाता ” है जो शक्त्वादि  
वेद के छन्दोयुक्त सामादि का गान जहां २ अपेक्षित है वहां २ ठीक २ करे,  
३-“ अध्वर्यु ” है जो यज्ञ की मात्रा ( जैसे गोषधि की मात्रा ठीक हो ती  
आरोग्य करती है ) का परिमाण निर्धारित करे । ४-“ ब्रह्मा ” है जो पहिले  
३ ऋत्विजों के कार्यों में कृताकृतावेक्षण कर्म करे अर्थात् यज्ञ में कोई करणीय  
कर्म छूट न जावे तथा अकरणीय किया न जावे । यह दृष्टि रखते और जब  
कभी कुछ अन्यथा कर्म हो जावे तब उस का प्रतीकार वा प्रायश्चित्त करे करावे  
ब्रह्मा के कार्य को ऊपर लिखे वेदमन्त्र में देखकर ऋत्विजों ने अपने २ धर्मों  
में और विशेष स्पष्टता से निरूपण किया है । यथाहि छन्दोगा नारननन्ति-  
यज्ञस्य हैष भिषक् यद्ब्रह्मा यज्ञायैव तद्वेषजं कृत्वा हरति

अर्थात् यज्ञ का यह वेद्य है जो कि ब्रह्मा है वह यज्ञ के लिये ही औ-  
षध बना के पड़ुवाता है ॥ तथा-

यज्ञस्य विरिष्टं सन्धधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञोयत्रै-  
वंविद् ब्रह्मा भवति ॥ कौथुमशाखीय छान्दोग्य प्र० ४ ख० १७

अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ को निर्दोष सन्धान करता है क्योंकि यज्ञ औषध  
रूप है जिस में ऐसा विद्वान् ब्रह्मा होता है ॥

यद्युक्तोरिष्येत भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात्

कौथु० शा० छा० प्र० ४ ख० १९

जब किसी ऋचा का अपराध होने से दोष उत्पन्न हो ती ब्रह्मा  
“ भों भूः स्वाहा ” इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि में जाहुति देकर उस का  
प्रतीकार वा प्रायश्चित्त करे ॥

आज कल वैदिककर्मकाण्ड के अग्रद्वालु पुरुष शङ्का करेंगे कि किसी ऋचा  
के पाठमात्र में कोई भूल चूक हो जाना कितनी बड़ी बात है जिस को लिये  
ब्रह्मा को प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़े ?

विचार करके देखा जावे ती किसी वेदमन्त्र के पाठ में भेद पड़ना बड़ा  
भारी अपराध है । क्या वे अग्रद्वालु पुरुष नहीं जानते हैं कि सन्धति राज-  
कीय निर्धारित नीति ( कानून ) वा किसी उच्चाधिकारी ( गवर्नरादि ) वा  
राजा के व्याख्यान ( स्पीच ) का अनुवाद करते हुवे प्रयोजनीय विषय में  
भूल वा अज्ञान से कोई अन्यथा बोले लिखे, समझे, समझावे और तदनुसार  
भूल का काम करे, वा करावे, ती अवश्य अपराधी है ॥

जब यह निश्चय हो चुका कि वेदानुसार ही श्रौतसूत्रादि में ब्रह्मा संज्ञा  
और उस के काम नियत किये गये हैं ॥

अथर्ववेद के ( सूतानां ब्रह्मा० ) वाक्य में ब्रह्मा पुरुष विशेष नहीं किन्तु  
परमात्मा का पर्याय है । जब कि परमात्मा जगत् रचता है ती प्रकृति को  
विकृत करके भूतों को उत्पन्न करने से स्वयं भी प्रगट सा होता है । तब  
उस की ब्रह्मासंज्ञा होती है । राजर्ष वेदविकृद्वाचार से राजस होगया । जो  
वेद पढ़कर तदनुकूलाचरण न करे वह पढ़ा खेपड़े से भी नीब है । अनिष्ट  
गीतप आदि भी किसी के यज्ञ में ब्रह्मा हुए होंगे । ११ वें समुदाय में जहाँ  
आप देवतों की मूर्ति सिद्ध करेंगे तभी उत्तर भी वहीं दिया जायगा ॥

## अथ आहुप्रकरणम्

स्मरण रहे कि स्वामी जी वा आर्य समाज से जो कुछ आहुविषय में विवाद है वह यह है कि ब्राह्मणादि के भोजन करावे से अन्न पितरों की तृप्ति हो सकती है वा नहीं ? स्वामी जी का पक्ष है कि नहीं हो सकती और अन्य पीरायित साध्यों का पक्ष है कि हो सकती है । इस लिये जब तक कोई सम्प्र सतपितरों को आहुसोजी लोग ऐसा न दिखावावे जिन में उन का भोजन करना अन्नपितरों की तृप्ति का हेतु वर्णन किया गया हो, तब तक इस विवाद में पीरायित पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता । स्वामी जी और हम लोग जीवों का नाम स्मरण लोकों में जहां चेतन सृष्टि हो जागते हैं, यदि कोई प्राणी मर कर चन्द्र, सूर्यादिलोकान्तर में अर्चानुसार जाकर अन्न लेते हैं तो हम से अन्न आहु न सिद्ध नहीं होता, किन्तु हमारे भोजन कराये आहु अस्तुओं से अन्न की तृप्ति होना जब तक सिद्ध न हो, तब तक इस विवाद का कुछ फल नहीं ॥

‘वितृ शब्द निघण्टु ४। १ में पिता पद आया है । ‘पितरः’ यह बहुवचनान्त पद निघण्टु ५। ५ में और उम की व्याख्या निरुक्त ११। १९ में है । निरुक्तानुसार यही सध्यस्थान देवता ‘पितरः’ कह्यते हैं । निरुक्त ४। २१ में पिता पद की व्याख्यान में नीचे लिखा सम्प्र ऋग्वेद १। ५। १६४। ३३ का प्रमाण दिया है कि—

द्यौर्मै पिता जनिता नाभिः । इत्यादि ॥

किर निरुक्तकार इसके अर्थ करते हुए पिता पद का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—

पिता पाता वा पालयिता वा

अर्थात् पिता पालने वा रक्षा करने से कहा जाता है । ( द्यौर्मै पिता ) सम्प्र में पिता शब्द सूर्य का वाचक है । ऐसा ही स्वामी जी ऋग्वेदभाष्य में लिखते हैं और ऐसा ही निरुक्तकार मानते हैं । तात्पर्य यह है कि रक्षा वा पालने वाले जनतादि मनुष्यवर्ग, राजा, सूर्य, चन्द्रतिरिच्ये, वायुभेद, जिनका राजा यम कहाता है । इत्यादि रक्षकों और पालन करने वालों का नाम पितर है, यैर् में बहुत स्थानों में यम पितरों का राजा लिखा है । जैमे मनुष्यों का राजा मनुष्य, सृष्टों का राजा सृष्टराज सिंह, भोवंधियों का राजा सीम नामक भोवधि, ऋतुओं का राजा ऋतुराज, वसन्त है, इसी प्रकार



वायुभेद जो हमारे रक्त और पाक हैं, उन का राजा यम भी वायु ही है, अथ ने भी पृ० १०१ पं० १२ में लिखा है कि—

माध्यमिकोऽयम इत्याहुर्नैरुक्ताः तस्मात्पितृ-

न्माध्यमिकान्मन्यन्ते स हि तेषां राजेति ॥

अर्थात् यम माध्यमिक देवता है, यह नेरुक्ती का मत है । इस लिये पितृओं को भी माध्यमिक देवता मानते हैं क्योंकि वह ( यम ) उन पितरों का राजा है । फिर निरुक्त ३ । ५ :

वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः ॥

वायु अन्तरिक्षस्थान अर्थात् माध्यमिक देवता है । ऐसा ही आगय अश्वेद १० । १४ । १३ में—

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतः ॥

अग्नि जिस का दूत ले जाने वाला है, वह यज्ञ वायु को प्राप्त होता है, यहाँ यम का अर्थ वायु है । और यजुः ८ । ५३

यमः सुयमानो विष्णुः संभ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥

यहाँ भी यम नाम वायु का है ॥

स्तुहेन्द्रं द्यश्वववर्नूर्भि वाजिनं यमम् ऋ० ८ । २४ । २२

यहाँ भी यम नाम वायु का है क्योंकि इस मन्त्र का देवता इन्द्र है जो द्यम्भ अमर लिये निरुक्त ७ । ५ :

वायुर्वा इन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः ॥

के अनुसार वायु का भी नाम है ॥

जब जितने वेदमन्त्र वर्णित भा० में दिये हैं । उन में प्रायः, अग्नि, इन्द्र, इवन आदि का उल्लेख है इस लिये वे वायुगत सैद्धांतिक कथन लिये पदार्थ की सृष्टि अर्थात् अनुकूलता के लिये होना करने के तात्पर्य में हैं ॥

इस के अतिरिक्त यह भी वेद की शिक्षा है कि प्रत्येक लिङ्गधारी जीवात्मा स्थूलशरीर छोड़ कर आकाश में १२ दिन तक १२ आकाशी प्रदार्थों के आध्यापित ( अवेलप ) होता है तब इसे किसी लोक में कर्मानुसार जन्म मिलता है । हाँ, जिन का लिङ्गधारी भी छूट जाता है, उन मुक्तपुरुषों की यह अवस्था नहीं है ॥

सवित्रा प्रथमैहं नृग्निर्द्वितीयै वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थै  
चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे  
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥

( यजुः ३९ । ६ )

हे मनुष्यो ! इस जीव को (प्रथमे) पहले (अहम् ) दिन (सविता) सूर्य  
( द्वितीय ) दूसरे दिन ( अग्निः ) अग्नि, तीसरे वायु, चौथे महीना, पांचवें  
चन्द्रमा, छठे वसन्तादि ऋतु, सातवें, मरुत, आठवें सूत्रात्मना, नवें प्राण, दशवें  
उदाग, बारहवें विजुली, और ग्यारहवें दिन, सब दिव्य गुण प्राप्त होते हैं ॥ ३९ ॥ ६

अब इस से यह भी जाना जाता है कि सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, प्राण,  
उदाग, विजुली और आकाशगत अन्य सब दिव्य पदार्थों का (जो देवता  
कहाते हैं) इष्टन करने से सुधार होता है इसी को वृत्ति और अनुकूलता भी  
कह सकते हैं और इन देवतों से आप्पायित होने वाले लिङ्गशरीरी जीवा-  
त्माओं का भी आप्पायित होना सम्भव है । इस में अग्नि में होना द्वारा  
पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों स्थानों की शुद्धि, वृद्धि और वृत्ति,  
होने से आकाशगत लिङ्गशरीरी आत्माओं का भी उपकार सम्भव है । परन्तु  
वे किसी प्रकार परमात्मा की व्यवस्थानुकूल १२ दिन में भिन्न भिन्न नियत  
पदार्थों को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं जा सकते और इस के अनन्तर स्थूलशरीर  
पाय जन्म लेकर भी एक लोक से दूसरे लोक में नहीं जा पा सकते । इसलिये  
वर्तमान प्रचलित ब्राह्मदानादि कार्यों के पदार्थों की प्राप्ति ब्राह्मणों द्वारा  
पितरों को सर्वथा नहीं हो सकती । हां, अग्निहोत्रतीनों लोक का उपकारक है ॥

इस व्यवस्था से सोचा जावे तो जो २ प्रमाण पं० उवालाप्रसाद जी ने  
वेद के दिये हैं, वे इस अग्निद्वारा आकाशगत आत्माओं के आप्पायन से  
आगे अंशमात्र भी नहीं बढ़ते । और ब्राह्मणों के भोजनादि कराने से सुत  
पितरों की वृत्ति निवृत्त करना मन के लहडू ही रहजाते हैं । क्योंकि उन के  
दिये किसी वेद मन्त्र में उन्हीं के किये बर्णानुसार भी ब्रह्मभोज पितृवृत्ति का  
कारण नहीं बताया गया है ॥

और इन्हीं आकाशगत पदार्थों का सात्पर्य संस्कारविचित्र अन्त्येष्टि-  
प्रकारणगत समस्त मन्त्रों में भी लग जायगा ॥

६० ति० भा० पृ० १०२ में मन्त्र ३ यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र ४५ । ४६ । ४७

दिये हैं जिन का अक्षरार्थ यह है--

ये स॒मानाः स॒मनसः पित॑रो य॒मराज्ये॑ तेषां लो॒कः स्व॒धा  
नमो॑ वृ॒ज्जो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥ अ० ॥ १९ मं० ४५ ॥

( ये ) जो ( समानाः ) सद्गुण ( समनसः ) तुल्यविद्यानयुक्त ( पितरः )  
प्रभा के रक्षक लोग ( यमराज्ये ) न्यायकारी राजा के राज्य में हैं ( तेषाम् )  
उन का ( लोकः ) स्थान ( स्वधा ) अन्न ( मनसः ) सत्कार और ( यज्ञः )  
प्राप्त होने योग्य न्याय ( देवेषु ) विद्वानों में ( कल्पताम् ) समर्थ हो ॥ ५॥

ये स॒मानाः स॒मनसो जी॒वा जी॒वेषु॑ मा॒मकाः ।

ते॒षां श्री॑र्म॒यि कल्प॑ताम॒स्मिँल्लो॒के शत॑ं॒समाः॑ ॥ ४६ ॥

( ये ) जो ( अस्मिन् ) इस ( लोके ) लोक में ( जीवेषु ) जीवते हुएों  
में ( समानाः ) समान गुण कर्म स्वभाव वाले ( समनसः ) समान धर्म में  
मन रखने वाले ( मामकाः ) मेरे ( जीवाः ) जीते पितर हैं ( तेषाम् ) उन  
की ( श्रीः ) लक्ष्मी ( मयि ) मेरे समीप ( शतम् ) सौ ( समाः ) वर्ष तक  
( कल्पताम् ) समर्थ होवे ॥ ४६ ॥

द्वे स॒ती अ॒शृणव॑न्पित॒राम् दे॒वाना॑मु॒त म॒र्त्याना॑म् ।

ताभ्या॑मि॒दं विश्व॑मे॒जत्समे॑ति यद॒न्तरा॑ पित॒रम्मा॑तरश्च ॥ ४७ ॥

हे मनु॒ष्या ! ( अहम् ) मैं ( पित॒राम् ) पिता आदि ( म॒र्त्याना॑म् )  
मनुष्यों ( अ ) और ( दे॒वानाम् ) विद्वानों के ( द्वे ) दो ( स॒ती ) माताओं को  
( अ॒शृणवम् ) सुनता हूँ ( ताभ्याम् ) उन दोनों माताओं से ( इदम् ) यह  
( विश्वम् ) जगत् ( एजत् ) अर्पित हुआ ( समेति ) अच्छे प्रकार प्राप्त होता  
है ( अत ) और ( यत् ) जो ( पित॒रम् ) पिता और ( मा॒तरम् ) माता को  
( अन्तरा ) छोड़ कर अन्य माता पिता को प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

द० ति० भा० पृ० १०२ पं० २५ में लिखे ऋग्वेदमन्त्र का अर्थ--

उ॒दीर॑ताम॒वर उ॒त्परा॑त् उ॒न्मध्य॑माः पित॒रः सो॒म्यासः॑ ।

असुं॑ यद॒युरवृ॑का ऋ॒तज्ञा॑स्ते नो॒ऽवन्तु॑ पित॒रो ह॒वेषु॑ ॥

ऋ० १० । १५ । १ ॥

अदुत मन्त्रों का अर्थ करना है इस लिये संस्कृत और प्राचीन दोनों में

लिखने से ग्रन्थ बहुत बढ़ गया इस कारण संक्षिप्त पदार्थनाम ही लिखेंगे ।  
 ( ये ) जो ( पितरः ) पिता आदि रक्षक जन ( परासः ) धेरे ( जवरे )  
 छोटे ( मध्यमाः ) मध्यावस्था वाले हैं ( ते ) वे ( पितरः ) पालक रक्षक लोग ( नः )  
 हम को ( वत् ईरताम् ) रक्षित करें । ( सोम्यासः ) वे सोम्य लोग ( अमुम् ) जीवन  
 को ( वत् ईपुः ) सख ( अधिक ) प्राप्त हों । ( अमुकाः ) जो किसी से शत्रुता नहीं  
 करते और ( कृतज्ञाः ) सत्यज्ञानी हैं, वे ( ह्येषु ) जव २ हम पुकारें तब २  
 ( वत् जयन्तु ) रक्षणात् से रक्षा करें ॥ इसमें मृतश्राद्ध का वर्णन भी नहीं ॥  
 ५० ति० भा० पृ० १०३ पं० १४ और ५५ में लिखा है कि ( वैवस्वतं सं-  
 जन जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ) ॥ अ० १० । १४ । १

यमको पितराज हमें में यह सम्प्र प्रमाण है ॥

प्रत्युत्तर-हां, यम सायुधों का राजा है, उसे हविष् से सेवन कर । इस  
 से हवन सिद्ध होता है । मृतश्राद्ध नहीं ।

५० ति० भा० पृ० १०३ से १०५ में यजुर्वेद अध्याय १८ के ५ सम्प्र हैं उन का  
 अभी टीका यह है-

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यास्तोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।  
 तेभिर्यमः संहराणो हवींष्युशन्नुशद्रिः प्रतिकाममनु ॥

यजु० अ० १९ मं० ५१

( ये ) जो ( नः ) हमारे ( सोम्यासः ) शांत्यादि गुणोंसे योगसे योग्य  
 ( वसिष्ठाः ) अत्यन्त धनी ( पूर्वे ) पूर्वतः ( पितरः ) पालन करने वाले ज्ञानी  
 पिता आदि ( सोमपीथम् ) सोमपान को ( अनूहिरे ) प्राप्त होते और  
 कराते हैं ( तेभिः ) उन ( उशद्रभिः ) हमारे पालन की कामना करनेवाले  
 पितरों के साथ ( हवींषि ) देने देने योग्य पदार्थों की ( उषम् ) कामना  
 करने द्वारा ( संहराणः ) जखे प्रकार सुखों का दाता ( यमः ) न्याय और  
 योग्यपक्ष सन्तान ( प्रतिकामम् ) प्रत्येक काम को ( अन्तु ) भोगे ।

भावार्थ-पिता आदि पुत्रों के साथ और पुत्र पिता आदि के साथ सब  
 सुख दुःखों के भोग करें और सदा सुख की वृद्धि और दुःख का नाश किया  
 करें ॥ ५१ ॥

त्वया हि नः पितरः सोमपूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।  
 वृन्वन्नवातः परिधीं हर्योऽनुहि वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥ ५३ ॥

हे ( पञ्चमान ) पवित्र स्वरूप पवित्र कर्मकर्ता भीरु पवित्र करने वाले ( भीम ) ऐश्वर्ययुक्त सन्तान । ( स्वयां तेरे साथ ( नः ) हमारे ( पूर्व )-पूवर्ग ( धीराः ) बुद्धिमान् ( पितरः ) पितामादि ज्ञानी लोग जिन धर्मयुक्त (कर्मा-जि) कर्मों को ( चक्रः ) करने वाले हुए ( हि ) उन्हीं का भोजन हमलोग भी करें ( आवातः ) हिंसाकर्मरहित ( स्वयम् ) धर्म का भोजन करते हुए सन्तान । तू ( वीर्यभिः ) वीरपुत्र भीरु ( अश्वैः ) घोड़े आदि के साथ ( नः ) हमारे शत्रुओं की ( परिधीम् ) परिधि अपनात जिनमें चारों ओर से पदार्थों का धारण किया जाय उन मार्गों को ( अपोर्णुहि ) भाषणात्न कर और हमारे साथ में ( सघवा ) घनवान् ( मय ) हूँ जिये ।

भावार्थ- सन्तान लोग अपने धार्मिक पिता आदि का अनुकरण कर और शत्रुओं को निवारण करके अपनी सेना के अङ्गों की प्रशंसा से युक्त हुए सुखी होंगे ॥ ५३ ॥

वर्हिषदः पितर ऊत्युर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।

तऽआगृताऽवसा शन्तमेनाथानः शंयोररपोदधात ॥ ५४ ॥

हे ( वर्हिषदः ) उत्तम सत्ता में बैठने वाले ( पितरः ) न्याय से पालना करने वाले पितर लोगो ! हम ( अर्वाक् ) पश्चात् जिन ( वः ) तुम्हारे लिये ( ऊनी ) रक्षणादि किया से ( ह्मा ) हम ( हठया ) भोजन के योग्य पदार्थों का ( चक्रम् ) संस्कार करते हैं उन का भाग लोम ( जुषध्वम् ) भोजन करें और ( शन्तमेन ) अत्यन्त कष्टाद्य कारक ( अवसा ) रक्षणादि कर्म के साथ ( आगत ) आये ( मय ) इसके अनन्तर ( नः ) हमारे लिये ( शंयोः ) सुख तथा ( भरपः ) सत्याचरण को ( दधात ) धारण करें और दुःख को सदा हम से दूर कर लें ॥ ५४ ॥

आयन्तु नः पितरस्त्रोभ्यासोऽग्निष्वात्ताः पृथिभिर्वेवृथानैः ।

अस्मिन् यज्ञे स्वयया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्वस्मान् ॥ ५८ ॥

जो ( भोभ्यासः ) अङ्गमा के मुख्य शान्त शानतादि गुणयुक्त ( अग्निष्वात्ताः ) अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण ( नः ) हमारे ( पितरः ) जन और विद्या के दान से रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं ( ते ) वे ( वेवृथानैः ) भाषणयोगों के जाने जाने योग्य ( पृथिभिः ) धर्मयुक्त मार्गों से ( आ, यन्तु ) आवें ( अस्मिन् ) इस ( यज्ञे ) पढ़ाने उपदेश करने

रूप व्यवहार में वसंतमान होके (स्वधया) अन्नादि से (सदन्त) अगन्तु को प्राप्त हुए (अस्मान्) हमको (अग्नि, ब्रुवन्तु) अग्निष्वात्ता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ५८ ॥

ये अग्निष्वात्ता ये अग्निष्वात्ता मध्ये दिव स्वधया मादयन्ते।  
तेभ्यः स्वराडमुनीतिमेतां यथावशान्तन्वृद्धल्पयाति ॥ ६० ॥

(ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अच्छे प्रकार अग्निविद्या के ग्रहण करने तथा (ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थविद्या के जानने द्वारे वा जानों पितृ लोग (दिवः) विद्यानादि प्रकाश के (मध्ये) बीच (स्वधया) अपने पदार्थ के धारण करने रूप क्रिया वा सुन्दर भोजन से (सादयन्ते) आनन्द को प्राप्त होते हैं (तेभ्यः) उन पितरों के लिये (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमानपरमात्मा (एताम्) इस (असुगीतिम्) प्राणी को प्राप्त होने वाले (तन्वम्) शरीर को (यथावशम्) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थन करे ॥ ६० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि हे परमेश्वर! जो अग्नि आदि पदार्थविद्या को यथार्थ जानके प्रवृत्त करते और जो ज्ञान में तत्पर विद्वान् अपने ही पदार्थ के भाग से सन्तुष्ट रहते हैं उन के शरीरों की दीर्घायु कीजिये ॥ ६० ॥

और यदि अग्नि में डाले गये अर्थ को भी आप के कथनानुसार मान लें तो भी यह नर्थ होगा कि—“जो अग्नि में डाले गये और जो न डाले गये और आकाश के मध्य वर्तमान हैं, उन्हें स्वराट् परमात्मा शरीर दे देता है और वे अपने अन्नादि से (जहां जन्म होता है) आनन्दित होते हैं ॥

आद्या जानुं दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ।

मा हिंसिष्ट पितरः केनचित्तो यदुआगः पुरुषता कराम ॥ ६२ ॥

हे (विश्वे) सब (पितरः) पितृ लोगो! तुम (केनचित्) किसी हेतु से (नः) हमारी जो (पुरुषता) पुरुषार्थता है उस को (मा हिंसिष्ट) न नष्ट करो जिन से हम लोग सुख को (कराम) प्राप्त करें (यत्) जो (वः) तुम्हारा (आगः) अपराध हमने किया है उस को हम छोड़ें तुम लोग (हमम्) इस (यज्ञम्) सत्काररूप व्यवहार को (अग्नि, गृणीत) हमारे सम्मुख प्रशंसित करो हम (जानु) जानु अवयव को (आद्या) गीचे टेकके

( दक्षिणतः ) तुम्हारे दक्षिण पार्श्व में ( निषट्ठ ) बैठ के तुम्हारा गिरन्तर सत्कार करें ॥ ६१ ॥

जिन के पितृ संग जन्म समीप जायें जन्मवा सन्तान लोग इन के समीप जायें तब भूमि में घुटने टिका नमस्कार कर इन को प्रसन्न करें, पितर लोग भी आशीर्वाद दिया और अच्छी शिक्षा के उपदेश से अपनी सन्तानों को प्रसन्न करके सदा रक्षा किया करें ॥ ६२ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्तं दाशुषे मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत तद्दहोजन्मधात ॥ ६३ ॥

हे ( पितरः ) पितृ लोगो ! तुम ( इह ) इस महाअन्न में ( अरुणीनामु ) गौरवर्णयुक्त स्त्रियों के ( उपस्थे ) समीप में ( आसीनासः ) बैठे हुए ( पुत्रेभ्यः ) पुत्रों के लिये और ( दाशुषे ) दाता ( मर्त्याय ) मनुष्य के लिये ( रयिम् ) धन को ( धत्त ) धरो ( तस्य ) उस ( वस्वः ) धन के भागों को ( प्रयच्छत ) दिया करो जिन से ( ते ) वे स्त्री आदि सब लोग ( ऊर्जम् ) पराक्रम को ( दधात ) धारण करें ॥ ६३ ॥ ऐसे ही सन्त्र दायभाग का मूल हैं ॥

वे ही ब्रह्म हैं जो अपनी ही स्त्री के साथ प्रसन्न अपनी पत्नियों का सत्कार करने वाले सन्तानों के लिये यथायोग्य दायभाग और सत्पात्रों को सदा दान देते हैं और वे सन्तानों को सत्कार करने योग्य होते हैं ॥ ६३ ॥

द० ति० भा० पृ० १०५ पं० ११

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रण शतार्युषा पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतार्युषा विश्वमायुर्व्यशनवै । अ० १९ म० ३७

सोम के योग्य पितर पूर्णायु के दाता पवित्रता से मुक्त को ब्रह्म करो पितानह मुक्तको पवित्र करो प्रपितामह पवित्र करो पितामह पूर्णायु के दाता पवित्रता से मुक्त को ब्रह्म करो प्रपितामह ब्रह्म करो पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ

आधत्त पितरोगर्भे कुमारं पुष्करस्त्रजम् । यथेह पुरुषो संत ॥

यजु० अ० २ म० ३३

मरुत्तर-पूर्वमन्त्र में तो पिता पितानह प्रपितामह से प्रार्थना है कि हमें पवित्रता का उपदेश और आचरण करावें । दूसरे का यहार्थ है बर्ही को चाहिये

कि ( यथा ) जिस प्रकार ( इह ) इस कुल में ( पुरुषः ) पुरुष ( भवत ) होते  
उन प्रकार ( पितरः ) पिता लोग ( गर्भम् ) गर्भ का ( जायत ) जायान  
करें और ( पुत्रकरस्त्रयम् ) सुन्दर ( कुमारम् ) पुत्र को उत्पन्न करें ॥

इस में भी सून पितरों को आहुति का कुछ भी वर्णन नहीं पाया जाता  
६० ति० भा० पृ० १०५ पं० २३ से- ( ये च जीवा ये च मृता ) इत्यादि ॥  
प्रत्युत्तर-मन्त्र और उन का अर्थ इस प्रकार है:-

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।

तेभ्यो घृतस्य कुलैतु मधुधारा व्युन्दती ॥

( अथर्व १८ । ४ । ५७ )

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि सतक को फूँकते समय जो घृत की  
धाराबद्ध आहुति है, वह जीवते प्राणियों और मरे हुए शवों ( लार्शों ) की  
संस्था करती है, अर्थात् जीवतों की रोगादि से बचाती और मरों को सबने  
आदि दुर्गति से रोकती है । पदार्थ- ( ये जीवाः ) जो जीते हैं ( ये च  
मृताः ) और जो मरे शरीर हैं ( ये जाताः ) जो बड़े हैं जगें हैं ( ये च  
यज्ञियाः ) और जो यज्ञ के उपयोगी हैं ( तेभ्यः ) उन सब की भलाई के  
लिये ( घृतस्य ) घृत की ( व्युन्दती ) टपकती ( मधुधारा ) मधुरादियुक्त  
( कुलया ) घारा ( एतु ) प्राप्त होवे ॥

इस में यह कहीं भी नहीं आया कि सतकनिमित्त ब्राह्मणादि भोजन  
से सतक की तृप्ति होती है ॥

६० ति० भा० पृ० १०६ पं० १ से- ( प्रेहि प्रेहि पयिभिः० ) इत्यादि ०

प्रत्युत्तर-मन्त्र सायें यह है कि--

प्रेहि प्रेहि पृथिभिः पूर्याणैर्यना ते पूर्वे पितरः परेताः ।

उभा राजानौ स्वधया मर्दन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥

( अथर्व १८ । १ । ५४ )

अर्थात् सतशरीर को फूँकते हुए लोग इन मन्त्र को पढ़ते हैं कि जहाँ  
उन से पूर्व मरे हुए शरीर पूर्वजों के गये, वहाँ ही, और जिन मागों में शरीर  
के मूक भवपव ही यान ( सवारी ) हैं, उन मागों से यह भी जाता है और  
\* यम तथा \* वरुण नामक आकाश में विराजने वाले भौतिक देवतों में

\* देखो गिघट्ट ५ । ४ और निरुक्त १० । १९-२१ अन्तरिक्षदेवताप्रकरण



## चतुर्थसमुदायः

मिल जाता है। पदार्थ ( प्रेहि प्रेहि ) जा जा ( पूर्वाह्नेः पथिभिः ) पुरश्चरि-  
ही जहां यान=चवारी है, उन मार्गों से जा। ( येन ) जिन मार्गों से ( ते  
पूर्वं ) तुम से पहिले ( पितरः ) बाप दादे ( परेताः ) मरे हुये गये और  
वहां आकाश में ( यन् देवम् ) वायुविशेष देव को ( च ) और ( वरुणम् )  
जल के दिव्यस्वरूप को ( सभ्य ) इन दोनों ( राजागौ ) प्रकाशमान देवोंकी  
जो कि ( स्वधया ) इनशानाहुति जो स्वधया है उस से ( मदन्ती ) सुधरे  
हुये हैं उन्हें ( पश्यसि देखता=प्राप्त होता है तू ॥

अर्थात् सुतशरीर की दुर्गति नहीं होती, किन्तु स्वधा जो उत्तम द्रव्यों  
की पितृयज्ञ में आहुति है, उस से आकाश में के ( यन् ) वायु ( वरुण ) जल  
विगड़ते नहीं किन्तु ( मदन्ती ) अच्छे प्रसन्न चतन रहते हैं और उन्हीं  
में सुतशरीर मिल-जाता है अर्थात् शरीर का नीला अंग वरुण में और शुष्क  
अंग यम में मिल जाना है। इस में ही सुतनिमित्त ब्राह्मणादि भोजन की  
सिद्धि नहीं पाई जाती ॥

५० ति० भा० पु० १०६ पं० ६ और १० से-ये निष्ठाताः। इत्यादि हो मन्त्र हैं ॥

प्रत्युत्तर-दोनों मन्त्र अर्थसहित इस प्रकार हैंः--

ये निष्ठाता ये परीप्ता ये वग्धा ये चोद्धिताः ।

सर्वान्स्तान्गन्तु आर्वह पितृन्हविषे अत्तवे ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादर्यन्ते ।  
त्वं तान्वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया युजं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥

( अथर्व १८ । २ । ३४-३५ )

इन दोनों मन्त्रों में यह कहा गया है कि जिन लोगों के शरीर किन्हीं  
कारणों से भूमि में दब गये, जिन के देह ऊपर पड़े रह गये, जो विना घृतादि  
कुंत गये, जो वायु में उड़ गये, अग्नि में नहीं कुंतने पाये वा कुंठने प्राये,  
अग्नि में किया हुआ होन उन सब आकाशगत सुतप्राणिशरीरावयवों को  
प्राप्त होकर उन की सङ्गति=मच्छी दशा करता है।

पदार्थ-(ये निष्ठाताः) जो दब गये (ये परीप्ताः) जो इधर उधर पड़े  
रह गये (ये वग्धाः) जो केवल कुंत गये (ये च) और जो (चोद्धिताः)  
ऊपर उड़ गये (अग्ने) अग्नि (तान् सर्वान्) उन सब को (इत्तवे) होन  
के पदार्थ (अत्तवे) करने के लिये (मादह) प्राप्त करता है वा करावे ॥३५॥

( ये अग्निदग्धाः ) जो केवल अग्नि में फुंके ( अग्नितदग्धाः ) और जो अग्नि में भी नहीं फुंके ( दिवः मये ) आकाश के मध्य में हैं ( जातवेदः ) अग्ने ! ( तान् ) उन को ( यदि ) जब ( त्वम् ) तू ( वेत्थ ) जानता प्राप्त होता है तब वे ( स्वधया ) स्वधा कह कर दी हुई आहुति से ( मादयन्ते ) प्रमत्त होते अर्थात् सःन को छोड़ कर अच्छी दशा को प्राप्त होते हैं, अतः वे ( स्वधया ) उनी आहुति से ( स्वधितिम् ) पैतृक ( यज्ञम् ) यज्ञ का ( जुषन्तम् ) सेवन करें ॥

इन में भी अग्निदाह का साहचर्य ही वर्णित है । अधिक कुछ नहीं ॥

८० ति० भा० पृ० १०६ पं० १५ से—ये नः पितुरित्यादि ॥

प्रत्युत्तर—

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।

य आक्षिपन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यां नमसा विधेम ॥

( अथर्व १८ । २ । ४९ )

अर्थ—( ये ) जो ( नः ) हमारे ( पितुः पितरः ) बाप के बाप हैं, अत एव ( ये ) जो हमारे ( पितामहाः ) बाबा हैं ( ये ) जो कि ( उत अन्तरिक्षम् ) हम बड़े आकाश को ( आविविशुः ) प्रवेश कर गये हैं ( ये ) जो कि ( पृथिवीम् ) पृथिवी को ( उत ) और ( द्याम् ) आकाश को ( आक्षिपन्ति ) छाड़ रहे हैं ( तेभ्यः ) उन ( पितृभ्यः ) सृतशरीरों के लिये ( नमसा विधेम ) हम आहुति करते हैं ॥

अर्थात् पुत्रादि का कर्तव्य है कि पिता वा पितामहादि पूर्वजों की अन्त्येष्टि ब्रह्मापूर्वक करें, ऐसा करने से पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक में जो सृतपूर्वज लोगों के शरीराऽत्रय वायु आदि में हैं वे खिगड़ते नहीं, किन्तु सुधर कर मनुष्यादि प्राणियों को दुःख नहीं देते, प्रत्युत सुख देते हैं । अन्यथा वायु जल को विकृत करके रोगादि उत्पन्न करते हैं ॥

८० ति० भा० पृ० १०६ में—यो समार० यास्ते धाना० भारभस्व० इत्यादि १ मन्त्र और हैं जिन से वे समझते हैं कि सूतकण्डादि सिद्ध होता है ॥

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों में भी सूतक निमित्त ब्राह्मणादि जिनाने से उस की वृत्ति का वर्णन नहीं है । अर्थसहित मन्त्र सुनिये—

यो समारं प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयायं प्रथमो लोकमेतम् ।

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

( अथर्व १८ । ३ । १३ )

(यः) जो ( मर्यानाम् ) मनुष्यों में (प्रथमः समार) पूर्व करता है (यः) जो ( एतम् ) इस अन्तर्गति ( लोकम् ) लोक को (प्रथमः प्रेषाय) पूर्व जाता है । हे उस के पुत्रादिको । तुम ( वैवस्वतम् ) सूर्य से सत्पन्न हुए ( जनाणां संगमनम् ) प्राणियों के संगत रखने वाले ( राजानम् ) प्रकाशमान ( यमम् ) यम नामक वायु को ( हविषा ) हव्य सामग्री से ( सपर्यत ) सत्कृत करो ॥

अर्थात् मनुष्यों में जो कोई पूर्व मरे, चाहे छोटा पुत्रादि हो, चाहे बड़ा पिता आदि हो, उसके शव की ठीक गति के लिये वायु के सुधार निमित्त हव्य पदार्थों से होन करना चाहिये ॥ इसमें यह आप का लिखा अर्थ लेश-मात्र भी नहीं कि मार के ले जाते हैं ॥ इत्यादि ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिळमिश्राः स्वधावन्तीः ॥

तास्ते सन्तु विम्बीः प्रम्बीस्तास्ते यमो राजाऽनुमन्यताम् ॥

( अथर्व १८ । ३ । ६९ )

अर्थ - ( तिलमिश्राः ) तिलमिश्र ( स्वधावन्तीः ) स्वधा शब्द युक्त ( याः ) जो ( धानाः ) धान ( ते ) तेरी चिता में ( अनुकिरामि ) छोड़ता हूँ ( ताः ) वे ( विम्बीः ) फैलने वाली ( प्रम्बीः ) सड़ने को रोकने में समर्थ ( ते ) तेरे लिये ( सन्तु ) होवें और ( ताः ) उन्हें ( ते ) तेरे लिये ( राजा यमः ) प्रकाशमान वायु ( अनुमन्यताम् ) स्वीकार करे ॥

जब शतक को या और पदार्थों को सम्बोधन करना वेद की शली है, जैसा कि हम ( अथ प्रत्यक्षरता मध्यमपुरुषयोगास्त्यनिति चैतेन सर्वनाम्ना ) निरुक्त ७ । १ के अनुसार अनेक स्थलों में बतला चुके हैं कि प्रत्येक पदार्थ के वर्णन में वेदों में मध्यम पुरुष की क्रिया और त्वम् अर्थात् युक्त शब्द सर्वनाम से प्रयोग हुआ करता है । वेदों में केवल सूतक ही नहीं, अग्नि । सूर्य । पृथिवी । स्वर्ग । क्षर । उलुबल । सुसल । इत्यादि सम्बोधन भरेपड़े हैं, गिन में कोई पुरुष चेतनता नहीं मानता ॥

और इस से जगला मन्त्र ७० जो आप ने लिखने से छोड़ दिया, उस में स्पष्ट है कि ( पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ) जो वनस्पति अर्थात् काष्ठमय चिता में रखवा गया है । इत्यादि । इसलिये वे तिल धान स्वधा कहकर अग्नि की चिता में छोड़ने के लिये वर्णित हैं, दान वा जल में छोड़ने को नहीं ॥ तीसरा मन्त्र यह है:-

आरंभस्व जातवेदस्तेजस्वृद्धरो अस्तु ते । शरीरमस्य  
संवहार्थेन धेहि सुकृताम् लोके ॥ ७१ ॥

इस से जो स्पष्ट है कि दाहप्रकरण है, आहुप्रकरण नहीं अर्थात् ( जात-  
वेदः ) अग्ने ! ( आरम्भस्व ) आरम्भ कर ( ते हरः ) तेरी लपट तेजस्वत्  
अस्तु ) तीव्र हो । ( अस्य शरीरं संदह ) इस के शरीर को भस्म कर ( अथ )  
और ( एनम् ) इनको ( सुकृताम् ) अच्छा करने वालों के ( लोके ) स्थान  
में ( उ ) भवइय ( धेहि ) धारण कर ॥

इसका भी तात्पर्य यही है कि पूर्वोक्त तिल घान ( घी डाल कर अग्नि  
तीव्र किया जाय जिस से शव भस्म हो और उसके परमाणु आकाश में  
सुकृतों की जगह रहें, किसी को कुछ हानि न पहुंचावें ॥

द० ति० भा० पृ० १०७ में ३ मन्त्र हैं जो घन्पसार ने मृतकआहुप्रकरण  
में लगाये हैं ॥

प्रत्युत्तर- यथार्थ मन्त्र यह है-

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरंश्च ये । तेभ्यो

घृतस्य कुत्पैतु शतधारा व्युन्दती ॥ अथर्व १८ । ३ । ७२

परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्य ! ( ये ) जो ( ते ) तेरे ( पूर्वे )  
पूर्वले ( पितरः ) पिता मादि ( च ) और ( अपरे ) अन्य ब्राम्हणादि ( ये )  
जो ( परागताः ) मरगये हों ( तेभ्यः ) उनके दाहार्थ ( घृतस्य ) घृत की  
( कुत्पया ) धारा ( व्युन्दती ) टपकती हुई ( शतधारा ) अनेक धार युक्त  
( एतु ) प्राप्त हो, ऐसा कर ॥

पूर्वमन्त्र में अग्निदाह का वर्णन था इसलिये वही यहाँ जानना  
चाहिये ॥ फिर-

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः । स्वधा पितृभ्यो

अन्तरिक्षसद्भ्यः । अथर्व ॥

इस का पता प्रथमवार छपे में तो है ही नहीं और द्वितीय बार के में  
१८ । ४ । १८-१८ है । सो इस पते पर ये मन्त्र नहीं पाये जाते किन्तु इस  
पते पर ती-

अपूपवान्द्रप्सवांश्चरुहे० १८

## अपूपवाऽधृतवाश्चस्त्रेह० ११

ये दो मन्त्र हैं । परन्तु इनको पते से विचार नहीं, किसी पते पर ही उनका अर्थ यह है कि “आकाश में स्थित पितृगरीर के लिये जिससे वह हानिकारक न हो ) आहुति हो” ॥ इन से ब्राह्मण आदि का भोगन निष्ठ नहीं होता ॥

यौ ते श्वानी यम रक्षितारौ चतुरक्षी पथिरक्षी नृचक्षसी  
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि

ऋ० १० । १४ । ११

अर्थ—( यम ) है अस्तयामिन् । ( राजन् ) है प्रकाशमान । परमेश्वर । ( ते ) आप की व्यवस्था में ( यौ ) जो दो ( रक्षितारौ ) रक्षा करनेवाले ( चतुरक्षी ) चर्मे, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप चार पांव वाले (पथिरक्षी) संचार परमार्थ दो मार्गों के रक्षक ( नृचक्षसी ) मनुष्यों को कल दिखाने वाले ( श्वानी ) दो बड़े हुए सकाम निष्काम भेद से कर्म हैं ( ताभ्याम् ) उन ( दोनों ) से ( एनम् ) इस मरने के समीप पुरुष को (परिदेहि) रक्षित कीजिये ( च ) और ( अस्मै ) इनके लिये सकाम कर्म से ( अनमीवम् ) गीरोगता आदि कुछ ( च ) और निष्काम कर्म से ( स्वस्ति ) परमानन्द ( धेहि ) चारख कीजिये ।

अर्थात् जब मनुष्यों का जन्तु समय हो तो विद्वान् उपदेशकों को बुला कर इस सूक्त का पाठ सुने और परमेश्वर का ध्यान करते हुए प्राण परित्याग करें ॥

६० ति० भा० पृ० १०८ । १०९ में यजुर्वेद अध्याय १९ के मन्त्र ६४ से ७० तक ७ मन्त्र मृतकश्राद्ध पर लगाये हैं ।

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों का अर्थ स्वामीजी महाराज के वेदसाध्य में देख लीजिये और आप के अर्थों में ६४ । ६५ । ६६ का अर्थ जो आप ने किया है उस में भी अग्नि के द्वारा मृतक का होम ही पाया जाता है अन्य कुछ नहीं ६७ वें में ( ये चेह ये नेह का अर्थ आप इस लोक और स्वर्गलोक में करते परन्तु स्वामी जी ने जो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष वा जीवित दूरस्थ और समीपस्थों का ग्रहण किया है वह संभव है आपका असंभव है । ६८ वे में ( हेयुः ) का अर्थ तो यह है “भावे” वग जीवतों को

जाक हो और जाप (हेयुः) "इश्वर को प्राप्त हुये" लिखते हैं ( पार्थिवेरजसि ) का अर्थ रूपसु "पृथिवी लोक में" है और जाप (स्वर्गादि लोक में) करते हैं, यही असंभव है । ६९ में जाप के किये अर्थ से भी सूतकश्राद्ध की कोई बात नहीं निकलती । यहो दशा ७० वें मन्त्र के जाप के किये अर्थ की है ॥

६० ति० भा० पृ० ११० में जो ( यमाय मोमः० ) यह अथर्व १८ । २ । १ का प्रमाण दिया है वह ती रूपसु ही यमशब्द से वायु के ग्रहण करने में प्रमाण है, जब कि उस में यम के लिये होम करना लिखा है और बलि दानादि कुछ नहीं है ॥

६० ति० भा० पृ० ११० पं० ५ से-इत्यादि मन्त्रों से अग्नि का श्राद्ध में हवि लेगाना सिद्ध है ॥

प्रत्युत्तर-हां, अग्नि में सूतकशरीरों को फूंकना और पश्चात् भी हवन करते रहने का स्वामी जी ने भी कहा निषेध किया है? प्रत्युत्तर-विधान किया है । परन्तु जाप को महाब्राह्मणादि के दानादि मिट्टा करने थे, सो जाप ने कोई प्रमाण न दिया ॥

६० ति० भा० पृ० ११० में मनु अध्याय ३ के श्लोक २१४ और २१६ से यह दिखलाया है कि पितृकर्म अपसव्य से करे ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो मनु के इस अध्याय में श्राद्धार्थ खूबही हरिण, बकरे जैसे, सूअर आदि का विधान किया है और वामनागीपने की चिन्ता निरीति दर्शाई है । उन सब को यहां लिखा जावे तो उन के मेल में मेल मिलाकर फिर अपसव्य सव्य का भेद भी खुलजावे परन्तु ग्रन्थ पढ़ाने के अतिरिक्त फल कुछ नहीं । वर्तमान मनुस्मृति का सूतकश्राद्ध अत्यन्त प्रसिद्ध है । और उसके प्रलेपादिहेतुपूर्वक खचहन भी प्रायः हो चुके हैं । और केवल सव्य वा अपसव्य के कर्मेत्तद् से चिन्तितेदमात्र तो सूतकश्राद्ध का साधक भी नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० ११३ पं० २७ से-यह सिद्ध करने को ( कि ब्रह्मा ४ वेद जानने वाले विद्वान् का नाम नहीं किन्तु सृष्टि का स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्मा या सती का तर्पण किया जाता है ) ३ प्रमाण दिये हैं । एक-( यो वे ब्रह्मायं० ) दूसरा ( तस्मिन्नुक्ते० ) तीसरा ( हिरण्यगर्भः सन् ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-क्या जाप को यह भी ज्ञात नहीं कि यज्ञ में ब्रह्मा होता सद्गता अध्वर्यु नाम के ४ ऋत्विज् अब भी होते हैं और सब पद्धतियों में इन का वर्णन है और ऋग्वेद से होता, यज्ञः से अध्वर्यु, साम से सद्गता और सब वेदों से ब्रह्मा ॥ जीवां कि--

ऋग्वेदेन होता करोति ॥ १९ ॥ सामवेदेनोद्गाता ॥ २० ॥

यजुर्वेदेनाध्वर्युः ॥ २१ ॥ सर्वैर्ब्रह्मा ॥ २२ ॥

आपस्वस्वयज्ञपरिभाषासूत्राणि । और आप के लिखे वाक्यों का यदि वही अर्थ भी मान लें जो आपने लिखा है तो भी पूर्वकाल में किसी का ब्रह्मा होना, वर्तमानकाल में दूसरों को उक्तमूर्तों के अनुसार ब्रह्मा होने से नहीं रोकता । अर्थात् पूर्व भी एक विशेष ऋषि का नाम ब्रह्मा था मन्त्र भी हो सकता है । परन्तु आप के अर्थ से वेदों का मनीनत्व पायाजायगा ॥

४० ति० भा० पृ० ११४ पं० २ में ( विरूपा० ) मन्त्र वेपते लिखकर उस के अर्थ में लिखा है कि “ऋषि लोग जो अङ्गिरा के पुत्र अग्नि से उत्पन्न हुये” इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—जो अग्नि से उत्पन्न हुये वे अग्नि के पुत्र हो सकते हैं, भला उत्पन्न अग्नि ने हों, पुत्र अङ्गिरा के कहायें, यह कैसे समझ सकता है ? क्या अग्नि अङ्गिरा की स्त्री था ? अग्नि तो पुरुष है, स्त्री नहीं है। अब यथार्थ अर्थ सुनिये:-

विरूपास इदृषयस्त इद्रभीरवेपसः ।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥

( अन्वयः ) वेदमन्त्र ( विरूपासः ) सिक्क रूप अर्थात् विलक्षण शब्दार्थ सम्बन्धयुक्त हैं ( इत् ) और ( ते ) वे ( इत् ) निश्चय ( गभीरवेपसः ) गभीरकर्म जिन में हैं ऐसे हैं ( ते ) वे [ अङ्गिरसः ] मेधावीपरमात्मा के [ सूनवः ] पुत्र हैं क्योंकि [ ते ] वे [ अग्नेः ] ज्ञानस्वरूपपरमात्मा से ( परिजज्ञिरे ) उत्पन्न हुये हैं ॥

४० ति० भा० पृ० ११४ पं० १४ से— ( मरीचयादय ऋषयस्तुष्यन्ताम् ) इस में “वत्” आपने कहाँ से निकाला इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—जब किसी पद में अर्थ की अर्थभावना होती है तब लक्षणा की जाती है । जैसे [ मन्त्राः क्रोशन्ति ] की मन्त्ररूप पुरुष में लक्षणा करते हैं इसी प्रकार पूर्वज मरीचि आदि की अविद्यमानता में उन के मुख्य पुरुषों का तात्पर्य लक्षणा में निकालने की खानाजी ने “वत्” लगाया है ॥

४० ति० भा० पृ० ११४ पं० २० से १२५ पृष्ठ तक का भाग्य यह है कि यदि सोमसङ्ग अग्निश्वात् आदि का अर्थ खानाजी के मन्त्रव्यानुसार मानें

जो अक्षरेण, कृष्ण, रेल आदि के अधिकारी पितर कहाँसे। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—अर्धमभा के लोग अक्षरेणभोज नहीं करते ? और क्या वृथा सनपितरों का नाम लेकर भागकल आहुतों में हकीमजी और घबूझी और पुजारीजी और रसोइयाजी नहीं जिमाये जाते ? और आप जो हाकटों के मत्कार के निषेध में गन्तु का प्रमाण देते हैं कि—

“चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।

विपणेत च जीवन्तोवज्र्याःस्युर्हठपकव्ययोः ॥३॥१५२॥

प्रेम, पुजारी, मांसखेवने वाला, वाणिज्यकरने वाला; ये सब अशुद्ध-कर्म और देवकर्म में वर्जित हैं ॥”

प्रत्युत्तर—इस ती इस गन्तु के मृतकआहु और मांसपिण्डादि को गानते ही नहीं परन्तु आप क्यों पुराने ब्राह्मणों को मांसखेचनेवाले तक विद्वत् करते हुए ब्रह्मकुल को कलङ्कित करते हैं। इस श्लोक से जानाजाता है कि जब यह श्लोक बजाया गया उस समय गानमात्र के ब्रह्मण वैद्यपना पुनारीपना मांसविक्रेतापना आदि नीचकर्म करने लगे थे। तब उन को यह आहुति से बाहर करने के लिये श्लोक बजाया गया। और हाकिम तो क्या हक़िमों के अर्दगी ब्राह्मण भी छांट २ कर आहु में जिमाये जाते हैं ॥

५० ति० भा० पृ० ११ पं० ५ से—शतपथ के प्रमाणद्वारा पितरों के आगे जलती लकड़ी घरमालिका है, फिर यदि जीवतों का पितर आने ती उन के आगे जलती लकड़ी घरमालिका पड़ेगी। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप के मतानुसार मृतकों के आहुतिमिल भी ती जीवते ब्राह्मण ही जिमाये जाते हैं, फिर आपको भी ती उन के मारने घुनी सिलगामी पड़ेगी। यथार्थ में वहाँ जलती लकड़ी से तात्पर्य नहीं किन्तु जीवितपितरों को भोजन कराते समय अस्थियारा हो ती जलते दीपकादि के प्रकाश से उसे देख लिया जावे और यदि कुछ अपद्रव्य पड़ा हो ती निकाल दिया जावे। यह तात्पर्य है। जब भी जो चतुर सेवक होते हैं वे अपने सेव्य स्वामी के अन्नदि देते हैं ती प्रकाश में देखकर देते हैं ॥

५० ति० भा० पृ० ११ पं० १३ से मनु १। ६६ के अनुसार पितरों का रात्रिदिन मनुष्यों के एक मास के बराबर होता लिखकर शङ्का की है कि क्या दयागन्धिर्षों के पण्डित और यम १५ दिन सोते हैं। इत्यादि ॥



प्रत्युत्तर-यहां पितृलोक से जन्मलोक का तात्पर्य है। जन्मना में १५ दिन का दिन और १५ की रात्रि होती है और यदि इन भाग के सूत्र पितरों की कोई जगह मना लें तो मित्यमृतः जो पञ्चमहावर्षों में होता है सो नहीं बनेगा। क्योंकि एकपक्ष पितरों का रस्त्रि और एकपक्ष दिन है। इस लिये १५ दिन तक पञ्चयज्ञ बन्द करना पड़ेगा और शेष १५ दिन में भी एक दो बार पञ्चयज्ञ होगा, अन्यथा पितरों की १५ दिन के १ दिन में १५ बार भोजन कुपचय हो जायगा ॥

६० ति० सा० पु० ११६ पं० २० से ( आहु-शब्दः ) यह अष्टाध्यायी का सूत्र है कि शब्दः श्रुतु में श्रुतु करे। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यन्त्र हो। व्याकरण की भी स्थिति ही वनर दिया। इस सूत्र का अर्थ तो यह है कि "शब्दः प्रतिपदिक से उद्गम्य हो, श्रुतु वाच्य हो तो" भाषा कहते हैं कि "शब्दः श्रुतु में श्रुतु करे"। तब तो भाषा-

ऐकागारिकटू चीरे ५। १। ११३

इन सूत्र का भी यह अर्थ करते होंगे कि एकमहल में चीरी करे। क्या कहते हैं !!! और [ आहु शब्दः ] सूत्र से जगले सूत्र-

त्रिभाषा रोमातपयोः ४। ३। १३॥

इस का भी यह अर्थ करते होंगे कि शब्दः श्रुतु में विकल्प से जीमाह पड़े और धूप में बैठे। उस ती सारे सनातनधर्मी शब्दः श्रुतु में श्रुतु किया करें, रोकती बगाकरें और धूप में बैठा करें और केवल एक महल में चीरी किया करेंगे और पकड़े जाकर जेल में जायेंगे तो भाषा का स्वरण किया करेंगे !!! सूत्रों का ठीक जगह तो यह है कि जो आहु शब्दः श्रुतु में हो वह "शास्त्रिक" है। जिस प्रकार प्रतिदिन किया जाय वह "दैनिक" वा "प्रत्यहिक" वा "आहुक" कहा जाता है। इसी प्रकार शब्दः श्रुतु की धूप वा रोग की भी "शारदिक" कहते हैं। यहां ठीक प्रत्यय विकल्प से होकर बल में जन्म प्रत्यय होकर "शारदः" जगता है ॥

६० ति० सा० पु० ११६ पं० २६ से ( मनोहरवयः ) इत्यादि मनु के वसी तीसरे गङ्गवृद्ध्याय के श्लोक १९४ से २०१ तक लिखकर इस प्रकार अर्थ किया है=

"स्वायंभु मनु के जो मरीचि शादि, उन ऋषियों के पुत्र प्रियुषीं करे

मनु जी ने कहा है विराट् के पुत्र भीमसद्वाना बाले वे साध्यों के पितर ऐसे कहे हैं अग्निध्वत्तादि नरीचि के पुत्र हैं वे लीगों में त्रिष्वात हैं और देवताओं के पितर कहाते हैं दैत्यों के पितर बर्हिषद् नामवाले अत्रि के पुत्र हैं । वे दैत्य दानव यक्ष गन्धर्व सरग राक्षस सुपण किन्नर इन भेदों के हैं । ॥ १८६ ॥ भोगपा ब्राह्मणों के हविर्भुज क्षत्रियों के आऊयग वैश्यों के सुका लिन शूद्रों के पितर हैं ॥ १८७ ॥ भृगु के पुत्र भीमपादि अङ्गिरा के पुत्र हवि- षगन्त, पुलस्त्य के पुत्र भाज्यपादि, और यमिष्ठ के पुत्र सुकालिन हैं, यह पितर इन ऋषियों से हुए ॥ १८८ ॥ अग्निद्वय अग्निरद्वय और काव्यों के तथा बर्हिषद् के भी और अग्निध्वत्ता तथा सोम्य यज्ञ मय ब्राह्मणों के पितर जानने ॥ १८९ ॥ यह इतने पितरों के गण मुख्य कहे हैं उन के इन जगत् में पुत्र पीत्र अगन्त हैं । सो जानना ॥ २०० ॥ चांदी के पात्र करके या चांदी के लगे पात्र से पितरों के श्राद्ध करके दिया पानी अक्षय सुख का हेतु होता है ॥ २०२ ॥

प्रत्युत्तर-तो भीमसद्वों का श्राद्ध तो माध्यों को करना चाहिये । मनु- ष्यों से कुछ काम नहीं क्योंकि सारे संसार का ठेका पोड़ा ही लिया है । अपने अपने पितरों का तर्पण चाहिये । “अग्निध्वत्ताः” देवताओं के पितर हैं, उन का तर्पण आप की पाषाणों से लाये करेंगे क्योंकि वे आपकी देवता हैं । अत्रिजी ब्राह्मण था, उस के पुत्र बर्हिषद् हैं और वे दैत्य दानव यक्ष गन्धर्व सरग राक्षस सुपण और किन्नरों के पितर हैं, उनका तर्पण वेही राक्ष- सादि करें । सुकालिन् बेचारे शूद्रों के पितर हैं, इस लिये जब कोई मना- तनधर्मी ब्राह्मण “सुकालिनस्तृप्यन्ताम्” कहेगा तब शूद्रों के पितर ब्राह्मण के भी पितर हो जायेंगे । और सब पितरों का जन्म तो इन झोकोँ के अनु- सार ब्राह्मणों से हुआ और राक्षसों के पितर तक न जाने किस कर्म का फल होने से होगये ॥

द० ति० भा० पृ० ११८ । ११९ । १२० में वाल्मीकीय रामायणांशुसार दश- रण का श्राद्ध और मनु के झोकोँ से भी मृतक श्राद्ध लिखा है जिस का उत्तर रामायण और मनु के प्रक्षेप में स्वयं आगया ॥

द० ति० भा० पृ० १२० पं० २३ से (भाविरसूत्रम्) इस मन्त्र में श्राद्धादि पद अपनी ओर से जोड़कर अनर्थ किया है ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्र का अर्थ सुनिये-

आविरभूम्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोषि ।  
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥

ऋ० १० । १०७ । १ ॥

जो ( विश्वम् ) सब ( जीवम् ) जीवमात्र को ( तमसः ) अज्ञानात्म्यकार से ( निरमोषि ) छुड़ाते हैं ( एषाम् ) उन की ( माघोनं महि ) इन्द्र पद की बड़ाई=महिमा ( आविः ) प्रकट ( अभूत् ) होती है क्योंकि ( पितृभिः ) इन ज्ञानदाता पितरों से ( दत्तम् ) दी हुई ( महिष्यांतिः ) बड़ीभारी ज्योति ( आगात् ) प्राप्त होती है जिस से ( दक्षिणायाः ) धनादि लाभ का ( उरुः पन्थाः ) बड़ा मार्ग ( अदर्शि ) दीखता है ॥

अर्थात् जो गुरु पिता आदि अपने शिष्य पुत्रादि को अज्ञानात्म्यकार से बचाते और ज्ञान की ज्योति देकर धनादि के लाभ का मार्ग दिखाते हैं, उन की बड़ी भारी महिमा और कीर्ति होती है । इस में कोई पद ऐसा नहीं जिस से मृत पितरों की ध्वनि भी निकलती हो ॥

धन्वन्तरि वैद्य का मान है । वैद्य के लिये अर्थात् वैद्यक के अनुसार लोग नित्य हुतभोजी रहें । यहां शारीर्य चाहनेवाले को लिये होम करना तात्पर्य है । पूषिमा और पृथिवी आकाश ३३ देवों में हैं, इन के लिये होम से भी मेरीग्यादि सुख होते हैं । वनस्पति का भी होम से सुधार होता है । लक्ष्मी भी होम करने वालों को प्राप्त होती है । यम शब्द से परमात्मा या वायु का ग्रहण है, हाकिमों का नहीं । मनुस्मृति में जो बलिवैश्वदेव के स्थान विशेष लिखे हैं उन में भी गूढ़ तात्पर्य है । जैसे कि (मनुस्मृत्युक्ति तु द्वारि) वायुओं के आगे का मार्ग द्वार होते हैं इस से वायुओं की बलि के लिये द्वार का स्मरण किया । ( विप्रेरप्लवदुष्य इत्यपि ) " अदुष्योगमः " की आहुति के साथ अग्नि-जल का स्मरण है । वनस्पतियों से मुनल ललूल इत्यादि पात्र साधन बनते हैं, इस लिये " वनस्पतिष्मी नमः " के साथ मुनलादि का स्मरण है । इत्यादि सभी सार्थक है, व्यर्थ नहीं । और जिस विषय में आप का मत विरुद्ध न हो उस विषय में भी आप विरोध कृपा करते हैं, प्रत्युपकार से पाप का क्षय नहीं किन्तु पाप के पश्चात् धर्मानुष्ठान में उपलब्ध करना पाप से बचने की भीमरी वासना को उत्पन्न करता है जिससे उत्तरोत्तर अन्तःकरण की शुद्धि होती है इस लिये अग्निहोस बलिवैश्वदेवादि

कर्मकाण्ड अन्तःकरण का भी पवित्र करने वाला है ॥

मनु के यह कहने का कि ( ब्राह्मीपुत्र पुण्य करने वाला १० भगले १० गिछले १ भाप इन २१ को पाप से छुड़ाता है ) तात्पर्य यह है कि उन्हें ने जो पाप किये हैं उन का उन्हें फल न होगा किन्तु यह तात्पर्य है कि जिस कुल में ऐसा उत्तम पुण्य होता है यह पुण्य के यश में गिछले भगनों के अपयग रूप पाप हों तो भी उन्हें ढक लेना है। अर्थात् उन पुण्या-रुपा से कुल की रूपाति होती है और सारे दोष दब जाते हैं ॥

### अथ नियोगप्रकरणम् ॥

द० ति० भा० पृ० १२५ पं० १२ से-

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।

उत्पादयेत्पुनर्भूतत्रा स पौनर्भव उच्यते ८ । १७५

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्भगवत्प्रत्यागतापि वा ।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमहंति ८ । १७६

जो स्त्री पति ने त्यागन कर दी हो या विधवा हो वा अपनी इच्छा से किसी दूसरे की स्त्री हो कर पुनः उत्पन्न करे, तो उस पुनः को पौनर्भव कहते हैं १ यह उत्पन्न करने वाला पौनर्भव पुनः कहलाता है १७५ वोही स्त्री यदि ब्रह्म-त्योति होय जो कि घर से निकल गई वा पति ने त्यागन कर दी है फिर अपने पति के पास चली आवे तो उस को पुनः संस्कार कर के ग्रहण क-रगा यदि शुद्ध होय तो, यह परिपाटी प्रशंसित नहीं है, अथवा वोह जिस के पास जाय वोह स्त्री का संस्कार कर ग्रहण करे, परन्तु इस के जो स-न्तान होगी वह पौनर्भव कहलावेगी ॥

प्रत्युत्तर-धन्य हो, पूर्व श्लोक में “विधवा वा स्वयेच्छया” होतेहुये भी यह धीमाधोमी कि पूर्व पति को पुनः प्राप्त होजाय तो पुनः संस्कार करे, मला जब दूसरे की स्त्री हो जावे और भाव के अर्पानुसार ही पुनः दूसरे से उत्पन्न कर लेवे तब घर आकर फिर क्या पुनः पति की लाश (शब्द) पढ़ी रखेगी जो उस से पुनः संस्कार करे!!! यह कहते लज्जा नहीं जाती कि स्वामी जी ने गर्व करदिये ॥

द० ति० भा० पृ० १२७ पं० १२ से-

नियुक्त पुरुष ने उत्पन्न हुए बालक का सूत पुरुष ने कुछ भी सम्बन्ध नहीं और नायबान ती गोद लिये पुत्र का होता है, जिसे सर्व सम्मति से स्त्री पुरुष गोद लेते हैं "प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि केवा ही गोत्र क्यों न हो परन्तु जाके वाले ती जो जिसने उत्पन्न होता है उही नाम से पुकारते हैं यथा वायुतनय भीम इन्द्रतनय गर्जुन धर्मपुत्र युधिष्ठिरादि" और जब कि वह नियुक्त पुरुष ने उत्पन्न पुत्र सूत के धन का अधिकारी हुआ तीनी स्वामी जी का बोह कहना कि ( यदि पुनर्विवाह होगा ती धन दूनों के हाथ लग जायगा ) मिटवा ही हुआ क्योंकि जब ती उस सूत का धन दूनों के हाथ लगा, अपना पुत्र ती जमी होगा जब अपने से उत्पन्न होगा बोह नियुक्त सूत के गोत्र से सम्बन्धी नहीं होता देखिये ऋग्वेद में लिखा है जिस की व्याख्या कलकत्ते के छपे हुए गिरुक्त के २५४ पृष्ठ में की है ।

परिषदां ह्यरणस्य रेवणो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।  
नशेषोऽग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः ५।२।३७

( निरुक्तभाष्यम् ) परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यमरक्षस्य रेवणोऽरण्योऽपार्थी भवति रेवण इति धननाम रिचयते प्रयतो नित्यस्य रायः पतयः स्यामपिचय-स्येव धनस्य न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतो-ऽचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति ना नः पथो विदुदुष इति तस्योत्तरा भूपसे निर्वचनाय—

भाषार्थ—एक समय इतपुत्र वशिष्ठ ने अग्नि की स्तुति याचना करी कि मुझे पुत्र दे तब अग्निदेव बोले कि क्रीतक वृत्तक कृत्रिम आदि पुत्रों में कोई एक पुत्र बनालो यह बात सुन वशिष्ठजी और से उत्पन्न हुए पुत्रों की निन्दा करते हुए और निज धीर्य से पुत्र चाहते हुए यह वेद मन्त्र बोले ।

( परिषदां ) त्याग देने योग्य है बोह पुत्ररूपी धन जो कि ( अरक्षस्य रेवणः ) पर कुल में उत्पन्न है, जिस में उदक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि बोह परकीय होने से पुत्रकार्य में समर्थ नहीं होता, चाहें उन की पुत्रकार्य में बलपना कर लो, इस कारण [ नित्यस्य रायः पतयः स्याम ] पिचयस्येव धनस्य जैसे पिता का धन पुत्रत्व में होता है, इसी से बोह उस के धन का स्वामी होता है, क्योंकि बोह स्वयं अपने से उत्पन्न होता है ( अपत्यन-हाता है ) इसी से मुख्य होता है क्षेत्रज्ञ क्रीतक ऐसे नहीं, इसी से कहते हैं

कि जो गित्य भातनीय भगोण अपने से उत्पन्न जो पुत्ररूपी ( रायः ) धन तिभी के हन ( पतयः ) मालिक पालने वाले हों परकीय के नहीं, जिस ने कि न शेषोभग्ने अन्याज्जातमस्ति ) और ने उत्पन्न हुआ अपत्य नहीं होता है जो उत्पन्न करता है वह उसी का होता है दूसरे का नहीं जो ( अचेतन-मानस्य ) अचेतनमान अर्थात् अविद्वान् प्रमादी जो शास्त्र से रहित हो बोझ भी धर्म से परितोष प्राप्त होता ही है कि यह मेरा पुत्र है इससे कहते हैं ( ना पथोविदुषः ) कि हम को पितृ पितामह प्रपितामह की अनुमन्तति के ( पथः ) मार्ग से ( विद्वदुषः ) तू औरस पुत्र दे, यह आशय है जो अपने वीर्य से अपनी सवर्णा स्त्री में उत्पन्न हों वह औरस पुत्र कहाता है ॥

प्रत्युत्तर—यदि वेदमन्त्र का यह आशय है कि अन्य का उत्पन्न किया पुत्र, पुत्र नहीं हो सकता तो गोद लिया भी नहीं होमकता, यदि गोद लिया हम लिये होजाता है कि बहुत से स्त्री पुरुषों से सम्मति करके लेते हैं तो नियोग भी पक्षों की सम्मति से, जैसी कि कुन्ती ने बहुतां से सम्मति और शास्त्रार्थ करके कराया था, होने से दायताग में बाधक न होगा । अपने जर्जुगादि को इन्द्रादिपर पुत्रों से उत्पन्न होने का स्वीकार और प्रमिट्टि को मान कर और यह भी दिखाकर कि ये दूसरों से उत्पन्न थे, दूसरों के मान ने प्रमिट्टि भी ये और फिर भी “पाण्डव” पाण्डु की सन्तति कहलाये और पाण्डु के दायतागी भी रहे । अपने पक्ष का कैसा अपने ही मुख से नाश किया है । अगाड़ी पिछाड़ी झूल गये । गिरक्त में वमिष्ठ की घातों तक भी यहां नहीं लिखी, न जाने आप को यह माहम कहां से आगया कि ऊार गिरक्त का पाठ मानने रख कर भी वमिष्ठ को कथा लगा ही । मन्त्र और गिरक्त का प्रर्थ यह है—

( अरकोऽपार्णो भवति ) जिस ने ऋण चुका दिया उसे अरण कहते हैं ( रेखण इति धननाम० ) रेखण धन का नाम है । अम ( अरणस्य रेखणः ) जिस ने ऋण चुका दिया उस का धन ( परिहर्नेठयं हि ) दूर से झाड़ देना चाहिये ( गोपमत्तैठयम् ) उस के पास भी न जाना चाहिये । गित्यस्य रायः पतयः स्याम ) हम गित्य—अपने धन के स्वामी होंगे ( पिउपरयेत्र धनस्य ) जैसे पिता के धन के होते हैं । शेष इत्यपत्यनाम शिष्यत्वे० ) शेष सन्तान का नाम है ( अपने ) परमात्मन् ! ( अन्यजातम् ) अन्य से उत्पन्न ( शेष १० ) सन्तान नहीं होती, इत्यादि ॥

तत्पर्यं यह है कि अन्य का धन यदि उस पर अपना ऋण न हो तो खेईमानी से न लेना चाहिये क्योंकि वह उस ने कमाया है, उसी का है। जैसे कि अन्योंने उत्पन्न की हुई सन्तान अन्योंने की ही होती है, अपनी नहीं, परन्तु अन्य शब्द से यहां उस का ग्रहण है जो विवाह वा नियोगादि का के विधिपूर्वक अपनाया नहीं गया। अन्यथा निज पति से शरीरमात्र के भेद से अन्य मांकोसे तो उस की उत्पत्ति सन्तान भी अपनी न होगी उस अन्य का अर्थ यहां कपरी है, जिस से विवाह नियोगादि कुछ नहीं हुआ। अब मन्त्रार्थ सुनिये—

( अरण्यस्य ) जिस पर अपना चाहिये नहीं उस का ( रेखणः ) धन ( परिषदां हि ) त्याज्य ही है, पाक्ष्य नहीं। ( नित्यस्य राघः पतयः स्वाम ) हम सदा अपने धन के स्वामी हों ( अग्ने ) हे परमेश्वर ! ( अन्यजातम् ) अन्योंने से उत्पन्न ( शेषः न अस्ति ) समाप्त नहीं है। ( अचेतानस्य ) प्रमादी के ( पथः ) मार्गों को ( ना विदुः ) न पढ़ें ॥

अर्थात् यह प्रमादी लोगों का मार्ग है कि जिस पर अपना धनादि न चाहिये उस से मांगना वा झूठी तालिश करना वा अन्योंने की सन्तान पर अपनी होने का दावा करना। इस से विवाहित वा नियुक्ति को अन्य नहीं जान सकते, वह विधिपूर्वक अपना बगाया जाता है। जैसे कि गोद लेने में अन्य का सन्तान अपना बगाया जाता है और उस के जनक की उस में सम्मति होती है वा विवाह में अन्योंने के सन्तान सम्बन्धी बन जाते हैं ॥

६० ति० भा० पृ० १२८-१२९ में ( नहि यभाय० ) यह दूसरा मन्त्र भी निरुक्तसहित पूर्वोक्त पक्ष ही के सिद्ध करने में लिखा है ॥

प्रत्युत्तर धन्य है। निरुक्त को समझने वाले हों तो ऐसे हों जैसे आप हैं मन्त्र भी निरुक्त का अर्थ यह है—

नहि ग्राभ्यपारणः सुशेवोन्योदयो मन्त्रा मन्त्रवा उ ।

अर्थां चिदोक्तः पुनारस्त एत्या वाज्यभीषाळितु नव्यः ॥

( ऋग्वेद )

नहि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमौप्यन्योदयो मन्त्राऽपि न मन्त्रव्यो ममायं पुत्र इत्यथ स ओक्तः पुनरेव तदति यत्

आगतो भवत्येक इति निवासनामोच्यते । ऐतु नो वात्री  
वेजनवानभिषहमाणः सपत्नान्नवजातः स एव पुत्र इति ॥

( सुसुखतमोऽपि अरण्यः ) भले प्रकार सुखदायक भी पराया धन ( गृहि  
पक्षीतव्यः ) नहीं लेना चाहिये । और ( अण्योदर्यः ) जो अन्य के पेट से  
सत्पन्न हुआ है उसे ( मनसाऽपि न मन्तव्यः ) मन से भी नहीं मानना कि  
( ममायं पुत्र इति ) यह मेरा पुत्र है । क्योंकि ( अथ नः भोक्तुः पुनरेव  
तदेति ) फिर यह उसी घर को चला जाता है ( यत्र गगता भवति ) जहाँ  
से कि आया है । ( भोक्तु इति निवासनामोच्यते ) भोक्तृ नाम घर वर है ।  
इस लिये ( वात्री वेजनवान् ) बलवान् ( सपत्नान् अभिषहमाणः ) शत्रुओं  
को दबाने वाला ( नवजातः ) नया सत्पन्न ( नः ऐतु इति प्राप्त हो ( स एव  
पुत्र इति ) वही पुत्र है ॥

इस से यह परया जाता है कि कोई भी मन से भी अन्य के पेट से  
सत्पन्न पुत्र को अपनी पुत्र न माने, किन्तु जहाँतक होमके विवाह वा नि-  
योग से अपनी कुत्ति से पुत्रोत्पादन करके उसे पुत्र माने । इस में विवाह  
नियोगादि का कुछ विधिसंबंध नहीं केवल सन्तान का अभिलाष और  
अर्थों के धन सन्तान को न छीनना मात्र परया जाता है ॥

५० ति० भा० पृ० १३१ पं० १२ से—( इमां स्वमिन्द्रा ) इस मन्त्र का अर्थ  
यह किया है कि—

ये इन्द्र परमेश्वर्ययुक्त देव ( मीद्वः ) सर्वसुखकारीपदार्थों की सृष्टि करने  
वाले इस स्त्री को भी पुत्रवती धनवती करो, और दश इस में पुत्रों को  
धारण करो, ताव यह है कि दशपुत्र पैदा करने के नष्ट हो इस स्त्री में स्थित  
करो, और उपारहवां पति को करो अर्थात् जीवितपुत्र और जीवितपति  
इस को करो, यह इसका अर्थ है जो स्वामी जी ने कुछ का कुछ लिख दिया  
है और यह स्वामी जी ने न सोचा कि यदि एकादशपति पर्यन्त नियोग क-  
रने की ईश्वर की आज्ञा है, तो ईश्वर तो सत्यसंकल्प है तब तो सब स्त्रियों  
को दश २ पुत्र से कमनी होने ही नहीं चाहियें, यदि दश २ से कमनी होंगे भी  
परमेश्वर का संकल्प निष्फल होगा, इस में स्वामी जी का किया अर्थ अशुद्ध है

प्रत्युत्तर—आह्पूर्वक धा धातु का अर्थ भाधान करना होता है जो विशेष-  
कर गन्तोधान में कड़ है । इनलिये ( आधेहि ) का अर्थ इन्द्रदेवता से प्रार्थना



में ठीक नहीं घटता, क्योंकि इन्द्रदेव जाकर आधाग थोड़ा ही करेगा। इस का ठीक अर्थ यही है कि—

( इन्द्र ) हे भीमाश्वत्थामा । ( सीतुवः ) वीर्यमेवक पुरुष ! ( स्वम् ) तू ( इगाम् ) इस स्त्री को ( सुपुत्राम् ) सुन्दर पुत्रवती ( सुभगाम् ) और भीमाश्वत्थामा ( कष्टु ) कर ( अस्याम् ) इन स्त्री में ( दश पुत्राम् ) दश पुत्रों का ( आधेहि ) आधाग कर ( अय स्त्री से कहते हैं कि ) ( एकादशं पतिं कथि ) ११ वां पति कर ॥

आप को यह शङ्का करते हैं कि परमेश्वर की आज्ञा होनी तो सत्य ही होती और किसी के १० से कम पुत्र वा ११ से कम पति न होते। सो क्या यह नियम है कि जो २ परमेश्वर की आज्ञा हैं ठीक वैसा ही मनुष्य करें। यदि ऐसा होता तो परमेश्वर ने वेदद्वारा समस्त कुकर्मा का निषेध और सुकर्मा का विधान किया है उस गारे मनुष्य सुकर्मा ही करते, कुकर्मा कोई न करना, पाप का नाम तक न होता (संगच्छध्यम्) इत्यादि परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार सब मनुष्य सदा संगति रखते, विरोध न करते, और सब परमेश्वर की आज्ञानुकूल रहते तो कोई दुःख भी न भोगता, सब सुखी होते। इन लिये आप का तर्क व्यर्थ है। और यही बात है तो आप के मत में भी नियोग न सही, विवाह ही सही तो भी दश पुत्रों की प्रार्थना तो वेद में है और वेदोक्तप्रार्थना पूरीही होती हैं तो सब के दश १ पुत्र होने चाहिये तब ११ वां पति हो। और यदि पुत्र दो ही हों तो पति तीसरा रहे, ४ हों तो पति पांचवां रहे। ८ पुत्र हों तो ९ वां रहेगा। आप की कल्पना का ठिकाना न लगेगा। इस लिये यही ठीक है कि यह मन्त्र विवाह समय का है और विवाहित स्त्री पुरुषों के परमेश्वर की आज्ञानुसार दश से अधिक सन्तानों का आधान न करना चाहिये। और स्त्री का पुरुष के मृत्यु आदि अकस्मात् कारण उपस्थित हों तो पुरुष वा स्त्री को ११ से अधिक पुत्र नियोग न करने चाहिये। दूसरे पतिविधान में सीते के मन्त्र भी विवाहकीय हैं:—

या पूर्वं पतिं विस्वाऽथाऽन्यं विन्दते परम् ॥ अथर्व १।५।२७ तथा—  
समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः ॥ २८ ॥ तथा—  
उत यत्पतयो वर्शं सिन्धुयाः । अथर्व ५ । १७ । ८ ॥

क्या इन मन्त्रों में भी दूसरे पति का वर्णन, द्वितीय पति की मलोत्ता और १० पतियों के विधान को खेंचातानी में डाल सकियेगा ? और ११ वां पति दोनों प्रकार से गिना जा सकता है । अर्थात् १० पुत्र, ११ वां पति, या १० पतियों के पीछे ११ वां पति । और स्वामी जी ने दोनों बर्ण किये हैं, एक नहीं । क्योंकि दोनों बर्ण समस्त और अन्यत्रनिधान किये मन्त्रान और नियोग की सर्वादा नियत करने से उपकारक भी हैं ॥

१० ति० मा० पृ० १३४ पं० २२-अग्रिम बोलने वाली स्त्री हो तो उसी समय दूसरा विवाह करे ॥

प्रत्युत्तर-यहां तो आप भी स्वामी जी की शिक्षा गानने लगे । भला अधिवेष्टा का बर्ण दूसरा विवाह ही किस प्रकार हुआ । क्या नियोग से अधिवेष्टा नहीं हो सकती ?

१० ति० मा० पृ० १३४ में-( कुहस्विदोवा० ) मन्त्र लिखकर पृ० १३६ में अश्विनीकुमार देवताविषयक बर्ण करते हैं कि-

भाषार्थ:-हे अश्विनी तुम दोनों रात्रि में कहां थे और ( वस्तुः ) नान दिन में कहां थे जिस से न रात्रि में न दिन में तुम्हारा दर्शन हमें मिला स्वाम भोजनवादि की प्राप्ति कहां की कहां नियम करा मर्षया तुम्हारी आगमन प्रवृत्ति नहीं जानी जाती (को वां शुयुत्रा विधवा इव देवम्) भयान में देवर को विधवावत् कीम यज्ञमान तुम को परिचरण करता हुआ क्योंकि परकीय पति होने से दुराराध्य देवर को सुतभर्तृका पक्ष में आराधन करती है ( इस कर्म को निश्चित जान छिप कर छोड़े यज्ञ में उस में मिलती है ) तद्वत् तुम को किम यज्ञमान में आराधन करा, यथा एकालस्थान में सुत-भर्तृकागारी मन्त्र को अपने शरीर के साथ सम्बन्ध कर परिचरण करती है तद्वत् तुम्हारी किस ने सेवा की जो हमें दर्शन नहीं प्राप्त हुवे हम मन्त्र में अल्प देवर कर महान्त अश्विनीकुमार उपमेय होते हैं और विधवा शब्द से यज्ञमान उपमेय होता है । इस स्थान में ( सहि परकीयत्वात् नास्की दुराराध्यतरो भवति ) जब कि देवर को परकीयत्व कहा तो दूसरी का पतित्व हो गया, स्वामीजी स्त्री रक्षित का नियोग मानते हैं तो इस मन्त्र में नियोग का कुछ भी आशय नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत सुतभर्तृका का देवर के पास जाना भी शङ्कायुक्त इस दृष्टान्त से विदित होता है, आप के नियोग में मिःशङ्क आशा है उस पुत्र को जिस को स्त्री त हो वोह बात इस मन्त्र से

तत्त्व भी नहीं प्रतीत होती यह मन्त्र प्रातःकाल अग्निनीकुमारे की स्तुति का है, और ( देवरः कस्मात् ) इस के अर्थ भी गहवड़ लिखे हैं और यह निरुक्तकार का वाक्य भी नहीं है निरुक्तग्रन्थ के खापने वालों ने लिखा है कि यह वाक्य प्राचीन तीन पुस्तकों में नहीं है इसी कारण इस को उन्होंने कोष्ठ में बन्द कर दिया है, और दुर्गाचार्य ने इस पर भाष्य भी नहीं किया इस से यह खेपक है। वास्क भी न इस का अर्थ यों लिखा है कि देवरो दीव्य-तिकर्मा भाव्ये सहि भर्तुभ्रातागित्यनेव तथा आत्माचार्यया देवनाथं त्रिवन् इति देवर इत्युच्यते यह इस का अर्थ है कि भाई की स्त्री की शुश्रूषा करने से इस का नाम देवर है यदि वह पाठवास्कमुनिरुक्त होता तो पुनः देवर शब्द का क्यों अर्थ करते इससे कोई प्रक्षिप्त ही है नारे ग्रन्थों में स्वामीजी को प्रक्षिप्तता सूझी, और यहां लिखी हुई भी न सूझी, और फिर इस वाक्य में तो प्रश्न है कि देवर को दूसरा घर क्यों कहते हैं, इस का उत्तर नहीं लिखा, और प्रक्षिप्त भी नहीं मही इसे मान भी लें तो भी स्वामी जी का अर्थ नहीं बन सकता, मनुजी ने इस का अर्थ लिखा है ( यस्या चिये ) शोक यह आगे लिखेंगे, अर्थ यह है कि वारान के उपरान्त जिस कन्या का पति मर जाय उसे देवर अर्थात् उस के छोटे भाई से डयाह दे। इसी कारण देवर को दूसरा घर कहते हैं परन्तु नियोग यहां भी मिट्ट नहीं होता, और ( विधावनात् ) मर्ता के जाने से स्त्री रोकी जाती है, कहीं जाने जाने नहीं पाती इस कारण इसे विधवा कहते हैं, स्वामी जी उसे ऐसा स्वतन्त्र करते हैं कि कुछ भूमिसे जल, आप को बता ही चुके हैं आप ने सब ही जातवालों को देवर बना दिया, जो नियोग करे छोड़ देवर ॥

प्रत्युत्तर—अब इस में ( विधवा शयना देवरश्च सधस्ये आकण्ठते ) " विधवा शयनस्थान में देवर को महुवास में झुलाती है " यह स्पष्ट लिखा है । और आप भी इन पदों का अन्य अर्थ नहीं करते। और निरुक्तकार इसी मन्त्र के निरुक्त में लिखते हैं कि देवरः कस्मात् उच्यते) देवरसंज्ञा किस कारण कही है कि ( द्वितीयी वरः ) दूसरा या देवर कहाता है अर्थात् मृतपति का छोटा भाई ही देवर कहाते भी नहीं, किन्तु जो द्वितीय वर ही। और अग्निनी पद से चाहे आप स्त्री पुद्गलों का अर्थ न लें, देवतों का अर्थ उसे रहें तथापि ( विषयेव देवरं ) इत्यादि उत्तरार्द्ध स्पष्ट है। और चापकाचार्य भी तो इसका यही अर्थ करते हैं। इसी से आप ने अगळे ( उ० १६३ ) मन्त्र

का ती सायण भाष्य लिखा, परन्तु इसका नहीं लिखा। और गिरुक्त में (देवरः कस्मा०) पाठ को आप प्रसिद्ध मानते हैं। स्वामी भी जब कभी किसी आर्ष ग्रन्थ में कुछ प्रसिद्ध बताते हैं तो आप गालिब कहने लगते हैं और (देवरः कस्मा०) यह गिरुक्त का पाठ ती सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में उद्धृत किया है और प्रसिद्ध नहीं माना। सायणाचार्य के समय में जो गिरुक्त था उस में यह पाठ न होता तो वे उद्धृत न करते और किसी पुस्तक में होता किसी में न होता तो वे प्रसिद्ध बताते या कुछ लिखते। देवराज यजुषा के भाष्य में कुछ नती पदों की व्याख्या नहीं होती। तीन पुस्तकों में पाठ न होगा, शतः शः पुस्तकों में प्राचीन पाठ होते हुए कुछ प्रमाण नहीं ॥ विधवा पद का गिरुक्त यह है—

विधवा विधातृका भवति ॥ विधवानाद्वा विधावनाद्वेति ।  
धर्मशिरा अपि वा । धव इति मनुष्य नाम तद्वियोगद्वा  
विधवा ॥ निरु० ३ ॥ १५ ॥

(विधातृका) जिसका धाता शरण पोषण करने वाला न हो अर्थात् जीवता भी हो, पर संन्यासी होगया हूँ, जमाख्य रोगी वा धर्मश्रद्धा होगया हो वा जिन का कर्मज चेष्टा पतिव्रतत्वादि रुक गया हो। वा जिसने शिर मुँहाया हुआ हो। वा धव पुरुष का नाम है, जिसका पुरुष न हो वह विधवा हम मन्त्र में वर्णित है। वही देवर द्वितीय वर को शयनस्थान में बुलाती, यह हम मन्त्र का साथ आप के छेड़ और सायणभाष्य तथा अन्य किसी प्रकार से भी दूर नहीं होता ॥

मनुस्मृति (पाणिग्रन्थिका मन्त्राः०) ८। १२६ पर कुल्लूकभट्ट टीकाकार ने लिखा है कि—

न तु क्षतयोर्नैर्वैवाहिकमन्त्रहोमादि निषेधकमिदम्—  
“या गर्भिणी संस्क्रियते” तथा “वोढुः कन्यासमुद्भवम्”  
इति मनुनैव क्षतयोर्नैरपि विवाहसंस्कारस्य वक्ष्यमाण-  
त्वात्। देवलेन तु “गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः  
कर्त्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः” इति

अर्थात् यह वचन क्षत्रियों के विवाह मन्त्र होनादि का निषेधक नहीं है । क्योंकि मनु ने स्वयं ( यागभंगः ) और [ कोटः कन्याः० ] भागे क्षत्रियों का भी विवाहमन्त्रकार कहा है । और देवल ने तो “ गार्ग्यस्य विव ह्येते पुनर्विवाह की विधि । वर्षी को जग्नि की साक्षी से करनी कही है ॥

इस से कुल्लूक के मत में तो मनु देवल आदि के अनुसार मन्त्र प्रथम रहनाय कि विवाह करलेगा भी वर्जित नहीं । क्षत्रियों का भी विवाह विहित है ॥

नियोग की अधिक विधि देखनी हो ती हगारे प्रकाशित “ नियोग-निर्णय” में देखिये, परन्तु छोड़ा जा यहां भी लिखते हैं-

यथा भूमिस्तथा नारी तस्मात्तां न तु दूषयेत् ।

पाराशरी स्मृति अध्याय ॥ १० ॥ श्लोक २५ ॥

किसी पृथिवी वैसे नारी इस कारण इसे दोष न धरें ॥ ( जिस राजा का राज्य उसी की स्त्री पृथिवी होजाती है ) और अध्याय ७ श्लोक ४ में

“रजसा शुध्यते नारी विकलं या न गच्छति”

नारी रजस्वला होने पर शुद्ध होजाती है ॥ भागे अ० ११ में श्लोक २४ । २५

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां समुत्पन्नस्तु यः सुतः ॥

स गोपाल इति ख्यातो भोज्यो विप्रैर्न संशयः २४ इत्यादि

अर्थात् क्षत्रिय से शूद्र की कन्या में उत्पन्न उत्तम गोपाल कहाती और निःस्पृह ब्राह्मणों के सहभोज्य की अधिकारी है ॥

पाराशर को सभी सनातन धर्मों कलियुग में महामान्य मानते हैं । किन्ना कि सभी के अध्याय १ में:-

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतयां गीतमाः स्मृताः ।

द्वापरे शङ्ख लिखिताः कली पाराशराः स्मृताः ॥ २५ ॥

चतुर्थयुग में मनुस्मृति के धर्म, त्रेता में गीतम स्मृति के, द्वापर में शङ्ख-लिखित स्मृति और कलियुग में पाराशरस्मृति के धर्म मान्य हैं ॥

अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च ठयाधितस्य च ।

न स्त्री दुष्यति जारेण ब्राह्मणो वेदकर्मणा ॥ १८६ ॥

नापोमूत्रपुरीषाभ्यां नाग्निदंहति कर्मणा ॥  
 पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्वब्राह्मभिः ॥ १८० ॥  
 भुञ्जते मानवाः पश्चान्न तादुष्यन्ति कर्हन्वित् ।  
 असवर्णस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते ॥ १८१ ॥  
 अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद्गर्भं न मुञ्चति ।  
 विमुक्ते तु ततः शल्ये रजश्चापि प्रदृश्यते ॥ १८२ ॥  
 तदा सा शुच्यते नारी विमलं काञ्चनं यथा ।

फिर—

प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां यद्रजो भवेत् ॥ १८६ ॥

न तेन तद्व्रतं तासां विनश्यति कदाचन ॥

अर्थ रोगी पुष्ट और स्त्रियों की शुद्धी मीनांसा के योग्य नहीं । स्त्री  
 जारकर्म से दूषित नहीं होती, ब्राह्मण वेदकर्म से ॥ १८८ ॥ जल विष्ट मूत्र  
 से, अग्नि दाहकर्म से अशुद्ध नहीं होता । प्रथम स्त्रियां सोम, गन्धर्व, अग्नि  
 देवों ने भोगी हैं पीछे मनुष्य भोगते हैं इस लिये यह दूषित नहीं होती  
 ॥ १८० ॥ असवर्ण का गर्भ स्त्रियों की योनि में जाने से जब तक गर्भ न छोड़े  
 तब तक यह नारी अशुद्ध रहती है । गर्भ निकलने पर जब रजस्वला हो  
 जाये—॥ १८२ ॥ तब तब से सोने के समान शुद्ध हो जाती है । बड़ी भारी तपस्या  
 का फल है कि जो स्त्रियों के रज होता है । इस से इन का व्रतभङ्ग नहीं  
 होता ॥ १८६ ॥ जब स्त्री अशुद्ध होकर भी प्रतिमास शुद्ध हो जाती है तो  
 फिर वह कैसे पणित हो सकती है ?

परन्तु हमारे मत में यह लेख नहीं माने हैं । हां, मनु जी की आज्ञा  
 ती शिरोधार्य ही है । क्योंकि—

यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्वेषजं भेषजतायाः ॥

जो कुछ मनु ने कहा है वह भेषज का भेषज है । मनु जी कहते हैं कि—  
 सा चेदक्षतयोनिः स्यादुगतप्रत्यागतापि वा ।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमहन्ति ॥

( मनु ८ । १३६ )

जो स्त्री अक्षतयोनि है वह चाहे पति के घर गई जाई भी हो, वह पौनर्भव भर्ता के साथ फिर संस्कार के योग्य है ॥

नारद स्मृति का मिश्रित " अक्षता भूयः संस्कृता पुनर्भूः" अक्षतयोनि स्त्री का यदि पुनर्वार संस्कार हो तो उसे पुनर्भूकहते हैं ॥

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि:-

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः ॥

अक्षतयोनि हो चाहे क्षतयोनि हो, फिर विवाह होने से स्त्री पुनर्भू कहती है ॥

बसिष्ठ जी कहते हैं कि:-

या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारिमुत्सृज्यान्यपतिं  
विन्दते मृतेवा सा पुनर्भूर्भवति ॥

जो स्त्री गुरुंभक, पतित ( जातिबाध या धर्मपतित ), या पागल पति को त्याग अथवा मरे पति पीछे अन्य पति को करे, वह पुनर्भूकहती है ॥

नारद जी कहते हैं कि:-

उद्धाहितापि सा कन्या न चेतसंप्राप्तमैधुना ।

पुनः संस्कारमर्हति यथा कन्या तथैव सा ॥

विवाही हुई भी कन्या यदि सैधुन को प्राप्त नहीं हुई है तो वह फिर विवाह संस्कार के योग्य है, जैसी कन्या वैसी ही वह है ॥

कात्यायन कहते हैं कि:-

वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषी यदा ।

ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम् ॥

अर्थ-जो कोई पुरुष कन्या से विवाह करके मर हो जाय, तो कन्या आगे वाले तीन ऋतुओं के पश्चात् अन्य वर को वर ले ॥

कात्यायन स्मृतिकार कहते हैं:-

वरो यद्वान्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।

विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥

ऊढापि देया सान्यस्मै सहाभरणभूषिता ।

अर्थात्- यदि घर अन्य जाति का हो, पतित हो, नपुंसक हो, कुकर्मी हो, सगोत्री हो, दाम हो, महारोगी हो, ती विवाही हुई भी यज्ञ भूषण सहित पुत्री अन्य घर को देदेवे ॥

यद्यपि हम इन पुराणप्राय स्मृतिर्थों के व्यभिचारसिद्धान्त को नहीं मानते परन्तु आप को दर्पण दिखाने के लिये ऊपर के वचन लिख दिये हैं ॥

४० ति० भा० पृ० १३७ । १३८ में ( उदीर्घं ना० ) इस मन्त्र के अर्थ में स्थायण की देखा देखी गड़बड़ी की है ।

प्रत्युत्तर-महात्मा जी । मन्त्र का सूधा अक्षरार्थ यह है कि ( गारी ) 'हे गारी ! ( एतं गतासुम् उपशेषे ) तू इस स्रुतक के समीप सोती है [पत्नि] वा ( जीवस्रोतम् अग्नि ) जीवती दुनिया में ( तव हस्तग्रामस्य दिधिषोः पत्युः ) तेरा हाथ पकड़ने वाले दूसरे पति की ( जनित्वम् अग्नि संवभूय ) स्त्री होने को गियम स्वीकार कर ॥

यदि आप स्वामी जी का किया अर्थ न भी माने तो अपने अमरकोष में ही दिधिषु पद का अर्थ देख लें 'दिधिषोः' पद इस मन्त्र में स्पष्ट आया है ॥

अमरकोष द्वितीयकाण्ड अनुष्यवर्ग श्लोक २३-

पुनर्भूदिधिषूरूढा द्विस्तथा दिधिषुः पतिः ॥

और इसी का महेश्वरकृत अमरविवेक टीका देखिये-

'पुनर्भूः दिधिषूः दिधिषुरित्यपि द्वे । पूर्वमेकस्य भूत्वा पुनरन्यस्य भवतीति पुनर्भूः "अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः" इत्युक्तम् । तस्याद्विरूढायाः पतिर्दिधिषुरित्युच्यते एकम् ॥

अर्थात्-पुनर्भू और दिधिषु ये दो नाम उस स्रुतयोनि वा अक्षतयोनि स्त्री के हैं जो एक की स्त्री होकर फिर दूसरे की हो । और "दिधिषु" यह उस पुत्र का एक नाम है जो द्वितीयवार विवाही हुई स्त्री का दूसरा पति है ॥

४० ति० भा० पृ० १३८ । १३८ में ( अदेवृत्त्यपत्तिग्री० ) इस अण्वर्थ १४ । २ । १८ मन्त्र का अपनी ओर से अर्थ करके स्वामी जी को कहा है कि उन्होंने जो विवाह के मन्त्र को नियोग में लगा दिया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-अन्य पदों के अर्थ में बहुत विवाद नहीं है । आप का और



स्वामी जी का लिखा अर्थ देखने से एक पद के अर्थ में भगड़ा है, वह यह है कि स्वामी जी ( देवकामा ) का अर्थ देवर की कामना करने वाली लिखते हैं और आप "देवर के होने की प्रार्थना करने वाली वा भगवन्दा चाहने वाली" लिखते हैं। सो यदि ( देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ) गिरुक्तानुसार देवर पद का अर्थ लें तो आप के लिखे अर्थ से भी नियोग वा पुनर्विवाह दूर नहीं होता। और स्वामी जी ने "कसु कान्ती" धातु का का योगिक अर्थ कामना ( इच्छा ) लिया सो ही है भी ठीक। विवाह के मन्त्र को नियोग में लगाना उस दशा में बुरा नहीं है जब कि मूलमन्त्र में द्वितीय वर का भी वर्णन हो। क्योंकि नियोग भी तो एक प्रकार से विवाह है। और सन्तानोत्पत्ति रूप प्रयोजन उस का भी विवाह के सदृश है। और मनु ने स्पष्ट कहा है कि-

देवराट्वा सपिण्डाट्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।

प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ६ । ५६

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथं चन ॥ ६ । ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।

अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६ । ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थं निर्वृत्ते तु यथाविधि ।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तयातां परस्परम् ॥ ६ । ६२ ॥

नियुक्ती यौ विधिं हित्वा वर्त्तयातां परस्परम् ।

तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६ । ६३ ॥

अर्थात् देवर वा सपिण्ड से नियोग करके स्त्री को मन्त्र बाही सन्तान उत्पन्न कर लेनी, जब कि कुलसंय होता हो ॥५६॥ जो पुरुष विधवा से नियोग करे वह रात्रि में मौन धारण कर, शरीर पर घृत मलके ( जिस से कामासक्ति न हो) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा किसी प्रकार नहीं ॥६०॥ कोई आचार्य यम के जानने वाले स्त्रियों में नियोग के लिये दूसरा प्रजन मानते हैं ॥६१॥ विधवा से नियोग करने में विधिपूर्वक ( वीर्यदान ) का काम निन्दने पर

फिर वे स्त्री पुरुष आपस में गुण और पुत्रवधू के सहूग रहें । ( कामभोगार्थे क्रीडा न करें ) ॥ ६२ ॥ और जो स्त्री पुरुष नियोग की विधि का उल्लङ्घन करके आपस में व्यवहार करें वे दोनों पुत्रवधूसमागमी और गुरुगामिनी के तुल्य पतित हों, अर्थात् सन्तानमोत्पत्ति के अतिरिक्त कामक्रीडा सर्वथा अर्जित है ॥ ६३ ॥

जात यह है कि त्रिप्त प्रकार वेद को छोड़ अन्य सब पुस्तक स्मृतकप्रामाद से खाली नहीं हैं इसी प्रकार वेद और प्राचीन नवीन स्मृति, पुराण उप पुराण आदि कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ नियोग से रहित नहीं है । इस विषय में सब ओर से आप का पल्ला ही चपड़ेगा । आप यह न समझें कि इसका लोक में इस समय प्रचार न होने और इसकी सज्जा की बात मानने से आप सर्वदा नियोग को ही सागने रखकर जीत जायेंगे । जितना ही भागकल इसकी सज्जा का वर्णन करेंगे उतना ही पूर्वकाल में आप के पुराणों तक से इसकी निर्लज्जता का वर्णन दिखाया जा सकेगा । परन्तु हम वा स्वामी श्री पुराणों के समान उपनिषद्प्राय नियोगों के समर्थक नहीं, किन्तु वेदोक्त शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक नियोग के समर्थक हैं । श्वशुरादि को सुख देना और खात है, और देवर की कामना करना और खात है । इस में भेद है ॥ ६० ति० भा० पृ० १४० में—

यस्या श्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ मनु० ६।६६॥

इसका अर्थ सगाई कीहुँ है के पति मरनेपर देवरसे विवाह करना बताते हैं ॥

प्रत्युत्तर—( वाचा सत्ये कृते ) का अर्थ सगाई नहीं हो सकता । किसी ग्रन्थमूल में सगाई ( वाग्दान ) का संस्कार विवाह से पृथक् नहीं लिखा । न कोई सगाई संस्कार की पद्धति जानत न बनी है । ये सगाई और द्विरागमन ती वाणविवाह की कुरीति के बच्चे हैं, वा पिछलगू हैं । शास्त्रोक्त नहीं हैं । ( वाचा सत्ये कृते ) का अर्थ परस्पर विवाह के मन्त्रों में लिखी प्रतिष्ठा ही है । यदि आप नहीं जानते तो इस से पूर्व का श्लोक अनुवृत्ति के लिये देख लीजिये जिसे आप जानते हैं । यथा—

ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकं स्त्रियम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः मनु० ६।६८॥

अयं- (ततः प्रभृति) वेन राजा के अत्याचार के पश्चात् (यः) जो कोई ( मोहात् ) मोहवश ( प्रसीतपतिकं मित्रयश्च ) मित्रया स्त्री का ( जन्मपर्यन्तम् ) सन्तानार्थं ( नियोजयति ) नियोग करता है ( संभाव्यः विगृह्णन्ति ) उस की भले लोग निन्दा करते हैं ॥

इस से जाना जाता है कि राजा वेन जो स्वायम्भुव मनु से बहुत काल पीछे हुआ, उस ने वेदोक्त नियोग की जाह में निर्मयीता करी, तब किसी ने नियोगनिन्दा के श्लोक बनाये और तभी से नियोग की भले लोग निन्दा करने लगे । इससे पूर्व निन्दा न थी और आप के मतानुसार भी यह नियोग ही का प्रकरण है । सगाई का नहीं ॥

सोमः प्रथमो सोमोददद्दृ० इत्यादि दो मन्त्रों की इन आप के समान विवाह के ही मानलें, नियोग में न मानें, तब भी क्या शेष मन्त्रों और अंगणित प्रमाणों से सिद्ध नियोग की आप अवसाध कर सकते हैं ?

६० ति भा० पृ० १४२ में देवराट्ठा सपिण्डाट्ठा० इत्यादि मनु के श्लोक लिख कर कहा है कि देखो मनु से भी ११ नियोग नहीं सिद्ध होते । परन्तु हां, नियोग है ॥

प्रत्युत्तर-अस्तु, आप ने मनुश्रुत नियोग स्वीकार तो किया । अब रहा ११ का विवाद, सो स्वामीजी ने ( पतिमेकादशं कथि ) से और इन ने ( सत यत्पतयो दश स्त्रियाः ) से पूर्व १० वा ११ तक की मर्यादा निष्ठ की है । आप ने नियोग माना और उस की मर्यादा न मानी तो आप के मत में ११ से अधिक तक भी वे प्रमाण नियोग हो सकेंगे ॥

६० ति० भा० पृ० १४३ में मनुस्मृति अध्याय ९ के श्लोक ६४ से ६८ तक ५ श्लोक लिख कर यह निष्ठ किया है कि मनु जी ने प्रथम नियोग का विधान करके फिर अपनी सम्मति प्रकाशित की है कि यह पशु धर्म राजा वेन ने चलाया है । इस से मनुजी इसको अच्छा नहीं मानते । यह भाव्य है ॥

प्रत्युत्तर- यद्यपि ये श्लोक मनुजी के बनाये नहीं क्योंकि मनु (स्वायम्भुव) सृष्टि के भारद्वाज में हुए और वेन राजा बहू वर, जिस से हुए हुआ, ती पृथुके वैवस्वत मन्वन्तरगत जन्म को स्वायम्भुव मनु यह कैसे कह नहि हैं कि भूतकाल में राजा वेन के राज्य से यह रीति नियोग की चल गई ॥ इस लिये निश्चय यह श्लोक प्रामाण्य हैं । परन्तु इन से भी नियोग की जुराई नहीं निकलती, किन्तु यह भाव्य निकलता है कि राजा वेन ने नियोग

की वशांनुसार परिपाटी तौड़ कर वर्णमंकर कर दिया, तब से नियोग निन्दित समझा जाने लगा। अर्थाँ सहित श्लोक भी सुन लीजिये—

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

अन्यस्मिन्ह नियुज्याना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६।६४॥

( द्विजातिभिः ) द्विजों ने ( विधवा नारी ) द्विज विधवा स्त्री ( अन्य-स्मिन् ) द्विजों से अन्यमें ( न नियोक्तव्या ) नहीं नियोजित करगी । ( अन्य-स्मिन् नियुज्याना हि ) क्योंकि द्विज स्त्री अपने स्वर्ण से अन्य किसी में नियोग की हुई ( सनातन धर्म हन्युः ) सनातन धर्म का नाश करती हैं ।

इस में नियोग का निषेध नहीं, किन्तु द्विज स्त्री, द्विजशिल्प से नियोग न करे। यह आशय है ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्यते क्वचित् ।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६।६५॥

विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा, न विवाह की विधि में विधवा-विवाह का विधान है ॥ ६५ ॥

इस का भी यह तात्पर्य है कि विवाह और नियोग भिन्न हैं, एक नहीं हैं, क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है ( किन्तु विवाह से भिन्न प्रकार के मन्त्रों में नियोग कहा हो तो उसका निषेध यह वाक्य नहीं करता ) विधवा का पुनर्विवाह नहीं होता। इस कहने का तात्पर्य भी स्वामी जी की उम सम्मति के विरुद्ध नहीं, जहाँ उन्होंने द्विजों को पुनर्विवाह का निषेध किया है। अर्थात् द्विजों के ही साथ नियोग हो, अन्य के साथ नहीं, और द्विजों का द्विजों में भी पुनर्विवाह न हो, यह दोनों श्लोकों का तात्पर्य है ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६।६६॥

( वेने राज्यं प्रशासति ) जब वेन राज्य करता या तब आकर के ( वि-द्वद्भिः द्विजैः ) विद्वान् द्विजों ने ( प्रोक्तः ) कहा कि ( अयं पशुधर्मः हि ) यह पशुधर्मों का ही धर्म है । ( अपि ) निश्चय करके ( मनुष्याणां विगर्हितः ) मनुष्यों में निन्दित है ॥ ६६ ॥

अर्थात् द्विजों का द्विजों में नियोग चला जाता था, परन्तु राजा वेन के राज्य में आरम्भ करके यह द्विजों में निन्दित और पशुधर्म गिना जाने लगा। अगले श्रोत में इन का कारण भी बताया है कि वेन के राज्य से इस कर्म की क्यों निन्दा होने लगी ॥ यथा—

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।

वर्णानां सङ्करं चक्र कामोपहतचेतसः ॥ ६ । ६७ ॥

वह सारी पृथिवी को भोगता था, राजों में बढ़ा था, उस ने काम से खुद्वि नष्ट होने से वर्णों का संकर ( वर्णसंकरता ) कर दिया ॥ ६७ ॥

अर्थात्—उस ने सनातनद्विजों की सयोदापूर्वक नियोग की तोड़ बनाप बनाप सब का सब से नियोग कराया, वर्णसंकरता फैला दी। तब—

ततःप्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६ । ६८ ॥

( ततः प्रभृति ) तब से लेकर ( यः मोहात् ) जो कोई मोह से ( प्रमीत-पतिकां ) जिन का पति मर गया उस ( स्त्रियम् ) स्त्री की ( अपत्यार्थम् ) सन्तानार्थ ( नियोजयति ) नियोग कराता है ( तं साधवः विगर्हन्ति ) उस को मले मानव बुरा कहते हैं ॥ ६८ ॥

इस अन्त के श्लोक से अत्यन्त स्पष्ट है कि राजा वेन के समय से नियोग नहीं चला, किन्तु सनातन से द्विजों का द्विजों में चला जाता था, जब से वेन राजा ने सब का सब से चला कर वर्णसंकरता कर दी, तब से यह निन्दित समझा जाने लगा। आप का अर्थ इन श्लोकों से किसी प्रकार नहीं निकलता कि वेन ने नियोग चलाया, पूर्व न था ॥

जब वेन राजा से गियोग निन्दा का प्रचार हुआ तो आप उस की निन्दा के प्रचारक होने से आप और आप के साथी ही राजा वेन के खेले वा गुरु, जो चाहो हों। स्वामी जी को वेन का दादा गुरु बताना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो वेन से पूर्वप्रचरित द्विजसर्पादायुक्त नियोगरीति के प्रचारक थे ॥

द० मि० भा० पृ० १४४-१४५ में ( अन्यमिच्छस्व सुगमे पतिं नत् ) इस वेदमन्त्र के विषय में लिखा है कि यदि स्वामी जी इस मन्त्र की पूरा लिखते तो कनई खुल जाती, बस सारा नियोग उड़ जाता ॥

प्रत्युत्तर—सारा मन्त्र लिखना आवश्यक न था, इस लिये स्वामी जी ने

चतुर्थपाद लिख दिया, परन्तु मारा मन्त्र लिखने से जो नियोग यह नहीं सकता और पाँची वेर को इस यही मान लें कि इस मन्त्र से नियोग नहीं निकलता, तब भी क्या स्वामी जी या हमारे दिये अन्य जनेक प्रमाणों के रहते और पुराणों में नियोगों की शतशः कथाओं के होते हुए कभी आप नियोग को उड़ा सकते हैं ? कभी नहीं । आप ने निरुक्त के साथ अन्य संस्कृत जोड़ कर अर्थ में गड़बड़ी कर दी । कृपया नीचे लिखा पूरा मन्त्र और उस का पूरा निरुक्त पढ़िये—

आ घ्रा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।  
पउंवृहिवि वृषभाय बाहु मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्

ऋ० १० । १० । १० अथर्व १८ । १ । ११ में भी ॥

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि, यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि । जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा समानजातीयस्य । वोपजन उपधेहि वृषभाय बाहु-मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति ठ्याख्यातम् ॥ निरु० ४।२०॥

अर्थ—“जावेंगे वे जगले समय, जिन में जामि करेंगी अजामियों के काम केलाव तू सेवन में समर्थ पुरुष के लिये बाहु को, सुभगे ! मेरे निवाव अन्य पति को चाह । जामि एक नाम है, मिश्रुद्धि वा समान जाति का” ॥

इस में संदेह नहीं कि इस सूक्त में यमयमी संवाद है और यह मन्त्र यम की ओर से यमी को उत्तर है । यमयमी क्या वस्तु हैं इस का विचार करना है । निघण्टु १ । ७ में यम्या नाम रात्रि का है । निघण्टु ५ । ५ में यमी पद नाम है । जिस का उदाहरण हमी सूक्त का ( अन्यसूक्तं यमयम्य उ त्वा० इत्यादि ) मन्त्र निरुक्त ११ । ३४ में दिया है । इस लिये यह सूक्त रात्रि दिन के संवाद से यह सिखाता है कि विषम स्त्री पुरुषों का संयोग नहीं हो सकता, दोनों का होना चाहिये । जिस प्रकार रात्रि तमोगुणयुक्त और दिन प्रकाशवान् है ये दोनों एक साथ नहीं होते यदि प्रातःमायं की सूर्या में रात्रि दिन से मिलने की आती है तो उस समय विषमत्वकपर रात्रि से मिलने की दिन असमर्थ होता है और पृथक् होता हुआ सामो कहना है कि तू अन्य वीर्यसेवन में समर्थ पुरुष को प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपना प्रकाश युक्त ( रात्रि ) में स्थापित नहीं कर सकता ।

अब इस दिनरात्रि के संवादरूप अलंकार से ननुष्यों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि जब कोई स्त्री बन्ध्यात्वादि दोषों से स्वयं सन्तानोत्पादन में अवलम्बे हो तो पुरुष को अनुज्ञा दे कि वह अन्य स्त्री द्वारा वंश चलावे और इसी प्रकार पुरुष जब सन्तानोत्पादन में असमर्थ हो तब स्त्री को अनुज्ञा देवे कि अन्य पुरुष से ज्ञातुदाग शास्त्रानुसार लेकर वंश चलावे यदि नमुष्य इस संवाद से स्वयं शिक्षा न लें तो फिर यह कहानी क्या वेद में क्या मन्त्रब्रह्मलाव को लिखी है ? और "आगे के समय में जानि भजानि का काम करेंगी" इस कथन के साथ निकलानुसार "सजातीय" अर्थ "जानि" पद से लेकर यह आशय निकलता है कि आगे विजातीय अर्थात् विद्वन्मनुष्यकर्म स्वभाव वाले स्त्री पुरुष भी योग चाहेंगे, परन्तु यह असंभव है । समानगुण कर्म स्वभाव वाले ही संयुक्त हो सकते हैं । इस लिये समर्पणमनर्थरूप विष-मता वाले स्त्री पुरुषों को चाहिये कि अन्य समयों से वंशानुक्रमको प्रचलितकरें ॥

स्वामी जी ने जो पति के विदेश गये पीछे नियोग की व्यवस्था ननु । अध्याय ८ श्लोक ७६ के अनुसार लिखी है, उस का खचहन करते हुये २० ति० भा० पृ० १४६ में उस से पिछले प्रकरण के ७४ । ७५ दो श्लोक लिखे हैं और कहा है कि—

[ जब कोई पुरुष परदेश को जाय तो प्रथम स्त्री के खान पान का प्रबन्ध करता जाय, क्योंकि बिना प्रबन्ध जुवा के कारण कुलीन स्त्री भी बूझदे पुरुष की इच्छा करेंगी ॥ ७४ ॥ खान पान करके विदेश जाने के अन्तर यह पुरुष की स्त्री निपस अर्थात् पतिव्रत से रहकर अपनी समय व्यतीत करे । और जब भोजन को न रहे वा पुरुष कुछ बन्दीबस्त न कर गया होय तो पति के परदेश जाने में शिष्टकर्म जो निन्दित न हों अर्थात् चून कालना हस्त से काढ़ना आदि कर्माँ से गुजारा करे ॥ ७५ ॥ यदि चौह धर्मकार्य को परदेश गया हो तो ८ वर्ष, विद्या पढ़ने गया हो तो ६ वर्ष, धन यश को गया हो तो ३ वर्ष तक बाँट देवे "पश्चात् पति के पास जहाँ हो वहाँ चली जावे" । यह वशिष्ठ जी कहते हैं ] ॥

प्रत्युत्तर—यह तो ठीक है कि विदेश जाये तो भोजनादि का प्रबन्ध करजावे । परन्तु यह ननु के किसी अक्षर का अर्थ नहीं कि "फिर स्त्री पति के पास चली जावे" क्योंकि यदि पति भोजनादि का प्रबन्ध भी न कर जावे और अपने रहने की सूचना भी न दे कि मैं कहाँ हूँ ? तब उस के पास

कहाँ-खलीज-में-? मनुस्मृति के श्लोकों का जर्ज करने में यस्मिन्सुति का वचन जोड़ कर जर्ज करना, अन्याय की बात है और कटुवादिनी स्त्री को तो छोड़ कर पुनव-दूबारा विवाह तत्काल कर लेवे, इसे तो भाप सागते हैं और कटुवादि-पुनव को छोड़ स्त्री भी दूसरे से निखोष करे, इन अन्याय-संगत बात को हमी की बातकात हैं। क्या जाप को सिद्धित नहीं है कि स्त्रियों की दुर्गति करने का स्वयं जब देवद्वार की कृपा और गवर्भमेंट के अताप से दूर गया।।

६० ति० भा० पृ० १४५ पं० २० में [अङ्गा०] यह अग्रमन्त्र का वचन नहीं।

प्रत्युत्तर-निबन्ध ३५ में-तदेतद्रक्षसोकाभ्यामुक्तम्-अर्थात् यह बात ज्ञाता और श्लोक-में कही है। इस से जागे (अङ्गादङ्गत्सम्भव०) यह ज्ञाता लिखी है जो निरुक्त की आप-का और-स्वामी की की भी गाननीय है।।

६० ति० भा० पृ० १४५ पं० १२ से-जब एक और बात सुनिये जो कि जैसे ही खुद भूषण को न हो, जैसे ही नशे में खूबियों न हो, पर ऐसी से शिर पैर की बात नहीं कह सकता। म० पृ० १२० पं० २५ "गर्भवती स्त्री से एक वर्ष अनागमन न करने के विषय में पुनव वा स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उस के लिये पुनर्विवाह कर दे" समीक्षा-देखिये इस अन्धे की गर्भवती स्त्री से न रहा जाय तो नियोग करके मन्तानां तपस्ति कर दे कहिये जब महत्तम की का मृष्टिकन कहाँ बना गया? एक बालक तो उत्पन्न हुआ ही नहीं दूसरा कैसे उत्पन्न हो सकता है। (इत्यादि)

प्रत्युत्तर-यह ठीक है कि ऐसी बात कोई अष्टबुद्ध वा नशेवाज भी नहीं कह सकता, फिर स्वामी की तो पूर्ण जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, गवर्भों के निबंधक और भाग तक न पीने वाले थे, मला वे कैसे यह ऊटपटांग बात निश्चित। निश्चय यह पुराने छपे मत्पार्ष्वप्रकाश में छापे की अशुद्धि का और शुद्ध पाठ स्वामी की का लिखापन इस प्रकार था, जो अब संवत् १८५४ के पांचवें बार सुद्धिन मत्पार्ष्वप्रकाश पृ० १२५ पं० २ में है। यथा-

"गर्भवती स्त्री से एक वर्ष अनागमन न करने के समय में पुनव वे, वा दीचरींगी पुनव की स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उस के लिये पुनर्विवाह कर दे, परन्तु देशयागमन वा व्यभिचार कभी न करे"

इस पाठ में पूर्वोक्त दोष नहीं आरुक्त और स्त्री को व्यभिचार तथा पुनव से देशयागमन की आदेखा इस कार्य को अच्छा बताया है। कुछ



भावश्यक भी नहीं बताया। एक रूपान में हितोपदेश में नीलिका वचन है कि:-

“वरं वेश्याः पत्नीन पुनरवनीता कुलवधुः

अथोत्त-अविनीत कुलवधू से वेश्या अच्छी”

जिस प्रकार इस का यह तात्पर्य नहीं है कि वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है। किन्तु अविनीत स्त्री की निन्दासात्र में तात्पर्य है। इसी प्रकार स्वामी जी का भी वेश्यागमन वा व्यभिचार की निन्दासात्र में तात्पर्य है ॥

६० ति० भा० पृ० १५० पं० ४ में-न द्वितीयश्च साध्वीनां कृषिद्वर्तप-  
दिश्यते। मनु ५।१५१ ॥

प्रत्युत्तर-यह ती हन भी मानते हैं कि पतिव्रता का भर्ता दूसरा नहीं होता। परन्तु भरणपोषणादि करने से विवाहित पति को भर्ता कहते हैं जो द्विजस्त्रियों को पुनर्विवाह न करने से दूसरा भर्ता (विवाहित पति) निमित्त है। नियुक्त का निषेध इस से नहीं हो सकता ॥

६० ति० भा० पृ० १५० पं० १७ में ( सकृत्कन्या प्रदीयते ), कन्यादान एव ही वर दिया जाता है ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी भी नियोग में कन्यादान की विधि नहीं बताते ॥

६० ति० भा० पृ० १५० पं० १ ( इयं नारी० ) के अर्थ में लिखा है कि कन्द मूल फल को भोजन करती हुई उत्तम गति को प्राप्त होती है, और धनपुत्रादिक प्राप्त करती है, इस सब बातों का सिद्धान्त यह है कि नियोग कर्म नहीं करना ॥

प्रत्युत्तर-इस सन्त्र में कन्द मूल फल का नाम तक नहीं, और कन्द मूल फल खाकर विधवा अपना पतिव्रत निभावे ती भाप के जिसे धन सन्तान उसे बिना नियोग कहाँ से प्राप्त हों ? इस सन्त्र से अगला सन्त्र ( उदीर्यं नारी० ) नियोग प्रकरण का है जिसका अर्थ कर चुके हैं। अब इस का अर्थ सुनिये:-

इयं नारीं पतिस्त्रोक्ं कृणाना निपद्यत उयं त्वा मर्त्यं प्रेतम् ।

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

( अथर्व १८।३।१ )

( इयं नारी ) यह स्त्री ( प्रेतम् मर्त्यम् ) पति मरने पश्चात् ( पतिस्त्रोक्ं-  
मृणाना ) पति के दर्शन चाहती हुई (पुराणं धर्मं पालयन्ती) समात्मक वि.

योग धर्म का पालन करती हुई ( गर्भे ) है मनुष्य ! ( तथा उप निषद्यते )  
तेरे समीप प्राप्त होती है ( तस्यै ) इस विधवा के लिये ( प्रजां द्विषिणं च )  
सन्तान और धन ( इह ) इस लोक में ( चेहि ) धारण कर ॥

इस में ( इह ) पद से अत्यन्त स्पष्ट होगया है कि इसी लोक का  
वर्णन है । यह वर्णन नहीं कि जो स्त्री पति मरने पर सुतपति के लोक  
की कामना करती हुई कन्द मूल फल से गिवांइ करे, वह दूसरे जन्म में धन  
सम्पत्ति को पावे ॥

इस प्रकार स्वामी जी की लिखी नियोगव्यवस्था वैशाखानुकूल,  
वैशाखवर्षा और व्यभिचार को कम करने वाली और लोकोपकराक तथा  
स्त्रियों पर प्रवृत्त अन्याय को हटा कर न्याय का प्रकाश करती है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे

चतुर्थे समुल्लासमखनम् ॥ ४ ॥

—:ॐ:ॐ:ॐ:ॐ:—

को॥म्

## अथ पञ्चमसमुल्लासमण्डनम्

६० ति० भा० पृ० १५१-१५२ में सत्यार्थप्रकाश के संन्यासप्रकरण के श्लोक लिखकर उनका खंडन भंडन ती नहीं किया किन्तु स्वामी जी के निज संन्यासव्यवहार पर दोष लगाये हैं।

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने गृहस्थादि न करके जो संन्यास ग्रहण किया, सो वहीं देखलीजिये कि—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्म-  
चर्यादिप्रव्रजेत् ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन त्यागदे, चाहे ब्रह्मचर्य से चाहे गृहस्थ से, और चाहे ध्यानप्रस्थ से संन्यस्त होजावे और सनातनधर्मों साधु ती सब तीर्थ भात्रनों को पूरा करके ही संन्यासी बनते होंगे ? रहे भोग, सो स्वामीजी ने जो अनायास प्राप्त हुआ उस शाल दुशाळे पलंग तकिये आदि का ग्रहण किया और जब न हुआ तब नरन उंगोटमात्र लम्बा हुआ और गाय मांस के शीत को भी बड़े भानन्द में सहन किया। लक्षों की प्राप्ति का प्रबन्ध जगत् के उपकारार्थ किया, अपने स्वार्थ को नहीं। अपने बिरुद्ध कहने वालों का उत्तर देने में अंशान्ति कारण न थी, किन्तु उत्तर न देने से अधर्म का प्रचार बलवान् न हो जावे, इन कारण उत्तर नष्ट देते थे। राजा शिवप्रसाद जी को वा सत्यार्थप्रकाश ११ वें समुल्लास में जो कुछ लिखा है वह अपने गान प्रतिष्ठा और घमण्ड से नहीं किन्तु सत्य के प्रकाशार्थ कहा है और निज स्वामी जी को तो सहस्रशः शक्तानियों ने अनेक कुवाक्यादि कहे और उन के शिष्यों ने उन कुवाक्यादि कहने वालोंको दण्डदिलानेका उद्योग किया, तब भी स्वामी जी ने स्वयं कहकर चुड़ादिये। इस के अनेक दूष्टान्त हैं। यह वित्त की स्थिरता का ही प्रमाण है कि जो एक सत्य प्रतीत हुआ तब उसी का प्रकाश किया, पिछले धन वा अज्ञान का प्रसन्नता न किया। स्वयं भवन्त पाश्चित्यात्मिनाम में नहीं किया, किन्तु धर्म के प्रचारार्थ किया। यदि अस्य स्वयं को पाश्चित्या-

मिमान मानेंगे तो जैनमतखण्डन से स्वामी शङ्कराचार्य में भी चक्रे दोष पायेगा ॥

मुक्ति से पुनरावृत्ति की मनीषा जब भाप जागे करेंगे वहां ही उसका उत्तर दिया जायगा ॥

यदि हम काशी के संन्यासदाता परिब्राजकाचार्यों के चरित्रों की मना-लोचना करें तो भाप जाने कि क्या २ लीलायें होती हैं । परन्तु हमको इन बातों में क्या लेना है ॥

“सर्वत्रेदमम्” का अर्थ “यज्ञोपवीतादि चिन्ह” स्वामी ने नहीं किया है किन्तु प्राजापत्य इष्टि में यज्ञोपवीतादि का त्याग भी संन्यासी के लिये एक कार्य है, उसी को उन्होंने लिखा है इलोक का पदार्थ नहीं लिखा है । तात्पर्य मात्र लिख दिया है । उन्होंने परस्पर विरुद्ध शास्त्रप्रतिकूल और मुक्तिरहित कुछ नहीं लिखा । जहां २ भाप को भ्रान्ति हुई है उसका समाधान हम ग्रन्थ में यथात्र कर दिया है ( सम्पङ्क नित्यमास्तेयस्मिन् ) जिस में नित्य भले प्रकार रहें वह “ब्रह्म” संन्यास पद का वाक्य है (यद्वा सम्पङ्क न्यस्यन्ति दुष्टानि कर्माणि ये न स संन्यासः ) अथवा जिस से भले प्रकार सब दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह संन्यास कहा जाता है । संन्यास वाला संन्यासी हुआ । इन स्वामीजी के लिखे अर्थों को आपने मगझा नहीं । आप जो वस्तु मात्र का त्याग संन्यास बताते हैं मो शरीर रहने तक यह नहीं हो सकता । जिसमें स्वामी जी ने छानदीय का प्रमाण भी दिया है न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । छां० ८।१२

परन्तु आपने इस पर दृष्टि नहीं दी ॥

द० नि० भा० पृ० १५४ पं० १० से पृ० १५५ पं० १० तक ॥

नानाविधानि रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् मनु०

माना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन विविक्त अर्थात् संन्यासियों को देवे ॥

समीक्षा— यह भी भी द्रव्य लेनेको कपट जाल प्रकट कर मनु के मत से इलोक कल्पना किया है, सारी मनुस्मृति देखिये कहीं भी यह इलोक नहीं लिखा है, यतियों को धन देने से नहावाप होता है, कोई दयानन्दी इस के उत्तर में यह इलोक देते हैं कि स्वामी जी ने इस इलोक के आशय से यह इलोक बनाया है ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।

वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते । अ० ११ श्लो० ६

को विद्वान् लोग इस के अर्थ को विचारे' इस में संन्यासियों को द्रव्य देने का कोई भी पद नहीं है, किन्तु इस श्लोक का यह अर्थ है कि अनेक प्रकार से धन यथाशक्ति ब्राह्मणों को देने चाहिये, जो कि वेद पढ़े हैं और ( विविक्तेषु पुत्रकलत्राद्यवक्तेषु ) कुटुम्बी हैं ऐसे ब्राह्मणों को देने से शरीर त्यागने उपरान्त स्वर्ग होता है ॥

प्रत्युत्तर-इस भी कहते हैं कि सत्यार्थप्रकाश में (गानाविधानिरत्नानि) पाठ नहीं गहों, आप ने बनावट बनाई है, किन्तु ( विविधानि चरत्तमि ) पाठ खरा है । यदि कहो कि इस से हम से पाठभेद होगया है, अर्थ भेद नहीं । ती हम भी कह सकते हैं कि मनु ११। ६ के पाठ से सत्यार्थप्रकाशस्य पाठ में भी अर्थभेद नहीं है । आप जो ( विविक्तेषु ) का अर्थ "पुत्र स्त्री आदि में फने कुटुम्बी" करते हैं सो "विविर पृथग्भावे" धात्वर्थ से सलटा है । उस का अर्थ पुत्र-पि ने पृथक् संन्यस्त है, आप पुत्रादि से फने गृहस्थ कुटुम्बी का अर्थ करते हैं ॥

इति श्री तुंगभीरसंस्वामिकृते साक्षरप्रकाशे

पञ्चगव्यमुक्तावलिः ॥ ५ ॥

—:—:—

ओम्

## अथ षष्ठसमल्लासमण्डनम् ॥

द० नि० भा० पृ० १५६ में कई स्थान पर राजकार्यों में कुलीन लोगों के ग्रहेण पर यह शङ्का की है कि यहां तो स्वामी जी जन्मानुसार वर्णव्यवस्था मान गये प्रत्युत्तर—राजकार्य में वर्णव्यवस्था से तात्पर्य नहीं है । किन्तु एक ही प्रत्यक्ष वा सन्निय वा वैश्यादि वर्ण में भी कई प्रकार के पुरुष होते हैं । कोई लौकिक प्रतिष्ठादि में न्यून, कोई बड़े । इस लिये प्रतिष्ठित कुल से तात्पर्य है । सभी वर्णों में प्रतिष्ठित और न्यूनप्रतिष्ठित वा अप्रतिष्ठित भी मनुष्य होते हैं । पृथ्वी के सिवाय अन्यत्र जीव जन्म नहीं लेते । यह स्वामी जी ने कहीं नहीं लिखा । परन्तु आप के पौराणिक गितृलोकादि इस से नहीं भिन्न होते क्योंकि स्वामी जी का मानना यह है कि पृथ्वी आदि जिन लोक में जो जन्म लेता है वह यावज्जीवन सगरीर अन्य लोक में नहीं जा सकता और आप पित्रादि का भाग जाना मानते हैं । इस लिये हम में भेद है ॥

वेदानुसार का तात्पर्य यह नहीं है कि साक्षात् वेद में देखा ही जाय वही वेदानुसार माने, किन्तु जो वेद से विरुद्ध न हो, वह वह वेद में साक्षात् हमारे देखने में न भी आवे तब भी उसे मान सकते हैं । तदनुसार आवश्यकतानुसार गये २ राजनियम वेद से अविरुद्ध मानना हानिकारक नहीं, ऐसा ही कै.सि.जी मानते हैं—

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादमति ह्यनुमानम् ॥ मी० १।३।३ ॥

अर्थात् वेद से साक्षात् विरोध हो तो त्याज्य है अन्यथा वेदानुकूलता का अनुमान करना चाहिये ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे

षष्ठसमल्लासमण्डनम् ॥ ६ ॥



अध्याय

## अथ सप्तमसमुल्लासमण्डनम्

द० ति० मा० प० १५७ से—

यद्यपि देवता पूर्वं प्रतिपादन कर आये हैं परन्तु स्वामी जी ने जो यह पुनः लेख किया उस से अब फिर कुछ थोड़ा सा लिखते हैं, कहीं तो स्वामी जी के विद्वान् देवता हो जाते हैं, कहीं इन्द्र ईश्वर हो जाते हैं, परन्तु कहीं निहो पानी लकड़ो देवता हो जाते हैं, इन्द्र जी बिजली बन जाते हैं (त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता) जिस के अर्थ ३० ३१ देवताओं के हैं, स्वामी जी ने ३३ ही के किये हैं, वह अर्थ तो बदले ही पर हिंसा में भी गड़बड़ी, क्या जाप को तैनीस से अधिक गिन्ती नहीं आती जो ३० ३३ के ३३ ही रह गये देखिये देवता तो अनेक हैं जिन के नाम अपने से पाप दूर होता है ॥

यजुर्वेद अ० ३९ मं० ६ प्रायश्चित्ताहुति० धर्म के भेद होने में  
सविता प्रथमेहं नृग्निर्द्वितीयं वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थं  
चन्द्रमाः पञ्चमऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे  
मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रं एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ६

प्रथम दिन का सविता देवता है, दूसरे दिन का अग्नि, तीसरे दिन का वायु, चौथे दिन का आदित्य देव, पांचवें का चन्द्रमा, छठे का ऋतु, सातवें का मरुत, आठवें का बृहस्पति, नवमे का मित्र, दशमें का वरुण, ग्यारहवें दिन का इन्द्र, बारहवें का विश्वेदेवा देवता है, इन देवताओं के गिनित १२ दिन तक प्रायश्चित्त के अर्थ आहुती दी जाती है अब स्वामी जी बतावें वक्त में यह देवता कहाँ से आगये ॥

प्रत्युत्तर—( त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता ) में पाठऽशुद्धि उप गई है। शुद्ध पाठ ( त्रयस्त्रिंशता ) यजुर्वेद अ० १४ मन्त्र ३१ का देखिये जिस में ३३ से अधिक का वर्जन नहीं। तथा—

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवातः । ऋ० ६ । २ । ३५ । १

इस में भी ३३ ही देवता लिखे हैं। और

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिम् अथर्व १० । ७ । २३ तथा

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे० । अथर्व १० । ७ । २७

इत्यादि अनेक प्रमाणों से देवतों की ३३ संख्या प्रमाणित होती है और शतपथ ब्राह्मण को अनुसार भी ३३ ही मित्र होते हैं और विद्वानों को देवता मानना सूर्यादि के देवता मानने का बाधक नहीं हो सकता । क्या १ प्रकरण में एक पदार्थ को देवता मान कर दूसरे प्रकरण में दूसरे पदार्थ को देवता मानना कोई विरोध की बात है ? देखिये निरुक्त तार क्या लिखते हैं :-

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति  
वा ॥ निरुक्त अध्याय ७ खण्ड १५

दान, दीपन, द्योतन और द्युस्थान [ प्रकाशस्थान ] होने से “ देवता ” होता है, ( होती है, ) यद्यपि पूर्णदान, पूर्ण प्रकाश, पूर्ण द्योतन ( जगत् ) का स्थान भी अचिन्तनीय ज्योतिषमान् सच्चिदानन्द परमात्मा ही है और इस कारण ये सब अर्थ अभीमभाव से उभरी में मुख्य करने पड़ते हैं, तथापि सामाजिक सुखभोग के अभिलाषी मध्यम अधिकारियों के लिये उन के अभीष्ट इन्द्रियापभोग्य स्वादु रस सुगन्धादि से होने वाले सुखों की प्राप्ति के अर्थ सूर्यादि भौतिक पदार्थ भी ( जो ब्रह्मसृष्टि में उपास्य नहीं हैं ) समीप प्रकाशदिगुणों के धारण करने वाले होने से गीण भाव से “ देवता ” हैं । जिन का वर्णन वेद में इस प्रकार है :-

अग्निदेवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता  
रुद्रदेवता अदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृह-  
स्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ यजुः १४ । २० ॥

वसवो ह्यी, रुद्रा एकादश, अदित्या द्वादश, मरुतश्च स्थिताः—मरुत इत्येत-  
द्ब्रह्मन्मनु निघण्टो पठितम् ३ । १८, विश्वे देवाः सर्वे ब्रह्मावस्थया दिव्याः  
पदार्था मनुष्याश्च, इन्द्रो विद्युत्, वरुणो जलं वरुणाह्वयोर्धन्यो वा । अस्यत्  
वपुश्च एते देवता भवन्ति इति शेषः । पृथोक्तं शतपथे कां० १४ प्रपा० ६ क० ३ । १० ॥



सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशश्चैव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तदादिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथरोदयन्ति तदाद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वं माददाना यन्ति तदादिदं सर्वं माददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमः स्तनयित्नु रित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ७ ॥

ऊपर लिखे यज्ञ मन्त्र में इन प्रकार देवताओं के नाम आते हैं कि— अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा व वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्र और नक्षत्र) ११ रुद्र (प्राण, अवाण, उदान, नसान, व्याण, नान, कूर्म, ककुल, देवदत्त और धनञ्जय) । १२ आदित्य (वर्ष के १२ नाम) सहस्र आत्मा जगत्, विश्वेदेवाः—संसार भर के दिव्यगुणयुक्त पदार्थ और मनुष्य, ब्रह्मपति-परमात्मा, इन्द्र-विजुली और ब्रह्म-जल वा अन्य पदार्थ जो करणीय गुणों से युक्त हों । ये सब पदार्थ देवता हैं । पूर्वोक्त ८ पदार्थ बहुत बड़े लिये हैं कि (एतेषु हीदं सर्वं वसु हितम्) इन में ही यह सब सब ब्रह्मादि धन रक्खा है (एते हीदं सर्वं वासयन्ते) ये ही इस सब [जगत्] को बसाते हैं । इस से यह भी सूचित होता है कि सूर्यादि लोकों में भी ब्रह्मादि हैं । पूर्वोक्त ११ पदार्थ बहुत बड़े लिये हैं कि—(यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामा-

मन्त्रयय रोक्ष्यन्ति तद्यद्गो) जय मनुष्यदेह से ये प्राणादि ११ रुद्र निकलते हैं तब वह मित्र सन्निधियों को रोदन कराते हैं। वन रोदन कराने से रुद्र नास पड़ा। पूर्वोक्तसंवरण के १२ नास आदित्य इस लिये हैं कि (एतेहीदंश्च सर्वमावदाना यन्ति) ये चेत्रादि द्वादश नास ही सब जगत् को लिये हुये जाते हैं, इन से आदित्य नास पड़ा ॥

मरुत-यह निघण्टु ३।१८ में ऋत्विगों का नाम है। विश्वेदेवाः-सब ब्रह्मास्वरूप दिव्य पदार्थ और मनुष्य, सृष्टरूपति-देवतों का भी राजा पर-नाटना, इन्द्र-बिजली और वरुण-जल वा अन्यवरणीय पदार्थ ये सब देवता हैं अर्थात् प्रकाशादि दिव्यगुणयुक्त पदार्थ हैं। यह यजुर्मन्त्रार्थ हुआ ॥

अब ऊपर लिखे शतपथब्राह्मण का अर्थ सुनिये-शाकल्य ऋषि से याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि ३३ देवता कौन से हैं। ८ वसु ११, रुद्र १२ आदित्य ये ३१ हुये। इन्द्र और प्रजापति ये मिलकर ३३ हुये। इन्द्र किसे कहते हैं? स्तनयित्सु अर्थात् बिजली को। प्रजापति कौन सा है? यज्ञ प्रजापति है। प्रजापति क्या है? पशु ही प्रजापति हैं क्योंकि प्रजा का पालन इन से होता है ॥

अला स्वामी जी तो आप की समझ में हिसाब भूल गये। परन्तु शतपथब्राह्मण भी हिसाब भूल गया? जिस ने आप के मतानुसार ३०३३ देवता नहीं गिनाये और ३३ का व्याख्यान स्पष्ट किया ॥

द० ति० भा० पृ० १५८ पं० ४ से सविता प्रथमे० इत्यादि मन्त्ररूप देवतों को पूंछा है कि ये कहाँ से आगये?

प्रत्युत्तर-सविता, अग्नि, वायु, चन्द्रमा आदि १२ देवता इन्हीं लोकों तारों और ३३ पदार्थों के अन्तर्गत ती हैं, इन से बाहर क्या है? ॥

### अथ ईश्वरविषय प्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० १५८ में ईश्वर अपराध करना करता है। इस के सिद्ध करने के लिये नीचे का मन्त्र और अर्थ लिखा है—

सन्नेवन्धुर्जनितासविधाता धामानिवेदं भुवनानि विश्वा।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीयेधामन्ध्वैरयन्त यजुः३२।१०

( सः ) ब्रह्म परमेश्वर ( नः ) हमारा ( बन्धुः ) विविध प्रकार की सहा-  
यता रक्षा करने से बन्धु है ( जनिता ) उत्पन्न करता है ( सः ) ब्रह्म ( विधाता )  
विधाता मालिक पिता है ( सः ) ब्रह्म ( विश्वा ) स्वयं ( भुवनाणि ) प्राणी  
( धामाणि ) स्वर्गों को ( वेद ) जानता है ( देवाः ) देवता ( यत्र ) जिस  
ईश्वर में ( असृतम् ) मूलमापक ज्ञान को ( ज्ञानशानः ) प्राप्त करते ( तृतीये  
धामम् ) स्वर्ग में ( अध्यैरयन् ) स्वेच्छानुसार वर्तते हैं आनन्द करते हैं ॥

प्रत्युत्तर—सला आप के किये अर्थ से भी अपरार्थों को समझा करके दख  
न देना और दया करना कहाँ पाया जाता है ? हाँ वेमे परमात्मा की दया,  
व्यसलता, प्यार, बन्धुत्व, पितृत्व सब के साथ है ॥

८० ति० भा० पृ० १६० पं० ५ से—

ज्ञातः श्रुतिर्गृणिः शन्ते भवन्निवृत्तकाः ।

शन्तेभवन्वृत्तयः पार्थिवास्तोमात्वाभिः शुचन् । यजुः ३५ मं० ८

भावार्थ यह है कि ईश्वर दयादृष्टि से कहता है हे यजनमान ! भक्त वायु  
तेरा सुखरूप हो, सूर्य किरण तुझे सुखरूप हो मध्य में और दिशानों में  
स्थापित दृष्टिका तेरे लिये सुख स्वरूप हों तुझे तापित नहीं करें ॥ १ ॥ जब  
विचारना चाहिये कि यह वाक्य दयारूप हैं वा नहीं, इस कारण न्याय दया-  
पूर्ण हैं, ईश्वर में सर्वशक्तिसाम्यता होने से दोनों बातें बनती हैं ॥

प्रत्युत्तर—इस में भी आप के किये अर्थ से ही “ अपरार्थों को मैं समझा  
करता हूँ ” यह परमेश्वर ने नहीं कहा ॥

### निराकारप्रकरणम्—

८० ति० भा० पृ० १६० पं० २२ से

समीक्षा—ऐसा विदित होता है कि दयानन्द जी ने ईश्वर को अनुसन्धत्त  
समझ लिया है यदि ब्रह्म साकार हो जाय तो उपायक न रहे, उस का कोई  
बनाने वाला हो जाय । जब कि ईश्वर सर्वशक्तिसाम्य है, तो वह अकार  
वाला होकर शक्ति वा ज्ञान से रहित नहीं हो सकता । जिस समय प्रलय  
होती है उस समय ब्रह्म निराकार, जब उस में सृष्टि रचना की इच्छा होती  
है तभी उस को सगुण वा साकार कहते हैं, यह न्याय दयालु आदि नाम  
साकार में ही घटते हैं यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है ॥

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चाऽनिरुक्तश्च परिमितश्चाप-  
रिमितश्च तद्यद्युपा करोति यदेवास्यानिरुक्तपरिमितं धरूपतद-  
स्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितं धरूपं  
तदस्य तेन संस्करोतीति ब्राह्मणम् श.का. १४अ० १ ब्रा. २मं १८

परमेश्वर दो प्रकार का है परिमित अपरिमित निरुक्त और अनिरुक्त इन  
कारण जो कर्म यजुर्वेद के मन्त्रों से करता है उन के द्वारा परमेश्वर के उन  
रूप का संस्कार करता है जो निरुक्त और परिमित नाम है और जो तूष्णीं  
आय मन्त्र है अपौरुष मध्यात्म मन्त्र का ही मनन करता है उन से परमेश्वर  
के उन का वा संस्कार करता है जो अनिरुक्त और अपरिमित नाम है इस  
से प्रत्यक्ष परमेश्वर में निराकारता साकारता पाई जाती है ॥

प्रत्युत्तर-यहां प्रथम तो प्रजापति शब्द से यज्ञ का ग्रहण है क्योंकि  
( यज्ञो वै प्रजापतिः ) यज्ञ प्रजा का पालन करता है और कर्मकाण्ड में सा-  
रिक अग्नि वायु ऋगादि देवतों के लिये होता है तथा ज्ञानकाण्ड वा उपो-  
सगाकाण्ड ईश्वरविषयक होता है इन लिये यहां कर्मकाण्ड के प्रकरण में  
मीतिक पदार्थों का यज्ञ ही प्रजापति समझना चाहिये और ऐसा मानने  
पर यह कथं होगा कि-

( अर्थ वै एतत् प्रजापतिः ) यज्ञ मिथ्य दो प्रकार का है ( निरुक्तश्चा-  
ऽनिरुक्तश्च ) निरुक्त जिस का निर्वचन किया जाय और अनिरुक्त जिस का  
निर्वचन न किया जाय तथा ( परिमितश्चाऽपरिमितश्च ) परिमाणायुक्त  
और परिमाणावरहित ( तद्यद्युपा करोति ) जो जो कि यजुर्वेद से करता है  
तब ( यदेवास्यानिरुक्तं परिमितं धरूपम् ) जो इस यज्ञ का निरुक्त और  
परिमित स्वरूप है ( तदस्य तेन संस्करोति ) इस के उन स्वरूप का उन यजुः  
से संस्कार करता है ( अथ यत्तूष्णीम् ) और जो कि खुप होकर होनादि  
करता है तब ( यदेवास्याऽनिरुक्तमपरिमितं धरूपम् ) जोही इन का अनि-  
रुक्त और अपरिमित रूप है ( तदस्य तेन संस्करोति ) उन स्वरूप का इन खुप  
होकर कर्म से संस्कार करता है ( इति ब्राह्मणम् ) यह ब्राह्मण पूरा हुआ है  
अर्थात् यज्ञ का छोड़ा वर्णन मनुष्य कर सकता है समस्त नहीं, यज्ञ के  
थोड़े स्वरूप को मनुष्य परिमाण जान सकता है सब को नहीं। इस जहां तक

जान सकता है, वहां तक वर्णन कर सकता है, जहां तक वर्णन कर सकता है, वहां तक परिमाण जान सकता है। जहां तक वर्णन और परिमाण जानता है वहां तक यजुर्वेद के मन्त्रों से वर्णन करता हुआ अग्निहोत्रादि करे। और क्योंकि कुछ यज्ञ का स्वरूप वर्णन और परिमाण से बाहर है इसलिये कुछ रूप हो कर भी करना चाहिये ॥

और यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि ईश्वर का ही वर्णन है तो भी उसका साकार निराकार होना हम से नहीं पाया जाता। परमेश्वर भी समस्त भाव से निर्वचन में नहीं जाता अनन्त होने से परन्तु थोड़ा सा निर्वचन उस का शास्त्र द्वारा हो सकता है, यम जितना कि परमात्मा का हम वर्णन कर सकते हैं उस अंश में वह निरुक्त और शेष में अनिरुक्त और वर्णन करने तक परिमित और वर्णन से बाहर अपरिमित है जैसा कि—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ यजु। ४०। २

यह सब जगत् के भीतर और जगत् से बाहर भी है यम जगत् के भीतर जितना परमेश्वर है उतना कणक्षित अनिरुक्त और अपरिमित तथा जो अनन्त जगत् के बाहर है उतना अनिरुक्त और अपरिमित है। परन्तु साकार और निराकार इस से भी नहीं पाया जाता ॥

१० ति० भा० पृ० १६१—द्वा वाच ब्रह्मणोरूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं चेति० ईश्वर के दो रूप हैं एक मूर्त्तिमान् एक अमूर्त्तिमान् (एक रूपं बहुधा यः करोति) और एक रूप को जो बहुत प्रकार का करता है। इन मन्त्र से तथा भीरों से ही सर्व कारण बीजस्वप्न परमात्मा में साकारता इस प्रकार से प्रगट है ॥

प्रत्युत्तर—ब्रह्म के दो रूप हैं। इन का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म स्वरूपतः दो प्रकार का है। किन्तु यह तात्पर्य है कि मूर्त्त अमूर्त्त दो प्रकार के पदार्थों का स्वामी ब्रह्म है। यदि लोभ में यह कहा जावे कि देवदत्त के दो गौ हैं एक छाल एक काली। तो क्या इन से कोई यह बनक सकता है कि देवदत्त स्वयं काली और लाल गौ के आकार का है? कभी नहीं। और अपने एक आरम्भ का टुकड़ा लिख दिया। यदि इस से जगला पाठ भी आप लिखते तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता कि ब्रह्म के निज के दो रूप नहीं हैं किन्तु दो रूपों का स्वामी ब्रह्म है। जैसा कि ठीक पाठ यह है:-

द्वा वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवाऽमूर्त्तं च

भागें चला कर इसे स्पष्ट किया है कि—

### तदेतन्मूर्त्तं यादन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाञ्च

सृष्टद्वारायक सप्त० प्रपाठक ४ ब्राह्मण ३ का० २ ॥

अर्थात् यह मूर्त्त है जो वायु और अन्तरिक्ष से अन्य पदार्थ हैं। अर्थात् पृथिवी जल अग्नि मूर्त्त अर्थात् दृश्य हैं ॥ फिर आगे—

### अयाऽमूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं च ॥ का० ३

और वायु तथा अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं। अब विचारिये कि पांच तत्त्वों में २ अमूर्त्त ३ मूर्त्त स्पष्ट गिनाये हैं वा निज के ब्रह्म दो प्रकार के बताये हैं ?

### अथ अवतारप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० १६२ पं० १३ से

समीक्षा—स्वामी जी ईश्वरकू अज अकाय बता कर ईश्वर के अवतार होने में मन्वेह करते हैं ती, जीवात्मा भी अज और व्यापक अव्यय करा जाता है, समका भी जन्म न होगा चाहिये ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चित्वायं कुतश्चिन्नवभूव कश्चित्  
अजोनित्यः शाश्वतोयम्पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे १८  
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुश्च हतश्चेन्मन्यते हतम्

उमो ती न विजानीतो नायंहन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतीमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहसोगुहायाम्  
तमक्रतुः पश्यतिवीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः २०

### कठवल्ली ३ उपनिषद् वल्ली २

( विपश्चित् ) सर्व का दृष्टा जीवात्मा जो कि पूर्ववात्स्यायनभाष्य में लिखा है ( सर्वस्य दृष्टा सर्वस्य प्रोक्ता सर्वानुभवः ) इत्यादि वाक्यों से और ( यद्येतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः ) इत्यादि मैत्रयुपनिषद् में निर्णीत है सो जन्म मरण से रहित है और यह भाप किसी से नहीं उत्पन्न होता और न इससे ( कश्चित् ) कुछ भी उत्पन्न होता है अज नित्य एतन्न सृष्टिरहित है और शरीर के नाश से इस का नाश नहीं होता १८ यदि कोई इनन कर्ता पुरुष ही इनन कर्ता जारनाचिन्तन कर्ता है तैसे यदि कोई हत हुआ

आत्मा को हितचिन्तन कर्ता है, व दोनों आत्मा के यथायत् स्वरूप को नहीं आते क्योंकि यह आत्मा न हनन करता है न हनन होता है १९ इस जन्तु की गुहा अर्थात् पंचकोशरूप गुहा में ( निहित ) स्थित यह आत्मा जन्तु से भी अणुतर है अर्थात् दुर्लक्ष्य है इस से अणुतर कहा परन्तु बड़े आकाशादि से ( महीयान् ) महत्तर है ( धातुः प्रसादात् ) ईश्वर की प्रसन्नता से ( अक्रतुः ) विषय भोग संकल्प रहित पुरुष आत्मा को देखता है ती आत्मा की महिमा को देखकर शोकरहित होता है ॥

प्रत्युत्तर-जीवात्मा केवल स्वरूपतः अज्ञ है परन्तु सर्वदेशीय नहीं, यदि सर्वदेशीय हो तो मृत्यु न होना चाहिये । तथा एक देश में होने वाले कार्यों का वृत्तान्त अन्य देशस्थ जीवात्माओं को ज्ञान भी होना चाहिये । स्वामी जी केवल अज्ञ अकार्य होने से ही परमात्मा को निराकार अवतार-रहित मानते हैं सो नहीं किन्तु वह सर्वव्यापक होने से देहविशेष के बन्धन में नहीं आसकना । यह स्वामीजी का कथन है । आपने जो तीन लोक कठो-पनिषद् के लिखे हैं उन का अर्थ यह है कि—

( विपश्चित् ) ज्ञानी जीवात्मा ( न जायते म्रियते वा ) न कभी जन्म लेता, न मरता है । क्योंकि ( नायं कुतश्चित् ) न यह किसी अन्य कारण से कार्य होकर बना और ( न वसूय कश्चित् ) न हमने कोई अन्य कार्य जगता है किन्तु ( अज्ञः नित्यः शाश्वतः पुराणः अयम् ) अज्ञ नित्य सनातन पुराणा यह ( शरीरे हन्यमाने ) शरीर मरने पर ( न हन्यते ) स्वयं नहीं मारा जाता ॥ १८ ॥ ( हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेत् ) यदि कोई मारने वाला यह जानता है कि मैं जीवात्मा को मारता हूँ वा कोई मरने वाला यह जानता है कि मैं आत्मा मरता हूँ तो वे दोनों अज्ञानी हैं । न जीवात्मा मरता, न उसे कोई मारता है ॥ १९ ॥ ( अस्य जन्तोः ) इस प्राणी आत्मा के ( गुहायाम् ) हृदयावकाश में ( अणोरणीयाम् ) सूक्ष्म से अति सूक्ष्म स्वरूप वाला ( महतो महीयान् ) महान् से महान् सर्वदेशीय सर्वव्यापी परमात्मा ( निहितः ) स्थित है ( तम् ) उस ( आत्मनः महिमां जम् ) अपने से अत्यन्त महान् परमात्मा को ( वीनशोकः अक्रतुः ) शोक रहित वत्सुकर्मों से उपरत जीवात्मा ( धातुः प्रसादात् ) परमात्मा की कृपा से ( पश्यति ) अनुभव करता है ॥

इस में स्पष्ट जाया है कि ( आत्मनः महिमानम् ) अपने जीवात्मा को स्वरूप से अतृप्त महान् परमात्मा को। जब कि जीवात्मा ब्रह्म और परमात्मा महान् है, तो जीवात्मा देहबन्धन में आसक्तता है परन्तु परमात्मा नहीं ॥

प० ति० सा० पृ० १६३ पं० ७ से—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । यो० पा० १ सू० २

चित्तिशक्तिरपरिणानिन्यप्रतिसंक्रमादर्शितविषया शुद्धा चामन्ता च व्याप भाव्ये—अर्थ ( चित्तिशक्ति ) जीवचेतन अपरिणामी है (अप्रतिसंक्रमा) क्रिया रहित है ( दर्शितविषया ) सर्व विषयों का द्रष्टा है शुद्ध और अनन्त व्यापक है इस प्रकार व्यापक तथा कणाद् अणु के मत में जीवचेतन व्यापक है और जीव का जन्म वे मानते हैं इनमे व्यापक का जन्म नहीं होता यह कथन कैसा होया, क्योंकि व्यापक का जन्म व्यासादिक मानते हैं, यदि यह कहो कि “इन ती युक्ति ही मानते हैं जन्म मरण आना जाना परिछिन्न पदार्थ में घन सकता है, इस कारण जीवात्मा का स्वरूप व्यापक नहीं मानते” इसका उत्तर। तब तो यह विचार कर्त्तव्य है। विभू पदार्थ से भिन्न अणुपरिमाणवान् वा मध्यम परिमाणवान् होता है आत्मा अणुपरिमाण है अथवा मध्यम परिमाण है यदि कहो अणुपरिमाणवान् है तो मादे अरीर में शीतल जल संयोग से शीतस्पर्श की प्रतीति न होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा अणु है, सो एक देश में स्थित होकर शीत का ज्ञान कर सकता है, आत्मा रहित अंगों में शीतस्पर्श का ज्ञान कैसे होगा ( प्रश्न ) आत्मा यद्यपि एक देश में है, तथापि जैसे कस्तूरी की गंध सर्वत्र विस्तृत होती है तैसे ही आत्मा का ज्ञान गुण सर्वत्र विस्तृत है, इनमे शीतस्पर्श की सर्वत्र प्रतीति हो सकती है अथवा जैसे सूर्य प्रभाव वाला द्रव्य है तैसे ही आत्मा भी प्रभावित द्रव्य है ( उत्तर ) यह नियम है कि गुण अपने आश्रय को त्याग कर अन्यत्र गमन नहीं कर सकता, क्योंकि गुण में क्रिया होती नहीं, और कस्तूरी के दूष्टान्त में भी कस्तूरी के सूक्ष्म अवयव विस्तृत होते हैं, इसी कारण कस्तूरी कर्पूरादि द्रव्यरक्त तिम को बंदकर किनी डिब्बेमादि में रखते हैं और जो वह खुले रखे जाय तो वे उड़ जाते हैं, और प्रभा गुण नहीं किन्तु विरल प्रकाश प्रभा है और घन प्रकाश सूर्य है, ऐसे ही आत्मा को मानने से ज्ञान रूप ही सिद्ध होगा, सो ज्ञान एकरस है कहीं सघन



और कहीं विरल ऐसा कहना बनता नहीं, यदि बनेकरस मामोने ती जगित्यत्व प्रसक्ति होगी, और सर्वथा अणुवादी के मत में क्रिया ती ज़रूर माननी होगी ती ( अचक्षेयं सनातनः ) इत्यादि गीता के वचन से विरोध होगा और आत्मा विनाशी क्रियावत्वात् घटवत् इस अनुमान प्रमाण से विनाशित्व प्रसक्ति ती अवश्य होगी और मध्यम परिमाण पक्ष में स्पष्ट ही अन्यत्व विनाशित्वादि दोष हैं आत्मा अन्यः मध्यम परिमाणवत्वात् आत्मा विनाशी मध्यम परिमाणवत्वात् घटवत् इस कारण अनादि जीवात्मा को मानकर मध्यमपरिमाण कैसे मामोने क्योंकि मध्यम परिमाण मानने से अन्यत्व की प्रसक्ति होगी इस से विना इच्छा से भी ठ्यासादि महात्मनों के वचना अनुसार आत्मा व्यापक और अज अवश्य मानना पड़ेगा ती जन्मशंका ईश्वर वत् जीव में भी बन सकती है ती फिर जीव को जन्म कैसे हो सकता है जब जीव का जन्म हो ती ईश्वर का भी अवतार होगा ॥

प्रत्युत्तर—चिति शक्तिपद से यहां जीवात्मा का ग्रहण करना बड़े अज्ञान की बात है । शक्तिशब्द भाववाचक है इस में भावार्थ किन् प्रत्यय है । तब शक्तिमान् जीवात्मा को शक्ति बताना, द्रव्य को गुण बताने से अज्ञान नहीं ती क्या है ? जो लोग द्रव्य और गुण का भेद नहीं जानते वे आत्मविद्या को क्या समझ सकते हैं यूं किनी के ग्रन्थ से उद्धृत करलेना दूसरी बात है । व्यासभाष्य का अर्थ सुनिये—

( चितिशक्तिः ) चेतनता शक्ति ( अपरिणामिनी ) न बदलने वाली है अर्थात् चेतनता कभी जड़ता नहीं बन जाती ( अप्रतिसंक्रमा ) एक की चेतनता दूसरे में संक्रमण नहीं कर सकती ( दर्शितवियया ) वह रूपादि विषयों को दिखाने वाली है । ( शुद्धा च ) और शुद्ध है उस में कोई मिलावट नहीं ( अनन्ता च ) और उस का अन्त नहीं अर्थात् कालान्तर में भी चेतनता का नाश नहीं ॥

अब बतलाइये इस में जीव को सर्वव्यापक कहा माना है ? और अणु-परिमाण मानने में यह शङ्का नहीं बनती कि शीत स्वभादि का ज्ञान देह के एक देश में आत्मा को न हो सके । यद्यपि आत्मा एक देश हृदय में रहे परन्तु आत्मा की समीपता मन से, मन की इन्द्रियों से, इन्द्रियों की विषयों से, इस प्रकार—

## “आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन”

जब स्वचा इन्द्रिय को शीतादि का स्पर्श होता है तब यद्यपि आत्मा स्वचा में व्यापक नहीं परन्तु स्वचा से मन का सम्बन्ध और मन से आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा को परस्पर से शीतस्पर्शादि का ज्ञान होता है । शीत भाव को सानुसार आत्मा को सर्वव्यापक मानें तो इन्द्रियों वा मन के बिना भी आत्मा को विषय का अनुभव होना चाहिये । जो प्रत्यक्षविरुद्ध है । क्योंकि जो आत्मा एक सन्तुष्ट में है वही सर्वव्यापक हो तो सब जगह के विषयों का ज्ञान एक साथ आत्मा को होगा चाहिये । कस्तूरी के सूक्ष्म हस्त सूक्ष्माश्रयियों के समान आत्मा को अवयव रूप से शरीर में फैला नहीं मानते, न सत्यार्थप्रकाश में लिखा । आपने स्वयं निर्बल पक्ष कल्पित करके खरबड़ किया, उस का फल भाव को ही हो वा न हो, हम को कुछ नहीं न हम सूर्य के समान जीवात्मा की स्थिति शरीर में मानते हैं । इस लिये जनेश्वर की शूद्रा भी अनित्यत्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती । हां, आप परमात्मा को सर्वव्यापक एकरस मानते हुवे भी किमी देहविशेष में अवतार युक्त मानेंगे तो आप के मत में एकरसत्व का भङ्ग होगा और अनित्यत्वादि की प्रसक्ति होगी ॥

अचलोऽयं सनातनः । हम गीता के वचन में अचल शब्द जीवात्मा का विशेषणस्वरूप से अचलत्व का बोध है । देश से अचलत्व का नहीं । क्योंकि जीवात्मा के निराकार चेतनमात्र स्वरूप में चलता नहीं अर्थात् बदल बदल नहीं । परन्तु देशरूप चलता तो स्पष्ट है कि जीवात्मा एक देह छोड़ दूसरे देह को जाते हैं । और आप भी श्राद्ध सिद्ध करते समय तो घन का शरीर त्यागना, आकाश में घूमना इत्यादि सब कुछ मानने लगते हैं फिर यहां आपने ही विरुद्ध क्यों चल पड़े । इस लिये हमारे मत में—

आत्माऽविनाशी अकार्यत्वात् ।

अजत्वात् । असंयुक्तवस्तुत्वात् ।

आत्मा विनाशी नहीं क्योंकि कार्य न होने, कर्मना होने और संयोग से बना न होने से ॥

द० ति० भा० पृ० १६४ में—

चराचरव्यपश्रयस्तुस्वपातद्वयपदेशोभाक्तस्तद्भाषमाखितत्वात् । भा० ३।२।१६  
 . यह सूत्र और इस का भाष्य लिख कर यह तात्पर्य निकाला है कि  
 जिस प्रकार जीवात्मा न मरता न जन्मता परन्तु लोक में हम के (चराचर)  
 के मरने जीने के गौण व्यवहार जीव में आरोपित होते हैं और मुख्यता से  
 तो देह मरते जीते हैं । इसी प्रकार परमात्मा में भी अवतार लेने से जन्म  
 मरण वास्तविक नहीं ॥

प्रत्युत्तर—हम यह पूछते हैं कि जिन रामकृष्णादि को आप परमेश्वरा-  
 ज्ञानार बताते हैं वे जीवभाव से जीने और जीव जन्म लेते मरते हैं अर्थात्  
 देहों से संयुक्त वियुक्त होते हैं उसी प्रकार राग कृष्णादि का जीव भी देहों  
 से संयुक्त वियुक्त हुवा तब तो हम को कोई विवाद नहीं । और यदि सर्व-  
 ठयापक जगन्निघ्नता का देहवन्धन मानते हैं तो एकरस सर्वठयापक वस्तु  
 किसी विशेष देह में विशेषता से नहीं रह सकती । विष्णु पदार्थ जो कि  
 अनन्त सर्वठयापक है वह अन्तःकरणादि उपाधियों से घिर नहीं सकता ।  
 फिर जीवात्मा को एकदेशीय माने बिना किसी का निर्वाह नहीं हो  
 सकता । और परमात्मा सर्वदेशीय है, सर्वठयापक है । तथा जीवात्मा देह-  
 कृत भोगों को भोगता है और परमात्मा भोगरहित है । जैना कि—

अनश्नन्नन्यो अभिच्चाकशीति ॥ ऋ० १ । १६४ । २० ॥

अर्थात् भोगरहित केवल साक्षी है ॥ इसलिये देह के जन्ममरण जीवात्मा  
 में आरोपित होते हैं, परमात्मा में नहीं । यह ठीक है कि जिस पदार्थ का  
 किमी भी रूप से पूर्व अभाव हो उसी का जन्म होता है । जीव विशेष का  
 देहविशेष से सम्बन्ध विशेष का पूर्व अभाव था इस लिये जीवविशेष का  
 देहविशेष से संयुक्त होना जन्म कहाया ॥

द० ति० भा० पृ० १६५ पं० ८ से (प्रश्न) जीव का ती लिङ्गोपाधि विशिष्ट  
 रूप है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह पूर्वपक्ष सत्यार्थप्रकाश में नहीं लिखा, न हम लोग जानते  
 हैं इस लिये इस प्रश्न को रख कर आप का उत्तर लिखना ठपक है ॥

द० ति० भा० पृ० १६५ पं० २६ से—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । इत्यादि  
 श्रवणेदमन्त्र से अवतार सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का ठीक अर्थ सुनिये । रामकृष्णादिका इस में नाम तक नहीं ॥

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।  
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपं ईयते युक्ताहंभ्यु हरयः शता दशं ॥

ऋ० ६ । ४७ । १८

अर्थ—( इन्द्रः ) इन्द्रियों वाला जीवात्मा ( रूपं रूपं प्रतिरूपः ) प्रत्येक देहरूप में तदाकार सा ( बभूव ) होता है परन्तु यह रूप इस जीवात्मा का साक्षात् नहीं किन्तु ( तत् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ) वह इस का रूप प्रत्यक्ष कथनमात्र के लिये है । प्र०—फिर क्यों यह रूपवान् जान पड़ता है ? उत्तर—(मायाभिः) बुद्धियों से अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहङ्कारादि सहित होने से ( पुरुरूपं ईयते ) अनेकरूप जान पड़ता है । वास्तव में इस का एक ही स्वरूप सच्चिन्मात्र है । प्रश्न—बुद्धियें भी तो साकार नहीं हैं, उन सहित भी क्यों रूपवाला जान पड़ता है ? उत्तर—( अस्य ) इस जीवात्मा के ( हि ) जिस कारण ( दश हरयः ) दश इन्द्रियरूप छोड़े ( युक्ताः ) जुड़े हैं और ( शता ) सैंकड़ों नस नाड़ी जुड़ी हैं । सो उन इन्द्रियों और नाड़ियों आदि के सहित होने से जीवात्मा के अनेक देहरूप जान पड़ते हैं । केवल जीवात्मा के नहीं ॥

यदि आप इस अर्थ को न स्वीकार करें तो सायणाचार्य के अर्थ को देख कर ही अपना अज्ञान दूर करें कि इन मन्त्र में अवतार का वर्णन नहीं है ॥

सायणाचार्य ने निज का अर्थ तो यह किया है कि इन्द्रदेवता अनेक यज्ञमानों के यज्ञों में अनेक देवतों के रूप धार कर जाता है और फिर अन्यो की सम्मति से दूसरा अर्थ यह लिया है कि परमात्मा ही सायोपाधि से अपहित जीव भाव को प्राप्त हो रहा है । और अनेक योनियों में जन्मता प्रतीत हो रहा है ॥

सो इन दोनों अर्थों को यद्यपि हम नहीं मानते परन्तु सनातनधर्मियों पर यह भार अवश्य है कि सायणाचार्य के विपरीत रामकृष्ण अवतार की गल्प न हों ॥

प० लि० भा० पृ० १६६ पं० १३ से—प्र तद्विष्णुस्त्ववते वीर्येण-इत्यादि से अवतार सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का भी अर्थ सुनिसे—

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगोन भीमः कुचरोगिरिष्ठाः ।  
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

ऋ० १ । १५४ । २

अर्थ- (यस्य) जिस सर्वव्यापक विष्णु के रश्मे ( त्रिषु ) जन्म स्थान नाम इन ३ ( विक्रमणेषु ) त्रिविध सृष्टिकर्मों में ( विश्वा भुवनानि ) समस्त लोकलोकान्तर ( अधिक्षियन्ति ) आधार में निवास करते हैं ( तत् ) [ लिङ्गव्यत्ययः ] वह ( विष्णुः ) सर्वव्यापक परमेश्वर ( वीर्येण ) पराक्रम से ( प्रस्तवते ) मद्य लोकों को प्रस्तुत करता है । दृष्टान्त- ( न ) जैसे ( गिरिष्ठाः ) पर्वतकन्दारों में स्थित ( भीमः मृगः ) शयानक मृग अर्थात् मृगेन्द्र=सिंह ॥

अर्थात् कोई भी पदार्थ ईश्वर और सृष्टि के नियम को नहीं लांच सकता जो परमेश्वर धर्मिकों को मित्रतुल्य आनन्ददाता और दुष्टों को पर्वतचारी भयानक सिंह के तुल्य भयप्रद है । इनमें नरसिंह का नाम तक नहीं किन्तु सिंह के दृष्टान्त में परमात्मा का उग्र पराक्रम दिखाया है । देखो ऋग्वेदभाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वति सङ्गाराग कृत ॥

परमेश्वर का भय=भीषास्माद्वातःपवते इत्यादि । अथवा ।

यद्वाद्वाति वातोयं सूर्यस्तपति यद्वापात् ॥

इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में स्पष्ट वर्णित है कि परमेश्वर के भय से सूर्य चायु आदि अपन २ काम कर रहे हैं । यही मायणाचार्य ने भी लिखा है नृसिंह अवतार सायणाचार्य ने भी गिरूपित नहीं किया ॥

द० ति० भा० पृ० १६६ पं० २६ में- त्वं स्त्री त्वं पुमानसि । यह मन्त्र अवतारमिद्धि में दिया है ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्र का अर्थ सुनिये-

त्वं स्त्री त्वं पुमानसी त्वं कुमारो उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णी दण्डेन वज्रसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

अथर्व १० । ४ । २७ ॥

अर्थ- तू कभी स्त्री कभी पुरुष होता है लड़की और लड़का बनता है तू बूढ़ा होकर लड़कियाँ के सहारे चलता है । क्योंकि तू विश्वतोमुख अर्थात् सब ओर रुख करता है और ( जातो भवसि ) जन्म लेता है ॥

इस प्रकार असरार्थ से किसी राम कृष्णादि विशेष जीव का वर्णन नहीं किन्तु प्रत्येक जीव स्त्री पुरुष योगियों में घूमता, बाल मुखा वहु अवस्थाओं

न जाता है। इसमें राम कृष्णादि अवतार का कुछ भी वर्णन नहीं है। सायणाचार्य का इस पर न डप ही नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० १६१ पं० ८ में—इदं विष्णुर्विचक्रमे । इस सानखेद मन्त्र से अवतारमहिम्ना का प्रयत्न किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का ठपारूपान भी सुनिये—

अथ तत्रम्याः—मेधातिथिर्त्रयिः । इन्द्रो देवता गायत्री छन्दः ॥

२२८      ३ १ २      ३ १२      २२ ३ २

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ॥

१ २      ३ २

समूढमस्य पाठसुले ॥ ६ ॥ ( २२९ )

पदपाठः—इदम् २। विष्णुः १। विचक्रमे क्रि०। त्रेधा अ०। निदधे क्रि० पदम्, समूढम् २। अस्य ६। पाठसुले ९ ॥

अन्वितपदार्थः—(विष्णुः) यज्ञः परमेश्वरो वा (इदम्) जगत् (त्रेधा) पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौश्चेति त्रिभिः प्रकारैः (विचक्रमे) विक्रमते विक्रान्तवान्वा। तथा (अस्य) जगतः (पाठसुले) रजसि प्रतिपरमाणु (समूढम्) अन्तर्हितम् (पदम्) स्वरूपम् (निदधे) नितरां दध्यात् दधाति वा ॥

अनुष्ठीयमानो यज्ञः, परमेश्वरश्च पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति त्रिषु लोकेषु व्याप्नोति। अन्तर्हितमदृश्यं स्वरूपं च अस्य जगतः प्रतिपरमाणु निदधाति इति भावः ॥

यज्ञो वै विष्णुः ॥ अत्र सायणाचार्येण विष्णुशब्देन त्रिविक्रमाऽवतारग्रहणं निर्मूलमेव कृतम्। परमेश्वरस्याऽ-कायत्वान्निराकारत्वात्केशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वात्। न च निरुक्तकारेणाऽपि तादृशव्याख्यानस्य कृतत्वात्। यथा—  
“यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णुं स्त्रिधा निदधे पदं त्रेधा-  
भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शक्रपूणिः। समारोहणे

विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढस्य पांसुरेप्यायने  
ऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते । अपि वोपमार्थे स्यात्समूढस्य पांसुल  
इव पदं न दृश्यते इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः  
शेरत इति वा, पसनीया भवन्तीति वा ।" निरु० १२। १६ ॥

गयशिरसीत्यत्र गय इत्यपत्यनाम । निघ० २। १० ॥  
प्राणावै गयाः । शतपथे १४। ७। १। ७। ऋत्वेदे तु १। २२। १७  
पांसुरे इति पाठः ॥ यजुर्वेदेऽपि ५। १५ ॥ पृष्ठे ९ ॥ ( २२२ )

भाषाये:—( विष्णुः ) यज्ञ वा परमेश्वर ( इदम् ) इस जगत् को [त्रेधा]  
पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः इन ३ प्रकार से (विवक्रमे) पुरुषार्थयुक्त करे वा  
करता है और ( अथ ) इस जगत् के ( पांशुसुले ) प्रत्येक रज वा परमाणु  
में समूढम्) अदृश्य (पदम्) स्वरूपको (निदधे) निरन्तर धारण करे वा करता है ॥

मले प्रकार अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक  
में फैले और अपने अदृश्य स्वरूप को जगत् के रज २ में पहुँचावे । अथवा  
व्यापक परमात्मा ने पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक को तीन प्रकार से वि-  
क्रम=पुरुषार्थयुक्त किया है और जगत् के प्रत्येक परमाणु तक में अपने  
अदृश्य स्वरूप को अन्तर्गामी रूप से वर्तमान कर रक्खा है ॥

इस मन्त्र को सायणाचार्य ने त्रिविक्रमावतार पर लगाया हो सो  
निर्भूल है । क्योंकि परमेश्वर अनाप होने से निराकार और क्लेश कर्म विपाका-  
शयों से छुवा हुआ नहीं है । और निरुक्तकार ने भी इस में वायनाउद-  
तार का ग्रहण नहीं किया । नैसा कि निरुक्त १२। १९ “ व्यापक विष्णु ने  
इस सब जगत् को तीन प्रकार के होने को विक्रान्त किया है १ पृथिवी, २  
अन्तरिक्ष, ३ द्युलोक, यह शकपूर्ण भाषाचार्य का मत है । १ समारोहण, २  
विष्णुपद, ३ गयशिर, यह और्णवाभ का मत है । उस का पद अदृश्य हो वा  
उपमा है कि जैसे रेत में पांश नहीं दीखता । पांसु रेणु का नाम है क्योंकि  
वे पांशों से उत्पन्न होतीं वा पड़ी सोती हैं ” इत्यादि ॥ गयशिरसि में गय  
सन्तान का नाम निघण्टु २। १० के अनुसार और शतपथ १४। ७। १। ७ के  
अनुसार प्राण का नाम भी गय है ॥ ऋ० १। २२। ७७ और यजुः ५। १५ में  
“ पांसुरे ” पाठ है ॥ पृ० ९ ॥ ( २२२ )

६० ति० भा० १६९ में-

भद्रोभद्रया सचमान आगात् स्वसारम्भारोअभ्येति पश्चात् ।  
सुप्रकेतैद्युभिरग्निर्यतिष्ठन्नुशद्विर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥

यदा (भद्रः) भजनीयः श्रीरामः ( भद्रया ) भजनीयया  
श्रीसीतया ( सचमानः ) सहितः ( आगात् ) आगच्छति  
देहे प्रादुर्भवति तदा ( जारः ) रावणः ( स्वसारम् ) ऋषीणां  
रुधिरणोत्पन्नत्वाद्भगिनीतुल्यां सीतां ( अभ्येति ) अभि-  
गच्छति ( पश्चात् ) अन्तकाले ( अग्निः ) क्रोधेन प्रज्वलितो  
रावणः ( अभितिष्ठन् ) युद्धे श्रीरामस्य सन्मुखे तिष्ठन् सन्  
( सुप्रकेतैः ) सुप्रज्ञानैः ( उशद्विः ) श्वेतैः ( वर्णैः ) द्युतिभिः  
कुम्भकर्णादीनां जीवात्मभिः सह ( रामम् ) श्रीरामरूपं  
विष्णुं ( अस्थात् ) विष्णोः सामीप्यतां प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ-भद्र राम भद्रा सीता जी के पास प्रकट हुये तब जार रावण ने  
ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण भगिनी समान जानकी को हरण  
किया पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सन्मुख होकर कुम्भकर्ण  
आदि के जीव आत्माओं के साथ श्रीराम की सामीप्यता को पाया ॥

सत्तर-धन्य हो ! भद्र=राम । भद्रा, स्वमा=सीता । अग्नि=रावण ।  
वर्ण=कुम्भकर्णादि के जीवात्मा । ये जो आपने अर्थ किये, इन में व्याकरण  
निरुक्त कोष निघण्टु ब्राह्मणग्रन्थादि किसी का भी कुछ प्रमाण है वा भाष  
को आकाशवाणी हुई ? कृपा करके संदिता के पुस्तक में देखिये कि इस  
मन्त्र का " अग्नि " देवता है । निरुक्त के मतानुसार-

या तेनीच्यते सा देवता

जिस का मन्त्र में वर्णन हो वह देवता उस मन्त्र का होता है । तदनु-  
सार अग्नि देवता का वर्णन इस मन्त्र में है । हम जो अर्थ करेंगे सो तो  
सांख्यवेदाङ्ग ( हमारे किये ) में देखियेगा ही, परन्तु अभी सायणाचार्य के



भाष्य से ही सन्तोष करिये और जानिये कि इस में राम कीता का वर्णन नहीं है। इस मन्त्र से पूर्वछे-

३ १२ १२ ३ १२

कृष्णां यदेनीमभि-इत्यादि

मन्त्र का भी अग्नि देवता है। और इससे अगले-

१ २

३

कया ते अग्ने अह्निर-इत्यादि

मन्त्र का भी अग्नि देवता है। फिर बीच में रावण कहां से जाय कुदपड़ा ?

सायणाचार्यभाष्यम्

३२ ३२ ३ १ ५ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ५ २ ३ ५ २ ३ ५

भद्रोभद्रया सचमानआगात् स्वसारज्जारोअभ्येति पश्चात्।

३ १२ २२ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ २

सुप्रकेतैद्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्विर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥३॥ ५ ॥

“भद्र.” भजनीयः कल्याणः “भद्रया” भजनीयया सचमानः

“आगात्” आगच्छति । ततः पश्चात् “जारः” जरयिता

शत्रूणां “सोऽग्निः” “स्वसारं” स्वयं सारिणीं भगिनीं वा

आगतामुषसम् “अभ्येति” अभिगच्छति । तथा “सुप्रकेतैः

सुप्रज्ञानैः “द्युभिः” दीप्तिभिस्तेजोभिः सह “वितिष्ठन्”

सर्वतोवर्त्तमानः सोऽग्निः “उशद्विभिः” श्वेतैः “वर्णैः” वार-

कैरात्मीयैस्तेजोभिः “रामम्” कृष्णं शर्वरं तमः “अभ्य-

स्थात्,, सायंहोमकाले अभिभूय तिष्ठति ॥ ३ । ५ ॥

सायणकृत भाष्य का भाषार्थ-भजनीय भजनीया के सहित जाता है।

(तिष्ठन्) शत्रुओं का नाशक वह अग्नि, स्वयं चलने वाली वा अग्निनी

जाई हुई तथा के सामने जाता है। तथा उसे प्रकार प्रधान-तेजों के

साथ सब ओर वर्त्तमान वह अग्नि, श्वेतवर्ण रोकने वाले अपने तेजों से

“रामम्” काले रात्रि के अंधियारे को सायं होमकालमें तिरस्कार करके

स्थित होता है॥

आप तो 'राम' का अर्थ दाशरथि करते हैं और सायणाचार्य 'राम, का अर्थ "काला अंधियारा" करते हैं, कहिये आप का अर्थ साने वा आप के गाननीय सायणाचार्य का ? आप ने तो "व्यत्यय" के सहारे और बहुत के सहारे वेद का अर्थ करना हमी ठट्ठा समझ लिया है । इस यह नही कहते कि सायणाचार्य का भाष्य सन्देहरहित है परन्तु हां, आप के पक्ष के आचार्य का भाष्य भी आप के अर्थ का पोषक नहीं, इस लिये हमने यह भाष्य उद्धृत किया है ॥

अथ तीसरे कृष्णाऽवतारमायक मन्त्रकी व्यवस्था सुनिये:—

४० ति० भा० पृ० १६८ में मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है:—

कृष्णान्तएमरुशतः पुरोभाश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकं ।

यदप्रवीतादधतेह गर्भं सदाश्चिज्जातोभवसीदुदूतः ॥

अ० सं० ४ सू० ७ सं० ९ अ० १

पद-कृष्णं ते एम रुशतः पुरः भाः चरिष्णु अर्चिः वपुषाम् इत् एकम् यत् अप्रवीता दधते ह गर्भम् सद्यः चित् जातः सवमि इत् उदूतः ॥

कृष्णान्तेएम इति, हे भूमन् ! ते तत्र रुद्ररूपेण पुररितस्त्री रुशतो नाशयतः यद्वा पुरःस्थूलसूक्ष्मकारणदेहान् असत-स्तुर्यस्वरूपस्य यत्कृष्णं भाः सत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं तत् एम प्राप्नुयाम यस्य एकमिति एकमेव अर्चिज्ज्वालावदंश-मात्रं समष्टिजीवं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु चरिष्णुभोक्तृ-रूपेण वर्तन्ते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतं गमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्धगतिर्निगुडे अस्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकीपुत्रायति-छान्दोग्ये देव-क्या एव कृष्णमातृत्वदर्शनात् सा गर्भं स्वगर्भं दधते धार-यति दध धारणे इत्यस्य रूपमहं प्रसिद्धं सः त्वं जातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्य इदुसदाएव उनिश्चितंदूतः दुनोतीतिदूतः मातुः खेदकरोऽतिवियोगदुःखप्रदो भवसीत्यर्थ एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितम् ॥

भाषार्थः—हे भूमन् ! आप का जो सत्यानन्दचिन्मात्र रूप है और रुद्र रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रहण करने वाला रूप तुरीयात्मना तिम कृष्णभा रूप को हम प्राप्त होयें, जिस आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृ रूप से वर्तमान है, और जो कृष्णभा को अप्रतीता अर्थात् निगहप्रस्त देव को गर्भ रूप से धारण करती भई । छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुती है, हे भूमन् आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पान से पृथक् दुग्ध, इससे श्री कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और गह्वरावतार तथा जीव को पूर्व निरूपित चिदशत्व बोधन किया

प्रत्युत्तर—कद्रिये । ये अनर्थ कहां से उड़ाया है ! जिस में—ग्रस्त, जीव, वर्तते, इदं, उनिश्चितं, ग्रस्त का अर्थ ग्रहण करने वाला । धन्य भाष्यकर्ता जी ! यथार्थ में इस मन्त्र का भी ( देखो संक्षिप्ता चाहें जहां की खरी या लिखी ) अग्नि ही देवता है । जिस से हम में भी अग्नि का वर्णन होना चाहिये । आपने अपने अर्थ में इस को सर्वथा उड़ा दिया । इसका भी सायणभाष्य देखिये:—

“हे अग्ने ! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शब्देन गमनमार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णवर्णं भवति । भातत्र सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरुस्ताद्भवति । चरिष्णु संचरणशीलम् अर्चिंस्त्वदीयं तेजःवपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः । एकमिदं मुख्यमेव भवति यत् यं त्वम् अप्रतीता अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु । स त्वं सदाश्रितसदाएव जात उतपन्नः सन् दूतोभवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव”

सायणाचार्य कृत भाष्य का भावार्थ—हे अग्ने ! तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण ( काला ) है । तेरा प्रकाश आगे रहता है । चलने वाला तेरा तेज ही संपूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है । जिस तेरे समीप न गये हुये यजमान लोग क्योंही तेरे गर्भ रूप अरणि को धरते हैं त्योंही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है ॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि का मार्ग काला है। अहां होकर आग निकलती है वहां काला पड़ जाता है। आग के साथ २ जाने २ उसका प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का ही प्रकाश तरवरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्नि को यज्ञकर्ता यज्ञमान लोग जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं, तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यज्ञमान के दिये हुए हविर्भाग, वायु आदि द्रव्यों को पहचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदों में बहुधा गायामा है ॥

इस अर्थ के अनुसार, जिस के मानने से सगतानी लोग इन्कार नहीं कर सकते क्योंकि हमारा किया अर्थ नहीं है किन्तु सायणाचार्य का किया है इस में कहीं देवकी और कृष्ण का पता नहीं चलता ॥

२० ति० भा० पृ० १६८-१६९ में—सपर्यगाच्छुक्रमऽकायम्० । इस मन्त्र में परमात्मा के देहरहित होने के स्पष्ट वर्णन को छिपाने का उद्योग किया है। परन्तु उस में भी स्वयंप्रकाशस्वरूप माना है। जितने प्रकार के आकारों की सगतातन्धमी आज कल पूजते फिरे हैं उन सब आकारों का और देहों का तो यहां आपने भी निषेध ही स्वीकार किया है। हां, “स्वयम्भूः” पद से ब्रह्मा, विष्णु आदि अवतार सिद्ध करने में गीता का प्रमाण दिया है। सब लोग जानते हैं कि स्वयंभू का अर्थ जगदि, स्वयं वर्तमान, किसी से जन्म न लेने वाला, है। गीता के श्लोक का अर्थ यह है—

अजोऽपि सन्नवययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ गी० १४ ॥

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मैं जीवात्मा ( अज हूं ) अर्थात् शरीर का जन्म हुआ है, भूत जीवात्मा का नहीं। और मेरा आत्मा अविनाशी है अर्थात् शरीर का नाश होता है, मैं (अव्ययात्मा) अविनाशी हूं। (और भूतों का ईश्वर) अर्थात् पञ्चमहाभूतों का स्वामी हूं। मेरे अधीन पञ्चमीतिक शरीर चलता फिरता है। ( अपनी प्रकृति का अधिष्ठाता होकर अपनी प्रकृति के साथ जन्म लेता हूं ) अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा से मिलकर मेरा जन्म कहाता है ॥

श्री कृष्णवन्द्य ज्ञानी होने से यह भेद जानते थे कि जीव जन्म है। शरीर जन्मते मरते हैं। इस में परमेश्वर का कुछ भी वर्णन नहीं। श्री कृष्ण को परमेश्वर जगत्कर्ता मानना अज्ञान और भ्रमसाय है ॥

६० ति० सा० पृ० १६९ पं० २३ में—“चक्रपाणिः स्वाहा” । इन को मैत्र-  
पत्नी शाखा का वाक्य लिखकर अकार अवतार दोनों मिट्टु किये हैं ॥

प्रत्युत्तर—चक्रपाणि शब्द जाने मात्र से अनकञ्चुतिप्रतिपादित परमात्मा  
के एकरस स्वरूप में बाधा नहीं आती, न उस की साकारता मिट्टु होती है ।  
चक्रं संसारचक्रं पाप्मी अधीनतया वर्तमानं यस्य स चक्रपाणिः “संसारचक्र  
जिन परमेश्वर के हाथ में है अर्थात् परमेश्वर के अधीन है । हाथ कहने से  
अधीन होगा ही तात्पर्य है । लोक में भी “हाथ” का अर्थ “तदधीन” देखा  
जाता है । जब कहते हैं कि पढ़ाना गुरु का काम है परन्तु याद करना  
विद्यार्थी के “हाथ” है । तो क्या “हाथ” से याद किया जाता है ? नहीं,  
यहां हाथ का तात्पर्य अधीन है । अथवा कहा जाता है कि सारी प्रजा  
राजा की मुट्ठी में वा हाथ में है । तब क्या प्रजा साकार मुट्ठी में बन्द होती  
समझी जाती है ? कभी नहीं । किन्तु अधीन ही समझी जाती है । श्वेता-  
श्वतरोपनिषद् में भी कहा है कि—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥ ३ ॥ १७ ॥

परमात्मा के कोई इन्द्रिय नहीं परन्तु सब इन्द्रियों से होने वाले काम  
विना इन्द्रियों के कर सकता है और करता है ॥

६० ति० सा० पृ० १६९ पं० २५ से—प्रजापतिश्चरति गर्भे ॥ इस सप्तम से  
अवतार साधे हैं ॥

प्रत्युत्तर—सन्त्रार्थ सुनिये—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरऽजायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

यजुः ३१ ॥ १९ ॥

अर्थ—जो ( अजायमानः ) आप देहयुक्त नहीं होता ( प्रजापतिः ) प्रजा  
का रक्षक ( गर्भे ) गर्भस्थ जीवात्मा में और ( अन्तः ) सब के हृदय में  
( चानि ) वर्तमान है ( बहुधा ) बहुत प्रकारों से ( विजायते ) विविध  
प्रकट है ( तस्य ) उस के ( योनिम् ) स्वरूप को ( धीराः ) भीतर ध्यान  
करने वाले लोग ( परिपश्यन्ति ) सब ओर देखते हैं । ( तस्मिन् )  
उस ही में ( विश्वा भुवनानि ) सब लोक लोलान्तर ( तस्थुः ) ठहरे हैं ॥

अब इस से जन्म धारण करना वा गर्भवास को प्राप्त होना जतिमात्र

होता तो " ( परिपश्यन्ति ) सब ओर देखते हैं"। क्यों कहा जाता। क्योंकि देहधारी सब जगह नहीं देखा जाता। और " ध्यान करग वाले देखते हैं"। हम का यही तात्पर्य है कि चर्मे चक्षु से नहीं दीखता किन्तु आत्मा ही में ध्यान करने से दीखता है। 'और बहुत प्रकार प्रकट है' का तात्पर्य यही है, कि जहां देखो वहां परमेश्वर की महिमा दृष्टि पड़ती है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिन में उस की अनीखी कारीगरी न दीखती हो ॥

इस मन्त्र के सही धरताप्य में भी अवतार विशेष का प्रतिपादन नहीं है। हां जीव ब्रह्म को एक मान कर सब जगत् में जितने जीव संपन्न होते हैं, कौट पतङ्गादि सब ब्रह्म ही हैं। यह तो ज्ञानवश प्रतिपादित किया है ॥

६० ति० भा० पृ० १७० पं० ३ से

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽजोऽस्यैकपादहिरसिबुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि  
सदाऽसि क्रुतस्यदारौमामासन्तस्तमध्वनामध्वपते प्रमांतिरस्व  
स्तिमेस्मिन्पृथिव्याने भूयात् ॥ यजु० । अ० ५ मं० ३३

हे भगवन् आप ( विश्वव्यचाः ) विश्वं बहुरूपं व्यनक्तीति विश्वव्यचाः अपने में बहुरूपों की प्रगट करनेवाले समुद्रवत् विस्तृत है, जैसे समुद्र अपने में तरङ्ग बुद्बुद् अपने से अनन्य स्वाभाविक प्रगट करता है, तद्वत् आप भी अपने बहुरूप अवतार प्रगट करते हैं ( प्रश्न ) यदि अनेक अवतार जुवे तो परमात्मा को जन्मवत्त्व होना चाहिये ( उत्तर ) " अजोसि एकपात् " एकपादरूप हे भगवन् आप यद्यपि मायासहित हैं तथापि त्रिपाद आप का रूप ( भज ) सर्वथा जन्मप्रतीत शून्य है सोई श्रुत्यन्तर में कहा भी है:-

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि

यह ब्रह्माण्ड एक पाद में स्थित है और त्रिपाद हम ब्रह्म का स्वर्ग में स्थित है और आप अहिर्बुध्नरूप मध्यस्थान देवता हैं इसी कारण ति० पं० अ० ४ ख० ५ में अहिर्बुध्न्यानाम मध्यस्थान देवता कहा है वहां इन्द्र का नाम अहिर्बुध्न है हे भगवन् आप ही १ परा २ पश्यन्ती ३ मध्यमा ४ वैखरी वाग रूप हैं, और इन्द्र को सभा रूप भी आप ही है, हे परमात्मन् ( अतस्य ) घन वा सत्य के द्वारा उपाय मुझको प्राप्त होवै है ( अध्वपते ) देवयानमार्ग के अधिष्ठाता आप आसतम परमात्मरूप ( सा अध्वनां प्रतिर ) मुझे मार्ग को

प्राप्त कर उत्तीर्ण करो, हे भगवन् ! इस देवयानमार्ग में मुझे कल्याण प्राप्त हो, इत्यादि अवतार बोधक सहस्रों ही मन्त्र हैं, जिसे विद्या हो चारों वेदों में देखले, इन मन्त्रों से त्रिपादस्थान में अग्रतः वा सायाकृत जन्म होने से भी अग्रतः सिद्ध होगया ॥

प्रत्युत्तर—यदि आप गङ्गाधर को भी जानते होते तो भी यह विरुद्धार्थ न करते । गङ्गाधर ने इस मन्त्र को यज्ञ में १-ब्रह्मासनम् ( समुद्रोत्थि० ) २-शालङ्कार्यम् ( अजोत्थि० ) । ३-प्राजहितम् ( अहिरत्थि० ) । ४-सदोऽभित-  
शंनम् ( वागत्थि० ) । ५-द्वार्यम् ( श्रवत्थि० ) । ६-सूर्योऽभिमन्त्रणम् ( अध्वपते० ) इस प्रकार कात्यायन के ( ८ । ८ । २२-२३ ) के प्रमाण से यज्ञार्थों पर लगाया है । अर्थात् १-ब्रह्मासन की प्रशंसा । २-शालङ्कार में स्थित अग्नि की प्रशंसा । ३-पक्षीशाला के पश्चिमकी ओर पुराणा गार्हपत्यनामक अग्नि=प्राजहित कहाता है उसकी प्रशंसा । ४-सद्वक्की प्रशंसा । ५-द्वारशालाओं की प्रशंसा और-सूर्यकी प्रशंसा में लगाया है । आप अवतार सिद्ध करते हैं । यह भन्धेरे । ( विश्वव्यथाः ) का अर्थ प्रत्यक्ष है कि विश्व=जगत् में व्यापने वाला । आप उस में स्वयंसर्वकृतापन्न बताते हैं । समुद्र की उपमा आप बुद्धिद्वारा वि-  
कारांश में लेते हैं, ब्रह्म निर्विकार है । ( अजोऽति एकपात् ) में आप “पा दोस्य विश्वःसूनात्ति०” का प्रमाण चलटा देते हैं । क्योंकि आप के लेखानु-  
सार भी त्रिपात् अज है और एकपात् सृष्टि में है इस लिये सज्जमा हुआ तो “अजोऽति एकपात्” की संगति नहीं लग सकती । और “एकपात्” का अर्थ जिस के एक देश में जगत् है “अज” का अर्थ अजन्मा लेने से स्वामी जी का पक्ष ठीक रहता है कि वह एकरस होने से किसी देहविशेष में वि-  
शेष भाव में नहीं रहता, अर्थात् अवतार नहीं लेता । और अहिर्बुध्न्य षड्द से यहां निघण्टु में लिखे मध्यस्थान देवता का ग्रहण करोगे और परमेश्वर विषय में इस मन्त्र को लगाओगे तो तुम्हारे मत में परमात्मा व्युत्थान और पृथिवीस्थान नहीं । केवल मध्यस्थान है । अतः आप का परमात्मा सर्वव्यापक भी नहीं रहा अब इस का ठीक अर्थ सुनिये—

हे परमेश्वर ! आप (समुद्रोत्थि) ऐसे हैं जिसमें सब प्राणियों का गन्तावगमन है ( विश्वव्यथाः ) जगत् में व्यापक और ( अजः ) अजन्मा ( अति ) हैं ( एकपात् ) जिस के एक देश में जगत् स्थित है ( अहिः ) व्या-  
पक ( बुध्न्यः ) आकाश में होने वाले ( अति ) हैं ( वाक् अभि ) आप

जगत् की वाणी हैं, आप के बिना कोई बोल नहीं सकता । (ऐन्द्रमदःअसि)  
ऐश्वर्य का स्थान है । (आनन्द्यद्वारी) उपवहार के दो द्वार प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष (मा)  
मुक्ते ( मा सत्तामम् ) दुःख ग दें ( अश्वपते ) हे धर्ममार्ग के पालक ! ( मा )  
मुक्ते ( अश्वनाम् ) धर्म और शिल्प के मार्गों को ( प्रतिर ) पार कीजिये  
और ( ने ) मेरे ( अस्मिन् देवयाने ) इस देवों के चलने योग्य ( पयि )  
मार्ग में ( स्वस्ति भूयात् ) सुख हो ॥

( य आत्मनि तिष्ठन् ) इस में स्पष्ट यह कथन है कि जो परमात्मा,  
जीवात्मा में उपापक है ( यस्यात्मा शरीरम् ) जीवात्मा जिस के शरीरवत्  
है । शरीर में जीव रहता है, जीव में परमात्मा रहता है ॥

६० ति० भा० पृ० १७० पं० २७ में— ( प्रजापतिश्चरति गर्भे ) इस कृति से  
प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट होने से ईश्वर को एकदेशीय होना चाहिये । उपापकत्व  
का भङ्ग होगा ॥

प्रत्युत्तर—आप तौ (प्रजापतिश्चर०) का अर्थ यह कर चुके हैं कि राम  
कृष्णादि होने के लिये गर्भ में आता है । जब भूल कर सब के शरीरों में  
प्रविष्ट बताने लगे । नहीं २ यह पाठ आप ने किसी माधुसिंहादि से लिया  
होगा और वह पाठ अन्य किसी से । आपका क्या दोष है । आप का कुछ  
घर का घोड़ा ही है ॥

भला कोई पूछे कि सब शरीर में एक ही परमात्मा व्यापक है तो  
व्यापकत्व का भङ्ग और एक देशीयता का प्रसंग कहाँ जाता है ? प्रत्युत  
राम कृष्णादि के किसी देहविशेष में जाने से उपापकत्व का भङ्ग होता  
है । सब शरीरों में भोगरहित परमात्मा का मानना दोष नहीं । परन्तु  
रामकृष्णादि में भोगायतन शरीरधारी मानना उस में दोषारोपण है ।  
भास्कर शब्द का अर्थ स्वरूप नहीं है किन्तु चक्षुः का विषय है । और  
यदि आप अपने समाना भास्कर शब्द का अर्थ स्वरूप मानते हैं, तो  
सच्चिदानन्दस्वरूप मात्र तौ हम भी परमात्मा को मानते हैं । शून्य नहीं ।  
परन्तु आप जिस जड़ की पूजा को सिद्ध करना चाहते हैं वह पूजा परमात्मा  
के ऐसे सूक्ष्मतमस्वरूप में कि जहाँ शांति आदि इन्द्रियां तौ क्या ? मन बुद्धि  
आदि भी नहीं पहुँच सकते हैं, वहाँ मूर्तिपूजा को आप के लेख से क्या सहारा  
पहुँच सकता है ?

६० ति० भा० पृ० १७१-१७२ में महाभारत और रामायण के श्लोक  
अन्तार विषय में प्रमाण दिये हैं ॥



प्रत्युत्तर-महाभारत के प्रमाणों के विषय में आगे उत्तरार्ध' एकादश समुदास में भोज केसंजीवक ग्रन्थ का प्रकरण देखिये । और रामायण के लिये भी वहीं "अत्रपूर्वं महादेवः" के उत्तर में देखिये ॥

६० ति० भा० पु० ११२ पं० १२ से—

यह उग की मूल है जो कहते हैं कि वेद सन्त्रों में इतिहास नहीं होता बहुत से सन्त्र इतिहासमिश्रित निरुक्त में व्याख्यान किये हैं । यथाहि—

त्रितः कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौतत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृद्मि  
मिश्रगायामिश्रं भवति नि० अ० ४ पा० १ खं ६

कूप में पड़े हुए त्रित नामक ऋषि को यह अधो लिखित सूक्त प्रतीत हुआ वहाँ ब्रह्म वेदवाक्य इतिहास मिश्रित ऋषायुक्त हैं और गायामिश्रित हैं

त्रितः कूपेऽवहितोदेवान्भवत ऊतये ऋ० मं० १ अ०-१५

सू० १०५ मं० १७

अर्थ कूप में गिरा हुआ त्रितऋषि देवताओं की उक्ति नाम रक्षा के वास्ते ( इच्छते ) जाह्नुग करता हुआ, यहाँ यह इतिहास शास्त्रायन शाखा में प्रसिद्ध है एकत् द्वित और त्रित नामक ऋषि ये, ये तीनों एक समय पर सहस्रानि में प्यास से मत्स्य हुए एक कूप पर पहुँचे तिनतीनों में त्रित जल पान करने को कूप में प्रवेश कर जल पी उग दोनों के अर्थ भी जल लाया, उन्होंने ने जल पी लिया पीछे फिर तीनों कूप के द्विग पानी पीने के बहाने गये, और त्रित को कूप में डूबेल उस के ऊपर रथचक्र धर सब उस का जालमत्ता लेके चले दिये तब त्रित ने देवताओं की स्मरण किया और कूप से निकले यह इतिहास हम सन्त्र में वर्णित है इस से जो कहते हैं वेद में इतिहास नहीं है वे असत्य हैं ॥

प्रत्युत्तर-( त्रितः कूपे ) पाठ निरुक्त में नहीं है किन्तु—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ ।

तत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृद्भिर्गायामिश्रं भवति । निरु० ४ । ६

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि—एक समय त्रित नाम ऋषि कूप में पड़े थे । उन्हें उस समय ( संन्यातपण्डितः ) इत्यादि सूक्त याद आगया ( तब ) उस समय-वेद, इतिहास, गायामिश्र मिल गये ॥

अर्थात् वेद में आनादि काव्य से योग्यकृद् त्रितशक्यसूक्तसूक्तवर्तमान या

किन्तु इतिहास वा गायत्रि न थी। परन्तु त्रित की दैवयोग से यह सूक्त याद आया तब उभने भपने करार घड़ाया। इनसे शाखोक्त इतिहास और मूल ऋग्वेद के मन्त्रों का भाव गिनगया। जो गायत्रि आप त्रित आदि तीन भाइयों की लिखते हैं उसे शाखा में ही आप भी बताते हैं। मूल में नहीं। वेद के व्युत्पत्ति रूप शाखाओं में भी स्वामी जो भी इतिहास मानते हैं, परन्तु मूल वेद में नहीं। अब मन्त्र का अर्थ सुनिये—

त्रितः कूपेर्वहितो देवान् हवत ऊतये० ऋ० १। १०५। १७

(त्रितः) त्रीन्विषयान्विद्याशिक्षाब्रह्मचर्याख्यान्तनोति सः। अत्र उपपदात्तनोतेरीणादिकोडः। “त्रितस्तीर्णत-  
योमेवया” इत्यादि निरु० ४। ६॥ (कूपे) कूपाकारे  
गर्भारे हृदये। “कूप्यतेर्वा” निरु० ३। १९॥ यस्मादुधृदयात्  
क्रोधादय उत्पद्यन्ते तत्र (अवहितः) अवस्थितः (देवान्)  
दिव्यगुणान्वितान्विदुषो दिव्यान्गुणान्वा (हवते) गृह्णाति॥

अर्थ—(त्रितः) ३ विद्या शिक्षा ब्रह्मचर्य नामक विषयों का विस्तार  
करने वाला पुरुष (कूपे) गहरे हृदय में (अवहितः) ध्यानावस्थित हुआ  
(देवान्) विद्वानों वा दिव्य गुणों की (हवते) ग्रहण करता है॥ अत्रादि-  
कोष, निरुक्त ४। ६ और ३। १९ के प्रमाण संस्कृत में ऊपर देखिये॥

ब० ति० भा० पृ० १७२-७३ में—

“अपां फेनेन०” और “इन्द्रोदधीचः” इन दो मन्त्रों में इतिहास का  
अर्थ किया है॥

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों का अर्थ सुनिये—

अथाऽऽभ्याः-शेषसूक्तयश्चसूक्तिनाम्नी। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

३ ११ २२ ३ १२ ३ १ २

अपां फेनेन नमुचः शिर इन्द्रोदधर्त्तयः।

३ ११ २२ ३ १ २

विश्वा यदजयः स्पृधः॥ ८॥ (२११)

पदापठः—अपाम् ६। फेनेन ३। नमुचः ६। शिरः २। इन्द्रो २०। उदध-  
र्त्तयः १०। विश्वाः २। यत् ७०। अजयः १०। स्पृधः २॥

अन्वितपदार्थः—( इन्द्र ) परमेश्वर ! वा वृष्टिकर्त्तः !  
 ( अपाम् ) जलानाम् ( फेनेन ) वृद्ध्या सह वर्त्तमानम्  
 ( नमुचेः ) यदा जलं न मुञ्चति तदा तस्य मेघस्य ( शिरः )  
 उन्नताङ्गम् ( उद्भवत्तयः ) छिनत्सि ( यत् ) यदा हि ( विश्वाः )  
 समस्ताः ( स्पृधः ) स्पृधामामाः मेघराजीः ( अजयः ) जयसि  
 पक्षान्तरे पाप्मा वै नमुचिः । शतपथे १२ । ७ । १ । ४ ॥

पूर्वमन्त्रोक्तयज्ञफलमाह—यज्ञेन परमात्मा पापस्य,  
 वृष्टिकृद्विदुश्शेषो वा जलममुञ्चतो मेघस्य शिरश्छिनत्ति  
 वर्षाः करोति च ॥

स्फायो वृद्धौ इत्यस्मात्, फेनमीनौ ( उणा० ३ । ३ )  
 इति फेनशब्दो निपात्यते ॥ प्रातरिति—स्वरादि निपातमव्य-  
 यम् ( १ । १३० ) इत्यन्तोदात्तत्वेन पठितत्वादन्तोदात्तत्वम्  
 तत्र तथाविधगणपाठपाठ एव नियामकः ॥ ऋग्वेदे ८ ।  
 १४ । १३ ऽपि ॥ ८ ॥

भाषार्थः—( इन्द्र ) परमेश्वर ! वा वृष्टिकारक इन्द्र ! ( अपाम् ) जलों  
 की ( फेनेन ) वृद्धि के सहित वर्त्तमान ( नमुचेः ) जल को न छोड़ने वाले  
 मेघ के ( शिरः ) उन्नताङ्ग की ( उद्भवत्तयः ) छिन्न करता है ( यत् ) जब  
 ति ( विश्वाः ) समस्त ( स्पृधः ) स्पृधा करने वाली मेघा के समान मेघ की  
 पक्षियों की ( अजयः ) जीतता है ॥

पक्षान्तर में—शतपथ १२ । ७ । ३ । ४ के अनुसार नमुचि पाप का नाम  
 है । सूर्य मन्त्र में लिखे यज्ञ का फल इस मन्त्र में वर्षा होना कहा गया है ।  
 अष्टाध्यायी ११ । ३७ का प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखिये । ऋ० ८ । १४ । १३ में भी ॥ ८ ॥  
 गीतस ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २  
 इन्द्रो दधीचो अस्थमिर्वृत्राण्यप्रतिष्कृतः । जघान नवतीर्नवध्रु

पदपाठः—इन्द्रः १ । दधीचः ६ । अस्थमिः ३ । वृत्राणि २ । नप्रतिष्कृतः १ ।  
 जघान क्रि० । नवतीः, नव २ ॥

अन्वितपदार्थः—( अप्रतिष्कृतः ) परैरप्रतिशब्धितः  
 ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् सूर्यइव राजा ( दधोचः ) “प्रत्यक्तम-  
 स्मिन्ध्यानमिति” निरु ११२ । ३३ दध्यङ् तस्य समीचः पदार्थ-  
 जानस्य ( अस्यभिः ) अस्यन्ते प्रक्षिप्यन्ते तैः किरणैरिव  
 बाणैः ( नव, नवती. ) दशोत्तराण्यष्टशतानि ८१० ( वृत्राणि )  
 आवरणकराणि तमांसीव शत्रुसैन्यानि मेघान्वा ( जघान )  
 हन्ति ॥

अस्यभिः इत्यत्र—असु क्षेपणे इत्यस्मात्, असिसञ्ज्ञि-  
 भ्यां विथन् ( उणा० ३ । १५४ ) इति विथन् ॥

संख्याङ्केषु नवराङ्कोहि सर्वैर्गुणितोऽपि नवभावमापद्यते।  
 यथा—द्वाभ्यां गुणिता नव १८ । तत्र १+८=९ ॥ त्रिभिर्गुणिता  
 नव २७ तत्र २+७=९ ॥ चतुर्भिर्गुणिता नव ३६ । तत्रापि  
 ३+६=९ ॥ पञ्चभिर्गुणिता नव ४५ । तत्रापि ४+५=९ ॥ एवमग्रेऽपि  
 सर्वत्र, अतएव इयं नवात्मकैव संख्या पुनः पुनस्तद्वभावमा-  
 पद्यमानासु शत्रुसेनासु मेघावयवेषु वाऽत्युचिता विन्यस्ता-  
 स्ति । आदौ गुणत्रयभेदभिन्ना त्रिधा सेना, ततः कालभेद  
 भिन्ना नवधा ९, ततः शक्तिभेदभिन्ना सप्तविंशतिधा २७ ।  
 प्रभावोत्साहमन्त्रजास्त्रिविधाः शक्तयः । तत उत्तमाऽधम  
 मध्यमभेदेन एकाशीतिधा ८१ । तत्रापि दशदिगन्तर्गतत्वा-  
 द्दशधात्वे दशोत्तराणि शतान्यष्ट ८१० ॥ एतत्संख्याका मेघ-  
 प्रकारास्तरस्यानप्रकारा वा ॥

श्रीसायणाचार्यस्तु

“अत्रश्चाकटायनिन इतिहासमाचक्षते—आथर्वणस्यदधी-

घो जीवतो दर्शनेन असुराः परावभूवुः । अथ तस्मिन्स्व-  
गंते असुरैः पूर्णा पृथिव्यभवत् । अथेन्द्रस्तैरसुरैः सह यो-  
द्धुमशक्रुवंस्तमृषिमन्विच्छन्, स्वर्गं गत इति शुश्राव ।  
अथ पप्रच्छ तत्रत्यान्-इह किमस्य किञ्चित् परिशिष्टमङ्ग-  
मस्ति ? इति । तस्मा अत्रोचन्-अस्त्येतदाश्वं शीघ्रं, येन  
शिरसा अश्विभ्यां मधुविद्यां प्राऽग्रवीत्, तत्तु न । त्रिध्नः  
तदग्रभवादिति । पुनरिन्द्रोऽग्रवीत्तदन्विष्यतेति । तद्वा  
अन्वेषिषुः । तच्छर्यणाग्रत्यनुविद्याजहुः ( शर्यणावद्धु वै  
नाम कुक्षेत्रस्य जघनार्धं सरः स्यन्दते ) तस्य शिरसोऽस्थ-  
मिरिन्द्रोऽसुरान् जघानेति” इत्याह ॥

ऋग्वेदेऽपि १ । ८४ । १३ तत्र श्री १०८ स्वामी दया-  
नन्दसरस्वती तु—

“पदार्थः—( इन्द्रः ) सूर्यलोकः ( दधीचः ) ये दधीन्  
वाय्वादीनञ्जन्ति तान् ( अस्यभिः ) अस्थिरश्चञ्चलैः किरण-  
चलनैः । अत्र, छन्दस्यपि दृश्यते । अ० ७ । १ । ७६ अने-  
नाऽनङ्गादेशः । ( वृत्राणि ) वृत्रसम्बन्धिभूतानि जलानि  
( अप्रतिष्कृतः ) असञ्चलितः ( जघान ) हन्ति ( नवतीः )  
नवतिसंख्याकाः ( नव ) नव दिशामवयवाः ॥

अन्वयः—हे सेनेश यथाऽप्रतिष्कृतइन्द्रोऽस्यभिर्नवनव-  
तीर्दधीचो वृत्राणि कणीभूतानि जलानि जघान हन्ति तथा  
शत्रून्हिन्यि ॥

भावार्थः—अत्रवाचकलुप्तो—मनुष्यैः स एव सेनापतिः  
कार्यीयः सूर्यवच्छत्रूणां हन्ता स्वसेनारक्षकोस्तीति वेदम्” इति

सायणोक्तेतिहासादन्यथाविवरणकारमतं आसत्यव्रतः  
 सामश्रम्याह । यथा—“कालषड्जा नाम असुराः । असुरैर्वा-  
 ध्यमाना देवा ब्रह्माणमुपगम्योक्तवन्तः—भगवन् ! कालषड्जै-  
 रसुरैर्वाध्यामहे । तेषां मारणोपायं विधत्स्वेति । अञ्चुत्वा  
 स तानुवाच । दधीचिर्नाम ऋषिस्तमुपगम्य ब्रूत, स मार-  
 णोपायं विधास्यति । ते तञ्चुत्वा तथेत्यङ्गीकृत्य तं दधीचि-  
 मुपगम्य उक्तवन्तः—भगवन् ! अस्मदीयान्यस्त्राणि शुक्रस्तेषां  
 पुरोधा अपहरति, तानि रक्षस्व । ततः स ऋषिस्तानुवाच—  
 मम मुखे प्रक्षिपध्वम् । तत इन्द्रादिभिर्देवैः समरुद्गणैः तस्य  
 मुखे प्रक्षिप्तानि, पुनः कालेन देवासुरसंग्रामे पथ्युपस्थितं  
 एतय, देवा ऊचुः—भगवन् ! तान्यस्त्राणि प्रयच्छस्वास्माकम् ।  
 ततस्तेनोक्तम्—तानि मे जीर्णानि न तानि पुनः प्राप्तुं  
 शक्यानि । ततः प्रजापतिमुखा देवा ऊचुः—भगवन् ! प्राण-  
 त्यागं कुरुष्व । इति श्रुत्वा पुनः कृतश्च तेन प्राणत्यागः  
 तस्य दधीचः स्वभूतैरस्थभिरिन्द्रो वृत्राणि जघान इति ॥ ”

वेदेष्वितिहासस्याऽपौरुषेयत्वव्याघातकत्वात्, इतिहा-  
 सस्य परस्परविरुद्धत्वात् मूलविरुद्धत्वाच्चनाऽस्मन्मनोमन्यतः॥

भाषार्थः—( अप्रतिष्कृतः ) गिम के सामने कोई न ठहर सके ऐसा  
 ( इन्द्रः ) परमेश्वरंयान् सूर्य के तुल्य राजा ( दधीचः ) लक्ष्य पर ध्यान पढ़ने  
 योग्य पदार्थ के रचित ( अस्त्राणि ) किरणतुल्य धारों से ( नव, नवनीः )  
 जी नठवे ८१० ( वृत्राणि ) रोकने वाले शकन्धार वा मेघतुल्य शत्रुना को  
 ( जघान ) मारता है वा मारे ॥

संख्या के शब्दों में ८ शब्द ऐसा है जो किसी संख्या के साथ गुणो, यंग  
 से ८ ही रहता है । जैसे ८ को २ से गुणो तो १८ हुवे, १८ को १ नीर ८ मिलाने  
 से फिर ८ ही हुवे । ८ को ३ से गुणो तो २४ हुवे २+३=८ हुवे । ८ को

४ से गुणा ती ३६ हुवे  $४+६=९$  ही आये । फिर ९ को ५ से गुणिये ती भी ४५ हुवे  $४+५=९$  ही आये । ऐसा ही आगे जानो । जिस कारण ९ की संख्या दूसरी किसी संख्या से हनन करने पर भी पुनः पुनः उसी अपने स्वरूप में होजाती है इस कारण नव नवों के अङ्क से शत्रुसेना को गिना है जो बार बार जुड़ कर उसी स्वरूप से सामने आये ॥

सप्तम रत्नः तमः इन तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार की सेना होती हैं । फिर भूत भविष्यत् वर्तमान इन ३ कालकृत भेद से ९ प्रकार की हुई । फिर प्रभाव उत्साह और सन्त्र इन ३ शक्तियों के भेद से २७ गुणी हुई । फिर उत्तम मध्यम और अधम भेद से ८१ प्रकार की हुई । और दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार हुए ॥

सायणाचार्य इस में इतिहास लिखते हैं कि—“शाकटायनी लोग इस में इतिहास कहते हैं कि जीवते हुवे आथर्वण दधीचि के दर्शन मात्र से असुर हार जाते थे । फिर जब दधीचि स्वर्ग सिधारा ती समस्त पृथिवी असुरों से भर गई । तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ हो, इस ऋषि (दधीचि) को ढूँढते हुवे सुना कि वह ती स्वर्ग को सिधार गया । तब इन्द्र ने वहाँ वालों से पूछा कि यहां उस का कुछ शेष अङ्ग कोई है ? । उस ( इन्द्र ) से कहा कि उस का शिर शेष है जिस शिर से उस ने ऋषियों को मधुविद्या कही थी । परन्तु हम यह नहीं जानते कि वह कहाँ है ? । फिर इन्द्र ने कहा कि उसे ढूँढिये । उन्होंने ढूँढा । उसे शर्यावती में पाय कर ले आये । (शर्यावत् कुक्षेत्र का नाम है ) उस के शिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा ॥ ”

अथर्वे १ । ८४ । १ में भी ऐसी ही ऋचा है और उस पर श्री १८८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इस प्रकार भाष्य करते हैं कि—

“पदार्थः—हे सेनापते ! जैसे ( अप्रतिशक्तः ) सब ओर से स्थिर (इन्द्रः) सूर्य लोक ( अस्थिभिः ) अस्थिर किरणों से ( नव नवतीः ) निम्नान्वे प्रकार के दिशानों के अवयवों को प्राप्त हुवे ( दधीचिः ) जो धारण करने हारे वायु आदि को प्राप्त होते हैं उन ( वज्राणि ) से के सूक्ष्म अवयवरूप जलों का ( जघान ) हनन करता है जैसे तू अनेक अथर्वी शत्रुओं का हनन कर ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप—वही सेनापति होने के योग्य होता है जो सूर्य के समान दुष्ट शत्रुओं का हन्ता और अपनी सेना का रक्षक है ॥ २

सायणचार्याक्त इतिहास से विरुद्ध विवरणकार का मत सत्यव्रत साम-अग्नी जी बताते हैं कि—

“कालवज्र नाम असुर ये, उन असुरों से सताये हुये देवताओं ने ब्रह्मा के समीप जाकर कहा । भगवन् । कालवज्र असुर मत्ताते हैं । उन के मारने का उपाय कीजिये । यह सुन वह ( ब्रह्मा ) उन से बोला कि दधीचि नाम ऋषि है, उस से जाकर कहो, वह मारने का उपाय करेगा । वे (देवता) यह सुन, “अद्भुत अच्छा” कह कर उस दधीचि के समीप गये और कहा कि भगवन् । उन ( असुरों ) का पुरोहित शुक्राचार्य हमारे अश्वों का अपहरण कर लेता है । उन (अश्वों) की रक्षा कीजिये । तब उन ऋषि ने उन ( देवतों ) से कहा कि मेरे मुख में फेंक दो । तब मरुद्गणों सहित इन्द्रादि देवतों ने ( अश्व ) उस के मुख में फेंक दिये । फिर समय पाय देवाऽसुरमङ्ग्यान् जुमा ती देवतों ने भाकर कहा कि भगवन् । वे हमारे अश्व दीजिये । तब उसने कहा कि वे ती मुझे पच गये, अब वे फिर नहीं मिल सके । तब ब्रह्मादि देवतों ने कहा कि भगवन् । प्राणत्याग कीजिये । यह सुन उसने प्राण त्याग दिये । उस दधीचि की अस्थि=हड्डियों से इन्द्र ने वृत्रों को मारा” ॥

वेदों का ऐतिहासिक अर्थ उन की अपौरुषेयता का बाधक, और परस्पर सायण और त्रिवरण का विरोध होने, तथा मूल में इस प्रकार की कथा न होने से, यह अनर्थ हमारे मन को नहीं भाता ॥

निरुक्त १२ । ३३ उणादि ३ । १५४ वा० ७ । १ । ७६ तथा सायणाचार्यादि की समतियों संस्कृतभाष्य में ज्यों की त्यों उद्धृत हैं ॥ ५ ॥

द० ति० भा० पृ० १९२ पं० २१ और फिर पृ० १९३ पं० १६ में “शाकटायन” की शाखा को “शाट्यायन” करके लिखा है । छापेखाने की भूल एक जगह होती परन्तु दोनों जगह एक ही सी भूल नहीं हो सकती । क्या भाव ने सायण के भाष्य में भी शाकटायन शब्द स्पष्ट न देख पाया ?

द० ति० भा० पृ० १९३ पं० २९ में—“सूतं भठयं प्रविष्यं च सर्वं वेदात् प्रतिष्ठिते ॥ मनु” लिखकर बतलाया है कि वेद में त्रिकाल की बातें आसक्ती हैं तब इतिहास होना कुछ दोष नहीं ॥

प्रत्युत्तर—इस का तात्पर्य यह है कि प्रवाह से सदा होते रहने वाले



उत्पत्ति स्थिति प्रलयादि का सब वर्णन वेदों में है। और भूत भविष्यत् वर्तमान काल में जब कभी कोई ऋषि ने किसी विद्याविषय को प्रकट किया, करता है, वा करेगा, सो सब मूलरूप से वेद में है, उसी से प्रसिद्ध मात्र करता है, नया नहीं। परन्तुरामकृष्णादि के नाम धरने उन के पिताआदि के अधीन ये और जिन रावणवधादि का करना रामादि के स्वतन्त्र अधीन था, उन नामों वा कामों का वर्णन वेद में नहीं आ सकता। क्योंकि यदि ऐसा हो कि लोगों से किये जानेवाले पापपुण्यवादि कर्म भी वेद ने प्रथम से ही नियत कर रखे हों तो फिर पाप वा पुण्य ही क्या रहे। मनु में पाठ भी "प्रसिध्यति" है। "प्रतिष्ठते" यह आप का अशुद्ध कल्पित पाठ है। विशेष जीव की स्वतन्त्रता का प्रसङ्ग आवेगा तो लिखेंगे ॥

इत्युत्तरप्रकरणम् ॥

—○:॥:○—

## अथ सर्वशक्तिमत्त्वप्रकरणम्

जो लोग सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह समझते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इस लिये असम्भव देहादिधारणपूर्वक अवतारादि ले सकता है। उसपर स्वामी जी का लेख है कि सर्वशक्तिमान् का ऐसा तात्पर्य समझना भूल है। किन्तु जो कुछ वह अपने सर्वशक्त्यादि अनन्त सामर्थ्य से करता है उस में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। और यदि असम्भव और निष्प्रयोजन बातों में सर्वशक्ति को काम में लाना समझा जावे तो अपने आप को क्या नार भी सकता है? क्या अनेक ईश्वर अपने सद्गुण बना सका है? इत्यदि आशय है ॥ इस पर ६० ति० भा० पृ० १५५ में—

नेमं छिन्दन्ति शस्त्राणि० इत्यादि प्रमाण गीता से देकर लिखा कि कूट छंट और मर नहीं सकता ॥

प्रत्युत्तर—तो फिर भी यह नहीं मान सकते हैं कि सर्वशक्तिमान् होनेसे वह असम्भव कर सकता है। क्योंकि अंसयोगजन्य अनादि कूटस्थ अजर अमर प्रदार्थ में अन्यत्त्व सादृश्य विकार जरा मरणादि असम्भव हैं। जिस प्रकार इन अवस्तु बातों की आप सर्वशक्तिमत्ता से सम्भव नहीं मानते इसी प्रकार आप के पृ० १५५ पं० १, २, ३, ४ के (उस की दृष्टि मात्र से सब जगत् सम्पन्न होता है) अनुसार जिस की दृष्टि मात्र से उत्पत्ति हो सकती है

स्रष्टा की वृत्तात्मात्र से स्थिति और प्रलय भी होसका है और फिर किन्हीं रावणादि क्षुद्र राक्षसों के प्रलय का ली कहना ही क्या है जिन के मारने को अवतार की कुछ भी आवश्यकता नहीं। गीता का श्लोक जीवात्मा के विषय में है, परमात्मा के नहीं ॥

४० ति० भा० पृ० १७५ पं० १४ से नतं विदाप० इत्यादि यजु १७ । ३१ मन्त्र लिख कर यह शङ्का की है कि इस मन्त्र में कहा है कि (न तं विदाप) अर्थात् उस परमेश्वर की तुम नहीं जानते। फिर यह स्वामी जी ने कैसे जान लिया कि वह अवतारादि धारण नहीं करसका। परन्तु हम ब्रूकते हैं कि आप ने यह कैसे जान लिया कि अवतार धारण करता है ? जब कि कहते हो कि उसे कोई नहीं जानता। हम तो (न तं विदाप) का यह तात्पर्य समझते हैं कि परमात्मा मन और बुद्धि का विषय नहीं होसकता ॥

४१ ति० भा० पृ० १७५ पं० २५ से—एतावानस्य महिमा० यजुः ३१ । ३ मन्त्र लिखकर तात्पर्य निकाला है कि जितनी महिमा परमेश्वर की सब ब्रह्माण्डों में है वह चतुर्थीश है ३ अंश और विष्णुलोक में है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर— ३ अंश और १ का तात्पर्य संख्या में नहीं। संख्या अवि-  
वर्तित है। तात्पर्य यह है कि सब जगत् परमात्मा के एक देश मात्र में है। शेष परमात्मा जगत् के बाहर अनन्त या त्रिपात् है। वह भी एकरम होने से ऐसा ही मान सके हैं जैसा कि जगत् में है। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वह असंख्य करसका है ॥

४२ ति० भा० पृ० १७६ में—नासदासीत् न सृज्युरासीत् इत्यादि दो मन्त्रों से यह निदुष्ट किया है कि जब साया, जीव, सत्त्व, रज, तम, आकाश, जल इत्यादि कुछ न था और परमेश्वर ने सब कुछ रच लिया तो सर्वशक्तिमान् का वही तात्पर्य क्यों नहीं, जो हम कहते हैं ॥

प्रत्युत्तर— आप ने जो आगे पृ० २१६ में—“जीवेशी च विशुद्धाचिद्धिभेदश्च लघोर्द्धयोः। अविद्या लघितोर्योगः षडस्माकमनाद्यः ॥”

इस वाक्य की वार्तिककार सुरेश्वराचार्य का कह करस्वीकार है और इस श्लोक में जीव, ईश्वर, शुद्धचेतन, दोनों का भेद, अविद्या, अविद्या और चेतन का योग; इन छः पदार्थों को भनादि माना है तब आप इन मन्त्रों के अर्थ में भी भनादि जीव को कैसे बताते हैं कि वह नहीं था ॥ ठीक अर्थ सुनिये—

ना सदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरोयत् ।  
किमावरीवः कुहकस्य शमेन्नभः किमासीद्रहनं गभीरम् ॥  
ऋ. ॥ १० । १२९ १ ॥ मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या  
जहं आसीत्प्रकेतः । अनीदवातस्वधया तदेकं तस्माद्भ्रान्त्यन्न परः  
किञ्चनास ॥ २ ॥

अर्थ—( न असत् आसीत् ) प्रथम न तो अभाव था, ( नो सत् आसीत् )  
और न प्रतीयमान जगत् था, ( न रजः आसीत् ) न धूलि थी, ( नो व्योम )  
न शून्य था ( यत् ) जो ( अपरः ) अपरम्—जिन से परे कुछ नहीं ।  
( तदानीम् ) तब प्रलयकाल में ( किम् ) क्या ? ( कुहकस्य आवरीवः शमेन् )  
कोहरे का आवरण गूढ़ [निघं० ३ । ४] में था ? ( किम् गहनं गभीरम् अन्तः  
आसीत् ) क्या घन गहरा जल था ? कुछ नहीं था ( तर्हि ) तब ( न मृत्युः  
आसीत् न अमृतम् ) न मृत्यु होता है न जीवन । अर्थात् संसार के प्राणी  
तब न तो मृत अवस्था में रहते न अमृत में किन्तु सर्वतः सुप्त ही विलक्षण  
दशा में रहते हैं । ( न रात्र्याः अहः प्रकेत आसीत् ) न रात्रि और दिन  
का चिह्न था । तो फिर कुछ था भी ? हां, ( तत् एकम् ) वह एक  
( अवातम् ) निश्चल ( स्वधया ) अपनी धारण की हुई प्रकृति और जीवात्माओं  
सहित ( आनीत् ) जीवित रहता है । ( तस्मात् इ अन्यत् परः ) उस स्वधा-  
सहित ब्रह्म के अतिरिक्त ( किञ्चन न आस ) कुछ नहीं था ॥

इस में स्पष्ट स्वधा शब्द से ब्रह्म के धारित प्रकृति और जीवात्मा का  
होना वर्णित है ॥

द० ति० भा० पृ० १११ पं० १ से—यहना विश्वा भुवनानि—इत्यादि यजुः०  
११ । ११ का प्रमाण देकर परमेश्वर को जगत् का कर्ता और संहर्ता बताया  
है । यह तो हम भी मानते हैं, परन्तु इस से यह नहीं सिद्ध होता है कि  
परमेश्वर सर्वशक्तिमान् होने से अवतारलेन रूप बन्धन में भी आसक्तार है ॥

द० ति० भा० पृ० १११ पं० १६ से—अवाणिपादोजवनो यहीता० और  
न तस्य कार्यं करणं च० । ये दो श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् के और इन का  
सत्यार्थप्रकाशक अर्थ लिख कर शङ्का की है कि इनके अर्थों में स्वानीद्या०  
जी ने कुछ भेद किया है और पाठ में भी । परन्तु उस से भी उस की

सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है और स्वामी जी ने जो परमेश्वर में हस्त-पादादि न होने पर अपनी शक्ति से सब कुछ करना लिखा है उस पर आप को लेख का भाव यह है कि हस्तपादादि उपाधिबहित होकर वह हस्तपादादि के काम करता है। और शक्ति, ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न वा विलक्षण? भिन्न कहो तो तीन पदार्थों के अनादित्व में ४ पदार्थ होगये। अभिन्न मानो तो शक्ति जड़ है उस का चेतन से अभेद बाधित है। विलक्षण मानों तो अद्भुत शक्ति वाले को प्रकृति की सहायता अपेक्षित नहीं ॥

प्रत्युत्तर-पाठ में जो सहान्तम् का पुराणम् । वेद्यम् का विश्वम् । और अस्ति पद का छूट जाना ३ बात हैं, उन का उत्तर तो यह है कि-कथस्थ लिखने आदि कारणों से पाठ भेद होगया था जो अब संवत् १९५५ के छपे सप्तमप्रकाश पृ० १९९ में ठीक शुद्धपाठ कर दिया गया है। यदि शुद्धपाठ से हमारे विरुद्धकुछ भाव हो जाता होता तो फिर शुद्ध क्यों किया जाता। यूँ तो छपाई की अशुद्धियें सहस्रगः आप के पुस्तक में भी हैं। वही पृ० १९६ पं० १२ में शर्मन्मन्त्रः, का शर्मन्मन्त्रः छपा है। पृ० १९३ में-प्रसिध्यति, का-प्रतिष्ठिते। इत्यादि अनेक हैं। अर्थभेद में आप उपाधि लगाते हैं जिन का वर्णन मूल में किञ्चिन्मात्र नहीं। और ब्रह्म सब से बड़ा होने से उपाधि से उपहित अर्थात् घेरे से घिर भी नहीं सकता। शक्ति शक्तिमान् का समवाय सम्बन्ध है। इन लिये शक्तिमान् कहने से शक्ति का स्वयं ग्रहण होजाता है। स्वामी जी ने तीन पदार्थ अनादि माने तो क्या वे शक्तिरहित माने हैं? नहीं, जीव, ईश्वर, प्रकृति, तीनों अपने गुण कर्म स्वभावसहित अनादि हैं। इतने से कोई चीया द्रव्य अनादि नहीं हो गया। शक्तिमान् द्रव्य है, शक्ति उस का गुण है, गुण गुणी में समवाय=नित्यसम्बन्ध है ॥  
द० ति० भा० पृ० १९८ पं० २५ से—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसा रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरचिन्दन् हृदि प्रतीप्या कवयो म-

नीषा ॥ ऋ० १० । १२१ । ४

इस मन्त्र का भावार्थ यह निकाला है कि जगत् का बन्धनहेतु काम है, जो मन से उत्पन्न हुआ है। तो शक्तिरूप हस्त से रचना कहना इमान्तर जी का वेदविरुद्ध है। और ग्रहीता पद से पूर्ववर्तित पदार्थ का ग्रहण करने

वाला गर्भ होता है। रचना का गर्भ नहीं होता। और वेगवाला भी ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म वेद्य नहीं है। इत्यदि आशय है ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम ती मन्त्र का अर्थ सुनिये—

इस से पूर्व मन्त्र ३ में ( महिमाऽजायतैकम् ) में महत्तत्त्व की उत्पत्ति कह चुके हैं। ( तद्ये कामः सभाधिवर्तत ) उस महत्तत्त्व के पश्चात् काम=अहङ्कार उत्पन्न होता है, उसी को मन कहते हैं ( मनसःरेनः प्रथमं यत् आसीत् ) उस मन का बीज जो पूर्व या ( कवयः मनीषा हृदि प्रतीक्य ) विद्वान् लोग बुद्धि से हृदय में विचार करके ( असति सतो बन्धुम् निरविन्दम् ) असत्-अप्रतीयमान अवस्था में सत्-प्रतीयमान जगत् के बन्धु=बाधने वाले कर्म को जानते हैं अर्थात् प्रकृति से जगदुत्पत्ति में पूर्व कल्पकृत कर्म हेतु होते हैं। निष्प्रयोजन जगद्वचना नहीं होती है। इस सब से जीव ब्रह्म प्रकृति और जीवों के कर्म प्रवाह से अनादि सिद्ध होते हैं ॥

आप जो मन से जगत् को जान कर परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न नहीं मानते सो भूल है। परमेश्वर की शक्ति निमित्तकारण है, महत्तत्त्व मनआदि उपादान कारण हैं। दोनों बातें ठीक हैं। इन में विरोध नहीं है। ब्रह्म अनन्त है वह उपाधि में नहीं घिर सकता, अतः उपाधि रूप हाथों से कहना भी ठीक नहीं। जगत् के कुम्भकारादि लोभ सृष्टिकादि उपादान को हाथ में लेकर रचते हैं। इस कारण सप्तम में आने के लिये यह कह करके रचना स्वामी जी ने बोधित कराई है। ब्रह्म एक देश को त्याग कर दूसरे देश में वेग से नहीं जाता, परन्तु सर्व देशों में व्यापक होने से सर्वत्र काम ऐसे ही कर सकता है जैसे कोई वेग वाला यहां भी काम करे और वेग से दौड़ कर वहां भी। उपनिषद् के मूल में " जघनः " पद है जिस का अर्थ वेग वाला ही आप भी कर सकते हैं। वेग शब्द से गति विवक्षित है, गति के ज्ञान गमन प्राप्ति ३ अर्थ हैं। प्राप्ति अर्थ यह कह करने से भी उक्त दोष नहीं आता। " ब्रह्म वेद्य भी नहीं है "। इस कहने का तात्पर्य यही है कि मन बुद्धि का विषय नहीं है। मन बुद्धि के विषय सावधिक पदार्थ होते हैं। ब्रह्म निरवधिक है, इस लिये स्वामी जी का यह कहना ठीक है कि उस को कोई अवधिसहित नहीं जान सकता ॥

—\*—

अथ पापनाशनाऽसंभवत्वप्रकरणम् ।

इस विषय में द० ति० भा० पृ० १८० । १८१ । १८२ में कहने लगे हैं—

१-जब पाप क्षमा नहीं करता तो उस के अस्तित्व स्वीकारने में क्या लाभ ?

२-उस का भजन करना क्या ?

३-श्रेष्ठ कर्म का श्रेष्ठ फल है तो पवित्रात्मा परमात्मा की नामस्मृति का उत्तम फल क्या न होगा ?

४-उसका नाम कुछ गुण प्रभाव नहीं रखता तो उस से अपने आचरण कैसे सुधारे ?

५-गुण कर्म सुधारना प्रयोजन है तो किसी भले नादमी के आचरणों को देख कर सुधार सकते हैं ?

६-ईश्वर से मेल होने पर पाप कैसे रह सकते हैं ?

७-ईश्वर के प्रत्यक्ष होने का अर्थ आप ने नहीं खोला । क्या प्रत्यक्ष कहने से साकारता नहीं पाई जाती ?

८-जो स्वयं काम कर सके वह ईश्वर से वा अन्य से क्यों सहायता मांगे ?

९-हमारे शत्रुओं को मारो, मुझे सब से अधिक करो । यदि यह प्रार्थना न करनी चाहिये तो शतशः वेदमन्त्रों में ऐमावर्णन क्यों है ?

१०-ईश्वर के भरोवे जालमी रहना मूर्खता है । यह लिखना नास्तिकता है । क्योंकि ईश्वर का भरोसा नास्तिकता है ॥

११-जो शुद्ध चित्त से ज्ञान मांगते हैं, ईश्वर अन्तर्यामी होने से यह जानकर कि यह फिर करेगा, ज्ञान कर देता है ॥

प्रत्युत्तर—

१-क्या जो अपराध क्षमा न करे उस का अस्तित्व ( होना ) ही नहीं स्वीकारना चाहिये ? धन्य ! जब कोई सेजिस्टेंट किसी के अपराध क्षमा न करे, दण्ड दे , तो क्या अपराधी को यह समझना चाहिये कि सेजिस्टेंट का अस्तित्व नहीं है अर्थात् सेजिस्टेंट है ही नहीं ? जब आपने न्याय तो अच्छा पढ़ा है ॥

२-उस का भजन करना हम लिये क्या नहीं कि उस की उपासना से ज्ञान बढ़ता है । ज्ञान से अशुभ कर्मों का भविष्यत् के लिये त्याग होता है । जिस से उत्तरोत्तर सुख बढ़ता है ॥

३-कर्म ज्ञान उपासना इन ३ काण्डों को एक समझना अज्ञान है । ईश्वर की उपासना को शुभ " कर्म " बताना भी इसी से अज्ञान है । क्योंकि उपासनावा ज्ञान, कर्म से भिन्न हैं । उपासना का फल संख्या २ में ऊपर कहा गया । शुभकर्मों में अग्निहोत्र वापी कूप तडागादि पुण्य कर्म हैं । उपासना उस से जगती उत्तम कथा है । वह कर्मसंशक नहीं है ॥

४-उसका नामस्मरण अर्थ विचारपूर्वक अवश्य प्रभाव रखता है । जो संख्या में ऊपर हमने लिखा है । स्वामी जी का तात्पर्य उन जगलाभक्तों के वास्तविक नामस्मरण को व्यर्थ बताने से है जो बाह्यादम्बर मात्र नाम मालादि जपते और चित्त से कुछ नहीं और इसी से न उनका ज्ञान बढ़ता, न आचरण सुधरते ॥

५-भले आत्मी के शुद्धाचरण भी परमेश्वर की बराबरी नहीं कर सकते । इस लिये भले आत्मी के आचार देखकर अपना आचार सुधारना भी अच्छा तो है परन्तु परमात्मा सर्वोत्तम है, उसकी उपासना की बराबरी अन्योपासना से सिद्ध नहीं हो सकती ॥

६-ईश्वर से मेल होने पर पाप नहीं रह सके, परन्तु पापों के रहतेहुये ईश्वर का पूर्णसाक्षात् भी नहीं होता । जो ईश्वर का साक्षात् चाहता है उसे पूर्व पापों की भोगसे निवृत्ति करातेहुये आगे पाप से बचते रहना चाहिये ॥

७ ईश्वर का प्रत्यक्ष भात्मा को होता है, इन्द्रियों को नहीं । ईश्वर ५ इन्द्रिया का विषय नहीं है इस लिये ईश्वरविषय में प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ न्यायदर्शनके प्रत्यक्ष से नहीं मिलसकता । और न्यायदर्शन में जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहा है, वहां भी पांचों इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय का सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष माना है अर्थात् कोई पदार्थ आंख काविषय न हो और कान का विषय हो वह भी प्रत्यक्ष कहा जाता है । इस लिये आप जो प्रत्यक्ष कहते ही साकार ले दीये, यह दर्शनों की अनभिज्ञता है ॥

८-अपने सामर्थ्य से आगे सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये अधिक सामर्थ्य वाले की प्रार्थना के समान ईश्वर की प्रार्थना भी सर्वोत्तम फलदायक है ॥

९-क्या आप एक ही वेदमन्त्र ऐसा दिखा सकते हैं कि जिसमें यह प्रार्थना हो कि हमारे समान अन्य कोई नहीं ?

१०-ईश्वर का भरोसा करना तो ठीक है परन्तु आलसी बनने की ख्याती जो निन्दा करते हैं अर्थात् कर्म करो और फल का भरोसा ईश्वर पर रखो ॥

११-शुद्धचित्त से क्षमा मांगने वालों को क्षमा दी जावे तो अन्य लोग भी पाप करके शुद्ध चित्त से क्षमा मांग लेने के भरोसे से पाप अधिक करें ॥

१० ति० भा० पृ० १८१ पं० १ में-सुमित्रिपा० इन यजुः ३६ । २३ मन्त्र से यह सिद्ध किया है कि जल ओषधि आदि हमें सुखदायी और हमारे शत्रु

को दुखदायी हों। इस से वैसी प्रार्थना वेद में पाई गई जैसी स्वामी जी नहीं करनी बताते हैं ॥

प्रत्युत्तर—इसमें यह नहीं आया कि हम ही सर्वोपरि हों, हमारे समान कोई न हो ॥

द० ति० भा० पृ० १८३ पं० ७ में यदुग्रान्ते यद्वरये० इत्यादि यजुः ३।४५ से यह सिद्ध किया है कि हम मन्त्रमें उन पापों की क्षमा मांगी है जो घाम, वन, सभा और इन्द्रियसमूह में पाप किया है, उसे विनाश करता हूं ॥

प्रत्युत्तर—( इदं तत् अयजामहे ) का अर्थ यह है कि “यह उसे हम छोड़ते हैं”। इस का तात्पर्य यह नहीं कि हम उसका फल न मांगेंगे। फल भोगने में तुम परतन्त्र हो। परन्तु हां, यह ठीक है कि हम जागे की घाम, वन, सभा आदि में पाप करना यह छोड़ते हैं अर्थात् न करेंगे ॥

द० ति० भा० पृ० १८३ पं० १७ में तनूपा अग्नेसि तन्धं से पाश्चायुर्दो० इत्यादि यजुः ३।१७ से यह दिखलाया है कि परमेश्वर से अपनी रक्षादिकी प्रार्थना है ॥

प्रत्युत्तर—यह कौन कहता है कि प्रार्थना न करो। परन्तु शुद्धाचरण पूर्वक भक्ति भाव से करो। दम्भार्थ नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० १८४ में सामवेद के ३ मन्त्र लिख कर यह सिद्ध किया है कि एक में शत्रु का नाश, दूसरे में अपने हिंसकों को भस्म करने की प्रार्थना, तीसरे में परमेश्वर से यश धनादि की प्रार्थना है ॥

प्रत्युत्तर—यदि हम मन्त्रों का अर्थ देखना है तो हमारे किये सामवेद-भाष्य पृ० ३३ में ( नमस्ते हरसे० ) का अर्थ और पृ० ५८ में (अग्ने रक्षाणः) का अर्थ, तथा पृ० ८२ में ( जानो अग्ने० ) का अर्थ देखिये परन्तु आप के किये अर्थों में भी यह कहीं नहीं लिखा कि हमारे समान कोई न हो ॥

द० ति० भा० पृ० १८५ पं० ९ में एवेवापागपरे० इत्यादि ऋ० १०।४४।७ का प्रमाण देकर उपासना का फल कहा है ॥

प्रत्युत्तर—इस में “पाप क्षीय व नष्ट हो जाते हैं” यह किसी पद का अर्थ नहीं ॥

किर द० ति० भा० पृ० १८५ पं० २४ में—सन्ध्या में का प्रसिद्ध मन्त्र (तच्च-सुर्वेद्यहितम्०) यजुः ३६।२३ लिखकर प्रार्थना दिखलाई है ॥

प्रत्युत्तर—यह किस का पक्ष है कि प्रार्थना नकरनी चाहिये? हां, कर्म



न करना केवल प्रार्थना ही करते रहना, फलपाना, पाप शस्त्र होना, स्वामी जी ने नहीं माना सो आपने जितने मन्त्र दिये, किसी में वर्णित नहीं है। समष्टि सूर्तिठयापक परमेश्वर का अर्थ किसी पद का नहीं। अवतार चरित्र भी किसी पदका अर्थ नहीं। अध्याहार योग्य पदोंका हो सकता है। ईश्वर में दोषारोपण रूप अवतारचरित्र अध्याहार भी नहीं हो सकता ॥

सत्यार्थप्रकाश में जो लिखा है ति १-सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ब्रह्म की उपासना समुण। गन्धादि प्राकृत गुणोंसे पृथक् ब्रह्मकी उपासना निर्गुणकहाती है १-परमेश्वर के समीप होने से दोष दुःख छूटकर पवित्रता होती है ३-ईश्वर का साक्षात् करना। इस पर—

द० ति० भा० पृ० १८६-१८७ में ये तर्क हैं १-स्वामी जी के लेख परस्पर-विरुद्ध हैं। यहां उपासना सार्थक बताया। २-सर्वज्ञत्वादि से साकारत्वादि भी सिद्ध है। ३-समीपता सूत्तिमान् ही की हो सकती है। सूत्तिरहित की क्या समीपता ? ४-सूत्तिमान् बिना हुये प्रत्यक्ष कैसे हो। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-स्वामी जी के लेख को आप समझे नहीं। परमेश्वर (सर्वज्ञादिगुणकोधर्मोक्तेः) सर्वज्ञत्वादि अपने गुणों से युक्त और सत्य रज तम आदि प्राकृत और गन्धादि पृथिठपादि ने गुणों से रहित होने से निर्गुण है। प्रार्थना करना उभय कहीं भी नहीं बताया। हां प्रार्थनामात्र करने को बैठ जाना, हाथ पैर का पुढपार्थ सर्वथा त्यागदेना, व्यर्थ कहा है। सर्वज्ञ होने से साकार होना मानने का कोई कारण नहीं। ३-समीपता मूर्त की नहीं हो सकती किन्तु अमूर्त ही की हो सकती है। क्योंकि मूर्ति पदार्थ भिन्नदेश में रहता है। वह समीप भी हो तो कुछ न कुछ दूर ही रहता है। अमूर्त परमात्मा को हृदय के भीतर ठयापक जानना अत्यन्त समीपता प्राप्त करता है। ४-प्रत्यक्ष होने का उत्तर पृष्ठ २१५ में दे चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० १८७-१८८ में-अरंदासो न भीतुषे इत्यादि श्र० ७।८६ ७ में जो “अरम् कराणि” पद हैं उन से परमेश्वर को अलङ्कृत=भूषित करना कहा है और भूषित, मूर्ति ही हो सकती है। यह कहा है ॥

प्रत्युत्तर-परमेश्वर निराकार है, उसका भूषित करना असंभव है। और मूल में “अरंकराणि” का कर्म “देवम्” भी नहीं है। किन्तु “देवाय भीतुषे” ये चतुर्थी विभक्ति हैं। इस लिये “परमेश्वर को” अलङ्कृत करना

अर्थ अशुद्ध भी है। यदि व्यत्यय मानो तो भी ठीक नहीं। क्योंकि चतुर्थी विभक्ति के संभव अर्थ को त्याग कर व्यत्यय से असंभव अर्थ करना खेचता भी है। और आप ने अन्वय करते हुवे “देवाय” का “देवम्” कर्म परिणत किया भी नहीं है इस से आप के लेखानुसार भी आप का अर्थ अशुद्ध है। शुद्ध अर्थ सुनिये:—

अरं दासो न मीदुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः । अचित-  
यदचितोदेवो अयोगृत्सं राये कवितरो जुनाति । ऋ० ७।८६।७

( अहम् ) मैं ( अनागाः ) निष्पाप होकर ( दासो न ) दासवत् अपने को ( मीदुषे भूर्णये देवाय ) सब कामनाओं के वर्णने वाले और धनादि के बहुतायत से दाता देव के लिये ( अरं कराणि ) पर्याप्त करूं । ( अचितः देवः ) अपन=सूक्तिरहित देव ( अर्थ ) स्वामी ( कवितरः ) अत्यन्तमेधावी परमात्मा ( अचेतपत् ) इस प्रकार हमें चिताता है । ( राये ) विद्यादि धन के लिये ( गृत्सम् ) मेधावी पुरुष को ( जुनाति ) प्राप्त होवे ॥

उपमार्थीय उपरिष्ठात्० निरुक्त १ । ४

के अनुसार “न” का अर्थ ‘वपन’ इमें स्वीकृत है। अरम्=अलम् का अर्थ—

भूपणेऽलम् १ । ४ । ६४ ॥

के अनुसार “भूषण” होता तो कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती और “देवाय” चतुर्थी न होकर द्वितीया और नित्य समास भी होता। अचितः—यह चिन्त्यने धातु का प्रयोग है। नञ् का समास है मूर्ति में वपन होता है। अचित कहने से मूर्ति का निषेध ही जाता है। गृत्सः निघं० ३।१५ में मेधावी का नाम है। जुनाति) जुन गती तुदादि परस्मै पदी धातु का छेट् का प्रयोग है ॥

तात्पर्य इस का यह है कि जिन प्रकार कोई दास, स्वामी को प्रसन्न करके अभीष्ट सिद्ध करना चाहता है, इसी प्रकार मनुष्य भी अपने को प्रथम अलङ्कृत अर्थात् स्वामी की भक्ति के योग्य बनावे। पाप कर्म करने छोड़े। तब परमात्मा प्रसन्न हुवे उस के संपूर्ण काम पूर्ण करते और सब पदार्थ उस को बाहुल्य से देते हैं ॥

इस में पाप करना करने वा मूर्ति पूजने का वर्णन तो नहीं है, प्रत्युत वरदान है ॥

द० ति० भा० पृ० १८८ पं० २२ में—और यहां कहा कि—ईश्वर की बराबर गुणकर्म स्वभाव जीव के हो जाते हैं, जीव भी ईश्वर के जव गुण कर्म स्वभाव एकसे हुवे तो. अन्तर कैसा। जो वस्तु एक ही रङ्ग रूप में हों उनमें अन्तर कैसा। “अथोपरमन्तरं कुरुते नष्ट तस्य भयं भवति द्वितीयाद्वैभयं भवति” ८०५०

प्रत्युत्तर—धन्य हो। गुण कर्म स्वभाव “एकसे” का तात्पर्य “अविरुद्ध” है। अर्थात् जीव उस अवस्था में ईश्वर के विरुद्ध अवहित गुण कर्म स्वभाव नहीं रखता। आप जो गुण कर्म स्वभाव की बराबर एकसापण वा अविरुद्धता को रूप रङ्ग की एकता लिखते हैं यह कैसा बड़ा अज्ञान है। जीव ईश्वर दोनों के स्वरूप में रूप रङ्ग है ही नहीं॥

सुहृदारयकोप्रनिषद् का जो वचन आपने उद्धृत किया उस का तात्पर्य तो यह है कि जो पुरुष ब्रह्म से थोड़ा भी अन्तर अर्थात् भेद वा विरोध करता है उसे भय होता है क्योंकि दूसरे अर्थात् अपने विरोधी से भय हुवा करता है॥

द० ति० भा० पृ० १८८ पं० २७ में—यजुर्वेद अ० ४० अं० १७ योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्। जो यह आदित्य में पुरुष है सो मैं हूँ। इत्यादि जीव ईश्वर में एकताबोधक बहुत सुति हैं। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—आगे चलकर आप जीव को ईश्वराधीन परतन्त्र लिखेंगे। यहां दोनों को एक बताते हैं। एक में स्वतन्त्रता के अतिरिक्त परतन्त्रता का क्या काम? और यजुर्वेद के वाक्य का अर्थ आप का लिखा भी मानलें तब भी परमेश्वर के यह कहने से कि “जो यह आदित्य में व्यापक पुरुष है सो मैं हूँ” जीव ब्रह्म की एकता तो नहीं पाई जाती किन्तु सूर्य का भी धारक और उस में व्यापक परमात्मा सिद्ध होता है॥

द० ति० भा० पृ० १८९ में—सर्वधर्मान्परित्यज्य १८ से सब धर्मकर्म छोड़ कर श्री कृष्ण के शरण जाना बताया है॥

प्रत्युत्तर—इस का प्रकरणानुसार यह अर्थ है कि—

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।**

**अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। गीता**

लड़ाई के समय अर्जुन की जब ज्ञाति शत्रुओं के वध में दोष प्रतीत होने लगा और वह धर्म के विचार से हिंसा से पीछे हटने लगा तब श्रीकृष्ण

ने कहा है कि—“तू सब धर्म कर्म के विचार छोड़ दे । केवल मेरा सहारा ले, मैं तुम्हें सब पापों से बचा लूँगा । शोक मत कर ।”

अर्थात् तू अल्पज्ञ है हम लिये स्वयं धर्म का विचार मत कर । किन्तु मैं जो बहुज्ञ हूँ, मेरा सहारा ले । अर्थात् मैं तुम्हें पाप कर्म में नहीं डूबने दूँगा किन्तु साधनानुसार युद्ध कराता हुआ इस लोक और परलोक का सुखिया बनाऊँगा । तू कुछ शोक मत कर ॥

—=॥०॥=—

### अथ जीवात्मस्वातन्त्र्य-प्रकरणम्

५० ति० भा० पृ० १८९-१९१ में इतने तर्क हैं—

१-जब कि स्वामी जी के लेखानुसार जीव जैसा कर्म करेगा ईश्वर ने पहिले ही अपनी सर्वज्ञता से जान रक्खा है तो जीवकर्म करने में स्वतन्त्र कहाँ रहा ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने यह नहीं लिखा कि “जीव जैसा कर्म करेगा, ईश्वर ने पहलेही अपनी सर्वज्ञता से जान रक्खा है” किन्तु स्वामीजी ने यह लिखा है कि—  
“जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है”

इस में स्पष्ट यह पाया जाता है जीव का कर्म करना, और ईश्वर का उस को जानना, एक साध होते हैं आगे पीछे नहीं । अर्थात् न तो यह कि जीव पूर्वकाल में कर्म करे और ईश्वर उत्तरकाल में उसे जाने । और न यह कि ईश्वर पूर्वकाल में जान लेता है फिर उत्तरकाल में जीव कर्म करता है । तथा जब जीव ने कर्म नहीं किया तब उस कर्म की सत्ता नहीं है, और स्वतन्त्र होने से जीव किसी कर्म को करे वा न करे, इस कारण कर्मकी सत्ता भविष्यत् काल में नियत नहीं है । तब वर्तमान और भविष्यत् दोनों कालों में अनियत कर्मसत्ता को यदि ईश्वर नियत माने वा जाने तो ईश्वर को “अन्यथाज्ञानी” मानने का दोष जाता है । और यह कहना कि भविष्यत् कर्मों के न जानने से ईश्वर में अज्ञान वा अल्पज्ञता आती है, ठीक नहीं है । क्योंकि जो कर्म न तो हुवे, न भविष्यत् में नियत हैं, वे यथार्थ में भवस्तु हैं, वच भवस्तु को भवस्तु ही जानना ज्ञान है और वस्तु को भवस्तु वा भवस्तु को वस्तु जानना भविद्या है ॥

२-पृ० १८९ पं० २६ से-स्वामी जी ने पृ० १८७ पं० २५ में लिखा है कि पापफल भोगने में परतन्त्र है, स्वामी जी यही कहेंगे कि पुण्य का फल भोगने में स्वतन्त्र और इस से यही युक्ति निकलती है कि पापकर्म तो परतन्त्रता से भोगने पड़ेंगे, तो पुण्य फल में स्वतन्त्र हुआ चाहे ग्रहण करे वा नहीं सो इस में जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता तो दयानन्द जी यही कहेंगे कि पुण्य का फल सुख है और उस का ग्रहण नीर त्याग जीव के आधीन है० इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आपने पुण्यफलभोग में स्वतन्त्र न होने में कोई भी युक्ति वा प्रमाण नहीं दिया। पुण्य का फलभोग ईश्वरदत्त जब जीव को प्राप्त हो और जीव उसे स्वतन्त्रता से त्याग दे। तो भी उसका भोग तो उसे मिल गया। क्योंकि जो वस्तु किसी को मिले ही नहीं, उसका त्याग कैसा? उस त्यागने से मिलना मिट्टा है और त्यागना भागे के लिये और एक शुभ कर्म है जिस का भविष्यत् में कोई फल फिर मिलेगा ॥

३-पृ० १९० पं० ३।४ में-हम अभी स्वामी जी के लेखानुसार कि (जीव जैसा कर्म करेगा ईश्वर पहले ही से जानता है) सिद्ध कर चुके हैं० इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने अपना गन्तव्य कहा नहीं लिखा वा कहा कि "ईश्वर पहले ही से जानता है" इस लिये आप को असत्य लेख का उत्तर ही क्या दें ॥ और यदि कोई बात जीव के आधीन नहीं तो गीता आदि में निष्काम अर्थात् फलभोगेच्छारहित शुभ कर्मों का विधान व्यर्थ होगा। क्या आप उसे भी नहीं जानते ?

४-पृ० १९१ पं० ५ से-विद्यमान शरीर से जो जो कर्म किये जाते तथा सुख दुःख भोगे जाते हैं वे सब अपने ही पूर्व कर्मों के अनूकूल होते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यदि पूर्व कर्म, फल का भी हेतु हैं और भागे के कर्मों का भी हेतु हैं तो पाप करने वाला फिर कभी पुण्य न करमके। क्योंकि बिछले पाप उसे पुण्य न करने दें। यदि ऐसा हो तो किसी पापी को पापत्यागार्थ और पुण्यप्राप्त्यर्थ उपदेशादि करना सभी व्यर्थ हो जावे। इस लिये यह ठीक नहीं है कि कर्म ही कर्मों का हेतु हैं किन्तु कर्म केवल फलभोग का हेतु हैं। कर्म का नहीं ॥

५ पृ० १९१ पं० ९ से-यद्यपि जीव कर्म करने में सर्वथा परतन्त्र है परन्तु जब कि ईश्वर उसी के पूर्व कर्मानुकूल क्रियमाण कर्म को कराता है तो इन का फल भी अवश्य पुनः जीव को होता चाहिये, ईश्वर पर लेशमात्र भी दोष नहीं आता है ॥

प्रत्युत्तर-ईश्वर पर दोष क्या नहीं आता, पूर्वकसे भी ईश्वरकी प्रेरणा ही से कियेये?

६-पृष्ठ १८१ पं० २७ में—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो योनः प्रचोदयात्॥

यह मन्त्र चारों ओरों में आया है। संक्षेपार्थ यह है कि उस जगत्प्रकाशक सविता देवता को वरणीय प्रकाश को हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है। किसी कर्म को करने में हम स्वतन्त्र नहीं ॥

प्रत्युत्तर—यहाँ भी ईश्वर का ध्यान करना कर्म है और बुद्धियों का सत्कर्मा में प्रवृत्त करना उस का फल है। उस जीव ध्यान करने में स्वतन्त्र है, उस का फल बुद्धि का अच्छे कामों में प्रेरित होना ईश्वरकी ओर से है। उस कर्म करने में स्वतन्त्रता और फलभोग में ईश्वरतन्त्रता रही ॥

द० ति० भा० पृ० १८२ पं० ११ से—यः सर्वेषु भूतेषु इत्यादि ब्रह्मदारण्यक को ८ प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि परमात्मा ही सब भूतों में, प्राण में, वाणी में, आंख में, कान में, मन में, त्वचा में, और आत्मा में अन्तर्यामिरूपसे रह कर इन्हें उस २ कर्म में प्रवृत्त करता है, इसलिये सबकाम ईश्वरेच्छा से होते हैं ॥

प्रत्युत्तर—मनवाणी आदिका अन्तर्यामी होने से भी ईश्वर हमारी वाणी आदि से कर्म कराने में हमें परतन्त्र नहीं करता है। किन्तु मन वाणी आदि को इस योग्य बनाता है कि जीव यदि चाहे तो मन वाणी आदि से वह काम कर सके। ईश्वराधीनता इतनी ही है कि ईश्वर अन्तर्यामिता से मन वाणी आदि में न रहता और उन्हें अपने अपने कर्म करने में स्वार्थ न करता तो जीव मन वाणी आदि से कोई काम न ले सके। जिसप्रकार रथादि बनाने वाला रथादि न बनाता तो कोई सवारी आदि का काम न ले सके। परन्तु रथकार ने रथ बना कर भी रथ में चलने वालों को परतन्त्र तो नहीं किया कि असुख २ समय पर असुख २ पुण्य असुख २ रथानों को असुख २ रथादि द्वारा जावे ही। किन्तु जाने वाले स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार जीव स्वतन्त्र है, आंख से कुछ न करे वा कुछ छि, वाणी से दुर्वचन बोले वा सुवचन इत्यादि ॥

द० ति० भा० पृ० १८३ में=सर्वस्य वशी० एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा० इन प्रमाणों से सिद्ध किया है कि सब कुछ परमात्मा को वश में है ॥

प्रत्युत्तर- वशी ती इतने से भी कहा जा सकता है कि कोई कुकर्मी कु-  
बर्मे वरके उस से बच नहीं सकता । अर्थात् यह नहीं हो सकता कि कोई जीव  
परमात्मा के नियमानुसार फलभोगने में ईश्वर के वश से बाहर होजाये ॥  
२० ति० भा० पृ० १९३ में-एको देवः इत्यादि प्रवेताश्चतरोपांगवद् का  
प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।  
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ६।११

भा०-(देवः) विद्यगुणयुक्त(एकः) भकेला (सर्वभूतेषुगूढः) सब भूतों में छिपा  
( सर्वव्यापी ) सर्वव्यापक ( सर्वभूतान्तरात्मा ) सर्व प्राणियों का अन्तर्धानी  
( कर्माध्यक्षः ) कर्मफलप्रदाता ( सर्वभूताधिवासः ) सब प्राणियों में अधि-  
कारी होकर बसने वाला ( साक्षी ) साक्षिमात्र ( चेताः ) चेतन ( केवलः )  
असंयुक्त ( च ) और ( निर्गुणः ) सत्य रज तम से रहित है ॥ ६ ॥ ११ ॥ इस  
से जीव की परतन्त्रता का लेश भी कर्म करने में नहीं आता ॥

२० ति० भा० पृ० १९४ पं० १ में-एषश्चैव सुकर्मकारयति० इत्यादि कीर्तिताकी  
उपनिषद् के वचन से सिद्ध किया है कि परमेश्वर जिसकी उन्नति चाहता है उस  
से सुकर्म कराता है और जिस की अधोगति चाहता है उससे कुकर्म कराता है ॥

प्रत्युत्तर- हां, बस ऐसा स्पष्ट वचन आप किसी प्रासांगिक ग्रन्थ में  
दिखाते तो आप का पक्ष सिद्ध हो जाता । परन्तु आप का पूर्व लेख ती इस से  
संगठित ही हो जाता है कि “ ईश्वर विद्यमान शरीर से जो कर्म करता है,  
सो सब पूर्वजन्म के कर्मानुसार करता है । ” अब ती आप इस प्रमाण से  
मुसलमानों के समान यह सिद्ध कर करने लगे कि ईश्वर जिसे गिराना चाहता  
है उसी को पास शैतान भेजकर कुकर्म करवाने लगता है ॥

२० ति० भा० पृ० १९४ पं० ६ में-गीता के श्लोक से जीव की परतन्त्रता सिद्ध की है

प्रत्युत्तर-गीता के श्लोक का तात्पर्य यह है कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

धामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

हे अर्जुन । ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वर्तमान है और प्रकृति से  
यन्त्र पर चढ़े, सर्व प्राणियों को घुमाता है अर्थात् जीवों के कर्मानुसार

देहादि देकर वन २ के फल भोगवा रहा है । इस में यह कहीं नहीं कि कर्म भी बड़ी कराता है ॥

६० ति० भा० पृ० १८५ पं० १० में महाभारत के श्लोक का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का अक्षरार्थ भी सुनिये ( इदं ) यह ( सर्व जगत ) सब जगत ( दिष्टस्य वशे ) प्रारब्ध कर्म के वश में ( धात्रा तु ) और धारण करने वाले ईश्वर से धारित ( चेष्टित ) चेष्टा करता है, ( न स्वतन्त्रम् ) स्वतन्त्र नहीं अर्थात् परमेश्वर केवल धारण करने वाला है, परन्तु जीव सब पूर्व प्रारब्ध कर्मोधीन हैं । और उन्हें प्रारब्ध कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा । वे स्वतन्त्र नहीं जो फल भोग से भाग सकें ॥ इस से भी कर्म करने में परतन्त्रता नहीं पाई जाती किन्तु ( दिष्ट ) अर्थात् प्रारब्ध के वश भोग में परतन्त्रता है ॥

६० ति० भा० पृ० १८५ पं० १३ से महाभारत सभापर्वणि ५१ अ० ५७ अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम् ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥ इत्यादि २१-२८ तक ८ श्लोकों से जीव की परतन्त्रता सिद्ध की है ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो यह जताइये कि इस प्रथम श्लोकानुसार पुरातन इतिहास इस विषय में क्या बताया कि ईश्वर के वश में लोक हैं, अपने वश में नहीं । इतिहास कहने की प्रतिज्ञा करके इतिहास न लिखना भी इस लेख की अस्तव्यस्तता सिद्ध करता है । दूसरे यदि इस फल भोगने ही में इन श्लोकों में कही जीव की परतन्त्रता को लगाएँ तो आप क्या दोष दे सकते हैं । अर्थात् कठपुतली वा नाचे बैल वा सूत में पोसे हुये मशिनों की घुमाने वाला जिन प्रकार चाहे उस प्रकार घुमा सकता है । ईश्वर भी इसी प्रकार सब को वन के कर्मानुसार चाहे जिन सुख वा दुःखों में घुमाता है । वे स्वतन्त्र नहीं कि भोगने का निषेध करें ॥

६० ति० भा० पृ० १८५ में महाभारत का एक और श्लोक लिखा है परन्तु उस से भी जीवात्मा की स्वतन्त्रता नहीं छिनती । यथा—

यद्वयं पुरुषः किञ्चित्कुरुते वै शुभाशुभम् ।

तद्वाविविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ सभापर्वणि ३०।२२

अर्थात्—( अयं पुरुषः ) यह मनुष्य ( यत् हि ) जो कुछ ( शुभाशुभम् ) सुखपापभोग ( कुरुते ) करता है ( तत् ) उसको ( वाविविहितम् ) ईश्वरदत्त ( पूर्वकर्मफलोदयम् ) पिछले कर्मों के फल का उदय ( विद्धि ) जान ॥ इस



में जीव की परतन्त्रता कर्म करने में नहीं किन्तु पूर्वकर्मकलोदय में ईश्वराधीनता कही है ॥ फिर वनपर्व ३२ । ८ में:-

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति ।

चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥

अर्थ-पापात्मा=जिस ने पाप करने का संकल्प कर लिया है उसे पापों से रोका भी जाता है परन्तु ( स्वतन्त्र होने से ) पाप की ही चाहता है और शुभात्मा=जिसने पुण्य कर्मों का संकल्प ठान लिया है वह पाप से प्रेरित हुवा भी ( पाप नहीं किन्तु ) पुण्य ही की इच्छा करता है ॥

इस में स्पष्ट भाषों के उस कथन का खखन है जो आपने पूर्व लिखा है कि पूर्व पापों की प्रेरणा से सन्तुष्ट पुनः पाप करता है और पुण्यों के प्रभाव से पुण्य ॥

द० ति० भा० पृ० १९६ पं० १ में:-

न ह्येव कर्त्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।

अस्वतन्त्रोहि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥

अर्थात् पुरुष शुभाशुभ कर्मों का करने वाला नहीं, पुरुष अस्वतन्त्र है काष्ठ के यन्त्रों की सदृशता कर्मों में नियुक्त किया जाता है । उद्योगपर्व अ० १५९

प्रत्युत्तर-कलकत्ते के प्रतापचन्द्रराय के छपाये महाभारत उद्योगपर्व अ० १५९ में यह श्लोक नहीं है किन्तु अध्याय १५८ में है । और १४वां नहीं किन्तु १४-१५ में उत्तरार्ध पूर्वार्ध रूप से आया है । और अतएव ने सङ्ग्रह से युद्धवृत्तान्त पूछा है, उस के उत्तर में प्रथम श्लोक ८-९ इस प्रकार है—

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।

न स कालं न वा दैवं वक्तुमेतदिहाहन्ति ॥

अर्थात्-जो पुरुष अपने कुकर्मों से दुःख को प्राप्त हो वह काल वा देव को कुछ नहीं कह सकता ॥ अर्थात् तुम को जो दुःख हुआ वह तुम्हारे उन कर्मों का फल है जो तुमने पाखण्डों की न झुनी और तुम जो कहते हो कि-

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ॥

( देव की ही जलवान् मानता हूँ, पुरुषार्थ व्यर्थ है )

जो ठीक नहीं । किन्तु तुम्हारे काम ही ऐसे थे । अब विचारिये कि आप का कहा १४ वां श्लोक इस प्रकरण में जीव को कलभोग में कठपुतली

सिद्ध करता है वा कर्म करने में ? उस श्लोक का तात्पर्य यही है कि तुम अपने किये अन्याय के फलभोग में स्वतन्त्र नहीं, जो न भोगो, किन्तु पर-तन्त्र करके तुम्हारे कर्मों ने कठपुतली सा मचाया । और यह ध्वनि यहाँ भी निकलती है कि तुम दैव को दोष देते हो सो ठीक नहीं, किन्तु तुम स्वतन्त्र थे, पाखण्डों पर अन्याय न करते तो तुम्हें यह फल काल वा दैव न देता॥

६० ति० भा० पृ० १९६ पं० ५ में—( एतत्प्रधानं ) इस श्लोक को शान्ति आपद्धर्म पर्व अ० ३१ का ४८ वां श्लोक बताकर जीव की परतन्त्रता दिखाई है ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो शान्ति पर्वान्तर्गत अध्याय ३१ में आपद्धर्मवर्णन ही नहीं है किन्तु राजधर्मानुशासन है । और ३१ । ४८ श्लोक यह है—

**कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः ॥**

जाप का लिखा ( एतत्प्रधानं ) नहीं है । और विधिगठ इत श्लोक में प्रारब्ध अर्थात् पूर्व कर्म का वाचक है । ईश्वरवाचक नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० १९६ पं० ११ से—

**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ४२**

जीव अत्यन्त पराधीन है अ० २ पा० ३ और ईश्वर में कुछ दोष नहीं जाता ॥

प्रत्युत्तर-यथार्थ में यह वेदान्तदर्शन का २ । ३ । ४२ वां सूत्र है, आप ने धन्य का नाम नहीं लिखा । इस से पूर्व—

**परात्तु तच्छ्रुतेः २ । ३ । ४१**

यह सूत्र है । इस में से “ परात् ” पद की अनुवृत्ति करके यह अर्थ होता है कि ( परात् ) पर=ईश्वर से (विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः) विधान किये और निषेध किये कर्मों की व्यर्थता न हो इत्यादि हेतुओं से (तु) तो (कृतप्रयत्नापेक्षः) जीवात्मना किये हुए कर्मों की अपेक्षा वाला है ॥ अर्थात् यदि जीव को स्वतन्त्र न मान कर ईश्वराधीन माना जावे तो विधि निषेध वाक्य व्यर्थ हो जायें । क्योंकि ईश्वर ही जब कर्म करावे तो ईश्वर ही वेद-द्वारा किन्हीं कर्मों की विधि और किन्हीं कर्मों का निषेध क्यों करे । इस सूत्र से आप का पक्ष सिद्ध नहीं होता, किन्तु स्वामी जी का पक्ष सिद्ध होता है । आप ने अर्थ न जान कर इसे स्वपक्षपोषक समझा ॥

६० ति० भा० पृ० १९६ पं० १३ में—

**सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः ।**

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

कठ० २ । ११

प्रत्युत्तर-इस का भी भावार्थ आप के पक्ष का पोषक नहीं। क्योंकि इस में यह कहा गया है कि “जिन प्रकार सूर्य सब संसार की आंख है परन्तु बाहरी किसी आंख में दोष हो तो वह दोष भूय पर नहीं लगता। ( किन्तु उस पुष्प की गिज आंख का स्वतन्त्र दोष है ) इसी प्रकार सब प्राणियों—जीव-तमाओं के अन्तर्यामी परमात्मा पर भी संसार के दुःख का प्रभाव नहीं होता। ” सब पूछो तो इस में यह वर्णन ही नहीं कि जीव स्वतन्त्र है वा ईश्वराधीन? किन्तु इस में तो यह वर्णन है कि ईश्वर सब का अन्तर्यामी है तो उस को सुख दुःखादि क्यों नहीं व्यापते। इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि जिस प्रकार सूर्य की सब को देखने में सहायता है परन्तु किसी की आंख फूटने से सूर्य में कुछ विकार नहीं आता। इसी प्रकार परमेश्वर सब का अन्तर्यामी होने से सब को सब कामों में समर्थ करने वाला है परन्तु प्रवर्तक नहीं होने से उस में कोई दोष नहीं पहुँचता ॥

१० ति० भा० पृ० १९६ पं० १८ से—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

प्रत्युत्तर- इस में भी अग्नि, सूर्य, विजुली, वायु, मृत्यु इन जड़ पदार्थों को ईश्वराधीन कहा है। जीव को नहीं ॥

इति जोश्रात्म-संज्ञातन्त्र्य-प्रकरणम्

—○●●●○—

अथ जोश्रात्मलक्षणप्रकरणम्

१० ति० भा० पृ० १९७ मूलमन्त्र से विना, सुत्रों से जीव के स्वरूप का निरूपण करने से स्वामी जी की प्रतिष्ठा भङ्ग होती है कि मैं मन्त्र सागको स्वतः प्रमाण मानता हूँ, कोई जीव के स्वरूप की भुति लिखी होती ॥

प्रत्युत्तर-वेदों में बहुत से मन्त्र हैं जिन में जीवात्मा का वर्णन है, जैसा कि—  
ह्य सुपर्णा सयुजा लखाया० इत्यादि० ऋ० १।१६४।२०  
वायुरनिलममृतमथेवं भस्मान्तं शरीरम् । यजुः १० । १५

अर्थात्-जीवात्मा और परमात्मा में, जीवात्मा वह है जो ठयाप्यठयाप-  
कत्वादि सन्बन्ध से परमात्मा के साथ रहता है, उस का मित्र के समान चेत-  
नत्वादि साधर्म्य रखता है, भोक्तृभाव से प्राकृत पदार्थों का भोक्ता है ॥  
वायु=गन्मान्तर वा योन्यन्तर को जाने वाला, जन्म और अप्राकृत है ॥

परन्तु स्वामी जी ने वेदस्थ अनेक स्थलों में कहे आशयानुसार जी गोत-  
मादि ऋषियों ने जीवात्मा के देह से मिला पहिचानने के चिन्ह लिखे हैं वन्हीं  
को हम लिये लिख दिया कि वे वेदविरुद्ध न थे। स्वामी जी की यह प्रतिज्ञा  
कहीं नहीं कि हम मन्त्रसंहिता के अतिरिक्त किसी विषय में किसी अन्य ग्रन्थ  
का प्रमाण ही न देंगे, किन्तु मन्त्रसंहिता स्वतःप्रमाण और अन्य ग्रन्थ मन्त्र  
संहिता के अविरुद्ध होने से प्रमाण माने हैं। यदि आप गोतमादि के इन  
सूत्रों को मन्त्रसंहिता से विरुद्ध समझते हैं तो किसी मन्त्र से विरोध दिखाइये ॥

जीवों के पवित्रस्वरूप होने पर भी शरीरसहित जीवों में मलेखुरे दोनों  
प्रकार के कर्म प्रत्यक्ष हैं। इस में कुछ विरोध नहीं है ॥

स्वामी जी ने भी न्याय वैशेषिक सूत्रोक्त इच्छा द्वेष प्रयत्न को जीवात्मा  
का स्वरूप नहीं लिखा, किन्तु ये गुण जीवरहित शरीर में नहीं देखे जाते  
किन्तु आत्ममहित में ही दीखते हैं, इस से देहातिरिक्त आत्मा का अनुमान  
से ज्ञान करना चाहिये ॥

द० ति० भा० पृ० १९८ पं० ५ में—

विभवात्महानाकाशस्तथा चाऽऽत्मा । वै० ७ । १। २२

प्रत्युत्तर—इस सूत्र में जो आत्मा को विभु कहा है सो परमात्मा को कहा  
है। और आत्मा पद से यदि दोनों का सामान्य ग्रहण करें तो परमात्मा एक  
सर्वत्र है और जीवात्मा अनेक सर्वत्र फैल रहे होने से कोई दोष नहीं। अर्थात्  
परमात्मा स्वरूप से विभु और जीवात्मा की जाति विभु भांगनी ठीक है ॥

द० ति० भा० पृ० १९८ पं० १० से—दुःखजन्मप्रवृत्ति० इत्यादि न्यायसूत्र से  
स्वामी जी पर यह दोष दिया है कि जीवात्मा स्वरूप से गतिमान होता तो  
सोच में प्रवृत्ति का अभाव क्यों होता ॥

प्रत्युत्तर—हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वामी जी ने यह जीवात्मा का  
स्वरूप वर्णन नहीं किया किन्तु देह में आत्मा की पहिचान लिखी है। इस

लिये आप स्वरूप ज्ञान कर दोष न दें। परन्तु इस सूत्र को मानते हुये भी जीवात्मा को गतिमान् ज्ञान सकते हैं। क्योंकि हम मोक्षसे भी पुनरावृत्ति मानते हैं जिसे प्रकरण आने पर हम सिद्ध करेंगे। स्वामी जी ने जो इच्छा द्वेबादि को आत्मा के गुण लिख दिया है, वहां गुण शब्द दार्शनिक नहीं है किन्तु लौकिक बोल चाल का गुण शब्द है। जैसे लोक में मनुष्यों को गुणी वा निर्गुण कहते हैं। परन्तु दार्शनिक रीति पर कोई वस्तु गुणगुणी के नित्य समवाय सम्बन्ध होने से निर्गुण नहीं कहा जा सकता ॥

द० ति० भा० पृ० २०० पं० ८ से—

**ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो न विरोधः । गौ०**

अर्थात् आत्मा का लिङ्ग ज्ञान है, यहां मनु जी ने सब का लिङ्ग पृथक् १ कर दिया केवल शुद्ध ज्ञान लिङ्ग आत्मा का वर्णन किया ॥

प्रत्युत्तर—हम भी मानते हैं कि आत्मा सच्चित्स्वरूप है और हम लिये केवल जीवात्मा का लिङ्ग “ज्ञान” है। परन्तु इच्छाद्वेबादि भी ज्ञान का ही प्रपञ्च है। “इच्छाद्वेषप्रय०” इस सूत्र का वात्स्यायन भाष्य देखिये—

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादानुमिच्छति । सेयमादानुमिच्छा एकस्याऽनेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्भवति लिङ्गमात्मनः, नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति । एवमेकस्याऽनेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्बुःखहेतौ द्वेषः । यज्जातीयो यस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादानुं प्रयतते, सोऽयं प्रयत्नएकामनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्, नियतविषय बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति, एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो द्याख्यातः । सुखदुःखस्मृत्या चायं सत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते । सुखदुःखे वेदयते, पूर्वाक्तएवहेतुः । बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति किं स्वदिति ? विमृशन्

जानीते इदमिति, तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्यामभिन्न-  
कर्तृकं गृह्यमसामात्मलिङ्गम्, पूर्वाक्त एव हेतुरिति ॥

भाष्य का तात्पर्य यह है कि-१-इच्छा-जिस प्रकार के विषय से आत्मा ने सुख प्राप्त किया है, उस उस प्रकार के विषय को देखता हुआ, लेना चाहता है। यह जो लेने की इच्छा है सो एक ऐसे आत्मा को होती है जो एक है और अनेक विषयों का देखने वाला है। उसी का यह “इच्छा” लिङ्ग है। यदि देह से भिन्न आत्मा न माना जावे और किसी विषय की लिप्सा को केवल बुद्धि का भेद माना जावे तो जैसे अन्य देहों के अनुभूत विषयों का अन्य देह को ज्ञान नहीं होता वही प्रकार यहाँ भी न होना चाहिये। क्योंकि बुद्धि और देह के अवयव तो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। जो पूर्वक्षण में थे, वे वर्तमानक्षण में नहीं हैं। इस लिये आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु न हो तो पूर्व जिस प्रकार के विषय से मनुष्य को सुख हुआ है उस प्रकार के विषय को पुनः देखकर उस को लेने की इच्छा न होनी चाहिये। इस प्रकार एक आत्मा अनेक कालों में अनेक विषयों का द्रष्टा जो शरीर की भान्ति शीर्ण नहीं होता, उस के सामने ही यह बन सकता है कि वह पूर्वानुभूत विषयों को अनुभूयमान विषयों से मिलान करे और चाहे कि यह उसी प्रकार का विषय है, जिस से मुझे सुख हुआ था, इस लिये इसे लूं ॥

२-द्वेष-जिस प्रकार क्षण २ में बदलने वाले शरीर वा बुद्धि को आत्मा मानने से “इच्छा” नहीं बन सकती, वही प्रकार द्वेष भी नहीं बन सकता। क्योंकि जिस काल में जिस प्रकार के पदार्थ से दुःख हुआ था, उस प्रकार के दूसरे विषय को देखने के समय देहात्मवादी के मतानुसार वही पुराणा एकरस रहने वाला आत्मा न मानने से “द्वेष” भी उस प्रकार के विषय से न होना चाहिये ॥

३-प्रयत्न-जिस प्रकार का विषय जिस को सुख का हेतु होता है उस प्रकार के विषय को देख कर वह लेने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न तब न होता जब कि एक ही पुराणा आत्मा सदा न रहता। जैसे अन्य देहों से भोगे सुख की प्राप्ति के लिये अन्य को ही प्रयत्न नहीं करता ॥

इसी से दुःखाद्यक विषयों से बचने का प्रयत्न भी समझ लीजिये ॥

४।५ सुख, दुःख-सुख और दुःख को स्मरण करके सुख दुःख के साधनों से सुख दुःख को प्राप्त होता है। इस में भी हेतु वही है कि आत्मा देह और बुद्धि के साथ बदल जाता तो ऐसा न हो सकता ॥

६-ज्ञान- जब कि आत्मा समझना वा जानना चाहता है तो सोचता है कि 'यह क्या है' । फिर सोचने से जानता है कि यह "यह है" । जब जानना चाहे कि जानने की इच्छा और सोचने का कर्त्ता ही इस जानने का भी कर्त्ता है, उस से भिन्न नहीं । यदि हम ( आत्मा ) देख ही होते और सण २ में बदलते (विपरिणत होते ) तो जब जानने की इच्छा की थी तब वह जानना चाहने वाला अन्य कोई था, फिर विचारने वाला अन्य होगया और जानने वाला कि "यह है" अन्य है । तब यह कैसे बन सकता है कि आत्मा यह मन्तोष करे कि मैंने जो कुछ जानना चाहा था, जान लिया । यह तो तभी बन सकता है कि जब एक ही आत्मा अशीर्ष्याव से जानने की इच्छा, विचार और यथार्थज्ञान का कर्त्ता माना जावे ॥

१० ति० भा० पृ० २०० पं० १९ से-अशीरमू इस कठोपनिषद् वाक्य से आत्मा को विभु कहा है ॥

प्रत्युत्तर-विभु मानने का उत्तर, " विभवान्नहानाकाशस्तथा आत्मा " इस सूत्र में ऊपर हम कह चुके हैं ॥

१० ति० भा० पृ० २०० पं० २३ में-( नायमात्मा० ) इस कठोपनिषद् के वाक्य से निष्काम पुरुष को अपने ही ज्ञान से ब्रह्मज्ञान बताया है ॥

प्रत्युत्तर-अपने ज्ञानमात्र से ब्रह्मज्ञान वा मोक्ष नहीं होसकता, किन्तु जीव ब्रह्मप्रकृति इन के भिन्न भिन्न स्वरूपपूर्वक ज्ञान से जानी कहाता है । जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद्—

उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च ।

अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परो

योनिमुक्ताः ॥ १ । ७ ॥

भा०-पूर्व ६ श्लोको में सब कार्यों और उन से बने संसारचक्र का वर्णन किया गया और जीवात्मा को कर्मानुसार इस चक्र में घूमना पड़ता है यह कहा गया । अब इस संसारचक्र से निकलने का उपाय बताते हैं-

( एतत् ) यह जो ( उद्गीथम् ) ऊपर कहा गया है ( तस्मिन् ) उस में ( त्रयम् ) तीन का समुदाय है (परमं ब्रह्म) १ पर ब्रह्म (तु) और (सुप्रतिष्ठा) २ प्रकृति (च) और (अक्षरम् ) ३ जीवात्मा । (अत्र) इन में (अन्तरम्) अंदर की (विदित्वा) जानकर (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (लीनाः)

लीग हुवे (तत्पराः) सभी में लगे (योनिमुक्ताः) योनियोंसे छुटे [हो जाते हैं] ॥

पहले दो श्लोकों में जो कारण कहे उन में तीन (ब्रह्म, प्रकृति, जीव त्मा) प्रधान हैं, इन में जो कुछ अन्तर है उस को जान कर ब्रह्मज्ञानी विवेक से मुक्ति को पाते हैं। अर्थात् मुक्त में और परमात्मा में क्या और कितना अन्तर है तथा मुक्त में और प्रकृति में वा प्रकृति और परमात्मा में कितना अन्तर है, अब यह जान लेता है तब पूर्ण आदित्य, ईश्वरभक्त, ज्ञानी और विवेकी होकर मोक्ष को पाता है ॥ ७ ॥

अब अपने ( नायमात्मा प्र० ) का अर्थ सुनिये—कठोपनि० २३—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

अन्वयः—अयमात्मा, प्रवचनेन लभ्यो गान्ति, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः, किन्तु यमेव एषः वृणुते [ स्वीकरोति कृपा ] तेनैव लभ्यः तस्य एषः आत्मा स्वां तनूं [ निजां तनूनिध ] वृणुते [ स्वीकरोति ] ॥

यह परमात्मा केवल प्रवचन [ किसी के बताने ] से नहीं जाना जाता, न केवल बुद्धि से, न बहुत पढ़ने से। किन्तु जो पुरुष अपने आत्मा से उस का अद्भुत भक्त से धरण [ग्रहण] करता है उसे परमात्मा ऐसे स्वीकार करके जैसे जीवात्मा देह को, कृपा अर्थात् स्वकृप ज्ञात करा देते हैं। अर्थात् आत्मा को ही साक्षात् परमात्मा का अनुभव होता है, किसी मन वाणी इन्द्रियादि साधन से नहीं हो सकती और होगा चाहिये भी नहीं क्योंकि प्राकृत इन्द्रियां प्राकृत वागत् के विषय करने ही में काम दे सकती हैं। प्रकृति से परे सूक्ष्मतम चेतन परमात्मा के अनुभव करने में प्राकृत इन्द्रियां कैसे काम दे सकती हैं? किन्तु अप्राकृत आत्मा ही परमात्मा का अनुभव कर सकता है ॥

—○:#:○—

अथ जीवात्मन एकदेशीयत्वप्रकरणम् ॥

दश ति भा० पृ० २०२ में—क्यागी जी के लिखे देहधारी जीवात्मा के जन्म मरण जाना आना जागरण निद्रा आदि में दोष देते हुवे कहा है कि जन्ममा जीव मान कर जन्मवाला कहना परस्परविरुद्ध है। और “अनाद्य प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा। योग सू० १। १० ” इन से मन की अभाव प्रत्यया-लम्बनावृत्ति को निद्रा माना गया है, न कि जीवात्मा की ॥



**प्रत्युत्तर-** जीवात्मा के स्वरूप को स्वाभी जी ने मजन्मा नहीं कहा । अजन्मा स्वरूप से है और सजन्मा देहवन्धन से है । इस लिये परस्परविरोध नहीं । निद्रा मन की वृत्ति ती है परन्तु आत्मसहित शरीर में मन की वृत्ति है । न कि मृत अनात्मशरीर में, इस लिये जीवात्मा का निद्रा से सम्बन्ध कहा ॥ वेदान्तसूत्र ( तद्गुणः ) का अक्षरार्थ आपने कुछ नहीं लिखा, केवल वे समझे झूठे कहों से गलत करदी । यदि आपने समझा है तो अक्षरों से वह अर्थ निकालिये ॥

**तद्गुणस्वारस्यात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्तुवेदान्तदर्शने २।३।२६**

इस का अर्थ सुनिये । इस से पूर्व सूत्र यह है -

**पृथगुपदेशात् २ । ३ । २८**

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के पृथक् २ भावों में उपदेश होने से भेद है । अब यह शङ्का रही कि यदि दोनों भिन्न हैं तो दोनों को आत्मा क्यों कहते हैं । उस का उत्तर अगले सूत्र में दिया है कि-(तद्गुणस्वारस्यात् ) परमात्मा के चेतनत्वादि धर्मों का साधर्म्य होने से ( तु ) ती (तद्व्यपदेशः) जीवात्मा को भी आत्मा शब्द से व्यपदिष्ट [वर्णित] किया जाता है । (प्राज्ञवत् ) जैसा विद्वान् में ॥

अर्थात् जेते लोक में जोड़े विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं और बड़े विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं क्योंकि विद्वान्=जानना रूप साधर्म्य दोनों में है । इसी प्रकार जीव ब्रह्म दोनों आत्मा कहाते हैं क्योंकि दोनों में चेतनत्वादि कई बातों की बराबरी (साधर्म्य) है । परन्तु जेमे विद्वानों में शल्पक बहुत का भेद होने से दोनों सर्वांग में बराबर नहीं हो सके, इसी प्रकार जीवात्मा एकदेशस्थ होने से अपरम और परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वज्ञ है । इस लिये दोनों बराबर या एक से नहीं हो सके ॥

२० नि० भा० पृ० २०३ पं० २ “ ब्रह्माऽभिनत्वात् विभुर्जीविः ब्रह्मवत् ”

प्रत्युत्तर-ऐसे न्याय हम भी चढ़ सके हैं कि-

**“ ब्रह्म भिन्नत्वात्परिच्छिन्नो जीवः परमाणुवत् ”**

अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न होने के कारण इसी प्रकार परिच्छिन्न=एकदेशीय है जिन प्रकार एक परमाणु । और आपकी यह शङ्का जो निष्फल है कि जीव परिच्छिन्न है तो वही जीव हाथी और बही चींटी से

कैसे भावेगा। क्योंकि देह के समान परिमाण वाला हन जीव को नहीं मानते, किन्तु परिमाण के प्रकार से इतना छोटा मानते हैं कि अक्षरेषु में भी वासके। और जीव का सूक्ष्मता फैलना भी हम नहीं मानते इस लिये विनाशों होने की शङ्का भी व्यर्थ है ॥

### इति जीवात्मन एकदेशीयत्वप्रकरणम्

#### अधोपादानप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० ५ में—प्रकृतिश्च=ब्रह्म ही उपादान को निमित्त कारण मानो ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—“प्रकृति” शब्द का अर्थ भी भाव “ब्रह्म” करने लगे तब जिनका अन्वय हो सो थोड़ा है। सूत्र का अर्थ तो यही बनता है कि—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । वेदान्तद० १।४।२३

प्रकृति उपादान कारण है। इस का, प्रतिज्ञा और दृष्टान्त (सृष्टिका, घट, कुम्भकार) में विरोध नहीं जाता ॥

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० ७ में सत तमादेशमप्राप्तो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्युपगतं गतमविज्ञातं विज्ञातमिति । दृष्टान्त—एक के जानने से अन्य सब जाना जाता है वह उपादान कारण के जानने से सब का जानना संभव है ॥

प्रत्युत्तर—भाव का तात्पर्य यह है कि एक ब्रह्म के जान लेने से समस्त न सुनी बातें सुनली जाती हैं; सब न जानी हुई, मान ली जाती हैं और सब न जानी हुई, जान ली जाती हैं। जैसे निहो के जानने से घटादि समस्त कार्य जान लिये जाते हैं। इस लिये ब्रह्म उपादान है ॥ उत्तर—ब्रह्म के जानने से सब का ज्ञान हम लिये नहीं होजाता कि वह सब का उपादान है, किन्तु इस लिये होजाता है कि ब्रह्म सब से सूक्ष्म है, जब उसे किसी ने जान लिया तो अन्य स्थूल पदार्थों का जानना किस गिनती में है ? अर्थात् सब कुछ जान लिया। और उपादान कारण के ज्ञानमात्र से समस्त कार्यों का ज्ञान भी नहीं होता। देखो लोग में सुयश को मझ जानते हैं, परन्तु उस के कार्य अनेक प्रकार के शास्त्रों को सुनार ही बना सकता है, सब नहीं। भाटे को पीसना जो जानते हैं, वे रोटी उत्पन्न बनाना भी जाने, सो आवश्यक नहीं। पशुत्व को जानने वाला पुरुष समस्त सृष्टि के कार्य को नहीं जानता। कण पित्त वात मात्र के जानने से सारी पृथिवी के तनुष्यादि की

सब अवस्थाओं का ज्ञान युगपत् ( एक बारगी ) एक पुरुष को नहीं होता । इस लिये चेतन परमात्मा के जागने से सब की कृपा द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है, परन्तु वह जगने से उपराग नहीं हो गया ॥

इसी प्रकार इस २०४ पृष्ठ के लिखे ( मृत्तिका, पृथिवी ) आदि दृष्टान्तों का उत्तर जानिये ॥

२० ति० भा० पृ० २०४ पं० २४ (यतो वा इमानि प्रजानि प्रजायन्त) ०००  
“जनिकर्तुः प्रकृतिरिति” इस से यह सिद्ध किया है कि ऊपर के वाक्य में “यतः” पद में उपादान पञ्चमी है जो “जनिकर्तुः प्रकृति” इस सूत्र से विहित है । इस लिये जगत्कर्त्ता ब्रह्म ही उपादान है ॥

प्रत्युत्तर-पाठकों को यह (इमानि प्रजानि) अभीखा पाठ देखकर हंसी आवेगी । आज तक किसी ने प्रजा शब्द को गुप्तकलिङ्ग भी नहीं सुना है ? अस्तु, छद्म पाठ तो उपनिषदों के पढ़ने वाले जानते हैं, परन्तु वास्तविक शब्दा का उत्तर यह है कि (यतः) पद में जो पञ्चमी है वह अवश्य उपादान में है, किन्तु “यतः” पद यहाँ प्रकृति जीवात्माओं सहित ब्रह्म का द्योतक है। केवल ब्रह्म का द्योतक नहीं, केवल ब्रह्म जगत् को रचता भी नहीं, इस लिये केवल ब्रह्म को जगदुपादान मानना अज्ञान है और नवीन वेदान्तों भी प्रकृति सहित अर्थात् मायासहित ब्रह्म को ही जगत्कर्त्ता मानते हैं, केवल को नहीं ॥

२० ति० भा० पृ० २०४ के अन्त और २०५ के आदि में ( अभिध्योपदेशाच्च ) सूत्र भीर उनी का खेंवातानी वाला ताराचन्द्रकृत भाषाटीका लिखदिया है ॥

प्रत्युत्तर-इस सूत्र का सर्वोपनिषत्सम्मत अर्थ यह है:-

### अभिध्योपदेशाच्च १ । ४ । २४

अभिध्यान अर्थात् ज्ञानपूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति का उपदेश पाया जाता है । इस से जाना जाता है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान होता तो कार्य-जगत् भी चेतन होता, चेतन से जड़ोत्पत्ति असंभव है, इस लिये पूर्वसूत्रोक्त प्रकृति ही उपादान कारण है । इस से जगला सूत्र भी सुनिये-

### साक्षाच्चोभयाम्नानात् १ । ४ । २५

जन्म और नाश सत्य-दोनों एक साक्षत् प्रकृति से होने जावे हैं । यदि ब्रह्म से जन्म और नाश हो और वह उपादान माना जाये तो ब्रह्म में जन्म और नाश रूप विकार दोष आवे ॥

द० ति० भा० पृ० २०५ में सूत्र और ताराचन्द्र्रीय भाष्य मांड दिया है। यथा—

स्वाप्ययात् १।१।८

ब्रह्म ही में सब का लय कहा है, तिस से भी प्रधान विश्वनिदान नहीं है॥

प्रत्युत्तर—ब्रह्म में आधाररूप से सब का लय है, न कि उपादान भाव से इस लिये ब्रह्म निमित्त कारण है, उपादान नहीं और इस से ६ सूत्र पूर्व (ननु समन्वयात् १।१।४) कह चुके हैं इस लिये प्रकृतिमद्वित या प्रकृतिसमन्वित ब्रह्म का वर्णन है। इस से प्रकृतिरहित केवल ब्रह्म में उपादानत्व नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २०५ पं० २१ से:—

गतिसामान्यात् १०

जैसे जेवादि इन्द्रियां रूपादि में समान गति से धर्ते हैं, तैसे सब वेद ब्रह्म को ही जगत्कारण कहते हैं न कि तार्किकों के समान भिन्न कारण हैं। “यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वादिशो विस्फुलिक्का विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेष्वो देशादेवेष्वो लोका इति” “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इति” “आत्मन एवेदं सर्वमिति” “आत्मन एवः प्राणो जायत इति” जैसे जलनी हुई अग्नि से चिमनारी निकलनी है, इसी प्रकार आत्मा से प्राण प्राणों से देवता देवताओं से लोकादि प्रतिष्ठित है, उसी परमात्मा से यह आकाशादि उत्पन्न हुआ है। यह सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुवे हैं ॥

श्रुतत्राञ्च ११

वेद से उपादान कारणकर्ता सब चेतन ही सुना है ॥

प्रत्युत्तर—वेद में किस रूपान पर कहा है कि केवल ब्रह्म जगत् का उपादान है ? कहीं नहीं। और प्रकृति सहित ब्रह्म को उपादान और निमित्त क्रमशः नातने में आप के लिखे काष्ठमहिन अग्नि की चिमनारी आदि के दृष्टान्त से कुछ दोष नहीं आता। अब यह सुनिये कि उपनिषद् में स्पष्ट निषेध किया है कि ब्रह्म का कोई कार्य नहीं। यथा—

न तस्य कार्यं करणं च त्रिदशते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैश्च श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाश्च ॥

(६।८)

भा०—(तस्य) उस का (कार्यम्) कार्य (च) और (करणम्) कारण

( न विद्यते ) नहीं है । ( तत्त्वतः ) उस के समान । ( च ) और ( उ-  
भयपक्षः ) उन में अधिक ( न दूषयते ) नहीं दीखता । किन्तु, ( अस्य )  
इन की ( परा, शक्तिः ) बड़ी, शक्ति ( च ) भी ( स्वभाविकी, ज्ञानबल-  
क्रिया ) स्वभाविक ज्ञान बल और क्रिया ( विविधा, एवं ) विचित्र ही  
( श्रूयते ) वेदों में वर्णित है ॥

इस में जो यह कहा है कि “उन का कार्य नहीं” इस से भट्टैतवादियों  
का ब्रह्मको जगत् का अभिन्नानितोपादान मानना विरुद्ध हुआ और “असका  
साधन नहीं” इससे साकारवादियों का उन के हाथ पर मानना विरुद्ध है ॥: ८॥

—○:#:○:—

### अथ महावाक्याऽभासप्रकाशम् ॥

स्वामी जी ने लिखा है कि “तत्त्वतस्यादि” वाक्यों की महावाक्य संज्ञा  
प्राचीन शास्त्रों में नहीं लिखी, इन पर २० ति० भा० पृ० २०७ पं० १८ से—  
“ जैसे पाणिनी ऋषि के मत से वृद्धि शब्द परिभाषा में आये भी का बोध  
होता है वैसे व्यास, शङ्कराचार्य और भट्टैत सिद्धान्ताचार्यों के मत में “महा-  
वाक्य” शब्द भी भेदभ्रमनिवारक वाक्यों में पारिभाषिक है । ”

प्रत्युत्तर—यदि इन वाक्यों की वेदान्तसिद्धान्त में “महावाक्य” संज्ञा  
है तो क्या जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने—

वृद्धिरादैच् १।१।१५ ॥

इस सूत्र से आये भी की वृद्धि संज्ञा की है, क्या इनो प्रकार इन वाक्यों की  
महावाक्य संज्ञाविधायक को वेदान्तसूत्रादि भाष्य बता सकते हैं? अथवा व्यास  
जी ने अपने वेदान्तदर्शन में अन्वय संज्ञा मानकर भी कहीं “महावाक्य” शब्द  
का प्रयोग किया है? यदि नहीं किया है तो स्वामी जी का कहना ठीक है कि  
ये वाक्य प्राचीन ऋषि मुनियों ने “महावाक्य” नाम से नहीं पुकारे हैं ॥

२० ति० भा० पृ० २०७ में—एक यह दोष स्वामी जी के अर्थ में दिया है  
कि उन्होंने ने कहीं तो “जीवात्मा में परमात्मा व्यापक” कहकर जीवात्मा को  
आधार और परमात्मा को आधेय कहा, और कहीं “मैं ब्रह्मरूप हूँ” कहकर  
ब्रह्म को आधार और जीव को आधेय कहा है । यह परस्पर विरोध है ॥

प्रत्युत्तर—यह परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तु आपस में  
व्याप्य व्यापक नहीं उग में आपस में दोनों की आधारता है, वा आधेयता  
संगत होती है । परन्तु जिन में व्याप्य व्यापकता है, उन में विवक्षाधीन

दोनों को आधारार्थ्यता नहीं जा सकती है। हम दो दृष्टान्त देते हैं जिन से स्पष्ट समझ में आजायगा ॥

जैसे “नीका में पुरुष” व्याप्य ठयापक नहीं है। इस लिये नीका आधार और पुरुष आधेय ही रह सकता है, और पुरुषको आधार वा नीका को आधेय नहीं कह सकते। परन्तु दूसरे दृष्टान्त में जैसे: “आकाश वा वायु में प्राणि-वर्ग” यहां आकाश वा वायु ठयापक और प्राणिवर्ग ठयाप्य है। तो दोनों को परस्पर आधारार्थ्यता नहीं जा सकती है। अर्थात् प्राणिवर्ग में आकाश वा वायु है और आकाश वा वायु में प्राणिवर्ग है। इस लिये स्वामी जी का लिखा संगत और भाव का असंगत हुआ ॥

द० ति० भा० पृ० १०८ पं० १३-१४ में-उद्दालक याज्ञवल्क्य के संवाद की श्रुति को, मैत्रेयी याज्ञवल्क्य के संवाद की वर्णन करी है ॥

प्रत्युत्तर-इस में मिथ्यान्तर्हानि तो कोई नहीं केवल मनुष्यों के नाम की यदि भुल हो तो चिन्ता नहीं। और आप तो अभी पृ० १०० पं० ९ में गीतगोवर्धन को “मनु जी ने” करके लिख चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० १०८ में इतने तक और हैं १-यदि जीव निकटस्थ और दूसरे पदार्थ दूरस्थ और मुक्ति में प्राप्त तत्सम्बन्ध और बन्ध में परस्पर सम्बन्ध और जीव के भाग रहने वाला है तो ब्रह्म एकदेशी परिच्छिन्न क्रियावत् होगा ॥

२-और जो जीव को ब्रह्म का अविरोधी रूप अथवा ब्रह्म को जीव का अविरोधी रूप कहा, तो क्या जीवभिन्न पदार्थ ब्रह्म के विरोधी हैं?

३-वह एक अवकाश कीन है जिस में सप्ताधिकाल में ब्रह्म और जीव स्थित हैं?

प्रत्युत्तर-१-समीपता और दूरता यहां देशकृत नहीं, किन्तु विचारकृत है अर्थात् समझने वाला ब्रह्म के समीप और न समझने वाला दूर। साक्षात् सम्बन्ध भी जानने की अपेक्षा से ही है। और देश की अपेक्षा से तो ब्रह्म सब में समन्वित है, किसी से पृथक् नहीं ॥

२-ब्रह्म का विरोधी कोई ऐसा नहीं जो उससे बलवान् हो और उस के दिये दण्ड को न भोगे। परन्तु स्वतन्त्रता से जो लोग पाप करते हैं वे परमात्मा के विरोधी वा अपराधी हैं और जो नहीं करते, वे अविरोधी कहे जा सकते हैं ॥

३-जीवात्मा और अन्य सब पदार्थ यद्यपि प्रतिक्षण ब्रह्म में ही रहते हैं, परन्तु साधारण मनुष्य जागते और साक्षात् करते नहीं कि हम ब्रह्म

में हैं। और समाधिरूप पुरुष साक्षात् करना है, इस लिये उस का विशेष रूप से यह कहना बल सक्ता है कि " मैं ब्रह्मरूप हूँ " ॥

१० ति० भा० पृ० २०९ में ( य आत्मनि तिष्ठन्० ) इस उपनिषद्वाक्य के स्पष्टप्रतिपादित भेदवाक्य को औपाधिक भेद बताकर उस के उत्तरभाग में अभेद बताया है ॥

प्रत्युत्तर—पूर्वभाग के भेद को औपाधिक भेद मानने में गमक कुछ नहीं दिया। पूर्व और उत्तर भाग को अर्थ सहित नीचे देखिये—

यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् यआत्मनोन्तरोयमयति एषतआत्मान्तर्गम्य-  
मृतोऽदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातोविज्ञाता  
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति  
मन्ता नान्योऽतोस्ति विज्ञातैषतआत्मान्तर्गम्यमृतोऽतो-  
ऽन्यदातम् ॥ बृह० २३। अ० ५ ब्रा० ७ ॥

अर्थ—( य आत्मनि तिष्ठन् ) जो परमेश्वर जीवात्मानें व्यापकता से स्थित हुआ ( आत्मनोन्तरः ) जीवात्मा के भीतर है ( यमात्मा न वेद ) जिस को भस्मपन्न जीव नहीं जानता ( यस्य आत्मा शरीरम् ) आत्मा, जिस का शरीरवत् रहने की जगह है, ( य आत्मनः अन्तरः ) जो जीवात्मा के भीतर ( यमयति ) इसे नियम में चलाता है ( एषः अमृतः आत्मा ) यह जगत् परमात्मा ( तै अन्तर्गामी ) तेरा अन्तर्गामी है। [ यहां तक पूर्वार्थ का स्पष्ट भेदवाद है कि जिस के औपाधिक मानने का कोई हेतु नहीं क्योंकि कि उपाधि परिछिन्न पदार्थ में हो सकती है, अपरिछिन्न विभु परमात्मा उपाधि से अतीत है। अब उत्तरार्थ का अर्थ सुनिये जिस में आप अभेद प्रतिपादन करते हैं ] ( अदृष्टो द्रष्टा ) जो परमात्मा देखने में नहीं आता पर सब को वह देखता है ( अश्रुतः श्रोता ) जो शब्द के समान काग का विषय नहीं पर वह सब की सुनता है ( अमृतः मन्ता ) वह मन का विषय नहीं पर वह सब को मानता है ( अविज्ञातः विज्ञाता ) वह बुद्धि का विषय नहीं पर सबको जानता है ( अतः अन्यः ) इस के अतिरिक्त कोई ( द्रष्टा न अस्ति ) सर्वदर्शी नहीं है ( अतोऽन्यः श्रोता नास्ति ) न इस के अतिरिक्त कोई सब की सुनने वाला है ( अतोऽन्यो मन्ता नास्ति ) न इस से पृथक् कोई सब का मानने वाला ( अतोऽन्यो विज्ञाता नास्ति ) और न इस से भिन्न कोई सर्वज्ञ है।

(एषमसृगः आत्मा) यह अमर परमात्मा (से अन्तर्यामी) तैरा [जीवात्मा का] अन्तर्यामी है। (अतोऽन्यदार्त्तम्) इस से भिन्न सब वन पदार्थ हैं, यही एक मिश्रण है। अब विचारिये कि हम में अभेद की कौन सी बात है ?

द० ति० सा० ए० २१०-२११ में "तत्त्वमसि" वाक्य को अभेदप्रतिपादन जताने के लिये छान्दाग्यउपनिषद् का समस्त प्रकरणवाक्य लिखा है।

प्रत्युत्तर—आप उस को भी अर्थ को सामने रखें तो अभेद सिद्ध नहीं होता। यथा—

अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनःप्राणे,  
प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, स य एषोणिमा ।  
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं सआत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो॥

छा० उ० अ० ६

(सौम्य) हे सौम्य। (अस्य प्रयतः पुरुषस्य) हम मरते हुये मनुष्य की (वाक् मनो जीवोन्मत्त) आणी मन में लीन हो जानी अर्थात् बोलना बन्द हो जाता है, परन्तु मन से बोलने की इच्छा रहती है। फिर (मनः प्राणे) मन प्राण में लीन हो जाता है। (प्राणस्तेजसि) प्राण तेज में लीन हो जाता है। फिर (तेजः परस्यां देवतायाम्) तेज परले देवता में अर्थात् दो [जीवात्मा व परमात्मा] में से परले परमात्मा देवता में लीन हो जाता है। (यः एषः) जो यह परमात्मा है (सः अणिमा) वह अति सूक्ष्म है (इदं सर्वम्) यह सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) हम से व्यप्य है अर्थात् यह परमात्मा सब का आत्मा=आपक है (तत् सत्यम्) वह सब काल में एकरस है, (सः आत्मा) वह विभु है, (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु ! (तत्) तत्सत्यं (त्वमसि) तू है ॥

यह ती यह अर्थ हुआ जिस से स्वामी जी महाराज का लिखा तात्स्थयो-पावि यात्रा अर्थ ठीक चट जाता है। और यही अर्थ है भी। परन्तु यदि आप को तात्स्थयोपाधि लगाना नहीं रुचता और गौरव जान पड़ता है तो हम एक और अर्थ दिखल दे हैं, उस से भी अभेदवाद नहीं रहना, न तात्स्थयोपाधि लगानी पड़ती है। सुनिये—

“हम मरते हुए मनुष्य की आणी मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परमात्मा में। परन्तु (सः यः एषः अणिमा) वह जो कि अत्यन्त सूक्ष्म जीवात्मा है (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्) वह सब का



जाति हाने से आत्मा है अर्थात् आत्माओंके बिना कोई शरीर कभी स्थिर नहीं रह सकता । ( तत्सत्यम् ) वह अविविनाशी है अर्थात् लीन नहीं होता ( सः आत्मा ) वह आत्मा कहाला है । ( प्रवेतकेतो ! तत्त्वमसि ) हे प्रवेतकेतु ! तू वह है । अर्थात् तू देह नहीं, तू आत्मा अगर अगर है, शरीर रूप जरामरण का तुझे भय नहीं । इस में न तात्स्थयोपाधि है, न अभेदवाद है । इस लिये यदि आप को स्वासी जी लिखित अर्थ में तत्सत्योपाधि के समझने में कठिनता हो तो आप इस अर्थ से मनोप करें । परन्तु अभेद के अर्थ में न पड़ें । आप लीन का अर्थ यह समझते हैं, जैसे पानी में पानी मिल जाये और इस यह समझते हैं कि जैसे पानी में मीठा घुल जाये । पानी मीठे का संपादन नहीं, पर आधार है ॥

६० ति० भा० पृ० २११ में इस ऊपर वाले उपनिषद् वाक्यस्थ " ऐतदात्म्यम् " पद का शङ्करभाष्य और उन का भाष्य लिखा है परन्तु शङ्कराचार्य स्वयं इस प्रकरण के साध्य पक्ष में हैं इस लिये उनका लेख ही प्रमाण में नहीं देना चाहिये या ॥

६० ति० भा० पृ० २१३ पं० १० में—कार्योपाधि तत्संस्कार विशिष्ट सद्गं वि सो ती जीव और कारणोपाधिविशिष्ट सद्गं परमेश्वर है ॥

प्रत्युत्तर—इस लेख से अद्वैत को द्वैतापत्ति आती है । अर्थात् जितना सद्गं=ब्रह्मांश कार्य मन आदि सपाधि से उद्बुधित=चिरा है उतना अंश जीव कहाला और जितना ब्रह्मांश कारणोपाधि अर्थात् प्रकृति से चिरा हुआ है सतना परमेश्वर कहाला है । ती यहां ब्रह्म से प्रकृति पदार्थ या कारणपदार्थ भिन्न मिदु है । 'महावाक्य' नाम धरनेकी कोई परिभाषा वेदान्तियों के किसी ग्रन्थ से आपने न दिखाई और लिख दिया कि यह पारिभाषिक शब्द है ॥

### प्रज्ञानं ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म

इन दोनों वाक्यों का अर्थ ती किसी प्रकार की श्रान्ति से भी अभेद-प्रतिपादक नहीं । सीधा अर्थ यह है कि " ब्रह्मवत्कृष्ट ज्ञान वाला है " तथा " यह आत्मा=[ सर्वत्रातति त्रयात्तमोति सः ] ब्रह्म है " ॥

६० ति० भा० पृ० २१४ में जो लेख है उस का संक्षिप्त भाष्य यह है कि—  
अनेनात्मना जीवेनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । छां०  
६।३।२ तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तै० ब्रह्मानन्दबल्ली । अनु० ६

इन वाक्यों में “अनु” की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और कर्मप्रवचनीय के योग में अष्टाध्यायी महासाध्यानुसार द्वितीयाविभक्ति होती है । सो “अनु” का अर्थ “लक्षण” है । “पश्चात्” अर्थ नहीं है ॥

प्रत्युत्तर—अनुलक्षणे १।४।८४ सूत्र से लक्षणार्थ “अनु” कर्मप्रवचनीय होता है । और [ कर्मप्रवचनीययुक्तेद्वितीया ] २।३।८ से द्वितीया विभक्ति होती है, परन्तु मूलवाक्य (अनेतात्मना जीवेनानुप्रविश्य) में तृतीया विभक्ति है । जो सह=साथ के अर्थ में है । इसमें जाना जाता है कि “अनु” का यहाँ लक्षण अर्थ नहीं किन्तु स्वामी जी के कथनानुसार “पश्चात्” अर्थ है । यदि आप के लेखानुसार लक्षण अर्थ और कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती तो द्वितीया विभक्ति होती, जो कि प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं है ॥

दूसरे तैत्तिरीय के वाक्य में जो द्वितीया “तत्” है, वह कर्मप्रवचनीययुक्त में द्वितीया नहीं है किन्तु “अनुप्राविशत्” का कर्म होने से—

### कर्मणि द्वितीया २।३।२

इस सूत्र से द्वितीयाविभक्ति है, इसलिये आपका लक्षणार्थ सामाना अयुक्त है ॥  
८० ति० भा० पृ० २१५ में—आत्मैवेदमग्रे० इत्यादि सुहृदारण्यक वाक्य से अभेद प्रतिपादित किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का अर्थ सुनिये—

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनु वीक्ष्य नान्यदा-  
त्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाऽभवत् ॥

बृह० अ० ३० ब्रा० ४

अर्थात् ( पुरुषविधः आत्माएव ) व्यापक स्वरूपआत्मा ही ( अग्रे आसीत् ) सृष्टि के आरम्भ में या ( सः ) उसने (इदम् अनुवीक्ष्य) इस उत्पत्त्या-साग जगत् को देखकर ( आत्मनः अन्यत् ) आने से अन्य अपने सनाग को (न अपश्यत्) न देखा और ( अग्रमाहमस्मि इति व्याहरत् ) प्रथम वह परमात्मा मैं हूँ, यह कहा ( ततः ) तब ( अहं नामा ) अहङ्कारतत्त्व ( अभवत् ) उत्पन्न हुआ ॥

इस में स्पष्ट इदम् पदवाक्य जगत् को देखना लिखा है इस लिये “अपने अतिरिक्त और कोई नहीं देखा” का यही तात्पर्य समझना चाहिये कि आपसे अतिरिक्त जगत् को देखा परन्तु दूसरे परमात्मा को न देखा ॥ अब इस वाक्य से अभेद समझना अस्मन्मी की बात है ॥

द० ति० भा० पृ० २१६ में स्वामी जी लिखित—(जीवेयी च विशुद्धा चित्  
भीर-कार्योपाधिरयं जीवः०) इन दोनों श्लोकों को लिखा है कि स्वामी जी  
इन को संक्षेप शारीरक भीर शारीरकभाष्य में कारिका लिखते हैं । परन्तु ये  
दोनों श्लोक उक्त ग्रन्थों में नहीं किन्तु पहला तो धार्मिककार सुरेश्वराचार्य का  
है, दूसरा आचार्यशोपनिषद् का है ॥

प्रत्युत्तर—भीर भाषने ओ पृ० २०० पं० ९ में गोतमसूत्र को मनु कह कर  
लिखा है वहां भाषने क्या मनु का दर्शन नहीं किया था । यदि मूल पुस्तक  
संक्षेप शारीरक भीर शारीरकभाष्य में ये श्लोक न भी हों तो निम्नी लिखित  
पुस्तक पर टिप्पणी की रीति पर लिखे होंगे भीर स्वामी जी ने पूर्व काल  
में गवीन वेदान्त पद्धति सम्यग् देखे होंगे । जब कि ये दोनों श्लोक ऐसे ग्रन्थों  
में उपस्थित हैं जिन्हें आप मानते हैं, तो आप इन के खण्डन का समाधान  
करते तब भाष का पक्ष सधता । परन्तु ग्रन्थ के नामभेद मात्र का उल्लाहना  
देने से काम नहीं चलता ॥

स्वामी जी ने (अयोदरमन्तरं कुर्वतेः) इस के अर्थ में लिखा है कि जो पर-  
मात्मा को न माने वा उस को भाक्षा गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध होवे०  
इत्यादि । इस पर द० ति० भा० पृ० २१७ पं० १९ में लिखा है कि “भला इस  
में जीव परमेश्वर का निषेध देशकाल परिच्छिन्न गुण कर्म स्वभाव । यह  
कहां से लिख दिये ॥

प्रत्युत्तर—यह “अन्तर” शब्दार्थ का प्रपञ्च है । अन्तर विचार के भेद  
को कहते हैं ब्रह्म से अन्तर अर्थात् विचारभेद रखना कि उस से इन को  
अन्तर है, वह इसारा उपास्य नहीं वा हमें उस के गुण कर्म स्वभावानुसार  
अपने गुण कर्म स्वभाव सुधारने की आवश्यकता नहीं इत्यादि अन्तर शब्द  
से तात्पर्य है । आप के समझने के लिये लौकिक दृष्टान्त उपयुक्त होगा कि  
जैसे कोई शिष्य अपने गुरु से अन्तर रखे अर्थात् उस की भाक्षा न माने  
वा उस से कुछ छिपाया चले । इत्यादि अन्तर कहाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ११७ में फिर एक वाक्य लिखा है भीर भवेद् सिद्ध  
किया है । यह वाक्य यह है—

अभयं वै जनकं प्राप्नोसि तदात्मानमेव वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति  
तस्मात्सर्वमभयं तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतइति॥

प्रत्युत्तर—इस का भी यही अर्थ है कि “हे जनक ! तू अभय को प्राप्त

है और मैं आत्मा को जानता हूँ कि “मैं ब्रह्म हूँ” इस से “सर्वस्य हूँ” उस में शोक क्या और मोह क्या, एकत्व को देखते तुम को ॥

अर्थात् जीवात्मा की परमात्मा के साथ जक एकता=मित्रता अनुकूलता हो जाती है तब भय शोक मोह कहां रह सकते हैं ? इस वाक्य में अन्तिम भाग वेद्याव्य उद्धृत किया हुआ है और वह वेदमन्त्र यजुर्वेद का ४०।३ वां यह है-

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

और इस से भी पूर्व का मन्त्र यह है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ४० । ६ ॥

जब दोनों मन्त्रों का अर्थ क्रमपूर्वक देखिये तो यह होता है कि “जो सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है तब वह संग्रह में नहीं पड़ता ॥६॥ और गिम छागी की दृष्टि में सब प्राणी अपने समान हैं उस एकता देखने वाले में शोक और मोह क्या ? ॥ ७ ॥

यदि हम में तत्तुल्य अर्थ न लगावें और सब आत्मा ही आत्मा समझें तो “सब में”—यह अधिकरणमग्न की उपपन्न न हो सके ॥

६० ति० भा० पू० ५१७ में—शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥ ६० प्र० अ० पा० १ जैसे तत्त्वमसि इस वाक्य को देख कर वामदेव ऋषि ने कहा है कि मैं ही मनु सूर्य और कर्लीवान् हुवा या ऐसा ही इन्द्र ने कहा है कि मैं ज्ञान का हूँ तू इसी को उपासना कर (अहं मनुरभवं मयेशाहं कर्लीवानित्यादि०)

प्रत्युत्तर—जिम “तत्त्वमसि” और “अहं मनुरभवं” से आप इस सूत्रार्थ को जोड़ते हैं वह वाक्य और वेद मन्त्र इस से संबद्ध नहीं है। तत्त्वमसि वाक्य श्रवतकेतु के प्रति और जनक के विषय में है। वामदेव के विषय में नहीं। और “अहं मनुरभवं” यह ऋग्वेद ४ । २६ । १ का मन्त्र है जिम में वामदेव का वर्णन नहीं, क्योंकि सायणादि सब टीकाकार भी इस मन्त्र का इन्द्र देवता मानते हैं, वामदेव देवता नहीं। और गिरुक्त में लिखा है कि—

या तेनोच्यते सा देवता

जिस पदार्थ का मन्त्र ने वर्णन किया हो, वह उस मन्त्रका देवता कहाता

हे । अब, जब इस मन्त्र का इन्द्र देवता है तो इस में इन्द्र=परमेश्वर का वर्णन है, वासुदेव ऋषि का नहीं । हां, वासुदेव इस मन्त्र का द्रष्टा अर्थात् मन्त्र का ऋषि है । और निरुक्त के अनुसार ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा होते हैं, न कि वाच्यार्थ । और देवता मन्त्र का वर्णनीय पदार्थ होता है । तदनुसार इस मन्त्र में इन्द्र का वर्णन है । वासुदेव का नहीं । अब मन्त्र का अर्थ सुनिये—  
अथ सप्तर्चस्य षड्विंशतितमस्य सूक्तस्य वासुदेवऋषिः ।

इन्द्रोदेवता । तत्राद्यायाः षड्क्तिश्छन्दः । पञ्चमःस्वरः ॥

अहंमनुभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।

( इत्यादि ) ऋ० ४ । २३ । १

हे मनुष्यो ! ( अहम् ) मैं इन्द्र=ईश्वर ( मनुः ) विचारवाक् ( सूर्यश्च ) और प्रकाशक ( ज्ञातवम् ) हूं और ( अहम् ) मैं ( कक्षीवान् ) संपूर्ण सृष्टि की कक्षा अर्थात् परम्पराओं से युक्त ( ऋषिः ) वेदज्ञ ( विप्रः ) विद्वान् हूं ॥ अब अपने सूत्र का अर्थ सुनिये:—

शास्त्रद्रष्टया सूपदेशोवासुदेववत् ॥

अर्थात् जैसे वासुदेव दृष्ट मन्त्रों के देखने से किसी को यह भ्रम हो कि इन मन्त्रों में वासुदेव अपने को परमात्मा या इन्द्र कहता है, इसी प्रकार अन्य वेदमन्त्रों=शास्त्रों में जानो । अर्थात् यह भ्रम है कि शास्त्र के द्रष्टाओं को शास्त्र का कर्त्ता मान कर यह समझना कि वह २ ऋषि अपना वर्णन करता है । किन्तु उस २ ऋषि ने शास्त्र=वेद को देख कर अन्यो को उपदेश किया है, जैसा कि वासुदेव ने ॥

६० ति० भा० पृ० २१८ पं० १४ में ( एकं रूपं बहुधा यः करोति )

प्रत्युत्तर—इस से क्या अनेक निदु हुवा कि 'ओ एक रूप को बहुत प्रकार का करता है' अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व एक कारण था, उसको परमात्मा ने बहुत कार्यरूपों में परिणत कर दिया ॥



अथ वेदप्राप्तिप्रकरणम् ॥

६० ति० भा० पृ० २१८ से २२० तक यह सिद्ध करने को कि वेद ब्रह्मा पर प्रकट हुवे और अग्नि वायु आदित्य शक्तिरा पर नहीं हुवे, प्रथम कई

प्रमाण इस विषय में दिये हैं कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ही उत्पन्न हुये, अन्यत्वादि नहीं । पड़ना प्रमाण अथर्ववेद १९।२३।३० का यह है—

ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ।  
भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पधितुं कः ॥

भूतानां ब्रह्म प्रथमो ह जज्ञे—सब प्राणियों में ब्रह्मा जो प्रथम उत्पन्न हुये ।

प्रत्युत्तर—मन्त्र तो आप ने पूरा लिखा पर अर्थ केवल तृतीयपाद का लिखा, यदि चारों पादों का अर्थ लिखते तो ज्ञान होजाता कि इस में ब्रह्मा ऋषि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है और न वेद में अन्यत्र कहीं किसी ऋषि के जन्म सरणादि का वृत्तान्त हो सकता है । इस का अर्थ सुनिये ॥

( ब्रह्म ) ब्रह्मा=परमात्मा ने ( ज्येष्ठा ) ज्येष्ठानि=बड़े ( वीर्याणि ) पुनरायें मानस्य ( संभृत ) धारण किये हैं ( ब्रह्म ) परमात्मा ने ( अग्रे ) आरम्भ में ( ज्येष्ठं दिवम् ) बड़े द्युलोक को ( आततान ) विस्तृत किया है ( ब्रह्मा ) परमात्मा ( भूतानाम् ) पञ्चगहासूतों के मध्य में ( प्रथमः ह ) पूर्व प्रसिद्ध ( जज्ञे ) साक्षात् हुया ( तेन ब्रह्मणा ) उस ब्रह्म के साथ ( कःस्पधितुम् अर्हति ) कौन स्पर्धा कर सकता है ? कोई नहीं ॥

इस में ब्रह्मा ऋषि का नाम तक नहीं आता । ब्रह्म शब्द नपुंसकलिङ्ग तो ३ बार और पुलिङ्ग १ बार आया है ॥

२—प्रमाण मनु का दिया है कि—“तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः”

प्रत्युत्तर—इस का उत्तर देना इस लिये यद्यपि अनावश्यक है कि ब्रह्मा के आरम्भ में उत्पन्न होना सिद्ध होने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वेद भी सभी के हृदय में परमात्मा ने प्रकट किये, परन्तु आप जो मनु का आया श्लोक प्रमाण देते हैं इस का प्रसङ्ग पीछे से लगाया जाय तो पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा ऋषि का वर्णन यहां मनु में नहीं पाया जाता । न कमल से उत्पन्न ब्रह्मा का वर्णन है । किन्तु—

सोमिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाःप्रजाः । अपएव सस-  
र्जादौ तासु बीजमधाःसृजत् ॥ ८ ॥ तदण्डमभवद्वैमं सहस्रांशु-  
समप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥ अ०१

( स्वात् ) अपने [ स्व स्वानि संबन्ध से ] (शरीरात्) शीर्ण होने वाले

उपादान कारण तत्त्व से (विविधाः प्रजाः सित्तुः सः) विविध प्रजाओं को रचना चाहने वाले उस परमात्मा ने (अपः एव आदौ ससर्जं) अप् को ही प्रथम रचा (तासु) और उन अप् में (बीजम् अवाप्तुजजत्) बीज छोड़ा यहाँ शरीर शब्द से उपादान कारण का ग्रहण है। परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी है। इस लिये उसे " परमेश्वर का " कहा गया है ॥ ८ ॥ (तत् सहस्रांशुसमप्रभं हैसम् अयष्टम् अभवत्) वह सूर्य के समान चमकीला तेजोमय गोला होगया और (तस्मिन्) उस ब्रह्माखण्डनामक गोले में (सर्वलोकपितामहः) सब लोक का पितामह (ब्रह्मा) प्रकृतिसहित परमात्मा (जस्ते) प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अर्थात् प्रकृति भी पहले अव्यक्त थी, अब व्यक्त हुई। और परमात्मा भी अब प्राकृत जगत् द्वारा जानने योग्य हुआ। हम ने यहाँ " प्रकृति सहित परमात्मा " यह "ब्रह्मा" शब्द का अर्थ किया है सो अपनी ओर से नहीं, किन्तु १० वें श्लोक में नारायण शब्द का अर्थ करके मनु ही ब्रह्मा शब्द का अर्थ बतलाने के लिये ११ वां श्लोक लिखते हैं। यथा—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(यत् तत्) वह जो (नित्यं, सदसदात्मकं, कारणम्, अव्यक्तम्) नित्य, सत् और असत् की प्रकृति भूय, उपादान कारण, अव्यक्त=अप्रकट सूक्ष्म है (तद्विसृष्टः सः पुरुषः) उस कारण से संयुक्त वह पुरुष (लोके) संसार में (ब्रह्मा इति कीर्त्यते) " ब्रह्मा " इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

अब आप क्या कह सकते हैं? जो कि आप ने आधा श्लोक इस रहस्य के द्विपे रहने के लिये नहीं लिखा था ?

३-फिर मुखकोपनिषद् का वचन लिखा है। यथा—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संवभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्रा

प्रत्युत्तर— इस में भी ब्रह्मा ऋषि का वर्णन नहीं किन्तु ब्रह्मा परमात्मा का नाम है। क्योंकि " ब्रह्मा देवतों में प्रथम है जो सब का कर्त्ता और जगत् का रक्षक है " इस में यदि पुराणप्रतिपादित ब्रह्मा का वर्णन होता तो " सब का कर्त्ता " तो कहा जाना परन्तु "सब का रक्षक" न कहती। क्योंकि पुराणानुसार ब्रह्मा उत्पादक और विष्णु रक्षक है ॥

४-यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वसर्गो बहुधा शुभया संयुतः ॥ ३० ॥ ३१ ॥

प्रत्युत्तर—जो देवताओं के उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है, सर्वेश्वर दुष्ट-  
दमन और अनन्तज्ञान वाला है सृष्टि के आरम्भ में जिस ने “ हिरण्य-  
गर्भ ” को उत्पन्न किया वह हम को पवित्र ब्रह्म से युक्त करे ॥ ”

इस में हिरण्यगर्भ नाम ब्रह्मा का नहीं किन्तु उसी मूललिखित ब्रह्माखण्ड  
पिण्ड गोले का नाम हिरण्यगर्भ है ॥

५-आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकान् । कपि० सू०

यहां ( ब्रह्मा से लेकर ) इस शब्द से ही ब्रह्मा का सृष्टि को आदि में  
होना सिद्ध है ॥

प्रत्युत्तर—सूत्र में ब्रह्मा से स्तम्भ पर्यन्त सृष्टि कही गई है । इस का  
तात्पर्य यदि आप समय पर लगाते हैं कि आरम्भ काल में ब्रह्मा हुए तो  
प्रलय के समीप काल में “ स्तम्भ ”, होगा अब कृपया बतलाइये कि स्तम्भ  
कीन सा ऋषि या अवतार होगा और उस का वर्णन पुराण-दि में कहाँ  
किस प्रकार लिखा है ? कहीं नहीं । यथार्थ में यहां सृष्टि के दो पदार्थों का  
वर्णन है, एक बहुत बड़ा और दूसरा बहुत छोटा । ब्रह्मा=ब्रह्माखण्डपिण्ड  
जो बहुत बड़ा पदार्थ है उस से लेकर स्तम्भ=अक्षुर पर्यन्त जो बहुत छोटा  
पदार्थ है । स्तम्भ कोई अक्षुर पदार्थ नहीं । अगरकोष वैश्ववर्ग श्लोक २१ में

स्तम्भो गुच्छस्तृणादिनः

गुणादि के गुच्छे को स्तम्भ कहा है । और अगरकोष तृतीयवर्ग श्लोक ८ में—

अप्रकाण्डे स्तम्भगुल्मी

यहां बीज में अक्षुर ही बना हो और काण्ड शाखादि न हों उस का नाम  
स्तम्भ है । तो आप के विचारानुसार यह तात्पर्य हुआ कि सृष्टि के आरम्भ  
में ब्रह्मा और अन्त में स्तम्भ उत्पन्न होगा । जिस का वेद पुराण ज्योतिषादि  
किमी में कोई साक्ष्य नहीं । इस लिये ब्रह्मा=ब्रह्माखण्ड से लेकर तुच्छ अक्षुर=  
स्तम्भ पर्यन्त सृष्टि का सूत्र में वर्णन है । ब्रह्मा ऋषि का नहीं ॥

६-सकलजगताम् ० इत्यादि पराशर सूत्र का प्रमाण दिया है । जो वेद-  
वेदाङ्ग उपनिषद् आचार्यिक ग्रन्थों में नहीं है ॥

निदान हम यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा भस्मिणी सृष्टि में नहीं हुआ,  
परन्तु आप के लिखे प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता । दूसरा भाग वेदप्रामा



विषय में यह है कि वेद ब्रह्मा ऋषि के द्वारा प्रकट हुवे, अग्नि वायु आदित्य  
जङ्गिरा द्वारा नहीं। इस विषय में द० ति० ११० पृ० २२० में वही श्वेताश्वतरो-  
पनिषद् का प्रमाण दिया है कि—“यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्” इत्यादि।  
यद्यपि इन का उत्तर स्वामीजी ने मनु के प्रमाण से स्वयं दे दिया है, परन्तु  
हमें भी आप के ज्ञापनार्थ इस वाक्य का पूरा अर्थ लिखे देते हैं। यथा—  
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।  
तच्छ्रु देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥  
( श्वेता० ६।१८ )

“जो ज्ञाति में ब्रह्मा=वेदवेत्ता को बगता और उस के लिये वेदों का  
प्रदान करता है, निश्चय उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक देव को मैं मोक्षार्थी  
शरण जाता हूँ” इस में ब्रह्मा का अर्थ वेदवेत्ता ऋषिमानान्य करो तभी—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

इस मनु के कथन से विरोध हटैगा, अन्यथा नहीं। और ब्रह्मा पद  
यहां जात्यभिप्राय में बहुवचन की जगह एकवचन जानना चाहिये। आपने  
अपने पक्ष को पुष्ट करते हुवे मनु के श्लोकस्थ “दुदोह” इस क्रिया का कुछ  
भी ठिकाना नहीं लगाया, क्या आप उसे नहीं जानते ?

द० ति० ११० पृ० २२१ में ( यस्मिन्नष्टासः ) इत्यादि श्रु० १०।८१।१४  
मन्त्र में आये ( वेधसे बुद्धि मति जनये ) इस वाक्य से ब्रह्मा को वेद प्रकट  
करना बताया है ॥

प्रत्युत्तर—‘वेधम’ शब्द वेद में ब्रह्माऋषि का वाचक नहीं किन्तु निघण्टु  
३।१४ में मेधावी=विद्वान् का नाम वेधा है। तदनुसार यह अर्थ हुवा कि  
परमात्मा उन मेधावी पुरुषों के हृदय में वेदों का प्रकाश करते हैं, जो पूर्व-रूप  
कन कर्मानुसार धारणावती मेधा=बुद्धि से संपन्न हों ॥

द० ति० ११० पृ० २२१ में ( अग्निर्देवता० ) इत्यादि यजुः १४।२० से  
बतलाया है कि अग्नि ऋषि नहीं किन्तु देवता है ॥

प्रत्युत्तर—यहां अग्नि, वायु, सूर्यादि जड़ पदार्थों का प्रकरण है और मला  
वेद में किसी ऋषिविशेष अग्न्यादि का वर्णन आता ही क्यों। क्या यह नियम  
है कि वेद में वा अन्यत्र जो नाम किसी जड़ पदार्थ का हो, वह नाम किसी  
मनुष्य का न हो। यदि ऐसा होता तो उवाळा=अग्निनलपेट जड़ पदार्थ का  
नाम है, उस उवाळा देवी का नाम वा मनुष्यादि का नाम न होना चाहिये ॥

६० ति० भा० पृ० २२२ में शतपथ ब्राह्मण के पाठ में जो पूर्ण रूपे सत्यार्थ-प्रकाशों में पाठभेद होगया था, उस का उल्लाहना देकर स्वयं (तेभ्यस्ततेभ्यः०) इत्यादि शतपथ का पाठ लिख कर अर्थ किया है कि “अग्नि वायु आदित्य इन तीन तपस्वियों से तीनों वेद ऋग्यजु साम प्रकाश हुवे”

प्रत्युत्तर—ठीक है “जादू तो वह जो शिर पे चढ़के बोले” आप ने भी अग्नि वायु आदि तपस्वी महात्मा ही वेदों के ऋषि लिखे। अब विवाद ही क्या है ॥

आगे जो आप लिखते हैं कि ( अर्थात् वेद ऋग्विहित कर्तों का प्रचार हुआ ) सो आप की टिप्पणी हमारे पक्ष की हानिकारक नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० २२२ पं० १९ में (दुर्गह) क्रिया को धातुओं के अनेकार्थ होने से दूरी=दानार्थ लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्य को वेद दिये ॥

प्रत्युत्तर—महाभाष्य ( अनेकार्थो अपि धातवो भवन्ति ) ६ । १ । १ के अनुसार जब धातु के प्रसिद्ध अर्थ से समन्वय=ठीक सङ्गति नहीं मिलती तब किसी अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना की जाती है और यह नहीं कि “अन्धो घास खाति” का यह अर्थ कर लिया जावे कि घोड़ा घास खोदता है, किन्तु घोड़ा घास खाता है, यही अर्थ किया जाता है। जब कि “अग्निवायुरदित्यः” इस को पक्षगी विभक्ति मानते हुवे “दुर्गह” का अर्थ प्रपूरण प्रसिद्धार्थ ठीक पट जाता है कि ब्रह्मा ने अग्नि आदि से वेदों को प्रपूरित किया। तब शतपथानुसार भी वही सङ्गति जग गई। अब अनेकार्थ कल्पना गौरव और व्यर्थ है ॥

६० ति० भा० पृ० २२२ में लिखे ( तदण्वमभवत् ) का अर्थ हम पूर्व कर चुके हैं। और उसी से ६० ति० भा० पृ० २२३ में लिखे मनु के दो श्लोकों का उत्तर आ चुका कि मनु में जो श्लोक ९ में ब्रह्मा का वर्णन है वह व्यक्ति विशेष वा ऋषिविशेष का नहीं है ॥

६० ति० भा० पृ० २२३ में ( स ब्रह्म वि० ) इत्यादि मुख्यकोपनिषद् से यह दिखाया है कि ब्रह्मा ऋषि ने अपने बड़े पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या पढ़ाई, उस ने अङ्गिरा को, उस ने भरद्वाज को। इत्यादि ॥ इसमें अङ्गिरा को शिष्य कहा है, स्वामी जी गुरु बताते हैं। यह भाश्य है ॥

प्रत्युत्तर—क्या एक नाम के अनेक ऋषि अनेक वा एक समय में नहीं होते ? जिस अङ्गिरा पर वेदों का परमात्मा ने प्रकाश किया वह ब्रह्मा के बड़े पुत्र अथर्वा का शिष्य नहीं किन्तु अन्य था और आप वही माने तो मनु के श्लोकार्थ में तो आप अन्यादि को ब्रह्मा का शिष्य लिख चुके हैं ॥

यहां ब्रह्मा के बड़े पुत्र का मशिय्य क्यों लिखते हैं। क्या यह विरोध नहीं?  
५० ति० भा० पृ० २२४ में-

तद्वेदगुह्योपनिषत्सुगूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् । श्वेता०

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है कि जो ब्रह्म योनि अर्थात् जगन्निमित्तकारण ब्रह्म वेदों और उपनिषदों में गूढ़भाव से प्रतिपादित है, उसे ब्रह्मा=वेदज्ञ पुरुष जानता है ॥

५० ति० भा० पृ० २२४

अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्थाम्

प्रत्युत्तर-यह अग्नि जो देवों वायुआदिके भक्ष का खाने वाला है सो होन का जड़ अग्नि है। न कि आपका माता हुआ पूर्वोक्त वेदप्रकाशक तपस्वी ऋषि ॥

पराशर सूत्र के प्रमाण से ५० ति० भा० पृ० २२४ में लिखा है कि ब्रह्मा के रहिते अंगूठे से दक्ष, दक्ष से अदिति, अदिति से सूर्य उत्पन्न हुआ, इस से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष का भेजता सूर्य हुआ ॥

प्रत्युत्तर-इन गार्वे ईश्वर के गीत, आप गार्वे मखान के। आप सूर्यलोक की उत्पत्ति कहते हैं। इस और स्वामी जी आप के जाने शतपथामृतसार आदित्य नाम ऋषि से सागवेद का प्रकाश बताते हैं। न कि सूर्यलोक से ॥

इति वेदप्राप्तिप्रकरणम्

अथ मन्त्रब्राह्मणप्रकरणम् ॥

५० ति० भा० पृ० २२६ पं० १२ से प्रथम ती आप ही ने उपनिषदों की भी वेद मागा है। स० पृ० ११ पं० २ "देखिये वेदों में ऐसे २ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम हैं" ओमित्येतद् ००० यहां उपनिषदों के प्रमाण दिये और सब वेद के नाम से उच्चारण किये ॥

प्रत्युत्तर-कृपा करके सत्यायप्रकाश में देखिये, "वेदों के ऐसे २ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम आते हैं" इस वाक्य के धार पर-

ओ३म् खं ब्रह्म ॥ ( यजु० ४० । १७ )

यह वेदवाक्य लिखा है। उसे न छिपाइये। स्वामी जी इसी को लक्ष्य करके कहते हैं कि "वेदों में ऐसे २ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम आते हैं" न कि जगते "ओमित्येतद् ००० इत्यादि को वेद नाम से कहा हो" ॥

हैं, उपनिषद् का भी प्रमाण इस विषय में दिया है कि ओ३म् परमेश्वर का नाम है और यूनो जागे स्वामी जी ने मनु के भी ९ श्लोक लिखे हैं जो (ओमित्ये०, सर्वे वेदा यत०) से जागे-

**प्रशामितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि० इत्यादि ॥**

क्या फिर स्वामी जी मनु को भी वेद मानते थे ? वा आप मानते हैं ?

५० ति० भा० पृ० २१६ पं० १६ में लिखा है कि "पृ० १८० पं० १० अतिरपि प्रधानकार्यस्य" सांख्य सू० इस के अर्थ में स्वामी जी लिखते हैं कि "उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उत्पादन कारण कहता है" यहां देखिये भ्रुति शब्द उपनिषद्ों तक का नाम भिन्न होता है ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी का यह पक्ष नहीं है कि भ्रुति शब्द उपनिषद्ों के वाक्य का नाम नहीं। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। तन्मन्मन् भ्रुति शब्द वेदाधिकारी हैं और उपनिषद्ों के श्लोकादि का नाम भी भ्रुति रही। इतने से उपनिषद् अपौरुषेय वेद नहीं हो सकते। कहना करो कि एक राजा के पुत्र का नाम "श्रीपति" है और एक वैश्यपुत्र का नाम भी "श्रीपति" है तो क्या दोनों का नाम श्रीपति होने से वह वैश्यपुत्र कभी राजपुत्र माना जा सकता है ? कभी नहीं। इसी प्रकार "भ्रुति" नाम वेदों का भी है और उपनिषद्ों के वाक्यों का भी है तो क्या इतने से उपनिषद् वेद हो गये ?

६० ति० भा० पृ० २१६ पं० १९ से-यदि वेद शब्द से व्यवहार्य वाक्यकलाप को दूसरे पदों से अर्थ करने को व्याख्यान कहते हैं तो स्वामी जी इसे क्या कहेंगे

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वात्पाणि० (इत्यादि यजुः २१। ६५) और प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वात्पाणि० (इत्यादि ऋ० १०। १२२। ४) और नवो नवो भवति जायमानः (इत्यादि ऋग्वेद०) और-नवो नवो भवति जायमानः० इत्यादि ऋ० १०। ८५। १८ )

इन में पहले मन्त्र में (विश्वात्पाणि) ऐसा पद है और दूसरे में विश्वात्पाणि) ऐसा पद है, तीसरे में (भवति जायमान उपमानेत्ययम् विश्वात्मनः) ऐसे विलक्षण पद हैं तो इन मन्त्रों में वेदपदों के पदांतर से अर्थ कथन का स्वामी जी का पूर्वोक्त आवेदगाध्यभूतिका) वेदव्याख्यानत्व ही स्पष्टता से प्रतिपन्न होता है, फिर वेद भी व्याख्यान कहल जायगा ॥

प्रत्युत्तर-एक ही वेद में कोई मन्त्र कई बार जाये वा एक वेद के समान पाठ वाला मन्त्र उसी वेद में वा दूसरे वेद में फिर से जाये, वा कुछ

पाठभेद से आये, तो इस का तात्पर्य यह नहीं होता कि पूर्व कहे मन्त्र के व्याख्यानार्थ पुनर्वार अन्य पदों से ठपाख्यान करने को यह २ मन्त्र पुनर्वार आता है । किन्तु इसने सामवेदभाष्य में स्पष्टता से लिखा है कि त्रिष प्रकार एक अक्षर बार ९ आता है जब २ उस की आवश्यकता हो । इसी प्रकार एक पद भी कईवार आता है । तथा एक मन्त्र वा सूक्त वा अध्याय भी पुनर्वार आसक्ता है, जब २ उस की आवश्यकता हो । और भाव के अथनानुसार यदि यह सागर्ते कि वे २ मन्त्र जो पुनर्वार अन्य पदमिश्रित आये हैं वे पूर्व आये सुभों की ठपाखवा हैं, तो कृपया यह बताइये कि ओ २ मन्त्र बिना पदभेद के क्यों के क्यों कई बार एक वा अनेक वेदों के स्थलों में आये हैं वे किस लिये? क्योंकि जब किसी पद के स्थान में दूसरा पद भी नहीं आया तब व्याख्य तो हो नहीं सकती । जैसा कि—

### तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो दे०

यह मन्त्र ऋग्वेद अष्टक ३ अध्याय ४ वर्ग १० में तथा यजुर्वेद ३।३५ फिर २२।८ फिर ३०।२ पुनः ३६।३ और सामवेद उत्तरार्चिक अध्याय १३ खण्ड ४ अथा ३ में भी आया है । इस लिये एक मन्त्र का समान पाठ से वा पाठभेद से एक वा अनेक वेदों में कई बार आना व्याख्यान होने का साधक नहीं ( परन्तु जैने शतपथ ब्राह्मण में पदों के अर्थ बताये जाते हैं कि—आत्मा वा अग्निः । श० १।२।३।२ अर्थ वा अग्निः प्रजापति प्रजाप-  
तिश्च । श० ८।१।२।४२ ब्रह्मअग्निः । श० १।४।२।११ ऊर्ध्वसः । श० ५।१।२।८ श्रीर्हिपशवः श० १।६।३।३६ प्रजापिपशवः । श० १।४।६।१७  
इत्यादि स्थलों में त्रिष प्रकार शब्दों के अर्थ बताये हैं । इस से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं ॥

द० ति० शा० पृ० २२७ पं० ११ से ( लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात् ) ऐमा कात्यायन ऋषि ने प्रातिशाख्य में कहा है इस का अर्थ यह है कि लौकिकानामर्थपूर्वक होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—भाव का भाष्य यह है कि जैने लोक में जो वस्तु पूर्व होती हैं उन से उत्तर काल में उन का कथन बन सकता है । ऐमा वेद में नहीं । किन्तु जो २ इतिहास ब्राह्मण नामक वेदभाग में जाते हैं वे २ घटना न थीं तभी वेद ने पूर्व से भविष्यत् का वर्णन किया । इस इतिहास से वेद अनित्य नहीं

होते। परन्तु जानना चाहिये कि भाग के लिखे प्रातिशाख्यवाक्य का तात्पर्य यह है कि लोक में जिस प्रकार वस्तुसत्ता के होने पर उन के नाशनाश का सञ्चारण होता है, उस प्रकार वेद में नहीं। अर्थात् वेद अनादि है। उन में गजत् के पदार्थों का वर्णन उस प्रलय काल में भी ईश्वर के ज्ञान में रहता है जो पदार्थ उस काल में वर्तमान नहीं होते किन्तु सृष्टिकाल में उत्पन्न होंगे। इस का कारण यह है कि ईश्वर अनेक उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कर्ता है और अनेक बार बुधे और होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों को जानता है और हम से उन के उत्पन्न होने से पूर्व भी प्रयोग कर सकता है। परन्तु यद्यपि वेद वस्तुसत्ता से पूर्व प्रयोग नहीं करता किन्तु जिस प्रकार वेद और ईश्वर अनादि हैं, इसी प्रकार सूर्यादि पदार्थों में प्रवाह से जो अनादिता है, उस कारण परमात्मा जानता है और जानता हुआ ही प्रयोग करता है। किन्तु जगत्कादि स्वतन्त्र जीवात्माओं के स्वतन्त्रता के सञ्चारण क्रिये प्रस्रोतारों को प्रवाह से अनादिता नहीं है और इस कारण ऐसे प्रस्रोतारदि इतिहास भूलवेद में नहीं आ सकते। और ब्राह्मणग्रन्थों में आते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थ अपौरुषेय वेद नहीं ॥

४० ति० भा० पृ० २२० पं० २२ में ( त्रितं कूपे० ) हम मन्त्र से त्रित ऋषि का इतिहास मन्त्रसंहिता में दिखलाया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का उत्तर पृ० २११ में दिया जा चुका है ॥

४० ति० भा० पृ० २२० में सीमांसा के इन दो सूत्रों से मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद बतलाया है कि—

**तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ३१ शेषे ब्राह्मणशब्दः ३२**

आप का तात्पर्य यह है कि (शेषे) मन्त्रभाग से शेष वेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं ॥

प्रत्युत्तर—आप कृपा करके सीमांसा का इस से पूर्वला अर्थात् ३० वां सूत्र और देखते तो ( तच्चोदकेषु० ) हम ३१ में में तत् शब्द से पूर्वले किस प्रसंग की अनुवृत्ति हो सकती है, वह जान लें। हम पाठकों के आपनार्थ ३०। ३१। ३२ तीनों सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं और अर्थ सहित लिखते हैं—

**३०—विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दात्**

**३१—तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥**

## ३२—शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥

३०—विधि भीर सन्त्र का एक अर्थ है, एक शब्द होने से। अर्थात् सन्त्र संहिता का ही दूसरा नाम विधि है। ३१—तद्योदकेषु०=उक्त विधिवार्यों में सन्त्र नाम प्रसिद्ध है। ३२—इस में शेष पद का सन्त्र से शेष=बचा हुआ अर्थ नहीं किन्तु नीमांसाकार जैमिनि जी शेष का अर्थ स्वयं गिरनलिखित सूत्रों में करते हैं। यथा हि—

अथातः शेषलक्षणम् ३।१।१ शेषः परार्थत्वात् ३।१।२

अर्थात् अब शेष का लक्षण कहते हैं (जिस में “ब्राह्मण” शब्द का व्यवहार है) ३।१।१ कि शेष परार्थ होने से अर्थात् ब्राह्मण को शेष इस लिये कहते हैं कि वह परार्थ है, पराया=सन्त्र का अर्थ वर्णन करता है। कहीं असरार्थ, कहीं भावार्थ भीर कहीं सन्त्रों के कर्मकाण्ड में विनियोग को दिखाता है। अतएव वह वेद का व्याख्यान ती है परन्तु मूल वेद नहीं ॥

४० ति० भा० पृ० २२८ पं० १४। में—तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। इत्यादि ३ सूत्रों से ऋग् यजुः साम के लक्षण कहे हैं। उन का सम्बन्ध इस से कुछ भी नहीं कि ब्राह्मण भी वेदभाग है। परन्तु हां, आप के विरुद्ध भीर स्वामी जी के अनुकूल ती इस सूत्र का भाव होता है। क्योंकि—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ मी० २।१।३५

अर्थ—जिस में अर्थवश से पादव्यवस्था है वह ऋक् कही जाती है। अब यदि ऋग्वेद का ब्राह्मण भी ऋग्वेद में गिना जावे ती उस में भी पादव्यवस्था खन्धोबद्ध होगी चाहिये। सो नहीं है। इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ॥

४० ति० भा० पृ० २२८। २२९ में—बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे ॥ इत्यादि ३ सूत्रों में ब्राह्मण के वेद होने का श्रम सफल किया है ॥

प्रत्युत्तर—आपने पूर्व ती नीमांसा का सूत्र अष्टाद्व लिखा अर्थात् (तेषामृग्यत्रार्थविशेषादव्यवस्था) लिखा, जिस का अर्थ किया जावे ती “अव्यवस्था” वेद के गिर नहीं जाती है। अष्ट पाठ इस ऊपर लिख ही चुके हैं, अब आप वैशेषिक सूत्र का पाठ भी अन्यथा लिखते हैं। अष्ट पाठ भीर अर्थ नीचे लिखे अनुसार है:—

बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे ६।१।१

ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धि लिङ्गम् ६।१।२

बुद्धिपूर्वी ददातिः ६।१।३

तथा प्रतिग्रहः ६।१।४

दूसरे सूत्र में ( लिङ्गम् ) पर आप का रेफ अशुद्ध है । तीसरे ददाति के विसर्ग नहीं लिखे सो अशुद्ध है ॥ अर्थ यह है—वेदों में वाक्यरचना बुद्धि-पूर्वक है ॥ १ ॥ क्योंकि (वेदों का व्याख्यान करते हुए) ब्राह्मण में नामकरण सिद्धि का चिह्न है । अर्थात् ब्राह्मण में वेद के जिस मन्त्र का विनियोग जिस कर्म में किया है, वह २ सिद्ध होता है । यदि वेदवाक्यरचना बुद्धिपूर्वक न होती तो ब्राह्मणोक्त प्रकार से वेदप्रयोग सिद्ध न होते । इस से यह पाया जाता है कि वेद ( कानून ) विधि है और ब्राह्मण उस के वर्त्ताव की विधि बतलाने वाला ( जाहता ) है । ब्राह्मण वेद नहीं हैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार ददाति अर्थात् वेद में लिखा दानप्रयोग भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ३ ॥ तथा प्रति-ग्रह अर्थात् दान लेना भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ४ ॥

इस से ब्राह्मण के वेदत्व की शङ्का नहीं हो सकती । हां, जिन टीका-कारों ने आधुनिक परिपाटी से उदाहरण में वेदवाक्य की अनुपस्थिति में ब्राह्मणवाक्य रख दिये । यह उन टीकाकारों की सम्मति हुई कि ब्राह्मण भी वेद है परन्तु मूल वैशेषिक दर्शनकार कणाद की नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २३० में—तदप्रामाण्यं इत्यादि न्यायदर्शन के ३ सूत्र लिखे हैं और इन के उदाहरण और व्याख्या में वात्स्यायन भी ने ब्राह्मण वाक्य लिखे हैं । इस से ब्राह्मणों के वेदसंज्ञक होने का श्रम किया है ॥

प्रत्युत्तर—आप ने एक अशुद्धि यहां भी की । न जाने क्या बात है कि दर्शनशास्त्रों का विषय आते ही आप से एक न एक अशुद्धि पाठ की अवश्य हो जाती है । शुद्ध पाठ ( विध्यर्थवादानु० ) है । आप ने ( बुद्ध्यर्थवा-दानु० ) लिखा है जिस के अर्थ में विधि का बुद्धि हो जाने से पृथिवी आकाश का सा अन्तर होजाता है ॥ शय मूल बात सुनिये । तदप्रामाण्यं यह सूत्र न्यायदर्शन अध्याय २ आनिहक १ सूत्र ५६ है और इस से पूर्व सूत्र ४७ से न्यायोक्त प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द इन चार प्रमाणों में से शब्द प्रमाण की परीक्षा आरम्भ हुई है । अर्थात् शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत होने की शङ्का करने की ४७ वां सूत्र किया है कि—



शब्दोऽनुमानमर्थस्याऽनुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ २। १। ४७

यहां से शङ्कासमाधान करते हुए इस ५६ वें सूत्र में शङ्का की है कि—

तदऽप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ २। १। ५६

वह शब्द प्रमाण नहीं। क्योंकि शब्द प्रमाण में (पुस्तक लिखित प्रमाण में) अनृत=असत्य, परस्परविरुद्ध और पुनरुक्त दोष हैं। जैसे कि वात्स्यायन जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों में असत्यादि दोष शङ्कापक्ष में दिखाये हैं और अगले सूत्र में इन का उत्तर दिया है कि—

न कर्त्तृकर्मसाधनवैगुण्यात् ५७

अर्थात् शब्द अप्रमाण नहीं। और जो तुम अनृतादि दोष देते हो कि शब्दप्रमाणलिखित पुत्रेष्टि यज्ञादि करने से पुत्रोत्पत्ति आदि प्रायः नहीं होती। सो कर्त्ता कर्म और साधनों में दोष रह जाने से नहीं होती। किन्तु जो आप पुस्तकों का उपदेश किया शब्द है, वह तो प्रमाण ही है। अब आप समझ सकते हैं कि ४७ वें सूत्र से यहां शब्दप्रमाण की अनुवृत्ति और शब्दप्रमाण की परीक्षा का प्रकरण है और शब्दप्रमाणान्तर्गत वेद स्मृति आदि समस्त आप्तोक्त सत्य शास्त्र हैं। न केवल वेद ही शब्दप्रमाण है। हां, वेद स्वतःप्रमाण और अन्य शब्द परतःप्रमाण अर्थात् वेदाऽधीन प्रमाण या वेदाऽविरुद्धता में प्रमाण हैं। इस से गौतमसूत्रों के उदाहरणों में ब्राह्मण वाक्य के उदाहरण से क्या जानि है? प्रत्युत रामायण और महाभारत का मनु आदि के वाक्य भी शब्दप्रमाणान्तर्गत होने से दोष नहीं। परन्तु शब्द प्रमाण होने से उस २ की वेद संज्ञा नहीं हो सकती ॥

२० ति० भा० पृ० २३१ पं० ९ में—( तमितिहासश्च पुराणं च गायत्र्यश्च ) इस अपर्यवेद में इतिहास पुराण के आने से क्या वेद इतिहास पुराण के पीछे बना है। कभी नहीं ॥

प्रत्युक्त—इस अपर्यवेद १५। ३०। १। ४ के वाक्य में इतिहास पुराण का सामान्य नाम है। क्योंकि इतिहास पुराणादि भी प्रत्येक कल्प में बना ही करते हैं। परन्तु ब्रह्मवैवर्त आदि किसी पुराणविशेष का नाम नहीं जाने से यह शङ्का नहीं हो सकती कि वेद उस के पीछे बना। परन्तु यदि पुराणों के किसी अनित्य पुस्तकविशेष भाग्यतादि का नाम जाता तो अवश्य यह सिद्ध होता कि यह वेदवाक्य उस के पीछे बना। जैसे वेदों में मनुष्य शब्द आने

से तो यह शङ्का नहीं होती कि मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् वेद बने, क्यों कि मनुष्यों का होना प्रवाह से अनादि है। परन्तु रामचन्द्रादि वयुषि-ष्ठिरादि पुरुषविशेषों के जीवनचरित्र वा कुछ वर्णन वेद में आते ( जो कि वेद में नहीं आते और ब्राह्मण में आते हैं ) तो अवश्य यह सन्देह होता कि वह २ वेदभाग उस २ की उत्पत्ति के पश्चात् बना ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २३१ पं० १२ से—पञ्चादिभिश्चाऽविशेषात् । इस अपने शास्त्र की आप ही व्याख्या शङ्कराचार्य जी ने की है । और पातञ्जलभाष्य में भी अयशङ्कानुशासनम् । इस का—अयेत्ययं शङ्कोधिकारार्थः । इत्यादि व्याख्यान स्वयं भाष्यकार ने किया है ॥

प्रत्युत्तर—कहीं २ अपनी व्याख्या आपने ही की है। इस से क्या यह सिद्ध होगया कि सप्त व्याख्याग्रन्थ भी मूलग्रन्थकारों ने बनाये हैं । ऐसा ही है तो रघुवंशादिके मङ्गिनाथार्यकृत टीका भी काशीदासादिकृत समन्वयेगा ? वा मानियेगा ? अथवा क्या मूलसंहिताओं की व्याख्या उन के आगे ( जव्य वहित ) इस प्रकार लिखी पाई जाती है ? जिस प्रकार शङ्कराचार्य और पतञ्जलि के उक्त वाक्यों की व्याख्या उन्हीं के आगे उपस्थित है, नहीं २ ॥

द० ति० भा० पृ० २३१ पं० १७ से—प्रश्न

द्वितीया ब्राह्मणे २ । ३ । ६० अष्टा०

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २ । ३ । ६२

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १७५

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२

यहां पाणिनि आचार्य वेद और ब्राह्मण की पृथक् २ कहते हैं पुराण अर्थात् प्राचीन ब्रह्मा आदि ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प वेदव्याख्यान हैं । इस से इन की पुराणेतिहास संज्ञा की गई है । यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को अभिमत होती तो (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) इस सूत्र में छन्द ग्रन्थ न करते "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र में "ब्राह्मणे" इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः प्राप्त है इस से जानते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ की वेद संज्ञा नहीं और यदि छन्द पद से ब्राह्मण का भी ग्रन्थ पाणिनि को अभिमत होता तो "छन्दोब्रा०" इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थ क्यों

करते । केवल छन्दसि कह देते क्योंकि ब्राह्मण भी छन्द ही है “उत्तर” वाह ! व्याकरण में भी आप की बहुत पहुंच है । यह कहना सर्वथा आप का अनुचित है । देखिये “द्वितीया ब्राह्मणे” इस सूत्र से ब्राह्मणविषयक प्रयोग में अपूर्वक है और पण धातु के समानार्थक दिव धातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है यथा “गानस्यतदहः सप्तायां दीवयेयुः” यहां शतस्य दीव्यति इत्यादि में की गई “दिवस्तदर्थस्य” २ । ३ । ५- इस सूत्र से गौरस्य ऐसी षष्ठी प्राप्त थी जो वहां “गानस्य” यही द्वितीया की जाती है यहां ब्राह्मणरूप वेदैकदेश ही में द्वितीया इष्ट है न कि मन्त्रब्राह्मणात्मक श्रुति छन्दः शास्त्राय निगम वेद इत्यादि पद से व्यवहार्य समस्त वेद मात्र में और (चतुर्थीयै बहुलं छन्दसि) २ । ३ । ६- इस उत्तर सूत्र से मन्त्रब्राह्मणरूप छन्दोमात्र के विषय में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का विधान किया जाता है “पुरुषसृगश्चन्द्रनसः” “पुरुषसृगश्चन्द्रनसे” इत्यादि इस सूत्र से छन्दसि इस पद से मन्त्रब्राह्मणरूप समस्त वेद मात्र का संग्रह पाणिनि भाचार्य को अभिमत है, अप्र एव इस के उदाहरण में (या खर्षेण पिबति तस्यै खर्वी जायते तिस्रोरात्रिरिति तस्या इति प्राप्ते, यां सलघद्व्वासः सप्तवन्ति यस्ततो जायते सोमिशस्तो यामरस्ये तस्यै स्तेनो यां पराधीं तस्यै हृतमुख्यः प्रगल्भो या रनाति तस्या अप्सु मा-रुको याऽम्पकृते तस्यै दुश्मनां या प्रलिखते तस्यै खलतिरपस्मारी या कृते तस्यै काणो यादतो धावति तस्यै शयावदन् या नखानि गिरुन्ते तस्यै कुगखी या कृणति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या रुद्धबन्धुको या पर्थेण पिबति तस्या सन्मादुको जायते गहलयाये नारमनाय्ये तन्तुः) इत्यादि बहुत से ब्राह्मणों ही को भाष्यकार ने दिया है यदि इस सूत्र में छन्दोग्रहण न रहेगा तो पूर्व सूत्र से ब्राह्मणों इस पद की अनुवृत्ति लाने पर भी केवल ब्राह्मण ही में षष्ठी होगी वेदमात्र से नहीं इस कारण इस सूत्र में (छन्दसि) ग्रहण का विशिष्ट फलवाई है और ब्राह्मण की छन्दोरूपता में भाष्यकार सम्मति देते ही हैं फिर इस सूत्र में छन्दोग्रहण को व्यर्थ कहते हुए आप निरे स्वच्छन्द नहीं हैं तो और कीन हैं और नहीं तो (मन्त्रेऽथेतवहोऽपशस्पुरोडाशो चित्रम् ३ । २ । ७) अभेयगः ३ । २ । ७२ विजुषे इछन्दसि ३ । २ । ७३) ऐसे क्रमिक सूत्र में पाठ से अन्तिम सूत्र में “छन्दसि” ऐसा कहने से मन्त्रभाग में भी छन्दोरूपता न सिद्ध होने पावेगी देखिये जैसे (ब्राह्मणे) ऐसा कह कर

( छन्दसि ) ऐसा कहने से ब्राह्मण का छन्द पद में व्यवहार पाणिनी की अभिमत नहीं है ऐसी उम्मेदा आप करते हैं तैसे ही पूर्व सूत्र में मन्त्र ऐसा कहकर ( त्रिजुपेश्छन्दसि ) ऐसा कहने वाले पाणिनी को मन्त्र भाग में भी छन्द पद से व्यवहार अभिमत नहीं है ऐसा कहना पड़ेगा तब तो ब्राह्मणद्वेषी आप के शिर पर भी सहा अनिष्ट आपड़ेगा और भी " अमन-रुधिरवस्त्रित्यमययाछन्दसि ८ । २ । १० ) इस सूत्र में पाणिनि ( छन्दसि ) ऐसा कहकर " भुवश्च महाठयाहृतेः ८ । २ । ११ " इस उत्तर सूत्र में महाठया-हृतेः ऐसा कहते हैं इस से महाठयाहृति की भी छन्दोभावव्युत्ति अवश्य हो जायगी क्योंकि " ब्राह्मणे " ऐसा कह कर " छन्दसि " ऐसा कहना ही ब्राह्मण का छन्दोभाव का अभाव साधन करेगा और " छन्दसि " ऐसा कहकर " महाठयाहृतेः " ऐसा विशेष ठयाहृति का कहना महाठयाहृति का छन्दोभाव का नाशक न होगा ऐसी भांख में धूल तो आप नहीं डाल सकते इस हेतु से पाणिनि आचार्य प्रयोग साधुत्व के अप्रसंग और शक्तिप्रसंग निवारण करने की इच्छा से कहीं सामान्य से ( छन्दसि ) ऐसा कहकर विशेष से " महाठयाहृतेः " ऐसा कहते हैं और कहीं तो विशेष से " ब्राह्मणे " " मन्त्रे " ऐसा कह कर सामान्य से " छन्दसि " ऐसा कहते हैं इस से यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को दृष्ट न होती तो ( चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ) इस सूत्र में छन्दोग्रहण दो क्यों करते क्योंकि ( द्वितीया ब्राह्मणे ) इस सूत्र से ब्राह्मणे इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः सिद्ध थी इस से जानते हैं कि मन्त्र ब्राह्मण का नाम वेद है और आप का कहना सब मिथ्या है और ( छन्दोब्राह्मणानीति ) ब्राह्मणों और मन्त्रों का छन्दोभाव समान होने से पृथक् ब्राह्मण ठपर्थ है ऐसा प्राप्त या तपपि ब्राह्मण ग्रहण यहां " अधि-कमधिकार्थम् " इस न्याय से ब्राह्मण विशेष के परिग्रहार्थ है इस से ( याज्ञ-वल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि सीलानि ) इस प्रयोग से पूर्वोक्त नियम नहीं हुआ ठयाकरणभाष्यकार भी ( याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ) ऐसा कहते हुए इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण का प्रयोजन यही सूचित कराये हैं और " पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५ " इस सूत्र में ब्राह्मण का पुराणप्रोक्त ऐसा विशेषण कहते हुए पाणिनि को यही अर्थ अभिमत है अन्यथा यदि ब्राह्मण विशेष के परिग्रह करने की इच्छा न होती तो ( पुराणप्रोक्तेषु ) इस से कहने से आचार्य की प्रवृत्ति व्यर्थ होजाती । बाहे

स्वामी जी आप कुछ सगर्भों परन्तु भाष्य के अम करने वाले विद्वानों की यह खान कुछ परोक्ष नहीं है इस हेतु हम इस में कुछ और नहीं कहा चाहते और मन्त्र भाग की भाँड़े ब्राह्मण भाग का भी प्रामाण्य बारम्बार सिद्ध कर आये हैं अतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापन के प्रसंग से ( प्रमाणेन कृतुं ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते) ऐसा वात्स्यायन महर्षि ने कहा है यदि ब्राह्मणों का स्वतःप्रामाण्य न हो तो दूसरे की प्रामाण्य-बोधकता कैसे उन में संभवित होसकती है क्योंकि ब्राह्मण भाग स्वयं गर्भ तक प्रमाणपदवी पर व्यवस्थित न होलेगा तब तक इतिहास पुराण के प्रामाण्य का व्यवस्थापन करने में कैसे समर्थ हो सकेगा यह कहावत प्रसिद्ध है कि ( स्वयमभिदुः कथंपरान् साधयिष्यति ) इस से श्रुति वेद शब्द आरुनाय निगूण इत्यादि पद मन्त्र भाग से लेकर उपनिषद् पर्यन्त वेदों का बोधक है यह शास्त्र मार्मिक विद्वानों का परामर्श है अतएव ( श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वे स्मृतिः ) श्रुति को वेद कहते हैं धर्मशास्त्र कू स्मृति कहते हैं ऐसा आस्तिक जनों के जीवगीषध भगवान् मनु जी ने भी माना है ॥

प्रत्युत्तर-सत्यार्थप्रकाश में यह प्रश्न इस प्रकार आप के मत पर नहीं किया गया जैसा कि आप ने "द्वितीया ब्राह्मणे" इत्यादि किया है। फिर इस का उत्तर सत्यार्थप्रकाश के क्रमपूर्वक खण्डन में देना आवश्यक न था और "इत्यपि निगमो भवति । इति ब्राह्मणम् । नि०अ०५खं०३।४" का उत्तर जो आप को देना था सो आप ने दिया नहीं। इस का कारण शोधने से ज्ञात होता है कि आपने सत्यार्थप्रकाशस्थ उक्तियों को समझा नहीं और उस की जगह सूक्तिका पर भाष्य करके जो कांशी के पण्डितों ने महामोहविद्रावण नामक पुस्तक में लेख किया है उस का सावानुवाद करके आप ने लिख दिया है। परन्तु सत्यार्थप्रकाश के उत्तर से इस का कुछ सम्बन्ध नहीं। तथापि आप के समस्त पक्षों का निराकरण हो जावे, और साथ ही महामोहविद्रावण की भी समालोचना होजायगी, इस लिये क्रमशः उत्तरसुनिये-

चतुर्थर्थं बहुलं छन्दसि २।३।६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने छन्दोग्रहण की व्यर्थता दिखाई है सो विपक्षियों के ही मतानुसार दिखाई है। अपने मत से नहीं। आप जो "द्वितीया ब्राह्मणे" में "ब्राह्मणे" ग्रहण को वेद के एकभाग वाचक भाग

कर निर्वाह करते हैं सो इस लिये ठीक नहीं कि ब्राह्मण का वेदैकदेश होना ही तो साध्य है। साध्य को हेतु बतलाना "साध्यसमहेत्वभास" नामक निग्रह स्थान है। जिस प्रकार "अग्निमीडे पुरोहितम्०" ऋ० १।१।१। इत्यादि मन्त्र जो वेद का एकदेश हैं, क्या उन में छन्द आदि पदों से विहित कार्य नहीं होते? किन्तु यह शैली पाणिनि की नहीं है कि जिन २ विशेष वेदैकदेशों में (मन्त्रों वा पदों में) वे कार्य पाये जावें उन २ का ही नाम सर्वत्र लिया हो। इस से जाना गया कि ब्राह्मण वेद वा वेदैकदेश नहीं किन्तु वेदव्याख्यान हैं॥

और "या खर्वेण पिबति०" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य का उदाहरण "चतु-  
ष्टयैर्बहुलं छन्दसि" पर महाभाष्यकारने दिया है वह भी ब्राह्मण का वेदत्व सिद्ध नहीं करता। यूँ तो "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इस वैयाकरणमत से सूत्रों में भी छन्दोवत् कार्य होते हैं, तो क्या इतने से व्याकरण के सूत्रों को भी अपौरुषेय वेद मानियेगा? पाणिनिकृत न मानियेगा? इसी प्रकार वेद के तुल्य प्रयोग ब्राह्मण में आगाने और भाष्य में ब्राह्मणवाक्योदाहरणमात्र से ब्राह्मण का वेदत्व नहीं सिद्ध होता और ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं, तब व्याख्यान में व्याख्येय के समान पद आगाना कुछ उन दोनों को एक नहीं कर देता॥

और आप जो ( मन्त्रे श्वेत० ३।२।३१ ) में कहते हैं कि मन्त्र पद आपुका या तव फिर से अगले—

अवे यजः ३।२। ७२ विजुपे छन्दसि ३।२। ७३

सूत्र में छन्दः पद क्यों आया? स्वामी जी के मतानुसार भी छन्द और मन्त्र एकार्थ हैं। उक्त यह है कि मन्त्र पद सामान्यतया वेदसंहितामात्र का वाचक है और छन्दः शब्द यहां केवल गायत्र्यादिछन्दोबहु मन्त्रों का ही वाचक है। इस कारण यदि "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति लाते तो संहिता मात्र विषय हो जाता और इस कारण अतिव्याप्ति दोष रहता। इस के निवारणार्थ केवल गायत्र्यादि छन्दोबहु मन्त्रों का ही ग्रहण होने के लिये—

विजुपे छन्दसि

में छन्दः पद पड़ा है। आशय यह है कि मन्त्र शब्द के वाच्य तो गायत्र्यादि छन्दोबहु मन्त्र तथा गद्य यजु आदि सभी हैं, परन्तु "छन्दसि" पद से केवल छन्दोबहु ही लिये जायेंगे। और मन्त्र तथा छन्द अथवा दोनों से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु

संभवसंमत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं। इसी प्रकार-

अन्नरुधिरवरित्युभयथां छन्दसि ८ । २ । ७०

भुवश्च महाठयाहते ८ । ५ । ७१

यहां महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाठयाहृति के अतिरिक्त समस्त वेदस्थ भुवः पद ( छन्दःपदानुवृत्ति से ) विषय हो जाता और अतिव्याप्ति हो जाता। यहां भी छन्दस् का “वेद होना” और महाठयाहृति का “वेद का एक देश होना” दोनों पक्ष वाली का संमत है। यदि इसी प्रकार छन्द वा मन्त्रादि का “वेद होना” और ब्राह्मण का “वेद का एकदेश होना” संभवपक्षसंमत होता, तब तो इस दृष्टान्त से आप को लाभ होता। यहां हम तो ब्राह्मण की न सामान्यतया वेदवाचक मानते हैं, न वेद का एक देश मानते हैं और आप ब्राह्मण को वेदभाव मानते हैं। इस दशा में ब्राह्मण को वेदत्व वा वेदकदेशत्व सभी आप का साध्य है। इस लिये महाव्याहृति आदि दृष्टान्त आप का पक्षपोषक नहीं। और जो यह लिखा है कि छन्दः पद सामान्यवाचक है और ब्राह्मण पद उसी का विशेष वाचक वा एकदेशवाचक है। यह भी साध्य ही है। छन्दः पद के सामान्यवाचक होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता, विशेषवाचक होने में प्रमाण हैं। यथा-

चत्वारिंशृणां त्रयो अस्थ पादाः ऋ० । ४ । ५८ । ६

अस मन्त्र के व्याख्यान में निरुक्तपरिशिष्ट में स्पष्ट कहा है कि-

सप्त परस्तासः सप्त छन्दांसि । निरुक्त १३ । ७

यहां सात छन्द गायत्र्यादि ग्रहण किये हैं। यह भी प्रकट है कि छन्दों में से ही संग्रह करके निघण्टुपद लिखे गये हैं, ब्राह्मण संस्थों से उद्धृत करके निघण्टु में कोई पद नहीं लिखा। इसी कारण निरुक्तकार ने आरम्भ ही में लिखा है कि-

छन्दोभ्यः समाहृत्य० । निरु० । १ । १ ॥

केवल छन्दोबद्ध मन्त्रों से संग्रह करके इन् निघण्टुस्थ पदों का समाक्षेप किया गया है। इत्यादि प्रमाणां से छन्दःपद पितृलोक्त गायत्र्यादि ४ छन्दों का वाचक होने से गयारूप ब्राह्मणों का वाचक नहीं हो सकता। इस लिये सामान्य छन्दःपद के ब्राह्मणग्रन्थ भागवाचक नहीं हो सकते ॥

### छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने यह कहा है कि यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों वेदधातक होते तो पाणिनि जी इस सूत्र में छन्द और ब्राह्मण इन दोनों पदों को क्यों लिखते । इस पर आप लिखते हैं कि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द इस लिये लिखते हैं कि (अधिकमधिकार्यम्) इस न्याय से यहां पाणिनि जी को सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट न था । इसी लिये महाभाष्य में-

**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥**

इस वार्तिक द्वारा याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणों में निषेध किया है । इसी की पुष्टि बतलाते हैं कि-

### पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५ ।

इस सूत्र द्वारा की गई है क्योंकि इस सूत्र में पाणिनि जी को सब ब्राह्मण ग्रन्थ भस्मिन्त वा अभीष्ट होते तो-

**“पुराणप्रोक्तेषु=पुराणे ऋषियों के कहे, ब्राह्मण ग्रन्थ”**

ऐसा विशेषयुक्त क्यों लिखते । इस से प्रतीत हुआ कि छन्द और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं और यद्यपि छन्दः पद लिखकर ब्राह्मण पद लिखने की आवश्यकता न थी, परन्तु किन्हीं ९ ब्राह्मणों का ही ग्रहण होने और किन्हीं याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तों का ग्रहण अभीष्ट न होने से उक्त सूत्र में ब्राह्मणपद अधिकार्य है ॥

हम कहते हैं कि यदि ब्राह्मणपद लिखने ही से कोई विशेष याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तवर्जित ब्राह्मणग्रन्थ विवक्षित थे तो आप का लिखा-

**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥**

यह वार्तिक भाष्यकार ने ठपथे क्यों बनाया ? परन्तु यथार्थ में आप का भस्मिन्त तात्पर्य पाणिनि या पतञ्जलि (भाष्यकार) का न था किन्तु पाणिनि जी ने छन्द के अन्तर्गत ब्राह्मण न मान कर ब्राह्मण पद अधिक लिखा और पतञ्जलि जी ने ब्राह्मणपद से सामान्य सब ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण न हो जावे, इस के लिये—

**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः**

यह वार्तिक लिख कर, याज्ञवल्क्यानि । सौलभाणि । इत्यादि उदाहरणों के द्वारा वार्तिक की सफलता दिखलाई है ॥



पुराणप्रोक्तेषु इन से जो आप सही विषय की पुष्टि करते हैं सो तो वही कहावत चरितार्थ हुई कि “चीबे चले छठवे बनने की, गांठ के दो दे दुखे रह गये” । अर्थात् प्रतिपादन तो यह करना था कि ब्राह्मण भी मन्त्र वा छन्द के समान वेद हैं वा दोनों मिल कर वेद हैं । और जैसे वेद मन्त्र-संहिता अपौरुषेय हैं, वैसे ब्राह्मण भी हैं । यह भी आप को प्रतिपादनीय था । उस के स्थान में ब्राह्मणों का याज्ञवल्क्यादिकृत होना लिख कर आपने तो ब्राह्मण ग्रन्थों की प्राचीनता भी (किन्हीं २ की) खो दी, केवल याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त से शेष ब्राह्मणों की ही प्राचीनता आप के मत से रह गई । हमारे पक्ष में तो किन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों का पाणिनि की अपेक्षा प्राचीनप्रोक्त होना और किन्हीं का नूतनप्रोक्त होना दोनों ही ठीक हैं । क्योंकि ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय हैं । प्रोक्ताधिकार में प्रोक्त शब्द का गौण मुख्य भेद से दो प्रकार का अर्थ है । एक अपौरुषेय और दूसरा पौरुषेय पुस्तकों में । अपौरुषेय पुस्तकों में जिन २ कलापि आदि शब्दों से प्रत्ययविधि है उन उन ऋषियों के प्रचारित वा प्रथम पढ़ाये वे २ ग्रन्थ समझने चाहिये और जहां २ पौरुषेय पुस्तक वाक्य हों वहां २ जिस २ ऋष्यादिवाचक शब्द से प्रत्ययविधि है, उन २ का व्याख्यान किया पुस्तक का मूल अपौरुषेय से आशय लेकर अपने विचार को संमिलित करके अथवा यह समझिये कि मूल के तात्पर्य को किन्हीं अपने दूसरे शब्दों में लिख डर, प्रोक्त पद का अर्थ समझना चाहिये । ऐसा मानने पर ही—

शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४ । ३ । १०६

इत्यादि प्रोक्ताधिकार में पठित पाणिनीय सूत्रों के उदाहरणों की सङ्गति हो सकती है । वेदों के अपौरुषेय होने से मूलवेद वा छन्द किसी शौनकादि का व्यख्यान मानना हमारा वा आप का दोनों में से किसी का भी पक्ष नहीं है । अर्थात् दोनों को वेदों का अपौरुषेयत्व संमत है । यदि कोई कहे कि जिस प्रकार वेद वाक्य होने पर प्रोक्तशब्द का तात्पर्य प्रचारादि मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणादि वाक्य होने पर भी वही अर्थ (प्रचारादि) लेंगे तो क्या आधा है । इस का उत्तर यह है कि सर्वत्र प्रोक्तपद से प्रचारितादि तात्पर्य समझना इस लिये ठीक नहीं कि—

तेन प्रोक्तम् ४ । ३ । १०१ और—तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकी-  
खाच्छण् ४ । ३ । १०२

इन सूत्रों के महाभाष्य में छन्द का प्रत्युदाहरण यह लिखा है कि—

### तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः

जिस से स्पष्ट है कि श्लोक भी प्रोक्त होते हैं । और श्लोकों का वेदत्व वा अपौरुषेयत्व सिद्ध करना किसी के पक्ष में भी ठीक नहीं । वस जब पौरुषेय श्लोकों को भी भाष्यकार प्रोक्त पद से लेते हैं तो गीण मुख्य भेद से प्रोक्तशब्द के दो अर्थ निदृष्ट ही हैं । अर्थात् प्रोक्ताधिकार में जिन २ पुस्तकों के वाच्य होने पर प्रत्ययविधि है, वे २ ग्रन्थ पौरुषेय हों तो जिन २ शब्द से प्रत्यय किया है, उस २ का व्याख्यात किया ग्रन्थ समझना चाहिये । और यदि वह २ ग्रन्थ अपौरुषेय हो तो उस २ का प्रचार किया वा पढ़ाया हुआ ग्रन्थ समझना चाहिये । इस कारण ब्राह्मण और कल्पग्रन्थों के पौरुषेय होने से उन २ के व्याख्यात वा सङ्कलित पुस्तकों का ग्रन्थ करना स्पष्ट है ॥

वात्स्यायन जी ने जो पुराणों को ब्राह्मण की प्रमाणता से प्रामाण्य किया है उस से यह निदृष्ट नहीं होता कि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण हैं, वा वेद हैं । क्योंकि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

व्यति प्रलय वंशावली मन्वन्तर और वंशावली चरित्र ये पांच वर्णन पुराण में होते हैं । सो ये बातें बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं और उन से पुराणों में जाई हैं । इस लिये वात्स्यायन जी कहते हैं कि “ ब्राह्मण के प्रमाण से पुराण इतिहास का भी प्रमाण मानना चाहिये ” इस अंश में ब्राह्मणों का पुराण होना आवश्यक सिद्ध हुआ, जैसा कि स्वामीजी ने ब्राह्मणों को पुराण माना है । वस जिस प्रकार ब्राह्मणों से पुराणों में वंशचरित्रादि लिया गया, अतः पुराणों का ब्राह्मणाधीन प्रामाण्य रहा । वैसे ही ब्राह्मणों में यज्ञादि विषय वेदों से लिया गया, अतः ब्राह्मणों का मन्त्रसंहिताधीन प्रामाण्य रहा । यही स्वामी जी मानते हैं । रहा यह कि यदि ब्राह्मण स्वतः प्रमाण न होते तो पुराणों की प्रमाणता में आधार कैसे होते ? यह नियम नहीं कि जो स्वतःप्रमाण हो वही अन्य की प्रमाणता में आधार हो । देखा जाता है कि जब हग किसी वस्तु के प्रमाणार्थ एक तोले भर का बाट बगाते हैं और उस से दूसरी, दूसरी से तीसरी, उस से चौथी आदि वस्तु की प्रमाणावस्था परस्पर से आगे २ चलती आती है । परन्तु जिस वस्तु से दूसरी वस्तु की

प्रमाणता का स्वीकार करते हैं, यदि वह अपने आधार से प्रतिकूल हो तो प्रामाणिक नहीं मानी जाती। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणविरुद्ध इतिहास पुराण अप्रमाण है। ऐसे ही सन्त्रसंहिता से विरुद्ध ब्राह्मण अप्रमाण होने से परतःप्रमाण अप्रमाण ही रहे ॥

ननु के इस कथन से कि "श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र है" यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण भी वेद हैं। किंवा श्रुतिशब्द वेद के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का वाचक नहीं हैं ॥

८० ति० भा० पृ० ४३४ पं० ६ से—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् अ० २ पा० १ सू० २७

परास्तु तच्छ्रुतेः अ० २ पा० ३ सू० ४१

भेदश्रुतेः अ० २ पा० ४ सू० १८

सूचकश्च हि श्रुतिराचक्षते च तद्विदः अ० ३ पा० २ सू० १४

तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेः अ० ३ पा० २ सू० ७

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः अ० ४ पा० ३ सू० ६

इत्यादि सूत्रों में बारम्बार श्रुतिपद शब्दपद का उपादान करते हैं श्रुति से उपनिषदों का ही ग्रहण किया है और श्रीकणादाचार्य ने भी दशाध्यायी के अन्त में ( तद्वचनादात्मनायस्य प्रामाण्यम् ) ऐसा आत्मनाय पद से वेद के प्रामाण्य का उपसंहार किया है यहां आत्मनाय पद संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त समस्त वेद का बोधक है क्योंकि इस के समान तन्त्रगोतमीय न्यायदर्शन के (सन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यात्तत्प्रामाण्यात्) इस सूत्र में तत्पद से उपादेय उपनिषदों के संहितवाक्य कलाप ही के प्रामाण्य का अवधारण किया है और वहीं के तत्पद की सन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद मात्र की बोधकता पूर्व में निश्चित कर ही चुके हैं और सन्त्रादि स्मृतियां इसी अर्थ के अनुकूल है देखिये—

एताश्चान्याश्रुसेवेतदीक्षाविप्रोबनेवसन् ।

विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धयेश्रुतीः अ० ६ । श्लोक २६ ।

दीक्षा युक्त ब्राह्मण वन में वास करता हुआ आत्मज्ञान के अनेक उपनिषदों की श्रुति विचारे यहां ( उपनिषदीः श्रुतीः ) ऐसा कहने से उपनिषदों का श्रुति पद वाच्यत्व स्पष्ट सिद्ध होता है और श्रुति शब्द वेद का

अभिप्राय पद का पठ्यार्थ शब्द है जैसे कि मनु जी ने कहा है (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः) इत्यादि पूर्व लिख जाये हैं। जब मनु जी ने उपनिषदों को श्रुति माना और व्यवहार भी वैसा ही किया तब ब्राह्मणों का वेदभाष्य अवश्य हुआ क्योंकि ब्राह्मणों ही के शेष भूत तो उपनिषद् है इसी कारण वेदान्त नाम से विख्यात है ॥

प्रत्युत्तर— आप जो ठासासूत्रों में के बहुत स्थलों में आये हुए ‘श्रुति’ शब्द पदों से भीर वैसे ही मनुस्मृति में आये ‘श्रुति’ शब्द से भी यह अभिप्राय निकालते हैं कि यहां श्रुति आदि पदों के उदाहरण में उपनिषद्-वाक्य ही टीकाकारों ने लिखे हैं इस से ठासादि के मतानुसार ब्राह्मण उपनिषद् पर्यन्त सब वेद है। जो प्रथम तो यह सम्भव है कि—ठासादि की श्रुति आदि पदों से संहिता अभीष्ट हों और शङ्कराचार्योंदि टीकाकार ही इस श्रुति के कारण हो गये हों कि जैसे उन्होंने ने—

“मन्त्रघर्णाच्च” इस वेदान्तसूत्र पर “तावानस्य महि०” इत्यादि पाठ लिखा। यदि वह चाहते तो यजुर्वेदसंहिता के ३१ अध्याय के “एतावानस्य महि०” इत्यादि मन्त्र का उदाहरण दे सकते थे। ऐसा होने पर यह नहीं कह सकते कि ठासादि की श्रुति आदि पदों से उपनिषद् ही विवक्षित हैं। फिर गगले सूत्र—

“अपि च स्मर्यते” पर भी शङ्कर स्वामी गीता के वाक्य को स्मृति कह कर रखते हैं कि “ममैवांशो जी०” इत्यादि। तो क्या गीता को कोई मन्त्रादि स्मृतियों के अन्तर्गत स्मृति मान सकता है वा मानता है? अभिप्राय यह है कि श्रुति आदिका योगरूढ़ और मुख्य अर्थ भी मन्त्रसंहिता ही हैं परन्तु अवयवसामान्यार्थ को लेकर उपनिषद् आदि को उन २ लोंगों ने श्रुति कहा। जैसा शङ्कर स्वामी ने स्मरणार्थसामान्य को लेकर स्मृति के नाम से गीतावाक्य उद्धृत किया। तो जिन प्रकार गीता मुख्यकर स्मृतिपद का वाक्य नहीं परन्तु स्मरणार्थसामान्य से ली गई। इसी प्रकार शब्दप्रमाणसामान्यान्तर्गत अवयवार्थसामान्य से उपनिषद् आदि के उदाहरण शङ्कराचार्योंदि ने दिये, मुख्य वेद मान कर नहीं। यूँ तो गीता के प्रतिअध्याय के अन्त में ‘भगवद्गीता सूत्रनिषत्सु’ ऐसा पाठ सब पुस्तकों में मिलता है। तो क्या इस से “गीता उपनिषद् ही जायगी? कदापि नहीं। किन्तु गीता की प्रशंसा तथा गीता में उपनिषदों का सार ग्रहण किया गया है वा उपनिषदों का विषय वर्णन

किया गया है। इस लिये गौणभाव से हम में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वेदों का ठपारुखान होने के कारण वा. वेदाशय को स्पष्टता से निरूपण करने के कारण उपनिषद् आदि को लोगों ने गौण भाव से श्रुतिपद आदि से ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। इसी से गो-तमसूत्र के “तत्” शब्द से और कणादसूत्र के “आज्ञाय” शब्द से जो उपनिषदादिका ग्रहण करने लगे हैं इस का भी उत्तर हो गया और मनु के उपनिषत्सम्बन्धी श्रुति पद का भी उत्तर इसी में आगया। रहा यह कि “उपनिषद् वेदका अन्त भाग ब्राह्मणों का शेषरूप हैं। इसी लिये इस को वेदान्त कहते हैं” यह भी अयुक्त है क्योंकि यदि वेदान्त पद का यह अर्थ अभीष्ट है तो तुम्हारे मत में भी तुम्हारे मुख से स्वीकार किये हुये व्यामरचित सूत्रों की भी तो वेदान्त कहते हैं। क्या यह भी वेद ही समझा जायगा? कह दो कि हां, (अनन्ता वैवेदाः) वेदों के अनन्त होने से यह सूत्र भी वेद हैं !!! और यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय जो ईशोपनिषद् है उस पर स्वामी जी का यह मत नहीं था कि यही वेदान्त पद का वाच्य है, किन्तु १० वा १२ उपनिषद् और वेदान्तसूत्र को स्वामी जी भी वेदान्त मानते थे, तब वैना मानकर लिखना व्यर्थ है। यथार्थ में वेदान्त पद का अर्थ यह है कि वेदका अन्त्य भाग नहीं किन्तु वेद का अन्त-अन्तिम-मुख्य तात्पर्य ब्रह्मप्रतिपादन है। इसी विषय का प्रतिदान जिन पुस्तकों में हो वे सब वेदान्त ग्रन्थ कहाँवेंगे, चाहे उपनिषद् हों, चाहे सूत्र हों, चाहे अन्य कोई वेदान्तकूल इस विषय का ग्रन्थ हो ॥

आप ने जितने उत्तर “मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानामधेयम्” की अनुकूलता में दिये, उन सब का प्रत्युत्तर होकर यह निदु हुआ कि कात्यायन का यह बचन नहीं हो सकता कि “मन्त्र ब्राह्मण दोनों वेद हैं”। वास्तव में यह कात्यायन का “बचन” नहीं किन्तु कात्यायन की यज्ञपरिभाषा है। अतएव उस की प्रवृत्ति कात्यायन श्रौतसूत्र में ही हो सकती है, सर्वत्र नहीं। आशय कात्यायन का यह है कि जहाँ २ यज्ञप्रकरण में हम “वेद शब्द का उच्चारण करें वहाँ २ हम य य में मन्त्रब्राह्मण दोनों समझें। जैसा कि आगे उम्हों ने कहा है कि-

यजुर्वेदेनाध्वर्युः । का०

यजुर्वेद से अध्वर्युनामक ऋत्विज् कार्यं करे। यहां यह समझाना चाहिये कि यजुर्वेद संहिता भार वस के शतपथ ब्राह्मणोक्त कार्यं जहां २ यज्ञ में भावें वहां २ कार्यं अध्वर्यु को करने चाहियें ॥

जैसे पाणिनि जी अष्टाध्यायी में कहते हैं कि—

**वृद्धिरादैच् १।१।१५ अदेङ्गुणः। १६**

अर्थात् जहां २ व्याकरण में हम वृद्धि पद का प्रयोग करें वहां २ भा, ऐ, ओ समझे और जहां २ गुण शब्द का प्रयोग करें वहां २ अ, ए, ओ समझे। इस से यह सिद्ध नहीं होता कि अन्य शास्त्रों में भी “वृद्धि” पद से भा, ऐ, ओ वा “गुण” पद से अ, ए, ओ समझे जावें। जैसे सांख्य में गुण शब्द से सत्त्व रज तम के स्थान में कोई अ, ए, ओ नक्षर समझे तो कैसा बड़ा अज्ञान हो और वैशेषिक में—

**रूपरसगन्धस्पर्शा०। इत्यादि १।१।६**

में कहे रूपादि गुणोंके स्थानमें कोई अ, ए, ओ का ग्रहण पाणिनि के संज्ञा सूत्रानुसार नामे तो कैसा बड़ा अज्ञान होगा अथवा वैद्यकशास्त्र सुश्रुत में

**आषोडशाद्वृद्धिः**

१६ वर्ष तक की अवस्था का नाम वृद्धि है। यदि आप वहां भा, ऐ, ओ को वृद्धि कहने लगे और “वृद्धिरादैच्” इन पाणिनीय सूत्र का प्रमाण देने लगे तो वैद्यों में कैसा हास्य हो। इसी प्रकार सर्वत्र कात्यायन की यज्ञ परिभाषा से मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद मानना भी हास्यजनक है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यायनप्रकाशस्य सप्तम

समुष्ठासमग्रहनं, ८० ति० भास्करस्य च खड्गहनं नाम

सप्तमः समुष्ठासः ॥ ७ ॥

कोशम्

## अथाऽष्टम समुल्लास मण्डनम्

स्वामी जी ने स० पृ० २०८ में “पुरुष एवेदं सर्वम्” मन्त्र का तात्पर्य मात्र लिखा है कि परमात्मा प्रकृति और जीवों का स्वामी है। इस पर द० ति० भा० पृ० २३६ पं० १९ में—स्वामी जी के अर्थों की कौनी विविध महिमा है, इस मन्त्र में जीव प्रकृति और ईश्वर का वर्णन कर बैठे हैं ॥

प्रत्युत्तर—भा० को अक्षरार्थ में ध्यान देना उचित या तब फिर स्वामी जी के लिखे तात्पर्य पर मरुति देनी थी। स्वामी जी से बिद्वान् के लेख पर बेसमझे कृतज्ञ चलाना बुद्धिमानी नहीं है। हम नीचे पदार्थ लिखते हैं, उसे पढ़कर मिलाइये कि स्वामी जी का लिखा तात्पर्य ठीक है वा नहीं ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्थेशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ यजुः ३१ । २

( यत् इदं सर्वभूतम् ) जो यह सब उत्पन्न हो चुका ( यत् भोजन अतिरोहति ) और जो अन्न से उत्पन्न हो रहा है (च) और ( यत् भाव्यम् ) जो उत्पन्न होनेवाला है अर्थात् भविष्यकाल में जो उत्पन्न होगा [उस का] ( उत ) और ( असुप्तवस्य ) अमरभाव वाले केवल आत्मा का ( ईशानः पुरुष एव ) स्वामी परमेश्वर ही है ॥

क्या हम का यह तात्पर्य नहीं हुआ कि जड़ चेतन का स्वामी परमात्मा ही है ? क्या भूत वर्तमान और भविष्यत् में उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ जड़ और प्राकृत नहीं हैं ? और क्या अमर आत्मा चेतन नहीं है ? यदि हैं तो क्या समस्त प्राकृत और अप्राकृत पदार्थों का स्वामी परमात्मा को बताने से यह मन्त्र स्वामी जी लिखित तात्पर्य का विरोधी है ?

द० ति० भा० पृ० २३६ पं० २४ से—

यतोवाद्भूतानिभूतानिजायन्तेयेनजातानिजीवन्ति ।

यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्वतद्ब्रह्म—तैत्तिरी० ॥

पृ० २०८ में इस का अर्थ लिखा है, जिस परमात्मा की रचना से यह सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिस से जीव और जिस से प्रलय को प्राप्त

होते हैं वोह ब्रह्म है, उस को जानने की इच्छा करो ॥

समीक्षा—यह क्या स्वामी जी ! इतना ही पद लिखकर गड़ग गये (जिन से जीव) इस से तो प्रत्यक्ष है कि जिस से परमेश्वर जीव उत्पन्न होते हैं और आप आगे इन को नित्य मानते हैं, नित्य भी मानना और जन्म भी कहना यह वैदिकविरोध रसातल में भर्ष करता कू क्यों न ले जायगा, सूधा अर्थ है कि जिस से यह प्राणी उत्पन्न होते और उसी से जीते और अन्त में उनी में प्रवेश करते हैं उसे ही ब्रह्म जानों अब प्रकृति जीव नित्य और पृथक् न रहे ॥

प्रत्युत्तर—किसी कारण “जीव” इन दो अक्षरों से आगे “ते” यह अक्षर छूट गया है, उसी से आप की समझ में भ्रम पड़ा है । ( येन जीवन्ति यत्प्रयन्ति ) का अर्थ स्वामी जी का लिखा ठीक है कि “जिन से जीवते और जिन में प्रलय को प्राप्त होते हैं, अब बतलाइये जीव प्रकृति की अनित्यता कहाँ रही ? और जीवप्रकृति को चाहे नवीन वेदान्ती लोग ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं, परन्तु अनित्य तो कोई नहीं मानता । देखिये आप के नवीन वेदान्त की गीता में क्या लिखा है—

“समैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः” इस में जीव को सनातन कहा है । आप अनित्य बताते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २३७ और २३८ में स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्थ ( द्वासुपर्णो० ) ऋ० १ । १६४ । २० से स्पष्ट भेदप्रतिपादन को अपाधिकभेद ठहराने के लिये एक ऋग्वेद का मन्त्र और दूसरा बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन प्रमाण दिया है, परन्तु इस नीचे दोनों को पदार्थ सहित लिखते हैं, देखिये उन में भी अपाधि का शब्द तक नहीं आता । यथा—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।  
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं मातारोल्लि स उरोल्लिमातरम् ॥

( ऋ० १० । १६४ । ४ )

निरुक्त १० । ४६ में भी यह मन्त्र आया है और जहाँ कोई अपाधि आदि लगा कर अर्थ नहीं किया है ॥

सरलार्थ यह है—( एकः सुपर्णः ) एक सुपर्ण है ( स समुद्रम् आविवेश ) वह आकाश में व्याप रहा है ( स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ) वह इस सब जगत् को देखता है । मैं (पापेन मनसा) परिपक्व ज्ञान से (मन्तितः) समीप



ही ( तम् अपश्यम् ) उस को देखता हूँ ( तं माता रेवति ) उस को आकाश व्याप रहा है ( सः ) और वह (मातरम् रेवति) आकाश को व्याप रहा है ॥

समुद्रः—यह निषवटु १।३ में अन्तरिक्ष का नाम है ॥ विषष्टे—यह पश्य-  
तिकर्म=अर्पण देखने अर्थ में निषवटु ३।११ में आया है ॥ निरुक्त ७।१६  
में मातरिष्ठा शब्द का निरुक्ति के अक्षर पर माता शब्द का अर्थ अन्त-  
रिक्ष किया है । यथा—

मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति ॥ ७।२६ ॥

और माता आकाश का नाम इस-लिये भी है कि जैसे माता के गर्भ  
में सब प्राणी रहते हैं वैसे ही आकाश में भी सब प्रदूषण रहते हैं ॥

इस में कहीं उपधि लगा कर अर्थ करने की आवश्यकता नहीं ॥ दूसरा  
दा० का अर्थ यह है—

तदथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपश्य  
अन्तःसंहृत्य पक्षी सल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा  
अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन  
स्वप्नं पश्यति ॥ बृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं० १६ ॥

इस का सरलार्थ यह है कि—“जैसे इस आकाश में श्येन वा सुपर्ण  
जानक पक्षी उड़ कर एक कर पंख सकोड़ कर अपने घोंसले ( नीच ) के  
लिये ही धारण किया जाता है । ऐसे ही यह पुरुष ( जीव ) भी इस के  
अन्त के लिये दीड़ता है, पर अहाँ सोच जाता है वहाँ न किसी काम को  
चाहता न किसी स्वप्न को देखता है ॥ ”

अब इस में उपधिका क्या काम है । किन्तु जैसे पक्षी अगन्त आकाश  
में कामधर्म्यतर उड़ कर फिर एक जगते हैं और पंख सकोड़ कर घोंसले में बैठ रहते  
हैं । ऐसे ही मनुष्य भी काम करते-रजब-बक जाता है तब ऐसी गहरी नींद  
आती है कि न तो बाह्यकेष्ट कोई होती और न नींद में स्वप्न तक देखता है ॥

द० ति० भा० ए० २३८ में—समाने कृतेऽहत्यादि जयव० करके यह दिखाया है  
कि स्वयं ईश्वर ही अनीश सृष्टि के मोड़ को प्राप्त होकर सोचता है । इत्यादि० ॥

प्रत्युत्तर—इस वाक्य का विशदार्थ पूर्वक भाष्य ती हनारे किये श्वेताश्व-  
सरोपनिषद्भाष्य में उपस्थित है । वहाँ चतुर्थोपधय का ५ वां अजानेकांक्षोक्त

हे । खटा द्वायुपर्णा० है । सानवां समाने वृक्षे० यह है । जब खटे में जब यह कह चुके हैं कि दो सुवर्ण हैं तो ७ वें में उसी बात को स्पष्ट करते हैं जो खटे के अन्त में कहा था कि दोनों में से एक भोगों में फँसता है, दूसरा साक्षी है ॥ ७ वें में यह भी बतलाया है कि यह भोग के बन्धन से कैसे छुटकारा पावे ? यथा—  
**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ॥**  
**जुष्टं यदापश्यत्पन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः १।७ ॥**

**भा०**—जब मध्यस्थ जीवात्मा के एक ओर प्रकृति है, उस के सङ्ग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है, उस के सङ्ग से मोक्ष होता है । यह कहते हैं—( पुरुषः ) जीवात्मा ( समाने ) अपने समान अनादि ( वृक्षे ) छिन्न भिन्न होने वाली प्रकृति के पदार्थों में ( निमग्नः ) डूबा हुआ ( अनौशया ) परतन्त्रता से ( मुह्यमानः ) अज्ञानवश ( शोचति ) शोक करता है । ( यदा ) परन्तु जब ( जुष्टम् ) अपने में व्यापक ( अन्यम् ) दूसरे ( ईशम् ) स्वयं परमात्मा को और ( अपश्य, महिमानम् ) उस की बड़ाई को ( पश्यति ) देखता है ( इति ) तब ( वीतशोकः ) शोक रहित हो जाता है ॥

सात्त्विक यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में डूब कर आपे की मूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तो उसे शोक होते हैं कि हाय मैं दुर्बल हो गया, हाय मेरे फोड़ा निकला है, हाय मेरा हाथ पांव भादि कट गया, हाय मेरी स्त्री या पुत्रादि मर गया । इत्यादि प्रकार से शोकसागर में डूबता है । परन्तु जब अपने ही में उपापक परमात्मा में ध्यान लगाता है तो प्रकृति का उपाय छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूँ । मैं दुर्बल रोगी भादि नहीं होता । मुझे तो अपने सदा सहचरों परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आनन्द है । ऐसी रीति से विशोक हो जाता है ॥ ७ ॥

इस में प्रकरणानुसार यह स्पष्ट है कि दोनों में से एक जीवात्मा मोहवश होता और परमात्मा की कृपा से छुटकारा पाता है, न कि परमात्मा स्वयं मोह में डूबता और अपनी कृपा से आप छुटकारा पाता है । इस में ( अन्य-मीशम् ) इन पदों ने स्पष्ट परमात्मा को जीवात्मा से अन्य जतलाया है ॥

६० ति० भा० पृ० २४० में जो तर्क हैं उन का सार यह है—१-स्वामी की वश उपनिषद् मानते हैं, यहां जीव ब्रह्मका भेद निरूप करने में प्रवेताश्चर ११ वें

उपनिषद् का प्रमाण क्यों दिया। २-किसी वेदमन्त्र का प्रमाण क्यों न दिया। ३-यदि "अजानेकां०" इस श्वेताश्व के वक्ष में जीव ब्रह्म का सर्वत्र नागोने ती ( जहात्येनां भुक्तभोगाम्० ) इस यह का अर्थ है कि जिम से भोग भोगे लिया उस प्रकृति को एक परमात्मा त्यागे है। तदनुसार पूर्वकाल में ब्रह्म को भोगापत्ति आई। ४-पृ० १८३ में जीव को जन्म मरण सोने जागने वाला कहकर उस के विरुद्ध यहां उसे अज क्यों लिखा। ५-प्रकृति, कार्य होने से घटवत् सादि हो सकती है, न कि अनादि ॥

प्रत्युत्तर-१-स्वामी जी ने दश उपनिषदों की प्राचीन और अन्त्यों की नवीन कहा है। अप्रमाण नहीं कहा। श्वेताश्वतर और सैक्युपनिषद् भी दश उपनिषदों के समान परतःप्रमाण अवश्य हैं। और जो नवीन वेदान्ती दश उपनिषदों के अतिरिक्त अन्त्यों की भी मानते हैं उन के अभेदमन्तव्यसम्बन्धार्थ यदि दश उपनिषद् से बाहर का भी प्रमाण दिया जाय तो अयुक्त नहीं ॥

२ वेदमन्त्र भी ( द्वा सुपर्णा० ) यह ऊपर पृ० २०८ में लिख आये हैं। आप ने उस पर समीक्षाभास भी किया है। क्या भूल गये ?

३-(जहात्येनां भुक्तभोगाम्०) में अन्यत्र अजाने जीवात्मा भुक्ती भोगी यस्याः सा भुक्तभोगा० इस प्रकार समास करने से परमात्मा में भोगापत्ति नहीं जाती किन्तु जीवात्मा में रहती है ॥

४-पृ० १८३ में जीवात्मा को स्वरूप से जन्म मरण नहीं लिखे थे किन्तु देह के साथ होने का नाम जन्म और देह से वियोग का नाम मरण मान कर लिखा था, इतने से उस के स्वरूप से अज होने में बाधा नहीं जाती ॥

५-प्रकृति, कार्य नहीं किन्तु कारण का नाम है। इस लिये घटवत् सादि नहीं होसकी। घट कार्य है। प्रकृति कारण है। इस लिये (विमता प्रकृति जन्मा-रूपवत्सात् घटवत्) यह अनुमान, पाठ से अशुद्ध तो था ही, अर्थसे भी अशुद्ध है।

६० ति० भा० पृ० २४० पं० २७ से-और इस से पूर्व वाक्य देखने से ब्रह्म तादात्म्यापन्न भिन्नाभिन्नविलक्षण प्रकृति सिद्ध होती है। यथाहि-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

( श्वेताश्व १।३ )

प्रत्युत्तर-"अजानेकां०" वाक्य श्वे० उप० के अध्याय ४ का ५ वां है और "ते ध्यानयोगात्" यह प्रथमाध्याय का ३ तीसरा है। भला इस का प्रसङ्ग

उनसे अधिक कीये होमक्ता है ? और आप "ते ध्यानयोगा०" का उत्तरार्थ और छिड़ देते तो भेद का भेद खुल जाता । यथा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुण-  
निगूढम् । यः करणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्ता-  
न्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वे० १ । ३ ॥

भा० इन प्रकार कालादि को स्वतन्त्र कारण न समझ कर ( ते ) उन श्रवियों ने ( ध्यानयोगानुगताः ) ध्यान में विलीन की एकाग्रता के साथ ( निगूढम् ) छिपी हुई ( देवात्मशक्तिम् ) परमेश्वर की निगूढशक्ति को या परमेश्वर जीव और प्रकृति को ( स्वगुणैः ) अपने गुणों से ( अपश्यन् ) पहिचाना ( यः ) जो ( एकः ) अकेला ( कालात्मयुक्ताति ) काल और पुरुषसहित ( निखिलानि ) समस्त ( तानि ) पूर्वोक्त ( कारणानि ) कारणों का ( अधितिष्ठति ) अधिष्ठाता है ॥

आश्चर्य यह है कि काल से लेकर आत्मा-पुरुष पर्यन्त द्वितीय श्लोक में कहे बीच के स्वभाव, प्रबन्ध, यदृच्छा, पञ्चभूत, प्रकृति इन सब कारणों का भी अधिष्ठाता परमात्मा है अर्थात् काल स्वभाव आदि भी अपने २ अंश में कारण हैं परन्तु कालादि जड़ होने और जीवात्मा सुख दुःख भोग में परतन्त्र होने से स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु परमात्मा सब कारणों का अधिष्ठाता स्वतन्त्र कारण है । यह अन्य काल स्वभाव आदि सब कारणों को अपने आधीन रख कर सब जगत् को रचता पालता और प्रलय करता है । यह उस के गुणों से पहिचाना जाता है । यद्यपि उस की यह शक्ति छिपी हुई अर्थात् सब किसी को नहीं जान पड़ती तथापि उन श्रवियों ने ध्यानयोग से उसे पहिचाना । इसी प्रकार अस्मादादि लोग भी ध्यानयोग से उस की छिपी शक्ति को जान सकते हैं । इस श्लोक में जो ( देवात्मशक्तिम् ) पद है उस का दूसरा अर्थ है यह भी हो सकता है कि देव=परमात्मा, आत्मा=जीव, शक्ति=प्रकृति इन तीनों को उन्होंने जगत् का कारण जाना और इन तीनों में जीवप्रकृति तथा कालादि अन्य साधारण कारणों का अधिष्ठाता परमात्मा है, यह भी उन्होंने जाना और "यह एक परमात्मा अन्य काल स्वभाव प्रारब्ध यदृच्छा पञ्चभूत प्रकृति जीव इन कारणों का अधिष्ठाता है" इस कहने से इन को भी कारण तो माना, किन्तु केवल परमात्मा को ही अजिक्कनिमित्तोपादानकारण नहीं माना । किन्तु परमात्मा स्वतन्त्र इन का अधिष्ठाता है और काल स्वभाव प्रकृति

जादि तथा सुख दुःख भोग में जीवात्मा भी परमात्मा के आधीन है कि कारण अवश्य है । यह १ । २ और ३ श्लोकों का संक्षिप्त भाष्य है ॥ ३ ॥

इस लिये आप के भिक्षाऽभिन्नविलक्षण का तात्पर्य यह है कि प्रकृति यथार्थ में ब्रह्म से भिन्न तो इस कारण नहीं कि ब्रह्म से भिन्न देश में नहीं रहती । और अभिन्न इससे नहीं कही जाती कि स्वरूप उस का परिणामी और जड़ है । ब्रह्म के समान एकरस और चेतन नहीं । यही विलक्षणता है कि स्वरूप से भिन्न और देश से अभिन्न है ॥

६० ति० भा० पृ० २४१ में कल्पनोपदेशा० इस सूत्र से प्रकृति को जन्मा कहना कल्पित है । यह निवृत्त किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस सूत्र का तात्पर्य सुनिये—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिषद्विरोधः॥वेदान्तसूत्रम् १।४।१०

जिस प्रकार आत्मा को शतपथ में “मधु” कह कर कल्पना से उपदेश किया है इसी प्रकार वाणी को धेनु कल्पित करके उपदेश करने में भी विरोध नहीं तथा प्रकृति को (द्वारा सुपणा०) इत्यादिमन्त्र में एक वृक्ष के समान कल्पित कर लिया है और पुरुष को पक्षी के समान । इस में भी विरोध नहीं ॥

इस से उपादान जड़ कारण की वस्तुता को कल्पित नहीं बताया, किन्तु उस के वृक्षत्वादि को कल्पित बताया है ॥

६० ति० भा० पृ० २४१ पं० १४ से—और जब कि सब कुछ ईश्वर ही से उत्पन्न हुआ है तो प्रकृति नित्य कैसे—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वा००० तैत्ति०॥१॥ इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्चेति । तै० ॥ २ ॥ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन तै० ॥ ३ ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—भला आपने यह तो बताया कि सब कुछ ब्रह्मने उत्पन्न किया, परन्तु आपके लिखे तीनों वाक्यों में यह कहाँ लिखा है ? कि ब्रह्मने प्रकृति को रचा । जब नहीं लिखा तो प्रकृति अनित्य नहीं हो सकती । तीसरे वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति नहीं किन्तु आत्मा और इदं पदवाक्य जगत् प्रथम एकमेक हो रहे थे, अर्थात् जगत् प्रतीपमान न था । कारण प्रकृति में लीन होने से ॥ नासदासीत्० का अर्थ इन भी पूर्व कर चुके हैं ॥

ख्या० पृ० २०९ में स्वामी जी ने “सर्ववस्तुसर्वं सारवास्तव्यं०” इस

सूत्र के अन्त में आये “पुरुष” शब्द का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा किया है । इस पर ८० ति० भा० पृ० २४२ में लिखा है कि कपिलदेव को जीवात्मा परमात्मा दो त्रिवक्त्रिन होते ती क्या वे गिन्ती नहीं जानते थे कि २५ । २६ दोनों को भिन्न २ न कहा ॥

प्रत्युत्तर-कपिलदेव ने २५ पदार्थ गिनाने में पुरुष शब्द को ऐसा पाया जो जीवात्मा परमात्मा दोनों का साधारण नाम है इस लिये २६ वां गिनाने की आवश्यकता न थी ॥

८० ति० भा० पृ० २४३ पं० २३ से स्वामी जी की कैभी वाजीगर के भी लीला है आप ही प्रश्न करता हैं और आप ही उत्तरदाता हैं स्वयं ही कहीं की हेट कहीं का रोड़ा लेकर उपनिषद् की श्रुति लिखी हैं जैसा ( नर्वे ) में ( नेहनाना ) यह श्रुति मिलादी भला यह प्रश्न किस ने स्वामी जी से किये थे यह मिथ्या कल्पना इनके घर की है ( नेहनाना ) इस को अर्थ जो ( इस चेतन मात्र ) इत्यादि पूर्व लिखित किये हैं इस अक्षरार्थ में दृष्टि दी-जिये तो यह अर्थ होता है कि ( इह नागा किंचन नास्ति ) अर्थात् इस ब्रह्म में कुछ भी पृथग्भूत वस्तु नहीं है जैसे लोक में भी कहते हैं ( इह मुदि घटा-दिक् किंचन नागा नास्ति अर्थात् पृथक्भूतं नास्ति किन्तु मुदेव घटादिक-पेण प्रतीयते ) इन घड़ों में मिट्टी के सिवाय कुछ नहीं है किन्तु यह मिट्टी ही घड़ों के रूप से प्रतीत होती है) स्वामी जी ने जो इस का लक्ष्य चौड़ा अर्थ किया है वोह कीन से पदों का अर्थ है ( और परमेश्वर के आधार में स्थित है ) तो क्या कोई परमेश्वर का भी आधार दूसरा है सब का आधार तो परमात्मा आप है उस में भी आप पृथक् वस्तुओं का आधार लगाते हैं और उन में नाना वस्तुओं का मेल नहीं यह कहना भी आप का असंगत है क्योंकि पञ्चभूतों के मेल बिना कोई भी कार्य सिद्ध होता नहीं इसी कारण त्रिवक्त्रण पञ्चीकरण होकर सर्वकार्य सिद्ध होते हैं जब यह समग्र श्रुति लिखते हैं जिस से स्वामी जी का खण्डन स्वतः हो जायगा-

**मनसैवेदमाप्तव्यनेहनानास्तिकिञ्चन ।**

**मृत्योःसमृत्युंगच्छति यइहनानेषपश्यति ॥**

**कठ० उ० ब्रह्मी ४ मं० ११ ॥**

प्रत्युत्तर-नवीन वेदान्ती इन दोनों को जोड़कर अनेद सिद्ध किया करते हैं तदनुसार स्वामी जी ने पूर्वपक्ष लिखा । और आप यदि इस को प्रत्यावृत्त

( वायिस ) लेते हैं वा वेदान्तियों का पक्ष नहीं मानते तो न सही हगारी क्या हागि है । और ( नेह नानास्ति किञ्चन ) का अर्थ आप करते हैं कि जैसे (इह मृदि घटादिकं किञ्चन नाना नास्ति) यह उस काल में बन सकता है जब मृत्तिका घटाकार परिणत=रूपान्तरित न हुई हो । परन्तु यदि (इह जले मृदादिकं नाना नास्ति ) अर्थात् इस पानी में मिट्टी आदि कुछ मिला नहीं किन्तु केवल स्वच्छ जल है, इस प्रकार समझा जावे तो त्रिकाल में केवल स्वच्छ चेतनमात्र ब्रह्म के स्वरूप में कुछ नाना=मनेक अन्वयवस्तु नहीं हैं, यह अर्थ कैसा निर्भ्रम हो जावे ॥

“ परमेश्वर के आधार में ” का तात्पर्य यह नहीं है कि परमेश्वर का कोई भिन्न आधार है । किन्तु “ परमेश्वर ही जो आधार है उस में ” यह तात्पर्य है । जैसे लोक में “ पात्र के आधार जल है ” इस का “ पात्ररूप आधार से जल ठहरा है ” यह तात्पर्य होता है । आप अर्थछल करने हैं ॥

ब्रह्म में (उस के स्वरूप में) अनेक वस्तु का मेल क्या आवश्यक मानने लगे ? जो कहते हैं कि “नाना वस्तुओं का मेल नहीं यह कहना भी आप का असंगत है”

अपनी समय श्रुति का अर्थ सुनिये । आप तो पूरी श्रुति का गर्व करते हैं । इस उस से पूर्वले वाक्य सहित आप के लिखे वाक्य को अर्थ सहित लिख कर दिखाते हैं कि यहां क्या प्रकरण है—

यदेवैह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ४ । १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ४ । ११ ॥ कठ—

मृत्यु और भविकेता का संवाद है कि—“ जो ब्रह्म यहां है ( इस लोक में है ) वही यहां ( परलोक में ) है । जो यहां है सो यहां है । जो इस में अनेक भाव देखता है ( इस लोक परलोक के अनेक ब्रह्म समझता है ) वह मृत्यु पर मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ४ । १० ॥ यह मन=ज्ञान से प्राप्त करने योग्य है ( इन्द्रियों द्वारा नहीं ) क्योंकि इस में नाना पदार्थों का संयोग नहीं । ( जो पदार्थ नानाद्रव्यों के संयोग से बनते हैं वे इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं ) वह मृत्यु पर मृत्यु पाता है जो इस (ब्रह्म) में निष्ठावट समझता

है । अर्थात् यह मनभक्ता हैं कि जगत् के नाना पदार्थों ही को पूर्वजों ने गिलाकर ब्रह्म नाम धर दिया है । जो ऐसा मनभक्ते वाला नास्तिक है, वह सृष्टि पर सृष्टि पाता है, मोक्ष नहीं पा सकता ॥

द० ति० भा० पृ० २२४ में ( सर्वं खल्विदं ब्रह्म ) का अर्थ “ ब्रह्मस्य ” नहीं है, यह दिखलाने के लिये छान्दोग्य के ४ वाक्य पृ० २४५ में पूरे लिखे हैं, जिन के लिखने की आवश्यकता न थी, यदि प्रकरण का अर्थ दिखलाना था तो एक वाक्य ही लिख देना था । अस्तु, पाठकों के मननिरासार्थ चारों ही वाक्यों को हम प्रस्तुत करके अर्थ करते हैं और दिखलाते हैं कि ( सर्वं खल्विदं ) का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है, वही ठीक है ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीत खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ३ । १४ । १ ॥ मनोमयः प्राण-शरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्मसर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ३ । १४ । २ ॥ एषमआत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् दिवोज्यानेभ्यो लोकेभ्यः ३ । १४ । ३ ॥ सर्वकर्मसर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरेण एषमआत्मान्तर्हृदयेऽतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्वा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः ॥ छान्दो० ३ । १४ । ४ ॥

अर्थ-(शान्तः) शान्तियुक्त मनुष्य ( इदं सर्वम् ) इस सब पूर्वप्रतिपादित (ब्रह्म) ब्रह्म को (खलु) निश्चय (उपासीत) उपासित करे । और (पुरुषः खलु क्रतुमयः) मनुष्य अवश्य कर्ममय है अर्थात् कर्मों के अनुसार जाति आयु भोग को प्राप्त होता है । (पुरुषः अस्मिंल्लोके यथा क्रतुः भवति) मनुष्य इस लोक में जैसे कर्म करने वाला होता है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसे यहां से सर कर होता है । (इति) इस लिये (तज्जलान्) उस ब्रह्म के उत्पन्न किये और उसी



आधार में लीन होने वाले पदार्थों को (सः) वह मनुष्य (क्रतुं कुर्वीत) कहे वा यज्ञ करे। अर्थात् परमेश्वर की सत्पादित और अन्त में प्रलय होकर उसी में रहने वाली वस्तुओं को यज्ञ अर्थात् यथायोग्योपकार में लगावे ॥ १ ॥

अब दूसरे वाक्य में भिन्न २ दो आत्माओं का वर्णन है—( मनोमयः ) चेतनस्वरूप ( प्राणशरीरः ) प्राण जिस का शरीर है ( भाकरूपः ) प्रकाश वाला ( सत्यसंरूपः ) सत्य संरूप करने वाला ( आकाशात्मा ) आकाश के समान सूक्ष्मस्वरूप ( सर्वकर्मा ) सब कर्म करने वाला ( सर्वकामः ) सब कामनाओंवाला ( सर्वगन्धः सर्वरसः ) सब गन्ध और रसों वाला ( इदं सर्वम् ) इस सब भोग्य पदार्थों को ( अभि भातः ) अभिव्याप्त करके लेने वाला ( अवाकी अनादरः ) वस्तुतः वाग्युपलक्षित इन्द्रियों से वर्जित और निर्भय है ॥ २ ॥

( एषः आत्मा ) यह आत्मा जो कि ( मे अन्तर्हृदये ) मेरे हृदय के भीतर है सो ( ब्रह्मैवै, यथाद्वा, सर्वपाद्वा, ज्ञयासाकाद्वा, ज्ञयासाकतबहुलाद्वा ) धान्य से भी, जी से भी, मरसों से भी, मर्वे से भी और सर्वों के चावल से भी ( अशीयान् ) अत्यन्त छोटा है ( एष आत्मा ) और यह दूसरा आत्मा ( मे अन्तर्हृदये ) मेरे हृदय में है जो कि ( दिवः ज्यायान् ) द्युलोक से अत्यन्त बड़ा है ( ज्यायान्भ्योलोकेभ्यः ) और इन सब लोकों से भी बड़ा है ॥ ३ ॥

( सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः ) [ यह दूसरा आत्मा भी ] सब कर्मों वाला, सब कामनाओं, सब गन्धों और सब रसों वाला है ( सर्वम् इदम् अग्न्य तः ) और इस सब जगत् को अभिव्याप्त कर रहा है ( अवाकी अनादरः ) वागादि इन्द्रियवर्जित और निर्भय है ( एष आत्मा मे अन्तर्हृदये ) यह परमात्मा मेरे हृदय के भीतर है ( एतद्ब्रह्म ) यह ब्रह्म है ( इतः प्रेत्य ) इस संसार से चलकर [ मर कर ] ( एतम् अभिसंभवितास्मि ) इस परमात्मा से मिलूंगा ( इति यस्य अद्वा स्यात् ) ऐसा जिस को साक्षात्कार होजावे ( न विचिकित्ताऽस्ति ) फिर उसे चिन्ता शोक मोहदि नहीं ( शायिष्ठयः इति ह आह स्म ) शायिष्ठय ऋषि ऐसा कहते थे ॥ ४ ॥

इस में केवल यह कहा गया है कि आत्मा में जिस प्रकार चेतनता और सब कामों, कामनाओं, गन्धों, रसों और पदार्थों के ग्रहण का सामर्थ्य है, इस प्रकार का अन्य प्राकृत पदार्थ कोई नहीं, केवल परमात्मा है, जिस में जीवात्मा से अधिक अगन्त सामर्थ्य है, इस लिये जीवात्मा को चाहिये कि परमात्मा से मिलने का सद्योग करे। क्योंकि साधर्म्ययुक्त पदार्थों के

माप से ज्ञानन्द और वैधर्म्ययुक्त पदार्थों के खेल में दुःखों का भोग होता है । अतः माधर्म्ययुक्त परमात्मा से जीवात्मा को प्रीति भक्ति करनी चाहिये और ज्ञान्यों में वैराग्य वा उदासीनता ॥

जब कि हम में एक आत्मा को असंयन्त छोटा और दूसरे को अत्यन्त बड़ा कहा है तो जीव ब्रह्म का भेद बहुत स्पष्ट है ॥

५० ति० भा० पृ० २४६ में—(सदेव सोम्येदमग्र०) इत्यादि ज्ञान्दोग्य ६ । २ के १ । २ । ३ वाक्य लिखे हैं और क्योंकि तीसरे में ( तदैक्षत ) पद आये हैं अत्रि का अर्थ यह है कि “ उस ने देखा ” इस लिये जाना गया कि देखने वाला चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं । हम पर ५० ति० भा० पृ० २४७ पं० ६ में यह उल्लाङ्घना दिया है कि “हम ज्ञाति में सत् शब्द को जड़ प्रकृति का लोपक मानना स्वामी जी की वेदान्तानभिज्ञता प्रकट करता है” ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ती वेदान्त जानते थे पर आप सत्यार्थप्रकाश में जो बोध कम रखते हैं । सत्यार्थप्रकाश में सत् शब्द प्रकृतिवाचक लिखा है परन्तु ( सदेव सोम्येदमग्र० ) हम वाक्य के अर्थ करते हुये सत् शब्द को जड़ प्रकृति वाचक मान नहीं लिखा किन्तु सत्यार्थ० खोल कर देखिए उन में—

### तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ०

हम वाक्य के अर्थ में जो ऊपर के (सदेवसोम्येदमग्र०) इस छां० प्रपाठक ६ खण्डरवाक्य १ है, उसमें (तेजसामोम्यशु०) यह वाक्य छां० प्रपाठक ६ खण्ड ८ वाक्य ४ होने से बहुत दूर है । स्वामी जी ने हम के अर्थ में लिखा है कि—

“तेजोरूप कार्य में सद्गुरु कारण जो नित्य प्रकृति है यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है ।”

हम लिये आप सत्यार्थप्रकाश को नहीं समझे वा स्वामी जी वेदान्त को नहीं समझे? यह आप ही बताइये ॥ अब अपने लिखे तीनों वाक्यों का अर्थ सुनिये—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् । तस्मादसतः सदऽजायत ॥ १ ॥ कुतस्तु खलु सोम्यैव श्रुत्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् ॥ २ ॥ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽमृजत ॥ ३ ॥ छां० प्र० ६ खं० २ ॥

ज्ञानना चाहिये कि सत् किसे कहते हैं। सत् पद का अर्थ यह है कि जो तीनों काल में होवे। सो जीव, ब्रह्म, प्रकृति तीनों गित्य हैं, इन लिये तीनों का नाम "सत्" है। सत् के साथ यदि "चित्" जोड़ दें तो "सच्चित्" हो जावे। जिस का अर्थ "तीनों काल में होने वाला और चेतन" है। इन लिये "सच्चिदानन्द" शब्द जीवात्मा और परमात्मा का बोधक हुआ, प्रकृति की व्यावृत्ति हो गई। अब यदि "सच्चित्" में "आनन्द" और जोड़ दें तो "सच्चिदानन्द" होता है, जो केवल परमात्मा का ही बोधक है, इससे प्रकृति और जीवात्मा दोनों की व्यावृत्ति है, परन्तु हम देखते हैं कि ऊपर के लिखे छान्दोग्यवचन में चित् और आनन्द पद नहीं हैं, केवल "सत्" है। इस लिये सत् पद से यहां जीव ब्रह्म प्रकृति तीनों के समुदाय का अर्थ लेना ठीक होगा। अर्थात्-

( मदेव सोम्येतत् ) हे सोम्य ! प्रथम सत् ही था अर्थात् जीव ब्रह्म प्रकृति का समुदाय ही अद्वितीय अर्थात् अकेला था। (तद्वैक नाबुरासदेवेत्) परन्तु कोई शून्यवादी कहते हैं कि असत् ही प्रथम था, असत् से सत् हो गया ॥ १ ॥ ( कुतस्तु खलु सोम्यैवम् ) परन्तु सोम्य ! यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् हो जावे अर्थात् यह होना असम्भव है। इन लिये ( तत्रैवमसौ ) प्रथम सत्पदवाच्य तीनों का ही एक अद्वितीय समुदाय था ॥ २ ॥ ( तदैक्षत ) उस ने देखा कि मैं [ समुदाय ] जो एक हूँ बहुत हो जाऊँ और उस ने तेज को रचा ॥ ३ ॥

हम समझते हैं कि इस वचन में और इस के साथी अन्य इस के तुल्य वचनों में अब किसी को भ्रम न होगा ॥

तत्रैतच्छुद्धमृत्पतितं इस वाक्य में कोई ईक्षणार्थक पद नहीं है, इस लिये यदि स्वामी जी ने यहां "सत्" पद से प्रकृति का चङ्कण कर लिया तो अगर्थ क्या है और जब इस में ईक्षणवाचक कोई पद नहीं तब आप जो २० ति० भा० पृ० २४१ पं० २१ में कहते हैं कि—

ईक्षतेर्नाशब्दम् । शा० १ । १ । ५

सो यहां ईक्षति क्रिया का प्रयोग ही नहीं, तत्र सत् पद से प्रकृति के चङ्कण में दोष नहीं आसकता। हां, जहां ईक्षति क्रिया=देखना आया हो, वहां, सत् पद से प्रकृति नाम का चङ्कण स्वामी जी करते तो आप का कहना ठीक

हो सकता था। सूत्र का अर्थ यह है कि—( ईक्षतेः ) वेदों वा उपनिषदों में जगत्कर्त्ता के प्रतिपादन में ईवितिक्रिया=देखना क्रिया आने से ( न ) केवल प्रकृति जगत्कर्त्ता नहीं ( अशङ्कम् ) यदि प्रकृति को जगत्कारण माने तो शङ्कप्रमाण के विरुद्ध है ॥

द० ति० ता० पृ० २४८ पं० ८ मे—जब दूसरी श्रुति भी देखिये, जिस से ब्रह्मभिन्न प्रकृति को उपादानकारणता मिटाने का खण्डन होता है—

सोऽकामयत । बहुस्यांप्रजायेयेति । सतपोऽतप्यत । सतपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सञ्चत्यञ्चाभवत् । निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च । निलयनञ्चानिलयनञ्च । विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च । सत्यञ्चानृतञ्च । सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येषश्चाकोभवति । अन्वाइदमग्र आसीत् । ततो वै स दज्जयत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥ तै० ॥

प्रत्युत्तर—(सोकामयत०) से (छोको भवति) तक ब्रह्मानन्द ब्रह्मी का छटा अनुवाक है और (असद्वा०) इत्यादि ७ वां अनुवाक है। आपने इसे जोड़ दिया। प्रकरण के अनुकूल इन दोनों वाक्यों से भी अमेद की निद्रि नहीं होनी। जिस प्रकार राजा के साथ सेना अविवक्षित होती है और कहते हैं कि “राजा ने चाहा कि मैं शत्रु का विजय करूं और वह शत्रु पर चढ़ाई करने लगा” यहाँ यद्यपि राजा अकेला चढ़ाई नहीं करना किन्तु सेनासहित करता है, परन्तु सेना के अधिपान होने से केवल राजा पद में सेनादि सब कुछ स्वयं लिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी ( सः ) वह परमात्मा जिस के भीतर जीवात्मा और प्रकृति वर्तमान हैं ( अकामयत ) चाहना करता हुआ कि ( बहु स्याम् ) जो मैं अब प्रकृति और जीवों सहित एकमेक हूँ सो बहुत हो जाऊँ अर्थात् अनेक नाम रूप वाली वस्तु बनाकर स्थित होऊँ। [आगे कोई पद संशय में डालने वाला नहीं है] उस ने ज्ञानमय तप किया और सब को रचा और रचिन पदार्थों में अनुप्रवेश अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश के भी भीतर अपना अनुप्रवेश करके स्थित हुआ। तब पृथिव्यादि भूत सत् और वाय्वादि त्यत् हुआ। निरुक्त और अनिरुक्त सब हुआ। साधार और निराधार सब हुआ। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सब हुआ। सत्य और असत्य हुआ।

इस सब जगत् को सत्य से उत्पन्न होने से सत्य कहते हैं। मो यह झाँक भाव्य ग्रन्थ में कहा है कि—प्रथम अप्रतीयमान कारण था। उस में प्रतीयमान जगत् हुआ। अप्रतीयमान ने अपने को प्रतीयमान किया इस से स्रुत कहा जाता है ॥

स्रुत अच्छा किया कर्म, उसे कहते हैं जिम के करने में कर्त्ता को बड़ी सुगमता रही है। और जब कर्त्ता को अपने काम में अत्यन्त सुगमता होती है तभी—

यदा सोकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्त्तृव्यापारो न विवक्ष्यते,  
तदा कारकान्तराण्यपि कर्त्तृसङ्गां लभन्ते ॥

अर्थात् कर्त्ता को अत्यन्त सुगमता दिखाने के लिये कर्त्ता का व्यापार कहने में नहीं लाया जाता और कर्मादि कारकों को कर्त्ता के समान बोलते हैं। जैसे जब रसोई बनाने में अत्यन्त चतुर और बिना प्रयास रसोई बनाता है तब कहते हैं कि “रसोई बन रही है” कर्त्ता का नाम नहीं छेते। ऐसे ही यहाँ भी कहा गया है कि जगत् परमात्मा के ईक्षण से आप से आप बनता है अर्थात् परम त्मा को इस के रचन में प्रयास वा श्रम नहीं करना होता, स्वाभाविक ईक्षण मात्र से सब सृष्टि अपने आप बनने लगती है ॥

स्वामी जी ने वैशेषिक सूत्र (कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोद्गृहः) से यह मिट्टा किया है कि चेतन ब्रह्म यदि संपादान कारण माना जाय तो चेतन से जड़ जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि “कारणगुणपूर्वक कार्यगुण देखा जाता है।” इस पर २० ति० भा० पृ० २५० में ( दृश्यते तु अ० २ पा० १ सूत्र ७ ) यहाँ तु शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के वास्ते है ( एतस्मादात्मन आकाशः संसृतः ) इस में चेतन से जड़ का जन्म सुना है। अब स्वामी जी का यह कथन कारण के सद्गुण कार्य होता है खण्डित हो गया। विज्ञानघन एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्पायेति ) इस से जड़ से चेतन का जन्म है। लोक में भी चेतन से विलक्षण केश नखादि का जन्म और अचेतन गोमयादि से वृद्धि कादि का जन्म देखते हैं ॥

प्रत्युत्तर—अच्छा क्या ( कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोद्गृहः ) इस वैशेषिक सूत्र को आप नहीं मानते? क्या शास्त्रों में आपस में विरोध है? जो कणाद के विरुद्ध आप व्यास का सूत्र प्रस्तुत करते हैं? वास्तव में आप जिस सूत्र को

प्रमाण में देते हैं वह तर्काभासाधिकरण का सूत्र है। अध्याय २ पाद १ सूत्र ४

### न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्

इस सूत्र की ऊपर ही आगे माननीय भाष्यकार ने "तर्काभासाधिकरण" अर्थात् मिथ्या तर्कों का अधिकार लिखा है। वन यह सूत्र मिथ्या तर्क दिखाता है कि—

### दृश्यते तु २।१।६

देखा तो जाता है कि जड़ से चेतन, चेतन से जड़ उत्पन्न होते हैं। जैसे गोबर से बिछू इत्यादि। परन्तु यह तर्क मिथ्या है क्योंकि गोबर से बिछू का जड़ शरीर ही बनता है, चेतन आत्मा ती अन्य देहों से विपुल होकर कर्मानुसार उस में आजाता है। इस लिये कारणगुणपूर्वक ही कार्य गुण होते हैं। यह बात ब्रह्माध्य ठीक है ॥

८० ति० भा० पृ० २५० पं० २९ में ( जेवा तर्केण सतिरापनेया ) और पृ० २५१ पं० ४ में ( नर्काप्रतिष्ठाना० ) इत्यादि व्याससूत्र से तर्क की निन्दा की है ॥

प्रत्युत्तर—ठीक है, तर्काभासा=मिथ्या कुनर्कों की स्थिति नहीं है। इस लिये असत्तर्क जैसा कि ऊपर ( दृश्यते तु ) सूत्र का तर्क है। इस प्रकार के तर्क सन्तोषदायक न होने से निन्दनीय हैं ॥

८० ति० भा० पृ० २५१ पं० १४ में ( यथा च प्राणादि ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह सूत्र भी स्वामी जी के पक्ष की पुष्टि करता है। इस से पिछले दो सूत्र इस से मिलाइये तब स्पष्ट दीख पड़ेगा कि नियत कारण से ही नियत कार्य बन सकते हैं। चेतन से जड़ादि वा असत् से सत् नहीं। यथा हि—

युक्तेः शब्दान्तराच्च । शा० २।१।१८ पठवच्च ॥ १८ ॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

युक्ति और अन्य शब्द प्रमाणों से भी नियत कारण से नियत कार्य ही उत्पन्न होने सिद्ध होते हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा और दूध से दही। दूध से घड़ा और मिट्टी से दही नहीं बनता ॥ १८ ॥ और पठ अर्थात् वक्त्र के दृष्टान्त से भी यही सिद्ध है ॥ १९ ॥ और प्राणादि वायुभेद, वायु से ही उत्पन्न होते हैं। इस से जाना जाता है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत अनन्य कारण होता है। यह नहीं कि चाहे जिन कारण से चाहे जो कार्य बन जावे ॥

८० ति० भा० पृ० २५१ पं० २३ में ( देवादिवदपि लोके ) इस सूत्र से यह

सिद्ध काते हैं कि जैसे लोक में देवादि भिदु लोग बिना सामग्री के अपनी विचित्र शक्तिसे पदार्थों को रच लेते हैं, जैसे बकुली बौर्य बिना केवल मेघ-गर्जन से ही गर्भवती हो जाती है, वा सकड़ी सूत के बिना ही जाला पुरती है, ऐसे ही बिना प्रकृति के केवल ब्रह्म ने जगत् रच लिया ॥

प्रत्युत्तर-जिम प्रकार देवादि भिदु कोटि के अनुष्यों के पास अदृश्यरूप से विचित्र सामग्री वर्तमान रहती है, और बकुली के समर्थ मेघगर्जन ही में वायु द्वारा बौर्य प्राप्त होता है और जिम प्रकार सकड़ी का आत्मा अपने स्थूल शरीर में छिपे हुवे सूतों को फैलाता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अव्यक्त अदृश्य प्रकृति को विकृति काके ही जगत् को बनाता है। यदि नियत सामग्री की आवश्यकता नहीं होती तो राजादि लोग देवादि सिद्ध पुत्रों से राज्यादि करणार्थे नवीन पृथिवी बनवाकर राज्य करते, बकुली के समान काकी और मनुष्य की स्त्री भी मेघगर्जन से गर्भवती हो जातीं, सकड़ी के समान बिना सूत के जुगाह भी कपड़ा बुन लेते। परन्तु सामग्री बिना प्रपार्थ में कोई कार्य बनता नहीं। यह बात दूसरी है कि सामग्री प्रत्यक्ष हो, वा छिपी अदृश्य हो ॥

८० ति० सा० पृ० २५२ पं० १६ में-महाप्रलय में ब्रह्म के बिना और कुछ नहीं था, फिर प्रकृति आदि कहां से देखो (नासीत्) आदि मन्त्र जो महा-प्रलय के वर्णन में पीछे लिख आये हैं ॥

प्रत्युत्तर-महाप्रलय के वर्णन में नहीं, सर्वशक्तिमान् के प्रकरण में आपने “नामदासीत्” इत्यादि लिखा था, जिम का उत्तर भी हम अपने पृ० २२१ में दे चुके हैं ॥ “सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा बिना किसी की सहायता के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है ॥” इस सत्यार्थप्रकाश के लेख का तात्पर्य यह नहीं है कि उपपादान बिना जगत् को रच सकता है। किन्तु इतने बड़े जगत् को उपपादान से तत्क्षण बना देना है और सहाय-ताथे किसी अन्य जीव को नहीं बुलाता, यह तात्पर्य है ॥

८० ति० सा० पृ० २५२ पं० २९ से-स्वामी जी पूर्व ती लिखि आये ही कि (न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते) उसे कार्य करणादि की कुछ अपेक्षा नहीं अब यहां यह गड़बड़ ॥

प्रत्युत्तर-न तस्य कार्यम् ० इस वाक्य में वा स्वामी जी के अर्थ में क्या कहीं जनककारण का निषेध भी लिखा है? कहीं नहीं। फिर कार्य करणादि के निषेध से उपपादान कारण का निषेध समझना अज्ञान नहीं तो क्या है? “न

तस्य कार्य कहने से यह अवश्य सिद्ध होता है कि हेखरका कार्य कोई नहीं अर्थात् हेखर किसी कार्य पदार्थ का उपादान नहीं । किन्तु प्रकृति ही उपादान है ॥

८० ति० भा० पृ० २५३ पं० १४ में—जैसे घटाकाश घट के टूटने से आकाशमें मिलता है इसीप्रकारकर्मबन्धन टूटनेसे यह शुद्धमात्मा सर्वमानसार्थयुक्त होता है ॥

प्रत्युत्तर—आकाश से भिन्न घट वस्तु न हो तो घटाकाश वा घट का टूटना आदि व्यवहार नहीं बने, इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न आप के मत में कोई वस्तु नहीं तो टूटना आदि कुछ नहीं कह सकते । यदि कहते हो तो त्रैतापत्ति न सही, द्वैतापत्ति तो आप पर पड़ी ही ॥

### आदिसृष्टिस्थानप्रकरणम्

८० ति० भा० पृ० २५३ पं० २५ में—यजुर्वेद में कहीं यह वाक्य नहीं कि ( ततो मनुष्या भजायन्त ) और दूसरे पद में छोट कर किया है ( मनुष्या अप्यवश्य ये ) ॥

प्रत्युत्तर—“ ततो मनुष्या भजायन्त ” यह पाठ शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ प्रपा० ३ ब्राह्मण ४ कपिलका ३ के अन्त में है । जिसको कि मन्त्रग्र स्मृतात्मक वेद मानने वाले आप यह नहीं कह सकते कि यह यजुर्वेद का वचन नहीं है ॥

मित्रया कल्याण उसे कहते हैं कि जिस में अपने प्रयोजन को निदु करने और दूसरे की हानि पहुंचाने के अतिप्राय से किसी प्रकार के बल बड़ी प्रमाण की प्रमाण की रीति पर दिखलाया जावे, जिस प्रमाण को कि प्रमाण देने वाला जानता हो कि यह प्रमाण यथार्थ में मेरा प्रयोजन नहीं परन्तु मैं इस प्रमाण को झूट झूट बनाकर दिखला दूंगा तो मेरा प्रयोजन निदु होजायगा और दूसरे की हानि भी चाहे हो । परन्तु स्वामी जी के लिखे उन वाक्यों से जिस को उन्होंने वेदवाक्य करके लिखा है, क्या यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने प्रयोजन निदु करने को कल्पित मन्त्र चढ़ लिये ? विचारना चाहिये कि वहां प्रकरण क्या है । सन्यासेप्रकाश में वहां यह प्रश्न है कि—(प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में यह निदु करने को कि एक मनुष्य नहीं किन्तु अनेक मनुष्य उत्पन्न हुये, स्वामी जी ने उक्त दो वाक्य लिखे हैं । वक्ता का तात्पर्य समझने के लिये वाक्य के सम्पूर्ण अवयवों पर ध्यान देना चाहिये । इस प्रश्न को उठा कर उत्तर देने में स्वामी जी का तात्पर्य यह है कि सृष्टि



का बीज एक २ मनुष्य पशु, पक्षी आदि नहीं हैं किन्तु मनुष्यादि अनेकों से सृष्टि आरम्भ हुई। केवल मनुष्य शब्द लिखने का कारण यह है कि सृष्टि में मनुष्य प्रधान है, प्रधान के उपलक्षण से अप्रधान पशु, पक्षी, कीट पत-  
ङ्गादि का भी ग्रहण होता है। जैसे किसी की दधि की रक्षार्थ किसी से कहना हो तो वह कहना है कि "देखो दही रक्खा है, कठवा न खा जावे, देखते रहना"। ती वक्ता का तात्पर्य वही की रक्षा में है, न कि केवल कठवे (काक) मात्र से, किन्तु कठवा, कुत्ता आदि सभी से दही की रक्षार्थ कहने में तात्पर्य है। परन्तु काक का दही खा जाने को भाजाना अधिक सम्भव मान कर वह केवल काक का नाम ही लेता है। तथापि रखवारे को चाहिये कि कठवे के अतिरिक्त कुत्ते आदि से भी दही को बचावे। इसी प्रकार स्वामी जी का मुख्य तात्पर्य एक वा अनेक में है, न कि केवल मनुष्य में। अब सोचना चाहिये कि उस के इस प्रश्न का उत्तर यजुर्वेद से क्या मिलता है कि सृष्टि का आरम्भ एक २ प्राणी से हुआ वा अनेक २ से ?

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में यह बातें सन्प्र है कि—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभ्यादंतः । गार्वा ह जज्ञिरे  
तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः । यजुः ॥ ३१ ॥ ८ ॥

इस का अर्थ यह है कि उस पुरुष से घोड़े, नीचे ऊपर दांत वाले और भी आदि एक ओर दांत वाले और ऊपर से ह आदि सब उत्पन्न हुए ॥

यहां जज्ञाः, उभयादंतः, गावः, जालाः, अजावयः, इतने बहुवचन आये हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि प्रत्येक प्राणी की जाति में अनेक व्यक्ति पों सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए। फिर इस से भगले सन्प्र में—

तं यज्ञं ब्रह्मिषि प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा  
अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ यजुः ॥ ३१ ॥ ९ ॥

इस का अर्थ यह है कि देव, साध्य और ऋषि लोग उत्पन्न हुए, उन्होंने उस अपने से पूर्ववर्तमान पूजनीय पुरुष की हृदय रूप कुशासन पर स्थित पाया और पूजित किया ॥

यहां जो साध्याः देवाः और ऋषयः इन बहुवचनों से प्रणीत होता है कि साध्य और ऋषिबंधक बहुवचन से मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए ॥

बस इस से प्रमाणित है कि जिस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने दो वाक्यों से सिद्ध किया है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यादि प्राणियों की अनेक व्यक्तिगत उत्पत्ति हुई, न कि एक २। सो इन मन्त्रों से ठीक पाया ही जाता है। इन लिये स्वामी जी ने अपने पक्ष के सिद्ध करने के लिये असत्य कल्पित नहीं किया और जो कुछ लिखा है, वैसा भाव ऊपर लिखे दो वेदमन्त्रों में उपस्थित है। केवल यह भेद है कि—

“तस्मादश्वा अजायन्त” के स्थान में—

“ततो मनुष्या अजायन्त” है। और

“साध्या ऋषयश्च ये” के स्थान में—

“मनुष्या ऋषयश्च ये”

इतना पाठभेद है, परन्तु दोनों मन्त्रों में वह भाव उपस्थित है जो स्वामी जी ने लिखा है। तथा यह सम्भव है कि बोलने वा लिखने में यह भेद पड़ गया हो। परन्तु यह किमो प्रश्न नहीं सिद्ध होता कि स्वामी जी ने स्वप्रयोजनार्थ कल्पना करली ॥

१० ति० भा० पृ० २५३। २५३ और २५६ में कुछ तर्क इस बात पर किये हैं कि स्वामी जी के उद्धानुसार आदि में मनुष्योत्पत्ति तिष्ठत में की हो, सो ठीक नहीं। लेख बड़ा है, परन्तु संक्षेप से उस में जो २ प्रश्न किये हैं उस का क्रम से इस उत्तर देते हैं ॥

१—इस में कोई प्रमाण नहीं दिया कि तिष्ठत में मानवी सृष्टि प्रथम हुई ॥

प्रत्युत्तर—तरमः द्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः  
आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या  
अजन्म अगाद्रेतः रेतसः पुरुषः। तैत्ति० ब्रह्मानन्द  
ब्रह्म। अनु०१ ॥

अर्थात् प्रथम परमात्मा ने आकाश तत्त्व को उत्पन्न किया, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल, फिर पृथिवी, फिर अन्न, फिर घीर्य और फिर मनुष्य को ॥

इस में स्पष्ट है कि उत्पत्तिक्रम में पुरुष की उत्पत्ति अन्न के पश्चात् है। अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते हैं, पृथिवी का ऊँचा भाग तिष्ठत ही प्रथम ठंडा और अन्नउपमाने योग्य होमकत। या क्योंकि जब जेबे किसीलो इपिच की गर्म करके पुनः ठंडा करो तो ऊपर का भाग ही प्रथम ठंडा होगा। इसी प्रकार

अग्निमय पिण्ड मे जलमयपिण्ड, तत्पश्चात् सूक्ष्ममयपिण्ड, तत्पश्चात् आकाश मे मनुष्यजाति की उत्पत्ति हो सकती है। इसी विचार मे स्वामी जी ने तिळवत मे मनुष्यों की आदि सृष्टि लिखी है ॥

१-सत्यार्थ ७ पृ २४ में लिखते हैं जब आर्यदस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान् गो असुर उन में सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ किया जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इम भूमिखण्ड को जान कर यहीं आकर बसे इसी से इस देश का नाम आर्यावर्त हुआ। पुनः पं २९ में इस से पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था ००० इम में तक यह है कि तो फिर आर्य लोग मदा से आर्यावर्त के रहने वाले न रहे, जैसा कि स्वामी जी ने अपनी आदर्शदृष्ट्यात्माला में लिखा है ॥

प्रत्युत्तर-अन्य देशों में आर्य कम और दस्यु अधिक होने से आर्यों के प्रसक्तियों में गित्य की बाधा देखकर अन्य देशों में के आर्य भी आर्यावर्त निवासी आर्यों में शामिल और इस देश को केवल आर्यों का ही निवास-स्थान बना लिया। इस में यह नहीं पाया जाता है कि जब अन्य भूमिखण्डों में आर्य दस्युओं का बखेड़ा हुआ तब इस देश में आर्य न थे। नहीं, इस देश में तो तिळवत के उत्पन्न आर्यपुरुष आदि में ही आगये, जब कि तिळवत के पश्चात् यह देश गर्मी से निकल कर ठंडा हुआ और अन्नोत्पत्ति हुई, तभी तिळवत की सृष्टि इधर भी चली आई और इस से यह बात खण्डित नहीं होती कि सदा से आर्य ही आर्यावर्त में रहते थे ॥

२-त्रिविष्टप का अर्थ तिळवत कैसे हुआ ?

प्रत्युत्तर-गी का अर्थ गाय कैसे होता है ? और कूप का अर्थ कुवा कैसे होता है ? वैसे ही यह भी हुआ ॥

४-यदि यह देश सर्वश्रेष्ठ है तो यहां ही परमेश्वर ने आदि सृष्टि क्यों न की ?

प्रत्युत्तर-हिमालय की सर्वोच्च चोटी तो अब तक हिमपात से ढकी रहती है और मनुष्य वहां नहीं जन्म सकते। आर्यावर्त तिळवत के पश्चात् अन्नोत्पत्तियोग्य ठंडा हुआ। अतः तिळवत में आदि सृष्टि होना सङ्गत था ॥

५-त्रिविष्टप का नाम आर्यावर्त क्यों न हुआ जब आर्य वहां जन्मे ॥

प्रत्युत्तर-त्रि ३ वेदों वा ३ ऋषीं वा अन्य त्रयी विद्याओं का स्थान होने से इस देश का नाम त्रिविष्टप हो गया। जो आर्यावर्त नाम से कुछ घटिया नाम नहीं। आर्य और दस्युओं का विभाग जब तक त्रिज. १ देशों में न हुआ

तब तक किसी देश का नाम आर्यावर्त रखना आवश्यक न था । नेपाल अब तक आर्यस्थान है । तिब्बत और भूटान गिरिकन्दरा होने से बौद्ध साधुओं ने अधिक वासित किया, इस से अब बौद्ध हो गया ॥

६-सरस्वतीद्विषद्वयोर्द्वन्द्वोर्द्वन्द्वन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ मनु० २ । १७

सब से प्रथम ब्रह्मा जी ने यही देश रचा और उन के द्वारा मनुष्य की उत्पत्ति यहां ही हुई ॥

प्रत्युत्तर-इशोकार्थ तो यह है कि “सरस्वती और द्विषद्वती नाम दो देव-मन्दिरों के बीच में जो देश है वह देव=विद्वानों से बनाया गया और इसीसे उस का नाम ब्रह्मावर्त विख्यात हुआ” क्योंकि समस्त आर्यावर्त और अन्य देशों में के मनुष्य ब्रह्मावर्त के अनन्तर ब्रह्मर्षि देश में सब विद्या सीखें, यह मनु की आज्ञा थी । जैसा कि मनु-

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष  
ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ २-१८ ॥ एतद्देशप्रसू-  
तस्य सकाशादग्रजन्मनः । एवं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां  
सर्वमानवाः ॥ २-२० ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन यह मिल कर ब्रह्मर्षिदेश कहाता है जो ब्रह्मावर्त से अनन्तर है ॥ १८ ॥ इसी देश के उत्पन्न हुए ब्राह्मण से समस्त पृथिवी के मनुष्य अपना २ काम सीखें ॥ २० ॥

यह मनु की आज्ञा थी । इस सब में यह कहीं नहीं लिखा कि ब्रह्मा स्वयं ने सृष्टि रची और प्रथम ब्रह्मावर्तदेश बनाया । प्रत्युत यह प्रकरण देशों के उत्पन्न होने का भी नहीं है, किन्तु मनु ने देशों और वहां के निवास की योग्यता की व्यवस्था की है ॥

द० ति० मा० पु० २५७ पं० १ ऊपर के आधे श्लोक का अर्थ नष्ट ही गये हैं । छानिये यह श्लोक मनु जी ने यों लिखा है-

मुख्याहूरुपज्जानां या लोके जातयोद्यहिः ।

उल्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः । मनु०

इस का अर्थ यह नहीं कि इस से भिन्न देश दस्युदेश कहाता है ॥

प्रत्युत्तर- जाचा झोक बदलने से क्या स्वामी जी का तात्पर्य न निकला ? जब कि झोक में ( या लोके बहिः जातयः ) लिखा है । जिस का मर्थे यह है कि ( जो संसार में बाहर की जातियों हैं ) वे चाहे स्नेहताया बोलती हों, चाहे आर्यभाषा, सब दस्यु हैं । फिर उन जातियों के बाहरी देशों का नाम दस्युदेश वा स्नेहदेश क्यों नहीं ॥ इन्द्र और दैत्यों का संग्राम ही देवाऽसुरसंग्राम वा आर्यदस्युसंग्राम है ॥

६० ति० भा० पृ० २५६ पं १५ में-पूर्व ती कहा है कि वह सृष्टिकर्म को बदल नहीं सकता, अब उसने बहुत मनुष्य कैसे उत्पन्न कर दिये । स्वयं बिना स्त्री पुरुष संयोग के मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकता ॥

प्रत्युत्तर-सृष्टिकर्म बदला नहीं किन्तु सदा का यही कर्म है कि जब २ प्रलयान्तर सृष्टि हुवा करती है तब २ अमेयुनी होकर फिर मेयुनी का क्रम चलना है । बदलना नहीं । और हां, बहुत मनुष्य उत्पन्न हुए मानने में आप को सृष्टिकर्म की क्यों शङ्का उत्पन्न हुई, क्या ब्रह्मा आदि किसी एक मनुष्य का उत्पन्न होना मानने में यही शङ्का उत्पन्न नहीं होती ?

६० ति० भा० पृ० २५७ पं० २६ में-स्वामी जी के लेख से विदित होता है कि इक्ष्वाकु राजा से पहले सब तिष्ठन्ती ये परन्तु मनुस्मृति जो मनु जी ने रची है उन्होंने ने मनु का राज्य भी इसी देश में होगा लिखा है जब कि ब्रह्मा जी ही का प्रादुर्भाव ब्रह्मावर्त देश में हुवा है ती जेठे पीते भी सब यहीं हुवे और स्वामी जी ती जगिन वायु आदि से परम्परा लिखते ब्रह्मा से क्यों लिखी क्योंकि महात्मा जी ने ती प्रथम जगिन वायु की उत्पत्ति लिखी है और प्रथम एक जाति भी नहीं थी चारोंवर्ण मदां से हैं यथाहि ( ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीदिति यजुर्वेदे ) और मनु जी लिखते हैं

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं सुखब्राह्मरूपादतः ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्चनिरवर्तयत् मनु० ॥

प्रत्युत्तर-इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि इक्ष्वाकु से पूर्व सब तिष्ठन्ती ये । और तिष्ठन्ती ही सिद्ध हो जायें ती हानि वा शास्त्र से विरोध ही क्या आता है ? ब्रह्मा का जन्म ब्रह्मावर्त देश में हुवा, इस में क्या प्रमाण है ? प्रत्युत, आप जो ब्रह्मा से ही सब पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानते हैं कि जल से कमल, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सृष्टि । फिर ब्रह्मा से पूर्व कोई देश भी आप के मत में नहीं होसका था । ब्रह्मावर्त कहाँ से आया ?

अग्नि वायु आदि से वेदपरंपरा स्वामी जी ने लिखी है, परन्तु यह भाव-  
इयक नहीं कि वेदपरंपरा वालों की ही वंशपरंपरा चले, अन्यो की न  
चले, इन लिये ब्रह्मा की वंशपरंपरा लिखना परस्परविरोध नहीं । यह ती  
हम भी नहीं कहते कि चार वर्ण कर्मागुमार परमात्मा की उत्पत्ति अस्मै-  
युक्ती सृष्टि में न थे । परन्तु मनु से उन की व्यवहारमर्मा का भेद प्रचलित  
हुया । आप के झोत और वेदमन्त्र का भाष्य यह नहीं है कि परमात्मा के  
वास्तविक मुखादि से ब्राह्मणादि वर्ण जन्मे । देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

यजुः ० ३ १ । ११

\* यह मन्त्र कई कारणों से विचारणीय है । प्रथम तीन वर्ण मन्त्रों में से  
है जिन पर आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा के बीच सदा वाद विवाद  
होता रहता है । दूसरे यह मन्त्र उन महाहानिकारक जातिभेद अथवा  
आधुनिक नाममात्र की जन्मानुसारिण वर्णव्यवस्था का पोषक समझा जाता  
है कि जो भूतलवासियों की सामाजिक अवगति का मुख्य कारण है । इस  
लिये यह मन्त्र हम योग्य है कि इस पर अच्छे प्रकार लेख किया जाय, और  
हम आशा करते हैं कि पाठकगण इस पर विशेष ध्यान देंगे ॥

### इस मन्त्र का आधुनिक अर्थ

हमारे हिन्दु पण्डित, इस मन्त्र का यह अर्थ करते हैं कि—“ ब्राह्मण ब्रह्म  
के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य वह है जो उस की अङ्गुली  
से और शूद्र पादों से उत्पन्न हुआ ” ॥

१—यह अर्थ वेदविरुद्ध है २—ठपाकरण की रीति से अशुद्ध है,  
३—और प्रकरणविरुद्ध भी है ॥

### १—यह अर्थ वेदविरुद्ध इस लिये है कि

हम में यह मान लिया गया है कि ईश्वर देहधारी है और उस के शिर  
भुजा आदि भी हैं । परन्तु वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं ( इन उन को हयों

\* देखो भा० गङ्गाप्रसाद जी एम. ए. का पुस्तक ॥

लिखने की आवश्यकता नहीं समझते) कि जिन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर चेतनस्वरूप, निराकार, शरीररहित और सर्वव्यापी है। इस को अतिरिक्त यह अर्थ आज कल का भूढ़ी वर्णव्यवस्था वा जातिभेद को पुष्टि नहीं करना है पर उन की पुष्टि करने वाला समझा जात है, परन्तु यह जातिभेद वैदिकमनस में कदापि न था। वैदिकग्रन्थों में ऐसे अनेक वचन हैं जिन से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव पर थी, न कि जन्म पर। विशेष कर महाभारत में हम प्रभार को अनेक श्लोक पाये जाते हैं, उन में से कुछ श्लोक इस विषय का ऐसी स्पष्ट रीति से समाधान करते हैं कि हम उन को यहां लिखना आवश्यक समझते हैं—

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर !। कर्मक्रिया-  
विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥ त्वं वै योनिजा मत्सर्पा  
सर्वभूतपुरीषिणः। एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्चतस्माच्छीलगुणै-  
द्विज ॥ शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान्ब्राह्मणो भवेत् ।

ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यग्रो भवेत् \* ॥

शूद्रे तु यद् भवेत्तुल्यं द्विजे तच्च न विदते । न वै शूद्रो  
भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥२५॥ यत्रैतत्तुल्यं  
सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः । यत्रैतन्न भवेत् सर्प ! तं

शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥२६॥ महाभारत वनपर्व अ० १८० ॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! यह सारा जगत् पहले एक वर्ण था, परन्तु कर्म और क्रिया के भेद से चार वर्ण हो गये। सब मनुष्य एक ही प्रकार उत्पन्न होते हैं, सब का एक सा ही मन भूत होता है, एक ही इन्द्रियें और एक से ही इन्द्रियों के विषय हैं। इस लिये मनुष्य अपने स्वभाव और गुणों ही के कारण द्विज वर्णों ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कहलाता है। शूद्र भी यदि उत्तम स्वभाव और गुण से युक्त हो तो ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी यदि क्रियाहीन हो तो वह शूद्र से भी नीच हो जाता है। यदि शूद्र में सदाचारण हों और द्विज में न हों तो न वह शूद्र शूद्र, और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है ॥२५॥ जिस में यह सदाचारण पाया जाय उनी को शास्त्रों ने ब्राह्मण कहा है, जिस में यह न पाया जाय उनी को शूद्र बतलाया है ॥ २६ ॥

\* आरम्भ के इन श्लोकों का पूरा पता जात न हो सका, अन्त के २ श्लोक दीक छपे पते पर हैं ॥

अब इस विषय पर अधिक लिखना अनावश्यक है क्योंकि अब अन्य देशों तक के विद्वान् भी एकमत होकर मानने लगे हैं कि यह भाग कल का जातिभेद वैदिकसमय के पीछे फैला है ॥

## २ यह अर्थ व्याकरण से भी अशुद्ध है

जो कोई थोड़ा सा भी संस्कृत जानता है वह समझ लेगा कि इन अर्थ में व्याकरण की कई अशुद्धियाँ हैं। मुखम् बाहू और ऊरू ये शब्द प्रत्यय विभक्ति युक्त हैं, तब पञ्चमी में। इन में कोई सन्देह नहीं कि पदभ्याम् शब्द पञ्चमी विभक्ति में है, परन्तु उस का "व्यत्यय" मानना पड़ेगा, जैसा कि मुखम् बाहू और ऊरू शब्दों से स्पष्ट है और पूर्व मन्त्र से जिस को इस आगे लिखेंगे और भी स्पष्ट हो जाता है, इस लिये मन्त्र का ठीक और शाब्दिक अर्थ यह है कि "ब्राह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है, जो वैश्य है वह उस की ऊरू और शूद्र उस को पाँव बनाया गया है" यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि ब्राह्मण उस के शिर से उत्पन्न हुये, क्षत्रिय उस की भुजाओं से निकले इत्यादि। हम नीचे इस मन्त्र का सही धर भाष्य लिखते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारे आधुनिक पण्डित किस प्रकार इस मन्त्र से अपना मनमाना अर्थ निकालना चाहते हैं:-

ब्राह्मणो ब्रह्मत्वविशिष्टः पुरुषोऽस्य प्रजापतेर्मुख-  
मासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। राजन्यः क्षत्रियत्वजातिवि-  
शिष्टः पुरुषो बाहूकृतो बाहुत्वेन निष्पादितः। तत् तदा-  
नीम्, अस्य प्रजापतेर्यत् यावूरू तदूरूपो वैश्यः सम्पन्नः  
उरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तथाऽस्य पदभ्यां शूद्रत्वजा-  
तिमान् पुरुषोऽजायत उत्पन्नः ॥ (महीधर भाष्य)

अर्थ - "ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस प्रजापति का मुख था अर्थात् उसके मुख से उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय अर्थात् क्षत्रियत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस की भुजा बनाया गया। अर्थात् उस की भुजारूप से रचा गया, तब उस प्रजापति की जो ऊरू थीं तदूरूप वैश्य हुआ अर्थात् ऊरूओं से उत्पन्न हुआ तथा उस



के पांवीं से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ हम अपने पाठकगणों का उस भाष्य की ओर विशेष ध्यान दिलाते हैं कि जो मोटे अक्षरों में छापा गया है। यह स्पष्ट है कि महीधर ने मन्त्र का पहिले ठीक और सीधा अर्थ करके फिर उस के पदों में अपने समझाने उद्ग पर खेंचातानी की है। यह समझ में नहीं आता कि मुखमासीत् (मुख पा) इन शब्दों का यह अर्थ कैसे हो गया कि मुखमुत्पन्नः और ( जो जङ्गा थीं तद्रूप वैश्य हुआ इन शब्दों का यह कैसे तात्पर्य हो सकता है कि ऊरुम्यामुत्पादितः (जङ्गा से उत्पन्न किया)। यह बात स्पष्ट है कि यह अर्थ मन्त्र के शब्दों में न निकलता नहीं किन्तु उनमें बलात्कार से डाला गया है

३ यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध है ॥

इस से पहिला मन्त्र यह है:-

मुखं किमस्यासीत् किं ब्रू किमूरू पादा उच्येते ॥

अर्थ-“ उस का शिर क्या था, क्या भुजा थीं और जङ्गा और पांव क्या कहे जाते हैं” यहां यह नहीं पूछा गया है कि उस के शिर से कौन निकले और उस की भुजाओं से कौन निकले। इस मन्त्र में जो प्रश्न किया गया है उसी का उत्तर देनेके लिये वह मन्त्र है जिसकी हम ऊपर से व्याख्या करते जाते हैं इस लिये मन्त्र का आधुनिक अर्थ सर्वथा प्रष्टु है। भला यह कहीं हो सकता है कि प्रश्न तो यह किया जावे कि “उस का शिर क्या था, उस की भुजा क्या थीं और उस की जङ्गा और पांव क्या थे?” और उत्तर दिया जावे कि “ब्राह्मण उस के मुख से निकले और क्षत्रिय उस की भुजाओं से, वैश्य उस की जङ्गाओं से शूद्र उस के पांवीं से ?” इस लिये मन्त्र का ठीक और सत्य अर्थ केवल वही हो सकता है जो हम ऊपर लिख चुके हैं ॥

मन्त्र की पूर्वापर सङ्गति और उसका प्रकरणानुकूल सत्य अर्थ

यह मन्त्र वेद के एक सुप्रसिद्ध सूक्त में आया है कि जिस का नाम “पुरुषसूक्त” है। इस सूक्त में सृष्टि की रचना का वर्णन है। हम को यहां पर पूरे सूक्त का अर्थ लिखने से प्रयोजन नहीं। इस लिये हम केवल उसके सतने भाष्य

॥ देखो यजुर्वेद ३१, ऋग्वेद १०-९०, आयुर्वेद १८-६। १६ मन्त्र हैं कुल पाठ भेद भी हैं ॥

को और संकेत करेंगे कि जितना हम मन्त्र की व्याख्या से समझ सके रहता है ॥

मन्त्र १ से सं० ४ तक यह वर्णन है कि ईश्वर इस जगत् का स्रष्टा और सर्वव्यापक है, उस की संहिता अनन्त और अपार है। इन के पश्चात् इन जगत् की सृष्टि का वर्णन है। प्रथम ईश्वर ने प्रकृति का, जि को प्रलय की अवस्था में अविज्ञेय और अलक्ष्य दशा में थी, प्रादुर्भाव किया। तब उस में से पृथिवी और अन्य लोक रचे (सं० ५)। इन के पश्चात् मन बनेक वस्तुओं की रचना का वर्णन किया गया है जो इन पृथिवी पर पाई जाती हैं। प्रथम जगत्स्रति और विविध जीव जन्तु रचे गये—

तस्माद्यज्ञात् सर्वदुतः सम्भूतं पृषदाज्यम् ।

पृथुस्तौश्रंके वायव्यानारण्यां प्राम्याश्चये ॥ ६ ॥

अर्थ—“उस सर्वपूज्य परमेश्वर ने सब प्रकार के जनस्रति तथा रसयुक्त पदार्थों को रचा और वायु में उड़ने वाले, जङ्गलों में फिरेने वाले तथा गाँव आदि वनस्थियों में रहने वाले इत्यादि सब जन्तुओं को रचा (सं० ६)। अन्त में मनुष्य रचे गये—

तं युज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं ज्ञानमग्रतः

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

अर्थ—“उसी परमात्मा ने मनुष्यजाति को, जिस में उस सर्वपूज्य और सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक परमात्मा को हृदय में धारण करने वाले अनेक विद्वान् साध्वी और ऋषि हैं, रचा” (सं० ९)। हमारे हिन्दू भाई इस मन्त्र में विराट्कृत से ईश्वर का वर्णन मानते हैं, परन्तु वास्तव में यहां मनुष्यजाति रूपको नङ्कार द्वारा एक पुरुषवत् वर्णन की गई है, किन्तु बिना सूक्ष्मदृष्टि से देखे और विचारे अङ्कार समझ में नहीं आता। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि “मल्ल अनेक पुरुष और स्त्रियों के समूह में और एक पुरुष के शरीर में, जिस में शिर, भुजा आदि कई प्रकार के अङ्ग होते हैं, क्या उपमा हो सकती है?” यह प्रश्न स्वभाव में हर मनुष्य के हृदय में उठाना हो सकता है और हम लिये वेद में भी यह प्रश्न इस प्रकार उठाया गया है कि—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।

मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमुरूपादा उच्येते ॥ १० ॥

वर्धे - " जिन पुरुष का विधान किया और जिनको कई प्रकार के भक्षणों वाला कल्पना किया-उन का शिर क्या है ? भुजा क्या हैं ? और गङ्गा और पाँव क्या कहलाते हैं ? (मं० १०) । इसी मन्त्र के उत्तर में अगला मन्त्र कहा गया है कि-

**ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः**

**ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायन् ॥ यजु ३१।११**

अर्थ - " ब्रह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है जो वैश्य हैं, वह उस की गङ्गा है और शूद्र उस का पाँव उत्पन्न किया गया है । मन्त्र ८ में मनुष्यजाति पुनर्ब्रह्म से वर्णन की गई है । मन्त्र १० में यह प्रश्न किया गया है कि उस पुरुष के अङ्ग क्या हैं ? उस का शिर क्या है ? उस की भुजा क्या हैं ? इत्यादि । मन्त्र ११ में उत्तर दिया गया है कि ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रक्रम से उस मनुष्यज-तिरूप पुरुष के शिर भुजा गङ्गा और पाँव हैं । अब इन मन्त्रों में किसी प्रकार जन्म से वर्णन सिद्ध नहीं होता ॥

**पृथिव्यादि लोक भ्रमण ।**

द० ति० भा० पृ० २५८ पं० १८ से-

समीक्षा स्वामी जी पर बिना ही अंग्रेजी पढ़े बहुत कुछ अंग्रेजी विद्या का अन्तर है, सोचने की दान है यदि पृथ्वी घूमती होती तो जिस प्रकार यह सारह राशियों में घूमते हैं उसी प्रकार पृथ्वी भी राशियों में घूमती और इस की यह में संख्या भी होती और यदि लोक घूमने ही से स्थिर रहते तो ध्रुव का तारा नहीं घूमता इस बात को समी मानते हैं और इसी कारण उस का नाम ध्रुव है कि जो वह घूमता नहीं तो ध्रुवतारा भी गिर पड़ना चाहिये तथा और भी तारागण हैं जो नहीं घूमते वे भी गिर पड़ें तो यह आकाश शून्य होनाय इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि जो नहीं घूमते हैं वे गिर पड़ें और जो पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है वी गर्भवियों के दिनों में सूर्य के निकट होने से यत्किंचित् सूर्य बड़ा दृष्टि जाना चाहिये सो ऐसा भी नहीं होता और राई का जो दृष्टान्त दिया है जो भी अशुद्ध है क्योंकि आप में लिखा है कि राई को पहाड़ के सामने घूमते देर लगती है यह कहना ही हास्यपूर्ण है आप ने सूर्य की पृथ्वी से लाखगुणा बड़ा कहा और करोड़ों कोस दूर माना है देर तो अब लगे अब राई के सामने घूमता चढ़े और राई को लाखगुणा पहाड़ नहीं हो सक्ता यदि राई को चावल की बराबर हो

मान लें भी तोला शर राई में ६१४३ दाने हुए तो १३ ही तोले में १०३५२८ लाख से भी अधिक दाने हो जायेंगे जिन का बोझ पाचसर का भी नहीं हो सका। इस कारण राज पर्वत का दृष्टान्त सम्पूर्णतः अशुद्ध है फिर एक पृथ्वी ही तो नहीं अनेक ब्रह्माण्डों में यही सूर्य प्रकाश करता और दूर होने से क्या परमात्मा के प्रताप से अधिक वेग से गमन करता है क्योंकि (सूर्य एताकी चरित) और (द्विरपययेन सविनारथेन देखो याति भुवनानि पश्यन्) अर्थात् "सूर्य असहाय चलता है" सुवर्ण के रथ में सूर्य देवताओं को देखते जाते हैं यह यजुर्वेद वाक्य है जिस से सूर्य का लोगों के चारों ओर घूमता सिद्ध होता है और पृथ्वी चलती होती तो एक मिनट में ७ $\frac{1}{2}$  मील पृथ्वी घूमती है पृथ्वी का व्यास अंग्रेज़ी १२००० मील का लिखा है स्वामी जी ने लिखा तो नहीं पर उन्हें केना माना होगा और जो अधिक मानेंगे तो अधिक ही चाल होगी इन हिमाचल जब घटते शर में ५०० मील पृथ्वी घूमती है तो जो कछुवर सवरे को चढ़ते हैं और दुबहर को जाते हैं तो वे घट पर न आने चाहियें क्योंकि छः घट शर में पृथ्वी ३००० मील निकल जाती है ॥

प्रत्युक्त-यदि कोई पुत्र वेद और ऋषियों के ज्योतिष ग्रन्थ न भी पढ़ा हो, कुछ मंदर में ही भूगोल खगोल पढ़ा हो तो ऐसी ऊतपटांग शङ्का नहीं कर सका। इन शङ्काओं का उत्तर देना प्रत्येक मंदर से केलहुके को जाता है हमलिये यहां विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु संक्षेप से लिखते हैं। आप कैसे जानते हैं कि पृथ्वी १२ राशियों में नहीं घूमती, पृथ्वी आवश्यक पड़ है। भूव के देगभेद न जान पड़ने का कारण उस की दूरी की अधिकता है। इमी मोटे विचार पर उस का नाम भूव रखवा गया है। तारा कोई ऐसा नहीं जो कम से कम अपने स्थान में ही न घूम, इसी से गिर नहीं सकता, तथा भाकर्षण के कारण भी। गर्मियों में सूर्य की सीधी किरण पड़ना तो सब कोई मानता है परन्तु उस का पृथ्वी के समीप हो जाना मानना आप का हास्यास्पद और पुराणों के भी विरुद्ध है। पर्वत और राई का दृष्टान्त ठीक तोल लगा कर नहीं परन्तु अत्यन्त छोटे बड़े मात्र सम्बन्ध को दिखाने के लिये है। अहां। आप ने हिमाचल कहां पढ़ा है। ८ चावल की १ रत्ती ८ रत्ती का १ माना, १२ मासे का १ तोला, इस से तो १ तोले के ७६८ चावल हूबे। आप ने तोला शर राई में ६१४३ लिख मारे। इमी ज्ञान पर भूगोल खगोल को समझना चाहते हो। और स्वामी जी का खखन ॥

(सूर्य एकाकी चरति) का अर्थ सूर्य का चलना तो है, परन्तु अपने ही स्थान में चलना भी तो चलना कहाता है और (हिरण्यये०) इस मन्त्र में (याति) पद से जो चलना मागते हैं सो भी अपने ही स्थान में चक्कर मारना मानने से कोई दोष नहीं रहता। लोकों के चारों ओर घूमना इस मन्त्र में किसी पद का अर्थ नहीं। पृथिवी का व्यास १२०० मील न तो स्वामी जी ने लिखा न, योरप वाले मानते हैं। आप ने कुछ देखा साला तो है नहीं, गटर मारसी। योरपवाले पृथिवी को परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील मानते हैं और हमारे ज्योतिष शास्त्र में यह लिखा है कि—

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयः ।

तद्व्यासः कु भुजङ्गसायकभुव्रोऽथ प्रोच्यते योजनैः ॥

( सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्यय )

पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन अर्थात् ५ मील का योजनमाने तो २४८३५ मील और व्यास १५८१ योजन=७९०१ मील होता है, परन्तु ५२ $\frac{1}{2}$  मील का १ योजन मानें तो योरपवासियों और यहां के ज्योतिषशास्त्र में समता आ जाती है। इस लिये आप का लिखा १ घण्टे में ५०० मील पृथिवी का घूमना गिरा अज्ञान है। पृथिवी अपने ऊपर के जल और ४९ मील वायुमण्डल को लपेटे हुये घूमती है, इस से कबूतरआदि जो वायु के भीतर हैं और समुद्र जो कि वायु के भीतर है, इन की अस्तव्यस्तता की शक्ती ठपथ है। अन्न वेदादि के अनुसार पृथिव्यादि का घूमना सुनिश्च—

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।

हिरण्ययेन सविता रथेन देवोयाति भुवन्नानि पश्यन् ॥

( ऋ० १ । ३५ । २ और यजु० ३० ३३ सं० ४३ )

अर्थ—(सविता देवः प्रकाशस्वरूप सूर्य ( आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः ) आकषण गुण के साथ वर्त्तमान ( मर्त्यं निवे० ) लोक लोकान्तरीं को अपनी २ कक्षा में स्थित करता हुआ ( अमृतं च ) और सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप दृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश

कराता हुआ भीर ( हिरण्ययेन रथेन \* ) प्रकाशमय भीर रमणीय स्वरूप से ( भुवनानि ) पृथिव्यादि लोकों को ( पश्यन् ) प्रकाशित करता हुआ ( याति ) अपनी धुरी पर घूमता है । यथा हि—

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।

आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥

( ऋ० ८ । १२ । ३० )

अर्थ ( यदा ) जिस समय [ परमेश्वर ने ] ( अमुम् ) इस ( शुक्रं ज्योतिः ) अगस्त तेजोमय प्रकाशस्वरूप ( सूर्यम् ) सूर्य को ( दिवि ) आकाश में ( अधारयः ) रच कर धारण किया ( आदित् ) तभी ( विश्वा भुवनानि ) पृथिव्यादि सब लोक ( येमिरे ) नियमपूर्वक अर्थात् सूर्य को आकर्षण शक्ति से अपनी २ कक्षा में विचरे ॥

इस प्रकार से भूमि अपनी कक्षा में स्थित होकर सूर्य की परिक्रमा करती है । यथा हि—

या गौर्धत्तं नि पय्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।

सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुपे देवेभ्यो दाशद्विषा विवस्वते ॥

ऋ० १० । ६५ । ६ ॥

अर्थ—( या गौः† ) जो पृथिवी ( अवारतः ) गिरन्तर अर्थात् सदा ( पयो दुहाना ) अन्न, रस, फल, फूल आदि पदार्थों से प्राणियों को पूर्ण करती तथा ( व्रतनीः ) अपने नियम का पालन करती ( प्रब्रुवाणा ) परमेश्वर की महिमा का उपदेश करती ( दाशुपे वरुणाय ) दानी भीर श्रेष्ठ जन को ( देवेभ्यः ) भीर विद्वानों को ( हविषा दाशत् ) अनेक कुछ देती ( वत्तनिम् ) अपनी कक्षा रूप मार्ग में ( विवस्वते ) सूर्य के ( पय्येति ) चारों ओर घूमती है ॥

\* रथ=रमणीय । निरु० अ० १ ख० ११ ॥ उणा० २ । २ ॥

† पृथिवी का नाम निघं० । १ में “गौः” है, जिस का अर्थ “गच्छतीति गौः” जो चलती है सो गौः ( भूमि ) है । इस से भी सिद्ध है कि आर्यलोग भूमि का चलना जानते थे ॥

पृथिवी केवल सूर्य के चारों ओर ही नहीं घूमती किन्तु साथ ही साथ अपनी ( अक्ष ) कीली पर भी घूमती है, जैसे लट्टू अपनी कीली पर भी घूमता है और अपनी जगह से भी हटता है और जैसे गाड़ी का पहिया अपनी धुरी पर घूमता है और साथ ही साथ सड़क पर भी घूमता जाता है । इस में प्रमाण यह है—

**आयं गौः पृथिवीरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्तस्वः ॥**

( अ० अ० ८ अ० ८ व० ४७ और यजु० अ० ३ मं० ६ )

अर्थ—( अयम् ) यह (गौः) पृथिवीलोक ( मातरम् \* ) जल को ( असत्. ) प्राप्त होकर अर्थात् जल के सहित ( पृथ्विः ) अन्तरिक्ष में ( आक्रमीत् ) आक्रमण करता है अर्थात् अपनी धुरी पर घूमता है । (च) और (पितरम्†) सूर्य के भी (पुरः प्रयन्) चारों ओर घूमता है ॥

इस विषय में बहुत सानुष्य कई प्रकार की शङ्का किया करते हैं । जैसे—  
प्रश्न—यदि पृथिवी चलती है तो हिलती क्यों नहीं ?

उत्तर—न हिलने का ती कारण स्पष्ट है । देखो गाड़ी जब ऊँची नीची जगह में चलेगी तो साफ सड़क की अपेक्षा अधिक ढिलेगी और सड़क की अपेक्षा पानी पर नीका में कम हाल लगती है और बिमान में, जो हवा में चलता है, नीका से भी बहुत कम हाल लगती है तो ऐसी जगह में चलने से कि जहाँ हवा भी नहीं है, पृथिवी कैसे हिल सकती ॥

प्र०—अच्छा, यदि पृथिवी चलती है तो सब नगर ग्राम जहाँ के तहाँ क्यों बने रहते हैं, हट क्यों नहीं जाते ?

उ०—वाह अच्छी शङ्का की । चलने क्रिमे को तो हम तुम भी चलते क्रिमे हैं तो क्या हमारी तुरहारी शांख नाक जो मुख पर हैं पीठ पर आ

\* यहाँ जल को अलङ्काररूप में पृथिवी की माता कहा है । यथाह—  
**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी इत्यादि ॥ तैत्ति० उ० ॥**

† यहाँ सूर्य को अलङ्काररूप से पृथिवी का पिता कहा है क्योंकि सूर्य ही से पृथिवी की ( अपनी कक्षा में ) स्थिति, सन्तुष्टों का जीवन, वर्षा, वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है ॥

जाती हैं ? यदि भूमि का कुछ भाग चलता और कुछ न चलता तो अवश्य नगर और ग्राम हट जाते, परन्तु यह भूगोल तो सब चलता है, फिर नगर और ग्राम वहीं बने रहेंगे कि जहां वे स्थित हैं। जैसे यदि एक गेंद पर कुछ बिन्दु बना दिये जाय और वह गेंद घुमादी जाय तो वे बिन्दु वहीं बने रहेंगे जहां हमने बनाये थे ॥

प्र०—यह तो मैं समझा, परन्तु पृथिवी चलती हुई प्रतीत क्यों नहीं होती ?

उत्तर—कुलालचक्रममिवामगत्या यान्तो न कीटा

इव भान्ति यान्तः ॥ सिद्धान्तशिरोमणि ॥

अर्थ—जैसे कुम्हार के घूमते हुए चक्र ( चक्र ) पर बैठे हुए कीड़े उस की गति को नहीं जान सकते, ऐसे ही मनुष्यों को पृथिवी चलती हुई नहीं प्रतीत होती है। अन्यच्च—भार्यभट्टीये—

अनुलोमगतिर्नैस्थः पश्यत्यचलं विलोमं यद्वत् ।

अचलानि भान्ति तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायामिति ॥

अर्थ—जैसे नौका में बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर वस्तुओं को दूसरी ओर से चलते हुए देखता है ऐसे ही मनुष्यों को सूर्यादि नक्षत्र जो स्थिर हैं, पश्चिम की ओर से चलते हुए दीखते हैं और पृथिवी स्थिर प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में भूमि ही चलती है ॥

सन् १५४३ ई० तक यूरपवासी भी यही मानते रहे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्यादि सब तारागण पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं, परन्तु पूर्वाक्त वेद मन्त्रों से सिद्ध है कि आर्यलोग सृष्टि की आदि से ही ( क्योंकि वेदों का प्रकाश आदि सृष्टि में हुआ था ) जानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य पृथिवी की अपेक्षा स्थिर है (जैसा 'भार्यभट्ट' के उक्त वचन से भी सिद्ध होता है) सूर्य का उदय अस्त और दिन रात होने का कारण भी पृथिवी का अपनी कीली पर घूमना है अर्थात् यह भूगोल २४ घण्टे ( ६० घड़ी ) में एक बार अपनी धुरि ( कीली ) पर घूम जाता है, इस अन्तर में जो भाग पृथिवी का सूर्य के सामने आजाता है, वहां "दिन" और जो भाग में आजाता है वहां "रात" होती है। अन्तिमाय यह है कि सूर्य वस्तुतः चलता नहीं, भूमि के घूमने ही से उदय और अस्त होता दिखलाई देता है। इस में प्रमाद—



भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्यप्रतिदैवसिकी ।

उदयास्तमयौ संपादयति ग्रहनक्षत्राणामिति ॥ आर्यभट्ट ॥

( अर्थ ) सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही खेर २ अपनी धुरी पर घूम कर प्रतिदिवस इन के उदय और अस्त का संपादन करती है ॥ अन्यथा—  
अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिरेव तदन्तमित्वा अ-  
थात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् ॥  
सवा एष न कदाचन निमोचति । न ह वै कदाचननिमोचति ॥

एतरेय ब्राह्मण,

( अर्थ ) सूर्य न कभी छिपता है और न निकलता है, जब वह रात्रि के अन्त को प्राप्त होकर बदलता है अर्थात् भूमि के घूमनेके कारण पश्चिम से फिर पूर्व में दिखलाई देता है, और पृथिवी के इस भाग में दिन और दूसरे भाग में रात्रि करता है, तब लोग सूर्य का “उदय” मानते हैं । इसी प्रकार जब दिन के अन्त को प्राप्त होकर सूर्य पश्चिम में दिखलाई देता है और भूमि के इस भाग में रात्रि और दूसरे भाग में दिन करता है, तब लोग सूर्य का “अस्त” मानते हैं । वास्तव में न वह कभी छिपता है, न निकलता है ॥

जानना चाहिये कि ये सब तारागण जो रात्रि समस्त आकाश में घूम-  
कते हुए दिखलाई देते हैं तीन प्रकार के हैं—( १ ) “नक्षत्र” Fixed Stars जो ग्रहों में प्रकाश और चणता पहुंचाते हैं और अपनी आकर्षण शक्ति से उन्हें अपनी कक्षा में स्थित रखते हैं । ( २ ) “ग्रह” Planets जो किसी नक्षत्र के चारों ओर घूमते हैं । और ( ३ ) “उपग्रह” Satelites जो ग्रहों की परिक्रमा करते हैं । इस में से “नक्षत्र” जैसा कि पूर्वाक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ, स्थिर हैं अर्थात् किसी लोक लोकान्तर के चारों ओर नहीं घूमते परन्तु अपनी धुरी पर सदा घूमते रहते हैं । यथाह—वि० शि० गणितारम्भ के सृष्टा भषक्रकमलोद्भवेन ग्रहैः सहैतद् भगणादि संस्थैः ।  
ग्रहद्वयमे विश्वसृजोनियुक्तं तदन्ततारे च तथा ध्रुवतवे ॥

( अर्थ )—सर्वजगद्भूषापी परमेश्वर ने प्रत्येक नक्षत्र को रक् कर, अपनी कक्षा में स्थित ग्रहों के साथ निरन्तर घूमण से नियुक्त किया है । और

प्रत्येक भपञ्जर (तारों के समूह) के उत्तर और दक्षिण अन्त में एक २ ध्रुव नियतकिया है जो स्थिर है अर्थात् केवल अपनी धुरी वा ही घूमता है ॥

इस के अनुसार सूर्य, पृथिव्यादि ग्रहों के मध्य में केन्द्र के समान स्थित हुआ सदा अपनी कीली पर घूमता रहता है, और पृथिव्यादि ग्रह चन्द्रमा आदि उपग्रहों के साथ उस की परिक्रमा करते रहते हैं। वास्तव में ये सब तारे पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण पूर्व से पश्चिम की ओर जाते दिखलाई देते हैं। इस में प्रमाण—

ततो “ऽपराशाभिमुखं” भपञ्जरे सखेचरे “शीघ्रतरे” भ्रमत्यपि ।

“तदल्पगत्येन्द्रदिशं” नभश्चराश्चरन्ति नीचोच्चतरात्मवर्त्मसु ॥

( सि० शि० गणिताध्याये )

(अर्थ) — यद्यपि सब तारागण अपने २ ग्रहों के साथ ‘शीघ्रगति से’ ‘पूर्व से पश्चिम की’ घूमते दिखलाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः सब ग्रह ‘अल्पगति से’ अपनी २ कक्षा में ‘पश्चिम से पूर्व की’ चलते हैं ॥ अन्यच्च—

भञ्जजरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन ।

यान्तो भचक्रे ‘लघुपूर्वगत्या, खेटास्तु तस्या ‘परशीघ्रगत्या’

( सि० शि० )

( अर्थ ) प्रवह शक्ति Force Of Inertia के कारण सब तारागण सहित ग्रहों से सदा घूमते रहते हैं। ये सब ‘लघुगति से पूर्व की ओर की, घूमते हैं, परन्तु ‘शीघ्रगति से पश्चिम की, जाते हुये दिखलाई देते हैं ॥

इस विलोम गति ( अर्थात् ग्रहों के पश्चिम की ओर जाते हुये दीखने ) का कारण भूमि का अपनी धुरी पर घूमना है। जैसे रेलगाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य सहक के किनारे की चरदी ओर की दीड़ते हुये देखता है। और—  
अनुलोमगतिनौस्थः पश्यत्यवलं विलोमगं यद्वत् ।

अचलानि भान्तितद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायामिति ॥ आर्यभट्ट

( अर्थ ) जैसे नौका में बैठे हुये मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अवल (ठहरी हुई) वस्तुएँ चलती ओर की चलती हुई दिखलाई देती हैं, ऐसे ही पूर्व की ओर चलती हुई पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों की अवल (स्थिर) तारे भी पश्चिम की ओर जाते हुये दिखलाई देते हैं ॥

यदि सब ग्रह उपग्रह भी सूर्यवत् स्थिर होते तो सब तारागण सूर्य की भांति २४ घण्टे में पश्चिम की ओर को जाते हुए पृथिवी की पूरी परिक्रमा करते दिखाई देते। परन्तु ये कुछ (अल्प गति से "पूर्व की ओर को" भी चलते हैं, इस लिये पूरी परिक्रमा नहीं कर सकते वरग उतनी कम करते हैं कि जितना पूर्व को चलते हैं ॥

(उदाहरण चन्द्रमा २९ $\frac{1}{2}$  दिन (दो पक्ष) में पृथिवी की परिक्रमा करता है अर्थात् एक दिन में  $2 = \frac{2}{1}$  भाग अपनी कक्षा का तै करता है। (यही २९ $\frac{1}{2}$

इस की 'अल्पगति' है) अब यदि चन्द्रमा स्थिर होता तो (पूर्व की प्रमाणी से पश्चिम की ओर चलते हुए एक दिन में भूमि की परिक्रमा करता हुआ दिखाई देता, परन्तु उक्त यथार्थ से यह  $\frac{2}{1}$  भाग अपनी कक्षा का पूर्व की ओर तै करता है। परिमाण इन दोनों का यह हुआ कि चन्द्रमा  $2\frac{1}{2} = \frac{5}{2}$  भाग अपनी कक्षा का तै करता हुआ दिखाई देता है (यही चन्द्रा की 'शीघ्रगति' है) इसी कारण एक तिथि की चन्द्रमा जिस समय जहाँ दिखाई देता है, अगलेदिन उसी समय उस से  $\frac{5}{2}$  भाग ऊपर दिखाई देता है और इसी प्रकार बढ़ते २२ $\frac{1}{2}$  दिन (दो पक्ष) के पश्चात् एक चक्र पृथिवी का पूरा करके फिर वही दिखाई देता है। जहाँ पहिली तिथि को देखा था ॥

आश्चर्य इस सब का यह है कि-यद्यपि चन्द्रमा (अल्पगति) से (अर्थात् प्रतिदिन अपनी कक्षा का  $\frac{2}{1}$  भाग तै करने के हिसाब से) 'पूर्व की ओर, चलता है, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण से पश्चिम की ओर शीघ्रगति से (अर्थात् प्रतिदिन  $\frac{5}{2}$  भाग तै करने के हिसाब से) चलता हुआ दिखाई देता है। ऐसे ही अन्य ग्रह उपग्रहों के विषय में जानो ॥

आय ने जो (आयंगीः) इस मन्त्र का अग्निदेवता बता कर अग्निपरक अर्थ किया तो महीधर का अर्थ कर्मकाण्ड में नियुक्त अग्निपरक रहो, परन्तु महीधर ने ही इस ऋचा की "सर्पराज्ञी" संज्ञा लिखी है। यथा—

आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सर्पराज्ञीति  
नामधेयम् । सर्पराज्ञी कद्रुः पृथिव्यभिमानिनी ॥

इस से विदित होता है कि पृथिवी का वर्णन महीषर के हृदय में श्री  
इस मन्त्र का भाष्य करते समय उपस्थित था ॥

६० ति० भा० पृ० २६२ में ( येन दीरुग्रा पृथिवी च दूढा० ) इस मन्त्र में  
आये "दूढा" पद से पृथिवी की अचलता सिद्ध की है ॥

प्रत्युत्तर-दूढ का अर्थ पुष्ट वा ठोस है, अचल नहीं। अचल श्री माने  
ती अपनी सयोदा से विचलित न होना ही अचला का अर्थ है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्याष्टमसमुल्लास  
मखण्ड, ६० ति० भास्करस्य च खण्डनं नामाष्टमः समुल्लासः ॥ ८ ॥

## अथ नवमसमुल्लासमण्डनम्

### मुक्तिप्रकरणम्

६० ति० भा० पृ० २६३ पं० २ से-स्वामी जी ने इस समुल्लास में मुक्तिसे  
जीव का लौटना लिखा है प्रथम इससे कि मुक्तिके विषय में कुछ लिखें यह  
भी दिखा देना अवश्य है कि स्वामी जी ने भाष्यभूमिका पृ० १११ और ११२  
आर्याभिनय पृ० १६, ४२, ४५ वेदान्तिप्रशान्तनिवारण पृ० १० । ११ वेदविरुद्धमत-  
खण्डन पृ० १५ सत्यधर्मविचार पृ० २५ में यह लिखा है कि मुक्ति कहते हैं छूट  
जाने को अर्थात् जितने दुःख हैं उन से छुटकर एक सच्चिदानन्द परमेश्वर को  
प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना और फिर जन्म मरणादि दुःख सागर में  
नहीं गिरना इसी का नाम मुक्ति है फिर न मालूम कौन से कारण से मुक्ति  
से लौटना मानलिया सो वही विषय लिखा जाता है स० पृ० ११३ पं० १३  
(प्रश्न) बंधनोक्त स्वभाव से होता है वा निमित्त से (उत्तर) निमित्त से क्योंकि  
जो स्वभाव से होता ती बंधनोक्त की निवृत्ति कभी नहीं होती ॥

समीक्षा स्वामी जी को घर का मार्ग भी विस्मृत हो गया, जब कि  
बन्धनोक्त निमित्त कारण से होता है तो जब निमित्त मोक्ष हुई तो फिर  
कौन से निमित्त से उसे जन्म लेना पड़ेगा इस से तो यही सिद्ध होता है कि  
उस का जन्म नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-वेदभाष्यभूमिका, आर्याभिनय, वेदान्तिप्रशान्तनिवारण,  
वेदविरुद्धमतखण्डन, सत्यधर्मविचार और अन्य स्वामीजी कृत ग्रन्थों में जहाँ-  
यह लिखा है कि मोक्ष सदा के लिये होता है, फिर जन्म मरणादि दुःख

नहीं होते। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जोल सीमाबद्ध नहीं वा अनन्त काल के लिये है। किन्तु जैसे कोई मनुष्य २५ वर्ष की अवस्था में तपोवन के लिये चला जावे और कहे कि मैं सदा वहीं रहूंगा, कभी लौट कर नहीं जाऊंगा, सदा तपोवन के कन्द मूलादि खाऊंगा और सदा आनन्द ही मना-ऊंगा तो उस का यह तात्पर्य नहीं होता कि वह अनन्त काल तक तपोवन में रहेगा वा अनन्त काल तक लौट कर नहीं आवेगा वा अनन्तकाल तक कन्द मूल खायेगा अथवा अनन्तकाल तक उस आनन्द में रहेगा। किन्तु यह तात्पर्य है कि वह इस जन्म भर लौट कर नहीं आवेगा और इस जन्म भर कन्द मूलादि खायेगा तथा इस जन्मभर उस आनन्द में रहेगा परन्तु इस शरीर के पश्चात् उस का तपोवन में रहना, कन्द मूलादि खाना इत्यादि बातें सदा शब्द से विवक्षित नहीं हैं। इसी प्रकार मुक्तात्मा भी सदा आनन्द में रहेगा। फिर लौट कर नहीं आवेगा। इस कथन का तात्पर्य भी अनन्तकाल के लिये वा निरवधिक नहीं है। किन्तु मोक्ष की आयुःपर्यन्त से तात्पर्य है ॥

४० ति० भा० पृ० १६४ पं० ३ से-यह सिद्ध करने के लिये कि मुक्त जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, दो प्रमाण दिये हैं जो कि ये हैं-

न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत् ॥  
छां० अत्र पिताऽपिताभवति माताऽमाता लोकाअलोका  
देवाअदेवा वेदाअवेदाः। अथ यत्र देवइव राजेवाहमेवेद  
थ्सर्वोस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ बृह० उ०

प्रत्युत्तर-पहले वाक्य का तो यहअर्थ है कि ब्रह्म एक है दूसरा नहीं है कि जिस को मुक्त जीव उस एक ब्रह्म से पृथक् देखे। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि मुक्त जीव से ब्रह्म द्वितीय नहीं, किन्तु एक ब्रह्म से द्वितीय ब्रह्म नहीं है। दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि जोल में पिता, माता, लोक-विशेष, देवविशेष, और वैदिक कर्मकाण्डविशेष नहीं रहता और जहां देव-तामों वा राजाओं के समान यह जीवात्मा सागता है कि सब में ही हूं, वह इस का परमलोक वा ब्रह्मलोक है। इस का भी यह तात्पर्य नहीं कि सब कुछ ब्रह्म वा मुक्तात्मा ब्रह्म है। किन्तु स्पष्ट राजा का बृहन्त दिया है कि जिस प्रकार राजा अपनी सम्पूर्ण सेनासहित किसी दूसरे के देश पर आक्र-

मण करे और कहे कि मैंने इस का विजय कर लिया तो जिन प्रकार घघाये में यह तात्पर्य नहीं होता कि केवल राजा ही ने अपने शरीर मात्र में उस देश का विजय किया हो, किन्तु ( मुख्यामुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः ) अर्थात् मुख्य और अमुख्य में केवल मुख्य की गणना होती है अमुख्य की नहीं। तदनुसार सेनादि सब मिल कर मुख्य राजा समझा जाता है। इसी प्रकार मुक्तत्वा का भी पूर्वोक्त कथन " अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति " समझो ॥

सत्वाधेप्रकाश में जो ( शृण्वन् श्रोत्रं भवति० ) इत्यादि वाक्य शनपथ काण्ड १४ से मोक्ष में सत्यसंकल्प से सब कुछ निष्ठि लिखी है उस पर १० ति० भा० पृ० २६५ में यह लिखा है कि स्वामी जी का यह कहना तो ठीक है कि मोक्ष में शरीर नहीं रहता किन्तु अपनी शक्ति वा सत्यसंकल्प मात्र से आनन्द भी भोगता है। और भौतिक पदार्थ का सङ्ग नहीं रहता। परन्तु जो श्रुति प्रमाण लिखी है, सो मोक्षप्रकरण की नहीं है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—अस्तु, स्वामी जी जिन विषय को प्रतिपादन करते हैं, वह तो आप को स्वीकार ही है, रहा श्रुति का प्रकरणभेद सो यदि आप के कथनानुसार ही मानलिया जाय तो भी स्वामी जी के प्रतिपाद्य विषय में दोष नहीं आता ॥

१० ति० भा० पृ० २६६ में—

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति० इत्यादि ॥ यद्वै तन्न वदति । वदन् वै तन्न वदति० इत्यादि ॥ यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन् वै तन्न शृणोति० इत्यादि । बृह० उ० ६ ब्रा० ३ कं १-७

लिख कर अर्थ लिखा है कि—मुक्ति को प्राप्त हो कर न वह संचता है वह संचता हुआ भी नहीं संचता ( क्योंकि ) संचने वाले को सुगन्धि से विपरिलोप—( विभक्तता ) नहीं है० इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर— आप के लिखे वाक्यों का यह तात्पर्य नहीं है कि मोक्ष में संचना, चखना, खोलना, सुनना, मानना, जानना; इत्यादि आत्मा में सामर्थ्य नहीं रहता। किन्तु जैसा स्वामी जी कहते हैं कि बिना शरीर के ही और बिना भौतिक इन्द्रियों के ही जीवात्मा सब कुछ सामर्थ्य रखता है। ऐसा ही इन वाक्यों का तात्पर्य है कि वह कुछ नहीं संचता अर्थात् संचता हुआ भी वह कुछ नहीं संचता, क्योंकि संचने वाले और सुगन्धि में

देशभेद नहीं रहता किन्तु वह हर एक देश में हर एक वस्तु में भीतर पहुँच सकता है, तब जैसे देहबन्धन वाले जीवात्मा जब किसी वस्तु को सूँघते हैं वा चखते हैं वा सुगते हैं वा अन्य कोई विषय ग्रहण करते हैं, तब उस २ विषय के भिन्न देश होने से जीवात्मा मन से, मन इन्द्रियों से, इन्द्रियां विषय से, संयुक्त होती हैं। किन्तु आत्मा विषयों से साक्षात् ही संयुक्त नहीं होता। इस लिये मुक्तात्मा का सूँघना, चखना, देखना आदि विषय बद्धात्माओं के समान नहीं। इसी से यह कहा गया है कि मुक्तात्मा सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, चखता हुआ भी नहीं चखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। इत्यादि। इससे यह सिद्ध नहीं हुआ कि मुक्तात्मा यथार्थ में देखता, सुनता, चखता आदि नहीं किन्तु बद्धात्माओं के समान सुगन्धि और दृश्य आदि विषय मुक्तात्मा को दूर वा अप्राप्त नहीं रहते किन्तु सब समीप और प्राप्त हो सके हैं॥

सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७ में—

अभावं वादरिराह ह्येवम्।१।भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् २

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽनः ॥ ३ ॥

इन तीन सूत्रों से स्वामी जी ने लिखा है कि वादरि आचार्य मुक्ति में मन आदि का अभाव मानते हैं। और जैमिनि भाव मानते हैं। तथा वादरायण (व्यास) दोनों बातें मानते हैं। इस पर १० ति० ता० पृ० २६ में उल्लेख दिया है कि स्वामी जी ने सब पदों के अर्थ नहीं किये और अभाव का तात्पर्य श्रुत्यनुकूल मन आदि का अभाव नहीं है। सो श्रुति भागे लिखेंगे॥

प्रत्युत्तर—भाषणे भी श्रुति भागे कहीं नहीं लिखी। स्वामी जी ने सुगम होने से प्रतिपद का अर्थ नहीं लिखा था परन्तु प्रत्येक शब्द का अर्थ करने पर भी स्वामी जी के तात्पर्य से किरुद्ध अर्थ नहीं होता। सुनिये—

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥

( वादरिः ) पराशर जी ( एवम् ) इस प्रकार ( हि ) मिश्रण ( मत्तावम् ) मोक्ष में मन आदि का अभाव ( नाह ) कहते हैं ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥

( जैमिनिः ) जैमिनि जी ( विकल्पामननात् ) विकल्प जो मन का धर्म है उस के सुगने से ( तावम् ) मन आदि का भाव मानते हैं ॥

## द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

(अतः) इस कारण (वादरायणः) व्यास जी (द्वादशाहवत्) द्वादशाहयज्ञ के समान ( उभयविधम् ) दोनों प्रकार मानते हैं । तात्पर्य यह है कि भाव और अभाव तथा भावाऽभाव दोनों मानने में विरोध इस लिये नहीं रहता कि भीतिज अपवित्र मन आदि का अभाव और शुद्ध संकल्प मात्र से मन आदि का भाव मानने से भाव या अभाव या दोनों का मानना ठीक है ॥

जब बतलाइये कि स्वामी जी के लेख से पदार्थ को क्या विरोध है ? और आप भी तब आगे ६० ति० भा० पृ० २७१ में कहेंगे कि—

सङ्कल्पादेव तु तच्चेतः । शा० अ० ४ पा० ४ सू० ८ स  
यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समु-  
त्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते । अथ यदि  
मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति  
तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥

आचार्य भी पृष्ठ २७२ में आप ही ने लिखा है कि जो उपासक उपासना के प्रभाव से ब्रह्मलोक में प्राप्त भया है तबसे सर्व काम भांश्यवर्ग ज्ञानरूप के कारण संकल्प मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं । इत्यादि ॥ तब आप स्वामी जी के लिखे भीतिज साधनाऽभाव और सत्यसंकल्प मात्र साधनभाव में क्या शङ्का करते हैं ॥

६० ति० भा० पृ० २६९, २७० और २७१ में ( संप्रत्याविर्भावः० ) इत्यादि वेदान्तशास्त्र के ७ सूत्र और १, ४, ५, ६; इन सूत्रों पर छाण्दोग्य और लहरी-रसिक उपनिषद् के विषयवाक्य करके लिखे हैं और उन से मिट्टा किया है कि मुक्ति का एक प्रकार कैवल्य है और इन सूत्रों तथा उपनिषद् वचनों में कैवल्य नाम की मुक्ति का वर्णन है ॥

प्रत्युत्तर—उपनिषद् और वेदान्तसूत्रों में सब मुक्त पुरुषों की एक ही सी अवस्था प्रतिपादन की गई है । सालोक्य सासीक्य सायुज्य कैवल्य आदि भिन्न २ प्रकार की मुक्तियों का वर्णन कहीं भी नहीं है । आपने जिन सूत्रों तथा उपनिषद् के प्रमाण दिया है उन के असरार्थ पर भी ध्यान दीजिये तो कैवल्य नामक एक प्रकार विशेष की मुक्ति नहीं पाई जाती । सब सूत्रों और उपनिषद् वचनों का अर्थ सुनिये—



संपदाविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ शा० ४ । ४ । १ मुक्तः  
प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ आत्मप्रकरणात् ॥ ३ ॥ अविभागेन दृष्ट-  
त्वात् ॥ ४ ॥ ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ चित्ति-  
तन्मात्रेण तदात्मकरवादित्यौहुलीमिः ॥ ६ ॥ एवमप्युपन्या-  
सात्पूर्वभावादविरोधं यादरायणः ॥ ७ ॥

अर्थ- ( संपदा ) ब्रह्म को प्राप्त होकर ( स्वेन ) अपने स्वरूप से ( अवि-  
र्भावः ) प्रादुर्भाव होता है ( शब्दात् ) “परं ज्योतिरुपसंपदा स्वेन रूपेण”  
इत्यादि शब्दप्रमाण से सिद्ध है ॥ तात्पर्य यह है कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्म  
को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो जाता है और अपने  
सञ्चित स्वरूप से प्रकट रहना है अर्थात् भौतिक देहादि आवरणों से नाच्छा-  
दित नहीं रहता ॥ १ ॥ दूसरे सूत्र में यह कहते हैं कि वह मुक्त कर्णों कह-  
लाता है-उपनिषद् में ( अस्माकञ्छरीरात्ममुत्थाय० ) अर्थात् “इस शरीर से  
पृथक् होकर,” यह प्रतिज्ञा की गई है, इस कारण शरीरबन्धन से छूटने के हेतु  
से मुक्त कहाला है ॥ २ ॥ तीसरे सूत्र में यह कहते हैं कि उपनिषद् में जो  
परंज्योतिः को प्राप्त होना लिखा है सो भौतिकज्योति से तात्पर्य नहीं है,  
किन्तु “आत्मा के प्रकरण से” यहाँ आत्मिकज्योति ही समझनी चाहिये ॥ ३ ॥  
चौथे सूत्र में यह कहा गया है कि भौतिक ज्योतिषां एकदेशीय होने से विभक्त  
अर्थात् पृथक् प्रतीत होती हैं, परन्तु यहाँ मुक्ति में जिस ज्योति को जीवात्मा  
प्राप्त होता है वह ज्योति “अविभागा” से देखी जाती है ” अर्थात् वह परं  
ज्योति जीवात्मा के सामने उस से विभक्त नहीं दीखती, किन्तु वह आत्मिक  
ज्योति जीवात्मा को अपने में व्यापक=मविभक्त दिखाई देती है । इस कारण  
वह ज्योति भौतिक नहीं समझनी चाहिये ॥ ४ ॥ पाँचवें और छठे सूत्रों में दो  
पक्ष हैं, एक जैमिनि और दूसरा जीहुलीमि का । जैमिनि यह कहते हैं कि  
मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्मज्योति से संप्रपन्न हो जाता है । क्योंकि उपनिषदों में  
उपन्यासादि देखे जाते हैं । और जीहुलीमि यह कहते हैं कि “चिदात्मक  
होने से केतन मात्र जीवात्मा की स्थिति रहती है ” ॥ ५ ॥ ६ ॥ एक साल्वे  
सूत्र में व्यास जी यह कहते हैं कि जैमिनि और जीहुलीमि में विरोध नहीं  
है क्योंकि उपन्यास से जैमिनि का कहना ठीक है और पूर्वभाव से जीहु-

लोमि का कषण भी संगत है अर्थात् जीवात्मा का पूर्वभाव चेतनमात्र था और मुक्ति में उसे ब्राह्मज्योति की महायता मिली, इस लिये मुक्ति में जीवात्मा अपने स्वरूप से भी स्थित रहा और ब्राह्मज्योति से भी सम्पन्न हो गया । जैसे- एक ज्योतिष्मान् सुवर्ण का कङ्कण महाज्योतिष्मान् सूर्य की धूप में रखता होता वह अपने स्वरूप से अपनी ज्योति को भी धारण किये हुवे होता है तथा सूर्य की बड़ी ज्योति से भी सम्पन्न होता है । वस इव दोनों बातों में विरोध नहीं है ॥ ९ ॥

अथ उपनिषद्ग्रन्थों के अर्थ सुनिये-

अशरीरोवायुरभ्रं विदुत् स्तनयितुः शरीराण्येतानि  
तदथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परमज्योतिरुपसंपद्य  
स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेवैष संप्रसादोऽस्मा-  
च्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-  
निष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ॥ छां० उ० अ० ८ खं० १२

अर्थ-जिस प्रकार अशरीर वायु, बादल, विद्युत् मेघ के शरीर इस आकाश से उठकर बड़ी ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से सम्पन्न हुवे प्रादुर्भूत होते हैं, इसी प्रकार यह सब प्रकार से प्रसन्न जीवात्मा इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है और उत्तम पुरुष कहलाता है ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स  
भूमा ॥ छां० अ० ७-न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं  
यत्पश्येत् ॥

अर्थ-जिस मुक्ति में यह जीवात्मा परमात्मा के अतिरिक्त न किसी दूसरे को देखता ग सुनता और न जानता है । किन्तु परमात्मा ही में सन्न हो जाता है क्योंकि वह परमात्मा भूमा अर्थात् सब से महान् है और उस के समान कोई दूसरा नहीं है कि जिस को यह मुक्तात्मा देखना स्वीकार करे ॥

स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीति होवाच ॥ छां० अ० ७

इस वचन का पूर्व का भाग थोड़ा आपने छोड़ दिया, पूरा वाक्य इस प्रकार है-

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा

ऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो  
यै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्  
प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति॥१॥गोअश्व-  
मिह महिमेस्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतना-  
नीति, नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्  
प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स  
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश  
एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिण-  
तोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥ अथात आत्मा-  
देश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुर-  
स्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स  
वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म-  
क्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य  
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्य-  
राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वऽकाम-  
चारो भवति ॥ २ ॥ इति पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

अर्थ-जहां मुक्त पुरुष (ब्रह्म के अतिरिक्त) न कुछ भी देखता है, न भीर  
सुनता है, न कुछ भीर समझता है, वही लोक महान् से महान् है और  
जिस लोक में एक को देख कर अन्य को देखता है, एक को सुन कर दूसरे  
को सुनता है, एक को जान कर दूसरे को जानता है, वह अल्प अर्थात् तुच्छ  
है। इस लिये जो महान् से महान् है वही असूत है और जो अल्प है वह  
मरने वाला है। ( प्रश्न ) भगवन् ! वह महान् से महान् किस में स्थित है ?  
उस का आधार कौन है ? ( उत्तर )-उस का आधार कोई नहीं, वह अपना  
आधार आप है ॥१॥ बहुत से लोग बतलाते हैं कि गौ, घोड़े, हाथी, सोना  
चांदी, गीतर, चाकर, स्त्री, खेती, हाट, हवेली ही सहिमा है, वही बड़े से

यह वस्तु हैं, परन्तु मैं तो यह नहीं कहता। मैं तो यह कहता हूँ कि इन सब वस्तुओं के भीतर व्यापक और ही एक वस्तु है जो कि महिमा है अर्थात् बड़े ने बड़ा वस्तु है ॥ २ ॥ ( २४ )

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दहिने, वही बांये, वही सब जगह जाग पड़ता है और वह परमपिता अहं शब्द ने सब मुक्त पुत्रों को जताता है कि देखो यह मैं ही हूँ। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दहिने, मैं ही बांयें, मैं ही यहां सर्वत्र हूँ ॥१॥ फिर वह रूप लु आत्मा शब्द से निर्दिष्ट करता है कि देखो यह आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दहिने, आत्मा ही बांयें, आत्मा ही सर्वत्र है। अब जब कि मुमुक्षु इसी प्रकार देखता है, इसी प्रकार मानता है, इसी प्रकार जानता है, तब उस परमात्मा ही में रति करता है, परमात्मा ही में क्रीड़ा करता है, परमात्मा ही ने जोड़ा बनाता है, परमात्मा ही से आनन्द काता है। तब स्वतन्त्र हो जाता है, मनस्त लोको में यथेष्ट विचरता है, परन्तु जो अन्यथा जानते हैं, वे परतन्त्र होते हैं, उन के देह छूटते रहते हैं, वे सब लोको में यथेष्ट नहीं विचर सकते हैं ॥२॥ (२५)

स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः ॥ दृष्टं अ० ८ ॥

अबो! यहां तो आपने स्वयं ही अपने पांव में कुड़ाही मारी है। जब कि हम श्रुति में क्रीड़ा रमण और पर्यटन लिखे हैं तब तो जीवात्मा का मोक्ष में कूटस्थ ब्रह्मभाव सर्वथा ही खण्डित हो गया क्योंकि कूटस्थ ब्रह्म देश देशान्तर में पर्यटन नहीं कर सकता। इस से अत्यन्त स्पष्ट है कि मुक्तात्मा अपने ही सच्चित् परिचित्त स्वरूप से वर्तमान रहता है, ब्रह्म नहीं बन जाता ॥

स यथा सैन्यवचनोऽनन्तरोऽद्याह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽद्याह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ॥  
दृष्टं अ० ६ ब्रा० ५ ।

अर्थ-जिस प्रकार सैन्य लवण का हला न केवल भीतर और न केवल बाहर से किन्तु समस्त रस ही रस है, इसी प्रकार अरे! ये आत्मा भी न केवल भीतर और न केवल बाहर किन्तु समस्त ही प्रज्ञानघन है ॥

अब बतलाइये कि इन सूत्रों और उपनिषद्वाचनों में कैवल्य गान की किसी विशेष मुक्ति का वर्णन कहाँ है? जब कि समस्त पदों का अर्थ ठीक १ आप के सामने उपस्थित है ॥

५० ति० भा० पृ० २३१ पं० २४ से-अगुण उपामना से ब्रह्मलोकप्राप्ति द्वारा मुक्ति निरूपाय की है। अर्थात् सालोक्य मुक्ति प्रतिपादन करने के लिये पृष्ठ २३२ और २३३ में शारीरिक सूत्र १।४।८ से १७ तक १६ पं० को छोड़कर ९ सूत्र और सूत्र संख्या ८, १०, ११ पर छान्दोग्य उपनिषद् के विषयवाक्य लिखे हैं।

प्रत्युत्तर-यद्यपि इन नवों सूत्रों में कोई पद ऐसा नहीं आया है कि जिस से किसी प्रकार से ऐसा भाव निकलसके कि सालोक्य नाम एक विशेष मुक्ति है और ब्रह्मलोक नाम कोई विशेष लोक है और उसमें सालोक्य मुक्ति पाने वाले आत्मा चले जाते हैं। जत्र कि सूत्रों में ऐसा वर्णन नहीं है तब उपनिषदों से लिये हुए विषय वाक्यों का भी वैसा तत्पर्य समझना सूल है। वह मुक्ति की किमें आपने मन से ही चढ़ली हैं। परन्तु जब तक आप के लिखे सूत्रों का पद पद का अर्थ और उपनिषद्वाक्यों का भी तात्पर्य न लिखा जावे तब तक जो भ्रम आपने अपने लम्बे चौड़े भावार्थ में अपने घर के शङ्ख जोड़कर कर चरम कर दिया है, उस की निवृत्ति कठिन है। इस लिये सब सूत्रों और विषयवाक्यों का अर्थ सुनिये-

संकल्पादेव तु तच्छुनेः ॥ शा० ४।४।८ ॥ अतएव चानन्याऽधिपतिः ॥ ९ ॥ अभावं वादरिराह ह्यत्रम् ॥ १० ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ १२ ॥ तन्वभावे सन्ध्यत्रदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ प्रदीपश्चदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥ जगद्भाषारवर्जं प्रकरणादसंनिहिततत्राच्च ॥ १७ ॥

अर्थ-(संकल्पा०) इस आठवें सूत्र और (सपदापितु शोक०) इस विषय वाक्य का अर्थ इन ऊपर पृष्ठ ३२२ में लिख चुके हैं कि मुक्तात्मा को संकल्प मात्र से समस्त ऐश्वर्य उक्त परमात्मा में ही प्राप्त हो जाता है। और इन यह भी जतलादेना चाहते हैं कि मुक्तात्मा को जो संकल्प मात्र से सातलोक तिनोकादि समग्र ऐश्वर्य की प्राप्ति लिखी है, उसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि सामारिक पिता माता आदि से संकल्पबल से उस का संबन्ध होता हो, किन्तु वह मुक्तात्मा परमात्मा ही को पिता, माता, धन, ऐश्वर्य; इत्यादि सब कुछ समझने लगता है और उस के अतिरिक्त अन्य कुछ

कामना नहीं करता । जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ७ के अन्तिम खण्ड २६ में लिखा है—

तस्य ह वा एतस्यैव पश्यत एवं मन्त्रानस्यैव विजानत  
आत्मतस्तेज आत्मत आपआत्मत आविर्भावतिरोभावा-  
वात्मतोऽन्नमात्मनो बलमात्मतो विज्ञानमात्मनो ध्यान-  
मात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कलमात्मतो मन आत्मतो वागा-  
त्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेद ॐ  
सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष श्लोको न पश्योमृत्युं पश्यति न रोगं  
नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यन्त सर्वमाप्नोति  
सर्वं इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा  
नवधा चैत्र पुनश्चैकादश स्मृतः शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि  
च विंशतिराहारशब्दौ सत्त्रशुद्धिः सत्त्रशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः  
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकपायाय  
तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्या-  
चक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥ इति षड्विंशः खण्डः २६

अर्थात्—जब कि मुक्तात्मा परमात्मा को साक्षात् देखता, जागता और जानता है तब उस को परमात्मा ही से जीवग, परमात्मा ही से भाश, परमात्मा ही का स्मरण, परमात्मा ही से आकाश, परमात्मा ही से तेज [और कहां तक कहें] परमात्मा ही से अप और उषी से आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्मे और यह सब कुछ ऐश्वर्य परमात्मा ही से प्राप्त होता है [परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता, उसी से सब ज्ञानन्द प्राप्त होते हैं] ॥ १ ॥ मो यह ग्रन्थान्तर में कहा है कि मुक्तात्मा ग सृत्यु को देखता है, न रोग को देखता है, और न दुःख को देखता है, परन्तु सब कुछ देखता है और सब ओर से सब कुछ प्राप्त होता है [ वह विलक्षण होता है ] अर्थात् एक प्रकार, तीन प्रकार, पांच प्रकार, सात प्रकार, नौ प्रकार, ब्यारह प्रकार, बीस प्रकार, सौ प्रकार, सहस्र प्रकार और फिर एक ही प्रकार समस्त और गान सकते हैं [ अर्थात् वह

अनोखे प्रकार का होता है, जो कहने में नहीं आसकता ] क्योंकि आहार की हृद्धि में सत्य की हृद्धि और सत्य की शुद्धि में स्मृति की स्थिरता और स्मृति की स्थिरता में सब ग्रन्थियों का छूटना होता है [ जब कि मुक्तात्मा पूर्वोक्त प्रकार परमात्मस्वरूप ही भक्त अर्थात् आहार को प्राप्त होता है तो उस से पवित्र आत्मिक भोजन और क्या हो सकता है ? और उस की प्राप्ति में अत्यन्त पवित्र और स्मृति की स्थिरता की कमी ही क्या रह सकती है ] इसलिये सनत्कुमार जी जिन को कि स्कन्द कहते हैं, प्रकट करते हैं कि उस मुक्तात्मा के लिये अव्यष्टा का पार है क्योंकि उस के समस्त मल छूट गये हैं । दो बार पाठ प्रपाठकसमाप्तिमुचनार्थ है ॥ ८ ॥

९ वें सूत्र का अर्थ यह है कि “ इसी लिये अनन्याधिपति” अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त उसका कोई अन्य अधिपति नहीं होता ॥ ९ ॥ १० वें ११ वें और १२ वें सूत्रों का अर्थ इन पूर्व पृष्ठ ३२१ में लिख चुके हैं कि मोक्ष में संकल्प मात्र से समग्र ऐश्वर्य का भाव जैमिनि मानते हैं और भौतिक सङ्ग न होने की अपेक्षा से व्यास जी के पिता बादरि अभाव मानते हैं और व्यास जी उक्त दोनों प्रकार से दोनों बातें मानते हैं, जैसे कि द्वादशाह नामक यज्ञ की ( यष्ट्विद्वांसः सत्यमुपपन्तीति ) और ( द्वादशाहेन प्रजा कामं याजयेदिति ) इन दोनों वाक्यों से “ सत्र ” और “ द्विप्रादिवत् ” “महीन” भी कहते हैं ॥ १० ११ ॥ १२ ॥ तेरहवें सूत्र में इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि मोक्ष में देह के बिना भोग प्राप्ति कैसे हो सकती है—( तन्वसावे ) देह के अभाव में ( सन्धयदुपपत्तेः ) जैसे स्वप्न में बिना स्थूल इन्द्रियों के भोग की प्राप्ति होती है, ऐसे ही मोक्ष में बिना भौतिक अन्तःकरण के आत्मिक भोग की प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ चौदहवें सूत्र का अर्थ यह है कि “यदि मोक्ष में देह का भाव माना जावे तो जगत् के समान स्थूल भोगों की प्राप्ति होनी चाहिये” ॥ १४ ॥ और १५ वें सूत्र में उन भाश्चर्य की मङ्गति की गई है जोकि पूर्व ज्ञानयोग्यवश से मुक्तात्मा के एकधा, त्रिधा, पञ्चधा आदि भाव कहे गये थे ( प्रदीपत्रदावेशः ) जैसे दीपक का आवेश एक प्रकार और कई प्रकार भी कहा जा सकता है, परन्तु होता एक ही प्रकार का है ( तथाहि दर्शयति ) और ऐसा ही सपनिषद् दिखलाती है ॥ १५ ॥

आप ने सोलहवां यह सूत्र छोड़ दिया कि—

स्त्राययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

अर्थः। ( स्वाप्ययसंप्रयोः ) स्वाप्यय=सुषुप्ति और संपत्ति=मोक्ष इन दोनों में से ( अन्यतरापेक्षम् ) किसी एक की अपेक्षा पूर्वक (आविष्कृतं हि) पूर्व दशां सुते हैं कि "एभ्यो भूतेभ्यः समुत्पायेति" ॥१६॥ सत्रहवें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि (प्रकरणात्) ब्रह्मप्राप्ति के प्रकरण से (असंनिहितत्वाच्च) और सांसारिक वस्तुओं की समीपता न होने से (जगद्व्यापारवर्जम्) सांसारिक व्यवहार वर्जित करके संकल्पबल से ब्रह्मानन्द में ही सब आनन्द प्राप्त होते हैं ॥१७॥

अब केवल एक उपनिषद्वाक्य का अर्थ शेष रहा जो कि यह है—

मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके ॥ छां० अ० ८॥

सो सुतिये—सुकात्मना साङ्गल्लिखित मन से ही जो कि मोक्ष में संपूर्ण कामनायें हैं, उन्हें देखना हुआ रमण करता है । इन समस्त सूत्रों और विषय वाक्यों के पदार्थ और भावार्थ से यह कहीं नहीं भूलकता कि ब्रह्मलोक पृथिव्यादि लोकों के समान कोई विशेष लोक है और सालोक्य मुक्ति पाने वाले वहाँ चले जाते हैं और बन्धु वे होकर रहते हैं ॥ यदि कोई "ब्रह्मलोक" इस पद से इस भ्रान्ति में पड़े कि ब्रह्मलोक भी चन्द्रलोकादि के समान कोई लोक है, सो ठीक नहीं । क्योंकि "ब्रह्मणोलोकः ब्रह्मलोकः" अथवा "ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः" अर्थात् ब्रह्मलोक का अर्थ यह है कि "ब्रह्म का लोक" वा "ब्रह्म ही लोक" । सो ब्रह्म सर्वव्यापक है । इस लिये सब स्थान ब्रह्मलोक ही हैं ॥ और ब्रह्म सब का स्वामी है इस लिये सब स्थान ब्रह्म ही के हैं । अब ब्रह्मलोक कोई एक स्थान विशेष नहीं है किन्तु लोकमान सब ब्रह्मलोक ही हैं । लोक शब्द के साथ ब्रह्मशब्द केवल इस लिये जोड़ा गया है कि भकेला (लोके) कहने से कोई सांसारिक कामप्राप्ति न सम्भवे ॥

सत्यार्थप्रकाश पृ० २३९ में ( ग च पुनरावर्तते० ) इस उपनिषद् और ( जनावृत्तिः शब्दात् ) इस शारीरिक सूत्र और ( यद्गत्वा न निवर्तन्ते० ) इस गीता वाक्य से जो लोग कहते हैं कि मोक्ष अनन्त काल के लिये है, उनसे उत्तर में (कस्य नूनं०) इत्यादि श्रवण के दो मन्त्रों से सिद्ध किया है कि मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है और ( इदानीमिव सर्वत्र नान्यन्तोच्छेदः ) इस सांख्यसूत्र का भी प्रमाण दिया है । इस पर—८० ति० भा० पृ० २१५ और २३६ में जो २ तर्क किये हैं सब का उत्तर क्रमशः निम्नलिखित प्रकार है ॥

१-पृष्ठ- २१५ पं० ३-यह सनका हठ=दुराग्रह वा अहङ्कार नहीं तो और क्या है जो उपनिषद् के अर्थ और शारीरिक सूत्र का निरादर करते हैं ॥



प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने शारीरिक सूत्र और उपनिषद्वचन का निरादर नहीं किया है किन्तु जो लोग अनावृत्ति शब्द का अर्थ नहीं समझते उनका अनादर किया है। अनावृत्ति का ठीक अर्थ हस्त-विस्तारपूर्वक पृ० ३१७, ३१८ में दे चुके हैं और यही अर्थ (अपनी मोक्ष की आयु भर जन्म नहीं होता, लौटते नहीं) “अनावृत्तिः शब्दात्” वेदान्त सूत्र ४। ४। २२ के विषयवाक्य का है। यथा—

स खल्वेवं वर्तयन्त्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंप-

द्यते, न च पुनरावर्तते ॥ छां० प्र० ८ खं० १५ ॥

अर्थ—वह मुक्तात्मा ऐसे वर्तता हुआ आयु भर ब्रह्मलोक को प्राप्त रहता है, कभी लौटता नहीं ॥ इस में (यावदायुषम्) पद ने आप का और समस्त अपुनरावृत्तिवादिपक्षों का मुख ऐसा बन्द किया है कि कभी बोल नहीं सकते। क्योंकि न लौटने की अवधि “आयु भर” हुई। आयु के पश्चात् लौटना निषिद्ध न हुआ ॥

२-पं० ४—यह सांख्यशास्त्र का सूत्र मुक्तिविषय का नहीं है यह तत्त्व के निर्णय में है। इस का अर्थ आगे करेंगे। मुक्ति विषय में वो ही सांख्यकर्तारों लिखते हैं (न मुक्तरूपं पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः) ॥

प्रत्युत्तर—यदि सांख्य का सूत्र तत्त्व के निर्णय में है और तत्त्वज्ञान ही मोक्ष है, तो फिर यह सूत्र मोक्षविषय में क्यों नहीं है? दूसरा सूत्र जो आप मुक्ति विषय में बतलाते हैं उस में भी “अनावृत्ति” शब्द ही आप ने अपने पक्ष का पोषक समझा होगा, परन्तु अनावृत्ति=न लौटने का अर्थ वही है जो हम पृष्ठ ३१८ । ३१९ तथा इस ३२१ में ऊपर लिख चुके हैं ॥

३-पं० ११—सत्यार्थप्रकाश संन्यास प्रकरण में लिखा है कि मुक्तिरूप पक्ष आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है। कहिये—यहां अक्षय शब्द का क्या अर्थ है ॥

प्रत्युत्तर—हां, अक्षय शब्द का अर्थ सुनिये—क्षय शब्द का अर्थ अन्त नहीं है, जिस का अर्थ अक्षय कहने से आप अनन्त समझे। किन्तु क्षय का अर्थ क्षीणता, कमी वा न्यूनता है, इसके विरुद्ध अक्षय का अर्थ क्षीण, कम, वा न्यून न होना है जिस प्रकार किसी सांसारिक पदार्थ से जो कुछ पहले दिन प्रतीत होता है, दूसरे दिन उभी पदार्थ से कुछ कम कुछ प्रतीत होने लगता है। क्योंकि वह पदार्थ एकरस होने से अगले दिन बलित अगले क्षण में ही कुछ जीर्ण या पुराना होजाता है, इस लिये पूर्व क्षण या पूर्वदिन के सा आनन्द नहीं देता, इस लिये सांसारिक सुख सक्षय कहाते हैं परन्तु मोक्ष इस लिये अक्षय

कहाता है कि उस का आनन्द प्रतिक्षण या प्रतिदिन क्षीण नहीं होता रहता किन्तु मोक्ष की अवधि पर्यन्त एकरस बना रहता है ॥

४-पं० १८ में—(सोमं निःशान०) इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ लिख कर यह दिखलाया है कि ( कस्य नूनं० ) इत्यादि दोनों मन्त्रों का मोक्षविषयक तात्पर्य नहीं है किन्तु अजीर्ण नाम राजा जब पुत्र शुनःशेप पर खड्ग लेकर चढ़ आया तब शुनःशेप ने इन दोनों मन्त्रों में से पहला मन्त्र पढ़ा और फिर प्रजापति ने उस से कहा कि दूसरे मन्त्र के अनुसार अग्नि ही देवताओं के मध्य में समीप है इस कारण अग्नि को स्मरण कर । तब वह शुनःशेप ( अग्नेर्वयं० ) दूसरे मन्त्र से अग्नि की प्रार्थना करने लगा । इस लिये इन मन्त्रों में शुनःशेप की कथा है मुक्तजीवों की नहीं ॥

प्रत्युत्तर—निःसन्देह इन मन्त्रों का शुनःशेप ऋषि है । परन्तु जिस मन्त्र का जो ऋषि होता है उस मन्त्र में उस ऋषि का वर्णन नहीं होता किन्तु ( ऋषयो मन्त्रद्रष्टव्यः ) इस निरुक्त के अनुसार ऋषि केवल मन्त्र का द्रष्टा होता है, मन्त्र का विषय नहीं । हां, ( या तेनोच्यते सा देवता ) इस निरुक्तानुसार मन्त्र का जो देवता होता है वह उस मन्त्र का विषय होता है । तदनुसार इन दोनों मन्त्रों में पहले का “ प्रजापति ” और दूसरे का “ अग्नि ” देवता है और ये दोनों नाम परमेश्वर के हैं । इन लिये यथार्थ में इन दोनों मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन है, पहले में प्रश्न और दूसरे में उत्तर है । जब दोनों मन्त्रों का क्रमशः पदार्थ सुनिये—

कस्य नूनं कृतमस्यामृतानां मनामहे चारुं देवस्य नाम । को नो मद्या अदित्ये पुनर्दात् पितरंश्च दूशयं मातरंश्च ॥ ऋ० १।२४।१

अर्थ—( अमृतानाम् ) हम मुक्तों के मध्य में ( नूनम् ) निश्चय करके ( कस्य कृतमस्य देवस्य ) किस और कौन से देवता के ( नाम ) नाम को ( चारु मनामहे ) अच्छा जानते हैं ( च ) और ( नः ) हम को ( अदित्ये मद्यौ ) अच्छा पृथिवी=सत्यलोक के लिये ( कः ) कौन ( पुनर्दात् ) फिर देवे=भोगे ( पितरंश्च दूशेयम्मातरंश्च ) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥ १ ॥

अगले मन्त्र में वे मुक्त जीव अपने प्रश्न का जवाब ही उत्तर पाते हैं कि—

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारुं देवस्य नाम ।  
स नो मद्या अदित्ये पुनर्दात् पितरं च दूशेयम्मातरंश्च ॥ २ ॥

अर्थ- ( असृतानाम् ) मुक्तों के मध्य में ( प्रपन्नस्य ) प्रपन्न ही से मुक्त अर्थात् सदा मुक्त ( जन्तेः ) परमात्मा (देवस्य) देवता के ( नाम ) नाम को ( व्ययं चारु मनामहे ) इस शब्दा गागते हैं । ( सः ) वह ( नः ) हम को ( अदितये सखी ) अखण्ड पृथिवी=सृष्ट्युलोक के लिये ( पुनर्दात् ) फिर देवे= भोजेगा ( पितरञ्च दृशेयन्मातरञ्च ) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥

कोई लोग यह कहा करते हैं कि इन मन्त्रों में मुक्तजीवों का वाचक कोई शब्द नहीं है, परन्तु उन को जानना चाहिये कि "असृतानाम्" पद मुक्तार्थक है । जो बहुवचन होने से अकेले परमेश्वर का वाचक भी नहीं हो सक्ता, किन्तु अनेक मुक्तात्मियों का वाचक ही हो सकता है । दूसरे पृथिवी के निवासी शुनःशेप का वर्णन इन मन्त्रों में इस लिये भी नहीं हो सकता कि ( अखण्ड पृथिवी के लिये हमें फिर भोजेगा ) मन्त्र के इस कथन से यह स्पष्ट पाया जाता है कि कहने वाले आत्मा पृथिवीनिवासी नहीं हैं । तीसरे ( मनामहे ) क्रियापद बहुवचनान्त है और शुनःशेप ऋषि एक था, जो बहुवचनान्त क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्मा ही बहुवचनान्तक्रिया के कर्ता हो सकते हैं । चौथे, जब कि वेद में किसी भी ऋषि का इतिहास नहीं है तो शुनःशेप का इतिहास भी नहीं हो सकता । पांचवें, शुनःशेप का नाम भी इन दोनों मन्त्रों में नहीं आया है । छठे, मन्त्र का देवता भी शुनःशेप नहीं है ॥

अब उस बात का उत्तर सुनिये जो कि अजीमर्त शुनःशेप का पिता खड्ग लेकर शुनःशेप को मारने लगा, तब शुनःशेप घबराया और उस ने विचार कि मैं किसी देवता की शरण जाऊँ जो मुझे सृष्ट्यु से बचावे । यह विचार कर उस ने शोचा कि कोई भौतिक देवता अगर अमर नहीं है । केवल परमेश्वर अगर अमर है, जोकि प्रजापति=प्रजा का रक्षक है और मेरी रक्षा करेगा और अग्नि=प्रकाशस्वरूप है, जो मुझे प्रकाश अर्थात् ज्ञान देगा और अमर है, जो कि मुझे सृष्ट्यु से बचावेगा । यह कथा मूलमन्त्र में नहीं, किन्तु पेत्रेय ब्राह्मण में है, जिस का आप ने पाठ लिखा है, परन्तु जानना चाहिये कि जिस प्रकार जब किसी सनातनधर्मी हिन्दू पर सृष्ट्यु वा विपत्ति का समय आता है तब वह सृष्ट्युज्ञ मन्त्र-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव  
बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋ० ७ । ६१ । १२ ॥

का अप करता वा कराता है । अथवा प्रह्लादभक्त को सङ्कट से बचाने वाले नृसिंह का स्मरण करता है । अथवा गजेन्द्रमोक्ष नाम स्तोत्र का पाठ करता वा कराता है । तब क्या गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र वा प्रह्लाद की कथा वा सत्ययुज्य मन्त्र में उस सनातनधर्मी हिन्दू की कथा थोड़ा ही लिखी रहती है ? किन्तु सत्यु और विपत्ति के समय में सत्यु और विपत्ति से बचने के मन्त्र, इतिहास, श्लोक, स्तोत्र और भजन आदि याद भाया ही करते हैं । तदनुसार शुनःशेप को भी जब अपने पिता से सत्यु का भय हुआ, तब सत्यु से बचने अर्थात् भय होने के वर्णन का मन्त्र और उत्तरयुक्तमन्त्र याद भाया और उस मन्त्र से उस ने उस समय प्रभु का स्मरण किया और भय होने की प्रार्थना की और इसी से उस दिन से उस मन्त्र का वह शुनःशेप ऋषि द्रष्टा कहलाया तो क्या इस से यह समझा जा सकता है कि शुनःशेप का ही वर्णन उन मन्त्रों में है ? कभी नहीं ॥

५-पृष्ठ २७६ पं० २०-और भी भगले मन्त्र में शुनःशेप का संवाद है—  
( शुनःशेपो० ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-इस मन्त्र को आप भगला मन्त्र न बतलावें, किन्तु जिन दो मन्त्रों की व्याख्या की गई और जिन में आप ने शुनःशेप की कथा समझी वे दोनों मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २४ मन्त्र १ और २ हैं । और आप जिस मन्त्र को लिखते हैं और मिलाकर अर्थ करते हैं, वह मन्त्र मण्डल १ सूक्त २४ का १३ तैरहवां मन्त्र है । २-और वह मन्त्र ऐसा भी नहीं है कि जिस की स्मृति आप को लिखे ऐतरेय ब्राह्मणानुसार शुनःशेप की कथा में उपस्थित हो, ३-और इस मन्त्र में आये हुए "शुनःशेप" शब्द का अवि-विशेषपरक अर्थ मानना निरुक्त के भी विरुद्ध है जो कि हम आगे अर्थ में लिखेंगे । ४-तथा इस मन्त्र का शुनःशेप देवता भी नहीं है, जिस से शुनःशेप का वर्णन इस मन्त्र में समझा जावे, किन्तु वरुण देवता है जो सायणाचार्यादि ने भी माना है । जब उस मन्त्र का अर्थ सुनिये—

शुनःशेपो ह्यहत् गृभीतस्त्रिष्वदित्यं द्रुपदेषु बद्धः । अवैनं राज्ञा  
वरुणःससृज्याद्विद्वांअदब्धो विमुमोक्तु पाशान्॥ऋ०१।२४।१३॥

अर्थ-जैसे(शुनःशेपः)शुनोविज्ञानवतइव शेपोविद्यास्पर्शोयस्य सः । साशु-  
पायी श्वतेषां स्याद्व्रतिकर्मेणः निर०३।१८ शेपः शेपतेःस्पृशतिकर्मेणःनिर०३।२१  
विज्ञानवान् पुरुष ( त्रिषु ) कर्म उपरसना और ज्ञान में (पादित्यम् ) अवि-  
नाशी परमेश्वर का (बद्ध) बाह्वान करता है जैसे इन लोगों ने (यसीतः)

स्वीकार किया हुआ उक्त तीनों कर्म उपासना और ज्ञान को प्रकाशित कराता है और जो (दुःपदेषु) दूषणं वृक्षादीनां पदानि फलादिप्राप्तिनिमित्तानि येषु तेषु=जिन विज्ञानों में वृक्षादिकों के फलादिकों की प्राप्ति के निमित्त वर्तमान हैं (बहुः) उन में नियत (अदृढः) गङ्गिननीय (वस्तुणः) अतिश्रेष्ठ (राजा) प्रकाशनाम परमेश्वर (अवसस्तुज्यात्) बार २ भिद्व करे। अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नियमात्। रुद्रिकी च लुकि १।४। ९। इत्यभ्यासस्य रुद्रिगागनी, दीर्घोऽङ्कितः १।४। ८३ इति दीर्घश्च न। (हि) निश्चय (पुणम्) इस विद्वान् को (विद्वान्) सर्वज्ञ परमेश्वर (पाशान् विमुक्तोक्तु) पापाचरणजन्य बन्धनों से विशेष करके छुटावे ॥ १३ ॥

द० ति० भा० पृ० २११ पं० ८-मुक्तजीवों पर क्या विपत्ति पड़ी और कैसे भजानी हो गये जो सर्वज्ञानन्द सर्वोत्तम पद से दुःखरूप संसार में जाने की इच्छा करते लगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप तब अवतारवादी और गङ्गिनवादी हैं, आप के गङ्गित ब्रह्म पर क्या विपत्ति पड़ी है जो भजान हो गया और दुःखरूप संसार में आपड़ा है ? यदि इस का उत्तर अनादिस्वभाव है तो हमारा उत्तर भी यही है कि अनादिनाल से परमात्मा का यह स्वभाव ही है कि मुक्तात्माओं को मोक्ष-वधि समाप्त होने पर संसार देवे तीर आप जो मुक्ति से पुनरावृत्ति को बहुत ही बुरा समझते हैं और बराबर उस का उलाहना देते हैं, सो यह तो अन-लाइये कि जब आप के मत में शुरुबहुमुक्तस्वभाव अनादिकाल से अनन्त-काल तक सदा मुक्त परमात्मा ही अवतार लेते समय जन्म मरण में आप-ड़ता है तो बेचारे मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति में आप को क्यों शङ्का होती है जो कि अनेक जन्मों तक श्रम करते हुये श्रीतत्त्वार्त्त कर्मों के सान्त अनुष्ठान सान्त उपासना और सान्त ज्ञान के बल से कठिन से सान्त मुक्तिको प्राप्त होते हैं ?। यदि कहो कि परमात्मा ती भक्तों के ऊपर दया करके संसार में आपड़ा है, तो क्या आप के ब्रह्म ही को दया है ? और आप के मतानुसार ब्रह्ममूत मुक्तात्माओं को क्या निर्दयता उपापजाती है कि कभी किसी भक्त पर दया करके जन्म नहीं लेते। महात्मा जी ! कदाचित् यही सच हो कि जिन को आप अवतार बनलाते हैं, समय २ पर वे सब अवतार मुक्त जीवात्माओं के ही होते हों। क्योंकि परमात्मा ती सर्वउपापक होने से किसी देहविशेष के बन्धन में नहीं आता। इस सम्भते हैं कि अब आप मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति का उलाहना कभी न दिया करेंगे ॥

द० ति० भा० पृ० २१८ पं० १० से-

अब यह विचारना है कि जन्ममरण का कारण क्या है, इस विषय में सब विद्वानों का यही मत है कि जीवोंके शुभाशुभ कर्मों से जन्म होता है। मुक्त जीव के शुभाशुभ कर्मों का सर्वथा नाश होजाता है। यथाहि-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ १ ॥ मुण्ड० ॥ यदा यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥२॥ तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्योविमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्ड० ॥ ३ ॥ एष आत्माऽपहतपाप्मश्चिजरोविमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥४॥ न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वं पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ॥ छां० ॥ अपहतपाप्माऽभयं रूपम् ॥ बृहदारण्यके ॥५॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ॥ श्वेताश्वतरे ॥ ७ ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो इस ऊपर लिख चुके हैं कि जब कि आप बिना शुभा-शुभ कर्मों के भी परमात्मा का अवतार ( जन्म मरण ) मानते हैं तो बिना शुभाऽशुभ कर्मों के ही मुक्तात्माओं का भी मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म मानने में आप को क्या शङ्का हो सकती है ? दूसरे जब कि आप शुभाशुभ कर्मरहित ब्रह्म को ही अज्ञान से जीव बन जाना मानते हैं, तो मुक्तात्माओं के जन्म में क्या शङ्का हो सकती है ? यह तो आप के मतानुसार उत्तर हुआ। अब हमारे मतानुसार सुनिये-आप ने जो ऊपर उपनिषदों के प्रमाण लिखे हैं उन का अर्थ यह है:-“परमात्मा के साक्षात् होने पर हृदय की ग्रन्थि भिन्न, सर्वसंशय छिन्न और कर्म क्षीय हो जाते हैं ॥१॥ जब जो पुरुष ज्यादातः स्वरूप, अगत्कर्ता, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, अगन्निमित्तकारण ब्रह्म को साक्षात् करता है तब वह विद्वान् पुरुष, भविद्यारहित, पुण्य पापों से छूट कर अत्यन्त ससता को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ असत्पुरुष शोक और पाप, हृदय की ग्रन्थियों से छूट जाता है ॥३॥ यह मुक्तात्मा पाप, बुद्धापा, सत्य, शोक, मूल, व्यास से रहित हो जाता है और सत्यकाम, सत्यसंकल्प हो जाता है ॥ ४ ॥ मुक्तात्मा को न बुद्धापा, न सत्य, न शोक, न पुण्य, न पाप

होते हैं, सब पाप उस से पृथक् हो जाते हैं ॥ वह पाप रहित अनन्यस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥ परमात्मा को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥ ६ ॥ परमात्मा को जान कर सम्पूर्ण बन्धन दूर होजाते हैं ॥ ७ ॥

प्रथम ती. इन प्रमाणों में १, २, ३, ४, ५ केवल इन संख्याओं में ही पापों या पाप पुण्य दोनों से पृथक् होना लिखा है। शेष दो प्रमाणों में पाप पुण्यों से पृथक् होने का वर्णन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि पाप पुण्य से पृथक् होने का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षावस्थापर्यन्त पाप पुण्य अपना फल नहीं कर सकते। तीसरी बात यह है कि पाप पुण्यों की “सी-णता” का अर्थ पाप पुण्यों का “अभाव” नहीं है। यदि आप सीण और अभाव का एक ही अर्थ मानते हैं तो क्या जब एक पुण्य को कहा जाता है कि उस का धातु “क्षीण” है तब क्या यह समझ जाता है कि उस का धातु “नहीं” है? किन्तु यही समझा जाता है कि उस का धातु “निर्बल” है। इसी प्रकार मुक्तात्माओं के कर्म भी “क्षीण” अर्थात् ज्ञान और उपानना की अपेक्षा से “निर्बल” होजाते हैं। परन्तु जब जीवात्मा की सान्त संपा-सना और सान्त ज्ञान का फल मोक्ष अपनी अवधि को पहुँच जाता है और समाप्त हो जाता है, तब वेही कर्म जो कि पूर्व ज्ञान और उपानना के बल से दूर हट गये थे, मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म का हेतु हो सकते हैं। और कर्मों के “नाश” का तात्पर्य भी “अभाव” नहीं है, क्योंकि नाश शब्द “यश अदर्शने” धातु से बना है, इन लिये “नाश” का अर्थ “तिरोभाव मात्र” है। और पुण्य पापों से दूर होजाने का तात्पर्य भी पुण्य पापों का “अभाव” नहीं है, किन्तु इतना ही तात्पर्य है कि पुण्य पापों का प्रभाव मुक्तात्मा पर नहीं होता। पुण्य पापों से छूटने का भी तात्पर्य पुण्य पापों का “अभाव” नहीं है, जैसे कि कारागार से छूटने का तात्पर्य कारागार का “अभाव” नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० २७९ में भी एक नम्र यजुर्वेद का और आठ उपनिषदों के वचन लिखे हैं। जिन सब का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्मा सत्य से छूटजाता है।

प्रत्युत्तर—इन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह ती सही मानते हैं कि मुक्तात्मा जन्म मरण से छूट जाता है परन्तु आप को तो ऐसा प्रमाण देना चाहिये था कि जिन में अनन्तकाल के लिये छूटना लिखा होता। पुनरावृत्ति न होने का अर्थ पृष्ठ ३१८, ३१९, ३३१ में लिख ही चुके हैं इस लिये पृष्ठ २८० के लिखे प्रमाणों का भी उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है ॥

४० ति० भा० पृ० २८२ पं० १४-स्वामी जी ने यह श्रुति बदली है तो भी इस का यह अर्थ नहीं बनता जो वह करते हैं । फिर पङ्क्ति २२-यहां जो ब्रह्मा का महाकल्प माना है तो वह ब्रह्मा देवता है मनुष्य है वा ईश्वर का विशेष विग्रह है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-श्रुति बदली नहीं है, किन्तु [ ब्रह्मलोके ] भीर ( परामृतात् ) ये दो पाठ अशुद्ध रूप गये थे, जो अब पांचवीं बार के छपे सत्यार्थप्रकाश में ठीक शुद्ध ( ब्रह्मलोकेषु परामृताः ) छाप दिये गये हैं और इस का अर्थ भी अशुद्ध नहीं है । आगे आप को लिखे मुण्डकोपनिषद् के तीनों वचनों का अर्थ करते हुवे इस यह दिखलायेंगे कि स्वामी जी का तात्पर्य इस के पदार्थ से भले प्रकार निकलता है । स्वामी जी ने जो मोक्ष ही अवस्था महाकल्प तक मानी है और महाकल्प ब्रह्मा के १०० वर्षों का नाम लिखा है, वहां ब्रह्मा शब्द जगत्कर्ता, निराकार, परमेश्वर का ही वाचक है, किसी अन्य देवता या मनुष्य का नहीं । जब तक एकवार की उत्पत्ति हुई सृष्टि रहती है, तब तक जो परमेश्वर का एक दिन कल्पना कर लिया है । जैसा कि मनु १ । १२-

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।

ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रत्रिमेव च ॥

तदनुसार गणना करके १०० वर्षों का एक ब्राह्म महाकल्प माना है ॥

४० ति० भा० पृ० २८२ पं० २६-अब श्रुति लिखते हैं-

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-  
सत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति  
सर्वे ॥ १ ॥ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति-  
देवतासु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व  
एकीभवन्ति ॥ २ ॥ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति  
नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं  
पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ३ ॥ मुण्ड० ॥

इस का अर्थ लिखने के पश्चात् पृ० २८३ पं० १८-में इस से भी मुक्ति से छोटना सिद्ध नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-आप ने जो अर्थ करते हुवे उपाधि लगाई है, यदि उस उपाधि को छोड़ कर सरलार्थ किया जावे तो स्वामी जी के तात्पर्य से कुछ विकट नहीं होता । और उपाधि लगाना व्यर्थ है । सुनिये-



अर्थ- ( वेदान्तः ) वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ जान लिया है ( सुदुस्तराः ) रजोगुण और तमोगुण से वजित ( यतयः ) यती लोग ( संन्यासयोगात् ) संन्यास के योग-यत्न से ( परासृताः ) मोक्ष को प्राप्त हुये ( ब्रह्मलोकेषु ) ब्रह्मलोकों अर्थात् मुक्तावस्थाओं में [ निवास करते हैं ] ( ते सर्वे ) और वे सब मुक्तात्मा ( परान्तकाले ) ब्राह्म महाकल्प पर ( परिमुच्यन्ति ) वर्ज दिये जाते हैं ॥ पाणिनि के ८ । १ । ५ सूत्र ( परेर्वर्जने ) पर-

### \* परेर्वर्जने वा वचनम् \*

यह वार्तिक किया है । सूत्र और वार्तिक दोनों से “परि” उपसर्ग का “वर्जन” अर्थ स्पष्ट पाया जाता है । और वार्तिककार ने द्विवचन का भी विकल्प कर दिया है इस लिये यह शङ्का भी जाती रही कि “वर्जन” अर्थ में यहां “परि” शब्द को द्विवचन क्यों नहीं हुआ ॥ १ ॥ ( गताः कलाः ० ) मुक्ति को प्राप्त होने वालों की प्राणश्रद्धादि १५ कलायें और इन्द्रियां सब अपनी २ अधिष्ठातृदेवताओं में लीन होजाती हैं, अर्थात् कार्य शरीर का कारण में लय हो जाता है । और ( कर्मणि ) क्षीय हुये कर्म ( एकीभवन्ति ) इकट्ठे होजाते हैं, अर्थात् उपासना और ज्ञान से दब कर मोक्षावस्थापर्यन्त फलानुभूति नहीं हो सकते, किन्तु “इकट्ठे” रहते हैं अर्थात् परमात्मा के यहां ( छिपाजिट= अनागत ) धरोहर=निक्षेप में रहते हैं, जिन के अनुसार मोक्षावधि समाप्त होने पर फिर जन्म होवेगा । ( विज्ञानमयश्च आत्मा ) और मन भी ( परे अव्यये ) अविनाशी परम कारण में लीन होजाता है । ( सर्वे ) इस प्रकार सब कारण में लीन होजाते हैं ॥ २ ॥ ( यथा नद्यः ० ) जिस प्रकार नदियाँ चलती २ अपने २ भिन्न २ सङ्गादि नामों और श्वेतकृष्णादि रूपों को छोड़ कर समुद्र में ( अस्तं गच्छन्ति ) छिप जाती हैं । इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष देव-दत्तादि नाम और गौरकृष्णादि रूप से छूट कर ( परात्परम् ) पर=प्रकृति से भी पर ( दिठं पुरुषम् ) दिव्य परमात्मा के ( उपैति ) समीप चला जाता है ॥ ३ ॥

कोई १ लोग ऐसा भ्रम करते हैं कि जैसे नदी समुद्र में मिल कर समुद्र होजाती है तद्वत् जीवात्मा भी ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म होजाता है । परन्तु ब्रह्मान्त का एक देश ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जैसे नदियों के नाम और रूप समुद्र में मिलने पर भिन्न नहीं रहते, वैसे ही जीवात्माओं के भी देह के रूप से जो नाम और रूप पूर्व थे, वे मुक्ति में नहीं रहते । इस ब्रह्मान्त को सर्वदेशीय नामना असङ्गत है । क्योंकि यदि सर्वदेशीय ब्रह्मान्त

मानें तो जैसे समुद्र एकदेशीय है और सर्वव्यापक नहीं है, ऐसे ही परमात्मा को भी एकदेशीय मानना पड़े। तथा जैसे समुद्र से नदियाँ मिलने से पहिले निकल देश में थीं, ऐसे ही जीवात्माओं को भी मुक्ति से पहले ब्रह्मकी व्यापकता से बाहर मानना पड़े, जो कि सर्वथा असंभव है ॥

६० ति० भा० पृ० २८३ जीवों के ( मुक्तों के ) संसार में न जाने से उच्छेद कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव असंख्य हैं। फिर पङ्क्ति २५-जैसे अज्ञात काल के स्रोत नदियों के चले जाते हैं और समुद्र में मिल जाते हैं, परन्तु उन स्रोतों का उच्छेद नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-असंख्य का तात्पर्य यह है कि उन की संख्या नहीं जानी जा सकती, न कि वास्तविक अनन्त हैं। क्योंकि जब एक जीवात्मा अनन्तःकरणोपाधि से घिर जाता है और स्पष्ट है कि उस का स्वरूप सान्त है, तो जीवात्माओं का समुदाय भी वास्तव में सान्त ही हो सकता है। जैसे एक गोधूम सान्त है तो गोधूमराशि भी सान्त ही होगी ॥

सत्यार्थप्रकाश में पुनरावृत्ति न मानने पर एक यह दोष दिया गया है कि मुक्ति में भीड़ होजायगी। इसपर-६०ति०भा०नेपृष्ठ २८४ में यह उत्तर दिया है कि ब्रह्म अनन्त है और उसी में मुक्त पुरुष रहते हैं इस लिये भीड़ नहीं हो सकती ॥

प्रत्युत्तर-"भीड़" का तात्पर्य "अनवकाश" नहीं है किन्तु "एकाग्रताऽभावा" है। और आप के मतानुसार जीवों को अनन्त माना जावे तो अनन्तों का मोक्ष होने पर "भीड़" होने में संदेह ही नहीं ॥

६० ति० भा० पृ० २८४ और २८५ में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु छोटे २ मिथ्या तर्क हैं जिन का उत्तर देना हर एक आर्य को सुगम है। इस लिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है ॥

६० ति० भा० पृ० २८६ पं० १२ से-

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥सांख्य १।१॥

तीन प्रकार के दुःख की जो अत्यन्त निवृत्ति नाम स्थूल सुक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति सो अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष है ॥

प्रत्युत्तर-जब कि आपने ही अत्यन्तनिवृत्ति का अर्थ "अनन्तकाल के लिये निवृत्ति" नहीं किया किन्तु 'स्थूल सुक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति' कहा है तो फिर इस से आप का पक्ष ही क्या सिद्ध हुआ ?

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य नवम-

समुद्भासमखण्डे, ६०ति०भास्करस्य च खण्डने मुक्तिप्रकरणं नाम

नवमःसमुद्भासः ॥ ९ ॥

गो३म्

## अथ दशमसमुल्लासमण्डनम्

### आचाराऽनाचारप्रकरणम्

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि अति उष्ण देश में शिखा न रखे, इस पर १० ति० भा० पृ० २८७ पं० १८ से बहुत कुछ उपहास करके, फिर पृष्ठ २८८ पं० ८ में लिखा है कि इन की बात माननी ठीक नहीं, संन्यास को छोड़ कर और किसी समय में भी शिखा का त्याग करना नहीं चाहिये, यही वेद की आज्ञा है ॥

प्रत्युत्तर-१-अतिउष्णदेश आर्यावर्त देश को नहीं कह सकते, किन्तु अफ्रीका आदि के अत्युष्ण भागों को कहते हैं। इसलिये आर्यावर्तीय आर्यों को शिखाछेदन स्वामी जी के लेख से आवश्यक नहीं। २-शिखा उतरवाने से स्वामी जी का तात्पर्य कदाचित् समस्त शिर के केश अर्थात् जटाजूट न रखने के लिये हो। ३-आप का यह कहना भी ठीक नहीं कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य कोई शिखा का त्याग न करे। क्योंकि गोभिलयज्ञसूत्र में उपनयनसंस्कार से पहिले भी शिखामहित मुखन लिखा है, और उस के टीकाकार ने भी वही अर्थ लिखा है और मनु २। ६५ में भी लिखा है कि-

केशान्तः षोडशे वर्षे

जिस से १६ वें वर्ष में समस्त केशों का उतरवाना पाया जाता है। और आप ने जो यह लिखा है कि "यही वेद की आज्ञा है" सो कोई वेद का मन्त्र लिखा होता, जिस में यह लिखा होता कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा नहीं कटानी। यद्यपि इन यह नहीं कहते और न स्वामी जी ने यह लिखा है कि आर्यावर्तीय आर्यों को चोटी नहीं रखनी चाहिये। परन्तु आप भी इस पर ज़ोर नहीं दे सकते कि संन्यासियों को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा उतरवा देना धर्मशास्त्रीक कोई प्रायश्चित्त का काम है और प्रत्यक्ष में सारे सनातनधर्मियों के यहां भी बालकों के मुखन समय समस्त केश उतारे जाते हैं ॥

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि-

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्रक्तारिः स्युः। आपस्तम्ब  
धर्मसूत्र ॥ प्रपाठक २ पटल २ खण्ड २ सूत्र ४

इस पर द० ति० भ० ० पृ० २८८ में इतने तर्क किये हैं कि १ शूद्र अर्थात् मुख्य लोग धनियों के घर में विविध प्रकार के व्यञ्जन नहीं बना सकते क्योंकि वे सुपशास्त्र नहीं पढ़ें। २-जो ब्राह्मण वेदादिशास्त्र नहीं जानते थे और सुपशास्त्र ही जानते थे, वे रसोई का काम करते थे। ३-सूत्रार्थ तुम्हारी ही प्रकार से करें तो यह अर्थ होगा कि भार्यों के यहां शूद्र संस्कार करने वाले अर्थात् खुहारी देगा चीका बरतन सांजना टहल मेवा आदि संशोधन के कार्य शूद्र करते थे ॥

प्रत्युत्तर-१-सूत्र का अर्थ यह है कि ( भार्याधिष्ठिताः० ) भार्य जिन के अधिष्ठाता हों, ऐसे ( शूद्राः० ) शूद्र भी पाक संस्कार करें। इस लिये जब सूत्रों के अधिष्ठाता भार्य हों तो सूत्रों से भले प्रकार काम ले सकते हैं। क्योंकि अधिष्ठाता लोग तो सुपशास्त्र जानते हैं। २-वेदादि न जान कर ही तो ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। जैसा कि मनु ने लिखा है-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्धवः ॥ २ ॥ १६८ ॥

अर्थात् जो द्विज वेद न पढ़े, अन्यत्र (सूपादि शास्त्र में) श्रम करता है, वह जीवता हुआ ही (इसी जन्म में) शूद्र हो जाता है ॥ ३ ॥ सूत्र में संस्कार का अर्थ पाकसंस्कार है, खुहारी चीका ही नहीं, जैसा कि प्रकरण से स्पष्ट होगा। और जब कि आप के लेखानुसार वर्तनसांजना, धोना, जल भरना आदि शूद्र का काम है तो शूद्र के हाथ के जल की रसोई और उसके धोये बर्तनों में पाक ही आपने भी मान ही लिया तो फिर जल की ही सारी सद्गुता है, इस लिये मिठाई, जलेबी, पूरी, परांठे, आदि पाक में ही शूद्र के हाथ से क्या बिगड़ जायगा? इस इस प्रकरण के कई सूत्र लिखते हैं, जिन से स्पष्ट है कि पात्रों के संस्कार का ही यहां वर्णन नहीं, किन्तु पाकसंस्कार का वर्णन है-

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः ॥ ४ ॥

अधिक्रमहरहः केशश्मश्रुलोन्नां वापनम् ॥ ५ ॥ उदकोपस्प-  
शनं च सह वाससा ॥ ६ ॥ अपि वाष्टमीष्वेव पर्वसु वा वपेरन्  
॥ ७ ॥ परोक्षमन्नं संस्कृतमग्नावधिश्चित्याद्विः प्रोक्षेत ॥ ८ ॥  
तद्वेव पवित्रमित्याचक्षते ॥ ९ ॥

अर्थ-चतुर्थ सूत्र का अर्थ ऊपर लिख चुके हैं। पांचवें का अर्थ यह है कि पाककर्ता शूद्रों में इतना "अधिक" है कि प्रतिदिन केश मूक आदि बाल

मुंहवाये जावे<sup>१</sup> ६ वख्रों समेत जल से स्नान कराया जावे । अर्थात् नित्य वख्र धोये जावें और स्नान कराया जावे । ७ अथवा गृष्टनी नियमों में वफाभावस्थादि पर्व दिनों में ही उन के बालमुंहवाये जावें । ८—यदि शूद्र ने द्विजों के परोक्ष ( श्रिमा देखे ) में नम्र पकाया हो तो उन नम्र को अग्नि से सेक कर जल से छिड़क लें ॥ ९ ॥ यह पवित्र कहा जाता है ॥ अब सी आप नहीं कह सकते कि वर्तन सांजना ही शूद्र का कार्य है ॥

द० ति० सा० पृ० २८९ और २९० में इतने तक हैं । १—यदि मद्य सांसाहारी स्नेह के हाथ का भोजन वर्जित है तो शूद्रों का भी वर्जित होना चाहिये क्योंकि वे भी मांस खाते हैं ॥ २ स्वामी जी ने गिन पशु वा मनुष्यों को राजपुत्रों द्वारा प्राणक्षय होने पर उन के मांस का फेंक देना वा कुत्ते आदि किसी सांसाहारी को दे देना वा जला देना लिखा है उन पर यह तर्क किया है कि यहां स्वामी जी ने मानो फांसी दिये हुये मनुष्यों का मांस भी सांसाहारियों को खिला देगा लिखा है ३—जब अन्वों के साथ खाने में प्रकृति भेद से बिगाड़ है तो अन्वों के हाथ का बना खाने में बिगाड़ क्यों न होगा ॥ ४—जब पृष्ठ २८८ में यह लिखा है कि ब्रह्मणादि उत्तम वर्णों का शरीर शुद्ध रज वीर्य आदि से शुद्ध बनता है और चण्डालादि का अशुद्ध, इस लिये चण्डालादि के हाथ का न खाना, तो फिर अशुद्ध शरीर वाले शूद्र के हाथ के खाने में परस्परविरोध क्यों नहीं ॥

प्रत्युत्तर-१—ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शास्त्रानुसार सांसाहारी नहीं हैं इस लिये शूद्रों का पाक वर्जित नहीं और स्नेह शास्त्र को नहीं मानते, इस लिये उन का पाक वर्जित है ॥ २—स्वामी जी ने वधदण्ड वाले मनुष्यों और पशुओं के मांसविषय में जलाना, फेंकना, कुत्ते आदि सांसाहारियों को दे देना इत्यादि कई पक्ष लिखे हैं । इस लिये उन का तात्पर्य यथायोग्य समझना चाहिये कि वधदण्ड वाले मनुष्यों का मांस जलाया जावे और पशुओं का फेंका जावे वा सांसाहारियों को दे दिया जावे, इस में भी वर्णाश्रमरहित चण्डालादि जो मनुष्य उस मांस को खावें उन के स्वभाव बिगड़ने का दोष तो स्वामी जी ने लिखा ही है । इस लिये आप का कहना ठीक नहीं है ॥ ३—अन्वों के साथ खाने में उच्छिष्ट धूत आदि मिल कर प्रकृतिभेद से जैसा बिगाड़ होना सम्भव है वैसा अन्वों के हाथ का बनाया वा खुवा खाने में नहीं । और यदि किसी का बनाया वा खुवा कभी कुछ भी न खाया जावे

ती देहयात्रा भी अनम्भव है ॥ ४-जैसा भेद ब्राह्मण वा चण्डाल में है वैसा भेद ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों में भावस में नहीं, इस लिये शूद्र के पाक का वर्जित न करना और चण्डालादि के का वर्जित करना परस्परविरोध नहीं है । किन्तु शूद्र चारों वर्णों के अन्तर्गत होने, शास्त्र की मयादा को मानने और द्विजों का सेवक होने से, उन में मिल कर रहने और मांसादि अभक्ष्यभक्षण न करने से जल और पाक आदि में वर्जित नहीं हो सकता, और चण्डालादि इस को विपरीत होने से वर्जित हैं ॥



इति श्री तुलसीरामह्वानिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य  
दशमसमुक्तासम्यग्ने, ६० ति० भास्करस्य च खण्डने  
आचारानाचारप्रकरणं नाम दशमः समुक्तासः ॥ १० ॥

—:॥:—



## अनुभूमिका

विदिमं होकि महाभारत के पश्चात् प्रचलित हुए पीराणिक, जैनी, मुहम्मदी, ईसाई इन ४ चार सम्प्रदायों ने जो २ सत्यवेदीय धर्म के विरुद्ध अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वासों द्वारा जगत् को भ्रमाकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग से विमुख बना दिया था और जिन से मत्वा सांसादि दुःखसर्गों के प्रचार तथा परमेश्वर के स्थान में इतर पदार्थों की पूजा, गङ्गादि के स्पर्श पवित्र जलों का यथार्थ साहारम्प छिपा कर अपनी जीविका का द्वारमात्र बनाय जगत् को ऐहिक और पारमार्थिक सुखों से वञ्चित होना पड़ा। स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज को इस दुर्दशा के मिटाने की दया आई और उन्होंने सत्य वस्तु के प्रकाशार्थ “सत्यार्थप्रकाश” नामक ग्रन्थ रचनाया, जिस के प्रथम दश समुल्लासों में प्रायः वैदिकधर्म का गिरूपण किया, उस के ऊपर भ्रमपञ्चता से हुई शङ्काओं का यथार्थ प्रत्युत्तर हम इस भास्करप्रकाश के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित कर चुके हैं। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने जिस प्रकार गत दश समुल्लासों पर यथा तथा जोड़ तोड़ करके अपने को कृतकृत्य किया है वही प्रकार इस ग्वाहर्हर्ह समुल्लास पर भी। स्वामी जी ने वेदविरुद्ध मतों के खण्डनार्थ सत्यार्थप्रकाश के ११।१२।१३।१४ इन ४ समुल्लासों में ऊपर लिखे पीराणिक आदि ४ सम्प्रदायों के मतस्थ वेदविरुद्धों का खण्डन किया है। उन में से ११ वें समुल्लास में जो २ पीराणिक लोगों के मतों का खण्डन किया है, इस पर अपने कल्पित मत की रक्षार्थ पं० ज्वालाप्रसाद जी पीराणिक ने जो कुछ लिखा है, उनके तथा सर्वसाधारण के अननिवारणार्थ सत्यार्थप्रकाशखण्डन में यह उत्तरार्थ का आरम्भ है। स्वामी जी महाराज का वाह्वारा यह भागीष्ट नहीं है कि जैनी, कुरानी, किरानी आदि जो वेद के अत्यन्त विरुद्ध मत हैं उन के समान पीराणिक लोगों को भी वेदविरुद्ध समझ कर उन का निर्मूल करने का उद्योग किया जावे। नहीं २ किन्तु पीराणिक लोग वेदों के नाम को मानते हैं और वेदों में विहित बहुत से धर्मानुकूल अनुष्ठान भी करते हैं, किन्तु उन को जो यह अब है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है सो वेदों के अनुकूल ही है, इस को मिटाने और पुराणों के प्रचार को जो वेदों के प्रचार से बढ़ा रक्खा है उन की जगह वेदों के प्रचार बढ़ाने और अन्य वेद विरुद्ध मतों के हटाने में तात्पर्य था और है॥ तुलसीदास स्वामी

८० ति० भा० भूमिका पृ० २९२

यह बातें सब पर विदित हैं कि महाभारत से पूर्व इस देश में वेदमत से निम्न और कोई मत नहीं था जब महाभारत के पश्चात् भविष्या कैली तब जहां तहां अनेक मत दृष्टिगोचर होने लगे और जिस के मत में जो भाषा सो मत चलाया इसी कारण इस देश की एकता नष्ट हो गई और विविध क्लेशों से भारतवर्ष पूर्ण हो धनहीन हो अधोमति को प्राप्त हुआ और जब बहुत से मत प्रचलित हुए तो इस अन्याधुन्य में स्वामी दयानन्द जी ने भी एक मत अपना नवीन खड़ा किया जिस में सम्पूर्णतः वेदविरुद्ध ही बातें प्रचलित की हैं और वेदसम्प्रदायों के कथे बदलकर अपने प्रयोजनानुसार कतरना कर लिये हैं तथा पुराण मूर्तिपूजन तीर्थ आहुतादिक सब ही को कृपा कथन किया है इस मत का मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश है जिसके दश समुल्लामों का खण्डन इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में कर चुके हैं वह एकादश समुल्लाम का खण्डन इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लिखते हैं ग्यारहवें समुल्लाम में स्वामी जी ने पुराण तीर्थ मूर्तिपूजन का खण्डन किया है तथा अन्य मतों का भी खण्डन किया है जो इस समय प्रचलित हो रहे हैं परन्तु मेरा तात्पर्य उन मतों को अशुद्ध बुरा कहने का नहीं है । इस बात को सम्पूर्ण आर्यगण मानते हैं और मुझे भी निश्चिन्त स्वीकार है कि जो कुछ वेदादि शास्त्रों में आज्ञा है उसे मानना परम धर्म है और जो उन ग्रन्थों के विपरीत है वह अधर्म है इस कारण मैं इस स्थान में केवल उन्हीं बातों की चर्चा करूंगा जिन का वेद से सम्बन्ध है और मतवालों को यदि अपना मत सत्य सिद्ध करना हो तो वह अपना जवाब दे लेंगे, मैं उनकी ओर से उत्तरदाता नहीं क्योंकि मैं तो सनातनवेदिक मत को ही श्रेष्ठ मानता हूं और वास्तव में यही मत श्रेष्ठ भी है इस पुस्तक के लिखने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी का चित्त दुःखी हो किन्तु मेरा आशय यह है कि इस ग्रन्थ को विचार कर सत्यामत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करें यही इस संसार में अनुष्य जनन का फल है कि श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान कर मोक्ष के भागी बनें ॥

प्रत्युत्तर—यह सत्य है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् नाना मत खड़े हुए और उन मतों को नाना पुराणों ने खड़ा किया जिससे भारतवर्ष की विद्या, धर्म, धन, ऐश्वर्य सब नष्ट हुए और भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत अन्य देशों में भी अनेक मतों की उत्पत्ति महाभारत से इस ओर के ५००० पांच सहस्र वर्षों के



भीतर ही हुड़े है, क्योंकि वेदोक्त धर्म के अतिरिक्त अन्य सब मतों को अपनी गवीनता और ५०० वर्ष से अधिक प्राचीन न होना स्वयं स्वीकृत है, परन्तु स्वामी जी ने अन्यायुन्ध में अपना मत नहीं खड़ा किया, किन्तु नागा मतों को हटाने पर एक वेदोक्त धर्म का प्रचार करने के लिये अन्य वेदभाष्यादि संयोग भी किये तथा सत्यार्थप्रकाश भी रचा, परन्तु नागा मतवादियों के वैदिकद्वंद्वों का खण्डन उन २ मतवादियों को बुरा लगा, इस कारण यदि वे स्वामी जी को गवीन मत चलाने वाला कहें तो कुछ आश्चर्य नहीं ॥

स्वामी जी ने अपने जाने हुये वैदिकद्वंद्व एक मत का भी खण्डन करने से नहीं छोड़ा और आप कहते हैं कि “मेरा तात्पर्य उन मतों को अच्छा बुरा कहने का नहीं है” इत्यादि । तो फिर आर्यसमाज के धर्म को अच्छा बुरा कहने पर क्यों उताऊ हुवे । यदि कहो कि वैदिक धर्म की रक्षार्थ, तो क्या अन्य जैनादि मतों ने वैदिकधर्म की निन्दा और निज कल्पित मत के प्रचार में न्यून परिश्रम किया है या करते हैं ? फिर आप यह स्वीकार करके भी कि महाभारत पश्चात् अविद्यावश अनेक मत चल पड़े, फिर उन मतों का खण्डन न करके केवल आप के वैदिकधर्म को फैलाने वाले, राम कृष्णादि महात्माओं की निन्दा करने वालों को गिराने के लिये आप के पूर्वजों के नाम और यश तथा धर्म की मर्यादा के रक्षक आर्यसमाज के ही खण्डन पर आप उतरे हैं सो क्या सन्निपात रोगी के सी अवस्था नहीं है ? जो आप अपने हितेषु को बिट्टेपी और अन्य जैनादि विरोधियों को हितेषु समझ कर झगड़ कर रहे हैं ॥

स्वामी जी का और हमारा भी ध्यारह्वें समुक्तास को लिखने और उस के ऊपर उठी शङ्काओं के निवारण से यह तात्पर्य नहीं है कि इस प्रकार के मानने वालों का बिस दुखाया जावे, किन्तु यह कि उन २ मतों की मूल सुधार कर धर्म, जो वेदोक्त है, उस का प्रचार हो ॥

॥० लि० भा० पृ० १९३ पं० १२ से—

अश्वत्थामा ने पाण्डवबंध निवेश करने की जरूरत त्यागन किया था जो वह उत्तरा के गर्भ में ही मारने की प्रविष्ट हुआ तो क्या वहाँ उत्तरा के गर्भ में विचार वा सलाह से बाण छोड़ा या जो परीक्षित गर्भ में ही सुतक ही गया, वह मन्त्र ही का ही प्रभाव था ॥

प्रत्युत्तर—विश्व प्रकार मन्त्र का प्रभाव आप का साध्य है, उसी प्रकार

इस कथा का सत्य होना भी आप का साध्य है, इस साध्य के समान हेतु देना "साध्यपणहेत्याभास" नाम नियहुरूपान है। जैसा कि—

**साध्याऽविशिष्टः साध्यतयात् साध्यसमः। न्यायदर्शन १।४८ ॥**

अर्थात् साध्य से विशेषता न रखने वाला हेतु भी साध्य होने से 'साध्य सम' नामक चतुर्थ हेत्याभास है ॥

इसी प्रकार के असम्भव विश्वासों को हटाने के निमित्त तो स्वामी जी ने 'मन्त्र' का अर्थ विचार, किया है और आप पीराणिक होकर ऐसी बात लिखते हैं कि परीक्षित गर्भ में ही मृतक हो गया। क्या आप गर्भ में ही परीक्षित का मर जाना किन्हीं पुराण में दिखायेंगे? क्या वह मर कर ईशान-सीढ़ के समान फिर (जीवित) जिन्दा होगया और क्या यह किसी पुराणमें लिखा है? यदि नहीं तो आप परीक्षित का जन्म और राज्य करना, जगन्नेत्रय पुत्र होना, उस को सर्प के काटने से सर्पहोम के लिये जननेत्रय को क्रोध आना और श्रीकृष्ण के सुदर्शनचक्र द्वारा परीक्षित की रक्षा का विश्वास आप को नहीं है? यदि ऐसा है तो क्या आप भी महाभारतादि के इतिहासों को पूर्ण सत्य नहीं मानते? यदि नहीं मानते तो इसी पृष्ठ में लक्ष्म के सिंहासन उड़ आने आदि अत्युक्ति (मुवालयो) को क्यों लिखते हैं?

द० ति० भा० पृ० २८३ पं० २१ से—

स्वामी जी ने कहा है कि शब्दमय मन्त्र होता है, उस से द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। यह भी असत्य है, फिर वेदवाक्य तो कहते हैं 'स्वर्गनामो यजेत' यदि केवल मन्त्र शब्दमय है तो स्वर्ग कैसे हो सकता है?

प्रत्युत्तर—स्वर्गकामोयजेत, का अर्थ यह है कि स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करे तो क्या स्वर्ग उत्पन्न हो जाने से तात्पर्य है? प्रत्युत यह है कि यज्ञ करने का फल स्वर्ग है और यह वाक्य वेदवाक्य भी नहीं है, चारों वेदों की ४ संहिताओं में कहीं नहीं है। सर्प, बीड़ मन्त्रों को नहीं मानते, यदि मानते तो चुने, जुलाहे, रुपाने, दिवाने किसी सर्प के काटे को न मरने देते। औषध भी न देते। एक बाण छोड़ने से पत्थर नहीं चर्च सकते, किन्तु किसी विचार (गुप्त) से ऐसा हो सकता है। सर्प पकड़ कर फूंकना तो ठीक है, जैसा कि भय भी भेड़िये, शेर, बाघ, काले सर्पोंदि की गवर्नेमेंट मरवा डालने की प्रेरणा करती है, परन्तु मन्त्र पढ़ने मात्र से ही यह सब असम्भव है। तथा जैसे कारकबीला, बालउड़ आदि बिज्जीलीयन द्रव्यों पर बिज्जी स्वयं दौड़ कर

जाती है। इसी प्रकार सर्प भी कहीं ओषधों के होम में जाकर गिरने लगें यह संभव है। “आग्नेयास्त्र” ऐसे विचार (मन्त्र) पूर्वक छोड़ना कुछ अनन्तव नहीं कि जहाँ चाहें वहाँ अग्नि बर्षे। प्राचीन ऋषि मन्त्र द्वारा देवताओं को बुलाते थे सो अब भी जहाँ हवन होता है वहाँ वायु और वन के अन्तर्गत अन्य देवता आते और आहुति लेकर मनुष्यों के अनुकूल सुखदायक हो जाते हैं। यथार्थ में शब्दमय मन्त्र जड़ हैं और गुण से द्रव्योत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसा कि—

**द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥**

**वैशेषिकदर्शन अध्याय १ सूत्र ८ ॥**

**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥**

अर्थात् द्रव्य और गुण अपने सजातीय को उत्पन्न करते हैं यही इन में साधर्म्य (समान धर्म) है ॥ ८ ॥ अर्थात् द्रव्य से अन्य द्रव्य तथा गुण से अन्य गुण उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥ तब आप का गुण (शब्दमय) मन्त्र से द्रव्योत्पत्ति मानना शास्त्रानुकूल नहीं है ॥

वर और शाप देने के फल उस २ के कर्मवश होते हैं, जिस २ कर्म के कारण कोई महात्मा वर वा शाप देता है। वैद्य ने वृक्ष को जीवित किया सो सर्वथा भस्म हुये को नहीं, किन्तु अर्द्धवृक्ष को हरा भरा करदेना औषध प्रभाव से संभव है। जर्मनी का कोई गुणवाही सहस्रों धन से अस्त्रविद्या का पुस्तक ले गया सो प्राचीन पदार्थविद्या के खोजने को, न कि जादूगरी के लिये। तथा अन्यदेशीय भी भारतवर्ष से जिस प्रकार कभी विद्या सीखते थे, ऐसे अब अविद्या भी विद्या की मूल में शिर चढ़ा लेवे तो आश्चर्य नहीं। कितने ही धियासोजिष्टों को मृत चुड़ैल रूप अविद्या चिपटती जाती है ॥

द० ति० भा० पृ० २८४ पं० ४ से—

ब्रह्मवाक्यम्—वेदाक्य जो है सो जनार्दन हैं, अर्थात् वेद ईश्वरवाक्य होने से उस से पृथक् नहीं ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो आप ने स्वामी जी के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना करके—  
अविशेषाभिहितेयं वक्तुरभिप्रायादर्यान्तरकल्पना वाक्छलम्

**न्यायदर्शन १। ५३ ॥**

सामान्य कहे गये हैं वक्ता के तात्पर्य से भिन्न दूसरा अर्थ कल्पित करना वाक्यल कहाता है ॥

सो स्वामी जी ने तो यह तात्पर्य समझ कर लिखा है कि ब्राह्मण लोक अपने वचन को परमेश्वर के बराबर बताने के लिये कहते हैं कि—‘ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः’ । आप दूसरा अर्थ करके “वेदवाक्य जनार्दन है” यह अर्थ करते हैं । अस्तु, परमेश्वर ने आप पर बड़ी कृपा की जो आप ने ब्राह्मणों के कृपाभिमान वाले अर्थ को छोड़ दूसरा ही अर्थ खड़ा किया । परन्तु वेद वाक्य को साक्षात् परमेश्वर जानना भी ठीक नहीं क्योंकि वेद केवल मनुष्यों के कल्प्यार्थ प्रकाशित हैं और वचन को वक्ता जानना या जानना भाजान है । वेद परमेश्वर का वाक्य भी नहीं किन्तु परमेश्वर का दिया ज्ञान है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २९४ पं० १६ से—

वास्तव में यह पोप शब्द का कल्पित अर्थ तुम्हीं में घट सकता है कि (अन्यमिच्छस्व सुमने पतिं मत) इत्यादि वेदमन्त्रों का जहां तहां अर्थ बदल दिया है । अपना मत चलाने के लिये चन्दा बटोरना तथा पुस्तकों की कीमत थीगुणी करके रजिस्टरी कराना इत्यादि यह ठगई नहीं तो और क्या है ?

प्रत्युत्तर—यह आप सत्यार्थप्रकाश का उत्तर देते हैं या स्वामी जी के कार्यो को समालोचना करते हैं ? सच है चिह्न में गाली ही दी जाती है । स्वामी जी ने चन्दा करके पुस्तकों की रजिस्टरी कराके वैदिकयन्त्रालय की सज्जति की सो स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु पुस्तकप्रचार द्वारा जगत् के कल्याणार्थ । सहजानन्दादि के वर्णन से हम को सम्बन्ध नहीं है और मतविषयक खण्डन मण्डन में व्यक्तिविशेष के आचरणों को बीच में डालना आवश्यक बात भी नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० २७ से—

शङ्कराचार्य ने शैवमत का खण्डन नहीं किया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—शैवमत का ही नहीं किन्तु शाक्त वैष्णवादि को भी उन्होंने परास्त किया था । शङ्करदिग्विजय संगे १५ श्लोक ६५ को देखिये—

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै,

राम्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम् ॥

मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्व्यधात्,  
सर्वज्ञो न यतोऽस्य सम्भवति संमानग्रहग्रस्तता ॥

अर्थात् शाक्तपाशुपत क्षपणक कापालिक और वैष्णव तथा अन्य भक्ति-दुर्वादी खलों से वैदिकधर्म की रक्षा के निमित्त इन उग्रशक्तियों का शङ्कराचार्य ने विनाश किया । किन्तु अपने माग के निमित्त नहीं, क्योंकि उन में मान रखी ग्रह से घस्त होना सम्भव नहीं ॥ इस से यह भी निश्चित है कि शिखापराधमञ्जनादि स्तोत्र शङ्कराचार्य के नाम से दूसरों ने बनाये या जैसे आज कल शङ्कराचार्य द्वारिका की गद्दी पर हैं वैसे अन्य अनेक शङ्कराचार्य नामधारी हुये हों उन में से किन्हीं ने यह कार्य किये हों ॥

८० ति० भा० पृ० २२४ पं० २९-शङ्कराचार्य को विषयली वस्तु दी गई विषयली वस्तु से क्षुधा मन्द होगई यह कहां का लेख है सब कुछ असत्य है और यदि विचार जाय तो यह सब कुछ आप ही के ऊपर हुआ है आप को विष दिया गया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जब आप स्वीकार करते हैं कि आप ( दयानन्द सर० ) को विष दिया गया । तो जिन विरुद्ध मत वाले ने निज मत की पोल खोलने के लिये से अन्य कुछ शास्त्रीय बल न चला तब स्वामी जी को विष दिया, उनी के साथी अभिनिवेशित और अभिनिवेश नामक नास्तिकों ने केदारनाथ में स्वामी शङ्कराचार्य को भी शास्त्र में प्रबल पाय छल से विष देकर मारा हो तो क्या आश्चर्य है । ( देखो ऐतिहासिकनिरीक्षण भाग २ शङ्कराचार्य का इतिहास प्रकरण )

मगी पं० लेखराग को उन के धर्मशत्रु ने छुरे से मार डाला और अनेक धर्मप्रचारकों को यही दशा हुई है और जब कि सत्यार्थप्रकाश में यह नहीं लिखा कि किसी पौराणिक ने शङ्कराचार्य को विष दिया । किन्तु नास्तिकों ने दिया, लिखा है । तब इस का उत्तर नास्तिक लोग दे लेंगे, आप क्यों सफाई पेश करते हैं । तथा आप के मगीप ही स्वामी दयानन्द को विष दिये जाने का आरोपों के कहने के अतिरिक्त क्या प्रमाण है, किन्तु अनेक जनश्रुति भी यदि सम्भव हों तो मानो जाती हैं, सो ही प्रमाण है ॥

८० ति० भा० पृ० २२५ पं० ९ से-

समीक्षा-स्वामी जी की बुद्धि की कहां तक ठीक लगाई जाय पहले लिखा कि युक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का मत अखण्डित रहा अब कहते हैं कि जो शङ्कराचार्य का निजमत था तो अच्छा नहीं । मल्ला जी जो बोह सम्प्रमाण और युक्तियुक्त था तो निजमत कैसा और अच्छा क्यों नहीं और जब कि शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीतने को यह मत स्वीकार किया तो बोह

तो छन किया और वैदिकमत में हीनता भागई कारण कि सम्मन में तो न जीत सके बनावट में जीता तो यह सिद्ध हुआ कि स्वामीशङ्कराचार्य ने छल से जीता तो वैदिकमत कसा प्रतीत होता है फिर शङ्कराचार्य को भागविद्वान् भी बतलाते हैं जब विद्वान् थे तो मत्स्य शास्त्रानुसार ही जय पाई बनावट नहीं की किन्तु यह बात स्वामी जी ने ही की है कि ईसाई यवनों के शास्त्रार्थ को भयं ही बदल दिये तथा जब ब्राह्मतर्पण मूर्तिपूजन में यवनादिकों का आग्रह देखा तो हमें छोड़कर वेद में रेलतार बिजुली ही भर दी इस से यह बात दयानन्द जी में ही प्रतीत होती है शङ्कराचार्य ने कुछ बनावट नहीं की फिर भागे इस के स्वामी जी ने अद्वैतवाद लिखा है जो अटकल-पसू है उत्तर उनका पूर्व लिख चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी के लिखने का यह तात्पर्य है कि नास्तिकों के व्यक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का मत अखण्डित तथा शङ्कराचार्य के दिये प्रमाणों से नास्तिकों का मत खण्डित रहा। यदि शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीतने को अद्वैतमत खड़ा किया तो छल का दोष उस में अवश्य है। इसी लिये स्वामी जी उन को “कुछ अच्छा” लिखते हैं किन्तु “पूर्ण अच्छा” नहीं। कुछ अच्छा इस लिये कि नास्तिकों के सर्वथा वेदविरोधी मत से अद्वैतमत का एक अंश मात्र वेदविरोध अल्पविरोध है। महान् विरोध से अल्प विरोध अवश्य कुछ अच्छा है। किन्तु सर्वथा अच्छा नहीं। शङ्कराचार्य को विद्वान् हम लिये माना है कि उन्होंने की विद्वत्ता का यह फल है कि नास्तिकों के घोर सङ्ग्राम में उन्होंने ने उन्हें परास्त किया। क्या नास्तिकों का परास्त करना ठहरा है? विद्वत्ता नहीं है? परन्तु किसी विद्वान् ने किसी अंश में कोई भूल होजाय तो असम्भव नहीं। पर आप यदि शङ्कराचार्य के अद्वैत मत को सच्चा समझते हैं तो उस पर वादानुवाद करना ठीक होगा। इस से क्या लाभ कि स्वामी जी ने ऐसा क्यों लिखा? और वैसा क्यों लिखा ॥

स्वामी जी ने ईसाई यवनों को जैसा कुछ उत्तर दिये हैं उस की आप क्या कृतज्ञता मानेंगे, आप का देश भर, आप की सन्तान, और आप के समुदायरूप समझदार लोग मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। ब्राह्म को यवन बेचारे क्या कहेंगे जब कि वे स्वयं मृतक निमित्त पाठ दान आदि करते हैं तथा कब्रों पर रोटी धरते हैं। जब ऐसा है भी स्वामी जी को उन का दबाव ही क्या था जो उन के शास्त्रार्थ में भय से वे ब्राह्म तर्पण का खण्डन करने लगते। यदि उन्हें दबाव में आना होता तो हिन्दुओं ही का दबाव न मानते, जिस से आज दिन शङ्कराचार्य के समान शिव का अवतार कहाते।

उन्होंने ने किसी के दबाव से नहीं किन्तु सत्य और परमात्मा के दबाव से सब कुछ रेल तार आदि वैदिकविद्या का विकाश कर योरप के विद्याभिमानीयों को वैदिकसूर्य की किरणें दिखलाई। अद्वैतवाद का उत्तर दे लिये ॥

८० ति० भा० पृ० २८७ पं० ५ से—स्वामी जी के लिखे मतार्थप्रकाशरूप “नेतरोनुपपत्तेः” इत्यादि वेदान्तसूत्रों पर पं० जगन्नाथप्रसाद जी लिखते हैं कि—

अब इन सूत्रों के यथार्थ अर्थ दिखलाते हैं कि यह सूत्र कौन से प्रकरण के हैं और कौन से स्थल के हैं ॥

“आनन्दमयाधिराजः । नेतरोनुपपत्तेः अ० १ पा० १ सू० १६ ” आनन्दमय के प्रकरण से सुना है कि एक ने बहुत की बछड़ा की बछड़ा से विषय लज्जा है सो यह काम जीव का नहीं है तिस से जीव आनन्दमय नहीं है अथवा आनन्दमय का मुख्य पणन नहीं है क्योंकि ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है और जो ब्रह्म अमत् जानता सो अमत् ऐसे भागे पीछे के संदर्भ के विरोध से संनारी जीव या प्रधान आनन्दमय नहीं है किन्तु ईश्वर ही है । सो उक्तमयत बहुस्यां प्रजायेयेति सतपोत्पन्न सतपस्तत्त्वा इदं सर्वमनुजत यदिदं किञ्चेति, जो कुछ कार्य है सो सब ईश्वर ने देख के रखा है ॥ १६ ॥

प्रत्युत्तर—शारीरक भाष्य का समझना कठिन है, आप यथार्थ और अथार्थ कुछ भी इन विषय में नहीं मगधे और इन सूत्रों पर जो अर्थ आप लिखते हैं वह भी आप का लिखा या समझा हुआ नहीं है । इस अर्थ की भाषा भी मुरादाबादी भाषा नहीं है और न वैसी हिन्दी भाषा है जैसी कि समस्त तिमिर ग्रन्थ की भाषा है । स्पष्ट है कि आप ने व्यास सूत्रों के ताराचन्द्र क्षत्रियकृत काशी आर्ययन्त्रालय के छपे भाषानुवाद को उठा कर यहां रख दिया है । यदि आप इन सूत्रों को कुछ भी समझते तो स्वामी जी के लिखे अर्थ में दूषण बताते हुये अपने अर्थ को पुष्टि करते । केवल अधिकरणों के नाम छाप देने से ( जो भाषानुवाद से उठा लिये हैं ) आप का वेदान्तज्ञ होना और स्वामी जी को अज्ञानो बताना आताश में थूकने के समान है ( जो थूकने वाले ही के मुख पर पड़ता है ) यदि आप ने सूत्रों के अक्षरार्थ को समझा होता तो कुछ तो अपनी भाषा में लिखते, नकि “तिस से जीव आनन्दमय नहीं है, अकामानुष्ययजु ने ब्रह्मधर्म है ” यह अमोखी भाषा । जिन को यह पील जाननी हो वे ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अक्षर २ मिला देंगे । इस लिये यदि आप अद्वैतवादी हैं तो प्रत्येक सूत्र पर स्वामी जी के

किये अर्थात् में दीवारोपण करके अपने पक्ष को दोष हटाइये, तब हम आप का वेदान्तीपना समझेंगे और आप को उत्तर दिये जाने की आवश्यकता होगी। स्वामी जी ने सूत्रों के प्रमाणपूर्वक आप को अद्वैतवाद पर इस प्रकार दोष दिये हैं जिन का परिहार आप एक भी नहीं कर सके:-

### १-नेतरोनुपपत्तेः ॥ १ ॥ १ ॥ १६

( अनुपपत्तेः ) उपपन्न होने से ( इतरः ) ब्रह्म ने इतर जीवात्मा ( न ) जन्मस्थितिप्रलयकारक नहीं, क्योंकि “ जन्माद्यस्य यतः ” १ । १ । २ सूत्र की अनुवृत्ति है। स्वामी जी ने ग्रन्थ बढ़ने के भय से प्रकरणानुकूल भाषानुवाद मात्र कर दिया है, वे जानते थे कि जो लोग वेदान्त पढ़े हैं वे ती इतने से ही समझ जायेंगे और कुपटों को सम्पूर्ण प्रकरण समझाया जावे ती सत्यार्थप्रकाश में ही वेदान्तभाष्य का पोषा बन जायगा। आप यतनाइये आप ने ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अधिक एक अक्षर भी कौन सा लिखा है जो स्वामी जी के दिये अद्वैत पक्ष में आरोपित दोष को हटा कर आप का पक्ष सिद्ध करता हो ॥ १६ ॥

द० ति० भा० पृ० २९७ से-

“ भेदव्यपदेशाच्च १७ । रसो वै रसः रसं ह्योवायं लब्धवानन्दी भवतीति । ( भर्षे ) जीव ब्रह्म के लाभ से भानन्द होता है यहां प्राप्य ब्रह्म और प्रापक जीव है यह भेद का कहना है अविद्याकल्पित देह कर्ता भोक्ता विद्यागात्मा से ईश्वर अन्य है जैसे खट्टाधारी मायावी सूत्र पर चढ़कर आकाश को जाता सा दिखाई देता है और वास्तव में वोह मायावी मूनिपर ही खड़ा है जैसे व्योम घटादि उपाधि से भिन्न अनुपाधि अन्य है तैसे ही जीव ब्रह्म का भेद है । वास्तव नहीं ॥

### प्रत्युत्तर-२-भेदव्यपदेशाच्च ॥ १ ॥ १ ॥ १७

इस सूत्र पर “ रसं ह्योवायं लब्धवानन्दी भवति ” यही विषयवाक्य स्वामी जी ने लिखा है और आप भी ताराचन्द्र की नकल करते हुये यही वाक्य लिखते हैं। न यह बतलाते हैं कि भेद शब्द का परिहार क्या है और न यह कि कल्पित भेद मानने में क्या आपक है ॥ १७ ॥

किर-द० ति० भा० पृ० २९७ से-

“ अस्मिन्नाद्यं च तद्योगं शास्ति १८ ” इस भानन्दमय के प्रकरण में जीव का



योग आनन्दमय ब्रह्म के साथ वेद उपदेश करता है उससे उपचार की इच्छा से भी आनन्दमयवाक्य का अर्थ प्रधान या जीव नहीं है यथा स्यैवैव एतस्मिन्मूढयेनात्मयेऽनिरुक्तेनिलयेऽभयं प्रतिष्ठतां विन्दतेऽप्य भोऽस्ययुक्तो भवति तदा वै स्यैव एतस्मिन्मूढरमन्तरं कुरुतेऽयं तस्यभयं भवतीति। अर्थ—तादात्म्य-से ईश्वर को देखे सो देखना परमात्मा के यहण से बनता है न जीव या प्रधान के ग्रहण में तिस से आनन्दमय परमात्मा है न कि विज्ञानात्मा। श्रुति—सवाएष पुरुषोत्तरसमयस्तस्माद्वा एतस्मादकारसमयादन्त्योन्तर आत्मा प्राणमयस्तस्मादन्त्योन्तर आत्मा विज्ञानमय इति। अर्थ—यहां पर भी विकाराय की परम्परा से आत्मा अद्वितीय है च हेतु में है जिस से आनन्दमय को आनन्दमय का सम्बन्ध वेद ने उपदेश किया है तिस से उपासना के लिये भी आनन्दमय प्राधान्य नहीं है और आनन्द प्रचुर कहने से दुःख शून्य भी मत समझे अद्वितीय से “श्रुति” रसं स्यैवायं लब्धव्यमनन्दी भवतीति ॥ १९ ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी इन सूत्र और ताराचन्द्र के भाषानुवाद का यहां क्या प्रयोग है ? स्वामी जी के त्रैलोक्य भित्ति से बिरुद्ध इस में कीनसा पद है ? तथा अद्वैत सङ्ग का कीनसा पद है ? जब नहीं है तो आप की कुछ इष्ट-सिद्धि नहीं, सिवाय पुस्तक बड़ा करने के। स्वामी जी ने जो इस सूत्र को अपने पक्ष का पोषक आगमर सत्यार्थप्रकाश में लिखा है और अर्थ किया है कि “ब्रह्म में जीव का योग या जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं” और “तादात्म्य-से ईश्वर को देखे” यह आप का अर्थ मूल से किसी प्रकार नहीं निकलता, न उचिit से ॥ १९ ॥

४० ति० सा० २०८ से—

“हिरण्यमयाधिकरण-अन्तस्तद्वर्णोपदेशात् २०” परमेश्वरस्य धर्मा इहो-पदिश्यन्त इति सीञ्जेनुवादः छान्दोग्य के प्रपञ्चाध्याय में तृतीय उपासनाओं के बीच गौण उपास्यों का उपदेश किया है वह यह कि सूर्य के बीच में हिरण्यमय पुरुष है और ऋक्साम यजुः के ब्रह्म धर्म हैं और ब्रह्म सब पापों से मुक्त अद्वितीय ईश्वर कहा है यह अर्थ इन श्रुतियों से लिया है “सैवर्कतसान्तदुक्कयन्तद्यजुस्तद्ब्रह्मेति उदेति इ वै सर्वैरूपः पाप्मनस्य इति वाच यष्टोन्तरादिस्थे हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते इत्यादि से ( सब ) संशय है कि विद्या करने की अतिशय से बड़ा होके सूर्यादि प्राप्त उपास्य कहा है या नित्य सिद्ध ईश्वर है फिरकपी दुनने से संसारी है न कि ईश्वर नीरूप से निरूपका

रूप उपासना के लिये मान लिया है “अशब्दस्पर्शरूपमव्ययम्” इस श्रुति से भी ईश्वर अपनी सत्ता से ही निराधार ठहरा है “सभगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति” इस वाक्योवाक्यरूप श्रुति से निर्विकार अगन्त है “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” इस श्रुति से कभी २ विकारों से भी कहा है “सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः” इत्यादि श्रुति से तात्पर्य यह है कि जो बाहर गन्ध रसादि देखते हैं सो सब ईश्वर की सत्ता ही है और न कि सुदुर्लभ कठिनादि वस्तु कुछ ही है तिससे ईश्वर ही सूर्य और नेत्र के बीच उपासित है “सोसावहम्” वो मैं हूँ ॥ २० ॥

प्रत्युत्तर—अन्तस्तद्वसे० अर्थात् इस ब्रह्म के अन्तर्धानी आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। इस स्वामी जी के अर्थ में आप ने क्या दूषण दिया ? और आप के लिखे हिरण्यवाधिरक्षण से भी स्वामीजी के सिद्धान्त पर क्या दोष बताया और आप के ताराचन्द्री अर्थ में “सैवर्क तत्त्वान०” का स्वामी जी के विरुद्ध क्या तात्पर्य है ? प्रत्युत्तर ( बलिक )—

### अशब्दस्पर्शरूपमव्ययम्

इस आप ही के लिखे वाक्य से परमात्मा का शब्दस्पर्शविरहित निराकार होगा साकार जगत् से उस के भिन्न होने को जताता है। इसलिये आप “स्वस्यैव पादे कुठारप्रहारः” का काम करते हैं ॥

स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि इति

इस आप के लिखे वाक्य का भी यह अर्थ हुआ कि हे भगवन् ! वह ( ब्रह्म ) किस में स्थित है ? उत्तर—अपनी महिमा में । भला इस से भी स्वामीजी के किस पक्ष का निराकरण हुआ ? किसी का नहीं । बलिक आप ने ही “निर्विकार अगन्त” लिखा है सो विकारी जगत् से निर्विकार परमात्मा भिन्न हुआ । और—

सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः

का अर्थ यदि यह मानें कि परमात्मा में ही समस्त काम गन्ध और रस हैं, तो आपही की पूर्वोद्धृत “अशब्दस्पर्शरूपमव्ययम्” इस उपनिषद् से विरोध आयेगा । इस लिये परमात्मा में सर्वगन्धादि भिन्न के नहीं किन्तु व्यापकता से पृथिव्यादि भिन्न जगत् के गन्धादि गुण उस परमेश्वर से बाहर नहीं किन्तु उसी में हैं, यह तात्पर्य समझना चाहिये ॥ २० ॥

द० ति भा० पृ० २९८ से—

“भेदव्यपदेशाच्चान्यः २१” जो सूर्य में है इस से ईश्वर अन्य है इस भेद से सूर्य आंधार और ईश्वर आधेय जान पड़ता है यह अर्थ इस श्रुति से लिया है य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरोय आदित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरोयनपत्येषते आत्मान्तर्पोष्यसृत इति । इस में यह सिद्ध हुआ कि हिरण्यमय ईश्वर ही है न कि देवतादि ॥ इस का अर्थ भी स्वामी जी ने गढ़ बड़ में लिखा है ॥

प्रत्युत्तर—आप भी तो “जो सूर्य में है” यह लिखते हैं । जिस से स्पष्ट है कि सूर्य ब्रह्म नहीं किन्तु सूर्य में ब्रह्म है । तब ब्रह्म से सूर्य भिन्न ही हुआ । और

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः ।

ओ आदित्य में स्थित है और आदित्य से भिन्न है ॥

यमादित्यो न वेद

जिस को आदित्य नहीं जानता । जड़ होने से कि मुक्त में ईश्वर व्यापक है । यह सूर्योदि जड़ लोक नहीं जानते । इस में स्वामी जी ने गढ़ बड़ क्या की ? किन्तु आप इस का उत्तर क्यों नहीं देते कि इस प्रकार सूर्य ही ब्रह्म है, सूर्य से भिन्न नहीं । महात्मा जी ! यह नियोग की घनकी नहीं है, ये वेदान्त के ब्रह्मविद्या के सूत्र हैं, ज़रा समझ कर बैठिये ॥२१॥

द० ति० भा० पृ० २९९—

“मनोमयाधिकरण-अनुपपत्तेस्तु न शरीरः अ० १ पा० २ सू० ३” मनोमय ब्रह्म है और जीव में सत्यसंकल्पादि गुणों का असम्भव है तिस से मनोमयादि धर्मों से उपास्य नहीं है यहां कई एक शब्दा सूत्र देकर पीछे सिद्धान्त सूत्र लिखा है किः—

“अर्भकौकस्तृणात्तद्व्यपदेशः। नैतिचेकनिचाटपत्वादेवं व्योमवच्च ॥३॥ अर्भकं बाल्यं अल्पं वा ओको नीडं दृष्ट्वा न निचाटपत्वादेव हृत्पुच्छरीकेद्रष्टव्यः वा उपास्यः व्योमवत् यथा सर्वगतमपि सत् तयोम शूचीपाशाद्यपेक्षया अर्भकौके अणीयश्च त्वपदिश्यते इति पुत्रमेव ब्रह्मापि” ध्यान यस्य से भी छोटा कहा है अणीयान्म्रीहेर्वा यवाद्देति आराधनात्र इति । ईश्वर ही जीव यहां कहा है जैसे सब पृथ्वी का पति अपिपति कहाता है । बालक को हृदय या जीव ध्यान जैसे छोटा इत्यादि उपाधियों के भेद से ब्रह्म उपासना के लिये कहा है न कि स्वरूप से जैसा अनन्त व्योम घटाकाश मठाकाशादिकों से छोटा कहा है इसी

से एषमआत्मान्तर्हृदय इति ॥

प्रत्युत्तर-कई सूत्रों में शङ्का नहीं की है किन्तु इन सूत्र पर हेतु दिये हैं। इन सूत्र का स्वामी जी यह अर्थ करते हैं कि शरीर अर्थात् “शरीरधारी” जीव ब्रह्म नहीं क्योंकि (अनुपपत्तेः) ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव जीव में नहीं। हमी की पुष्टि में जगला सूत्र हेतु देता है कि—

**कर्त्तृकर्मव्यपदेशाच्च १।२।४**

जीव परमेश्वर की प्राप्ति का कर्त्ता है और ब्रह्म कर्म है क्योंकि “एतन्मितिः प्रेत्याऽभिसंज्ञयितास्मि” में कहा है कि जीवात्मा कहता है कि इस परमात्मा को यहां से नर कर प्राप्त होऊंगा ॥

यह वाक्य आप के उनी ताराचन्द्री भाषानुवाद में भी उपस्थित है देख लीजिये। तब जीव ब्रह्म को प्राप्त करने वाला होने से कर्त्ता और ब्रह्म प्राप्त होने से कर्म है। इस से दोनों भिन्न हैं ॥ तथा—

**शब्दविशेषात् १।२।५**

अयमन्तरात्मन् पुरुषः। इस वाक्य में आत्मा के भीतर पुरुष परमात्मा कहा है। इस शब्दविशेष से और “उप में वह” ऐसा कहने से सप्तमी विभक्ति इस जीव ब्रह्म के भेद को जताती है। यह वाक्य भी आप ही के नामे और उद्धृत किये ताराचन्द्री अनुवाद में उपस्थित है। तथा—

**स्मृतेश्च १।२।६**

इस पर भी ताराचन्द्र ने गीता की स्मृति मान कर शङ्करभाष्यानुकूल—

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति**

इस गीतावाक्य के प्रमाण से लिखा है। जिस का यह तात्पर्य है कि उपनिषद्वाक्य ही नहीं किन्तु स्मृतिवाक्य में भी जीवात्मानों के हृदय में परमात्मा का स्थित होना कहा है, जिस से भेद सिद्ध है ॥

यदि आप अपने लेखानुसार इन सूत्रों को लिख देते तो सब भेद खुल जाता कि स्वामी जी ने पूर्वपक्ष का उत्तरपक्ष किया है वा शङ्कराचार्य ने। जब कृपाकरके यह तो बतलाइये कि यदि ये शङ्कासूत्र हैं और “अभंकी०” यह सिद्धान्त सूत्र है तो इन पूर्वसूत्रों में प्रतिपादित जीव ब्रह्म की भिन्नता का आप के अभिमत सिद्धान्त सूत्र में उत्तर क्या है? कुछ भी नहीं। जब इन ४ सूत्रों में कहे हेतुओं का जगले सूत्र में खडगन नहीं तब इस को सिद्धान्तसूत्र और इन पिछलों को शङ्कासूत्र बतलाना कन नहीं तो क्या है? इन

आप का सिद्धान्तसूत्र और आप का लिखा अर्थ ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।  
कृपया बतलाइये इस में क्या उत्तर है। प्रत्युत इस सूत्र के दो भाग हैं:-

**अर्भकोकस्त्वान्तदुव्यपदेशाच्च नेति चेत्**

यदि पूर्व हेतुओं की बालकों का चरवा होने से व्यपदेश मात्र मानो तो-

**न निचारयत्वादेवं व्योमवत्**

नहीं बगता, क्योंकि ज्ञेय वा प्राप्य होने से। जैसे आकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर है, परन्तु भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है, वही प्रकार परमात्मा केवल हृदयों के भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है। जैसे कि-

**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतः। यजु० ४०। ४**

वह इस सब के भीतर और वही बाहर भी है। जीव हृदय के भीतर ही है, बाहर नहीं। इस लिये जीव ही ब्रह्म नहीं है, किन्तु सिद्ध है ॥

द० ति० भा० पृ० २९९

“संयोगप्रप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ८” सर्वगत ब्रह्म का सब प्राणिमों के हृदय में सम्बन्ध से और चेतनरूप से और एकत्व से और शरीर के अंगों से सुख दुःखादि की प्राप्ति सम्बन्ध हो अन्य संसारी के न होने से “नान्योऽस्ति विस्तृतीति” इत्ये फिर् उपाधित मानने से उपाधि धर्म दुःखादि की प्राप्ति न होगी क्योंकि उपाधि बिम्ब में नहीं होती है इस से ब्रह्म में भोग की गन्धि भी नहीं है जीव ब्रह्म का भेद मिथ्याज्ञानसे है और ज्ञानसे अज्ञेय है इस से “अग्न्यन्त्योऽभिवाकशीति” कर्ता भोक्ता धर्माधर्म साधन सुखदुःखादि साधन एक है और दूसरा अपहृतपापनादि साधन है इस विशेष अर्थात् भेदसे जो सम्बन्ध मात्रही कार्य होता है तो व्योमादिकोभी दाहादि होना चाहिये सर्वगताने-कात्मवादीकोभी उक्त चोद्यपरिहार समान है और जो शास्त्र जीवपरकी एकता कहते हैं वे एकता के द्वारा संयोग की निवृत्ति भी कहते हैं जैसे “तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्मास्मीति” इत्यादि जैसे किसी ने व्योम को मलिन कहा तो क्या वह मलिन हो सक्ता है तिस से वेद में जीव उपास्य नहीं कहा किन्तु ब्रह्म हो तेने मिथ्या ज्ञान से योग और सम्बन्ध ज्ञान से ऐक्य है वही विशेष है तिससे ईश्वरमें भोगगन्धि भी नहीं बल्य सक्त हैं इत्यादि ॥ यहां भगोमयादि प्रकरण है जीव ईश्वरभक्ति अधिकरण नहीं है ॥

प्रत्युत्तर-पूर्व सूत्र में ब्रह्म को “व्योमवत्” आकाश के तुल्य व्यापन होगा लिखा है। उस से यह शङ्का किसी को न हो कि आकाशवत् व्यापक है तो

सम को सम्भोगप्राप्ति हो सकती है ? अर्थात् क्या ब्रह्म को भोग प्र ४ होता है ? “उत्तर-“न वैशेष्यात्” नहीं, क्योंकि विशेषता है। और आप ने विशेषता का वाक्य स्वयं लिखा है कि “अनश्नकन्यो अभिषाकशीति”

अर्थात् जीव से अन्य ब्रह्म है जो भोगरहित साक्षी मात्र है। इस लिये यह सूत्र भी स्वामी जी के स्वीकृत भेदपक्ष का पोषक है। “तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि” इन वाक्यों का इस (संभोगप्रा०) सूत्र से सम्बन्ध ही नहीं, यह वेदान्त के न समझने वाले वा आग्रही भट्टैतवादियों का ठग है कि जिस वाक्य में स्पष्ट द्वैत आया और सम का अर्थ खैलतान से भी अपने पक्ष में न हुआ वहां भट्ट ‘तत्त्वमसि’ अहं ब्रह्मास्मि” को ले दौड़ते हैं। यदि सगोसयाधिकरण होने से भेद सिद्ध नहीं होना तो अभेद भी सिद्ध न होवे। क्योंकि अभेदप्रकरण भी तो नहीं है। परन्तु इन अधिकरणों का भेद जानना साधारण बात नहीं है कि लिया सटाकर छाप दिया ॥८॥ फिर ८० ति० भा० पृ० ३००

“गुहाधिकरणं गुहां प्रविष्टावात्मानो हि तद्दर्शनात् ११” कठवल्ली से सुना है कि सुरुत का फल नरदेह है और वही परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है विद्यागतादि के समस्तव से फिर देह में या हृदय में ब्रह्म जीव ठहरे हैं और कर्मफल को पाता है और न कि बुद्धि जीव हैं जड़ और भजड़ के विरोध से जड़बुद्धि सुरुतपान नहीं कर सकती है चेतना क्षेत्रज्ञ कर सकता है एक सत्री अन्य अक्षत्री इनको देख कह सकते हैं कि सत्री चलते हैं उपचार से जीवे, तैसे जीव पाता और ईश अपना दोनों संग से पाता कहे हैं तिस से जीव ईश हैं या जीव पीता ईश पिवाता है छाया और आतप की नाई जीव हृदयमें प्रत्यक्ष में और ब्रह्म श्रुतिसे दिखाता है “गुहाहितङ्गहरेष्ठं पुराणं यो वेद निहिसं गुहायां परमे ठयो नम् आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टमिति” जैसे लोकमें इन गीका दूसरा छाओ यह कहने से न चोड़ा न भेंसा छाता है किन्तु गीही लाता है तिस चेतन जीव ब्रह्म समस्वभाववाले हैं और नकि विषम स्वभाववाले जड़चेतन बुद्धि जीव है और समान धर्म होने से एक है केवल उपाधिसे पृथक् सामते हैं (अतं पिबन्ती) इस श्रुति की व्याख्या पूर्व कर चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर-आप ने १ दो सूत्र बिच के जो छोड़ दिये हैं, उन्हें और मिला जीजिये, वे ये हैं-

अन्ता चराचरग्रहणात् १। २। ६॥ प्रकरणाच्च १। २। १०

चराचरमात्र का ग्रहण करने से परमात्मा सब का ग्राहक भी है तथा प्रकरण से भी यहां परमात्मा ही का ग्रहण है, मन आदि का नहीं। फिर तीसरा यह सूत्र है, आपने जिसे अपना पक्षपोषक समझकर लिखा है (गुहां प्रविष्टावात्मानो) इस में आत्मानो इस द्विवचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि

दो आत्मा गुहा में प्रविष्ट हैं, एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा । यह कहना कि समान धर्म ( दोनों चेतन ) होने से एक हैं , ठीक नहीं । यदि एक कहने का तात्पर्य चेतन्य साधर्म्यमात्र है तो ठीक है अर्थात् चेतनता में दोनों एकसे हैं । जैसे मनुष्य मनुष्य एक इत्यादि परन्तु विशेष से दोनों भिन्न हैं, न कि उपाधि ने । क्योंकि जीव एकदेशीय होने से उपाधियुक्त होता है, ब्रह्म तो सर्वदेशीय है उसे कोई उपाधि उपहित नहीं कर सकता । उपाधि घेरे को कहते हैं, ब्रह्म सब से बड़ा होने से घिर नहीं सकता इस लिये “ उपाधि से ब्रह्म ही जीव बन गया ” यह समझना भ्रम है ॥ ११ ॥  
५० ति० सा० पृ० ३०० पं० २० से-

### अन्तर्धर्म्यधिदेवादिषु तद्वैधर्म्यपदेशात्

अन्तर्धर्मी परमात्मा अधिदेवादिषु पृथिव्यादिषु भवितुमर्हति कुतः तत् तस्य परमात्मनः धर्माणां गुणानां व्यपदेशनात् । भाषायेः । सुहृदारण्यके पांचवें अध्याय में याज्ञवल्क्यने उद्दालक से कहा कि पृथिव्यादि में अन्तर्धर्मी ईश्वर है क्योंकि पृथिवी में रहता है पर उस को पृथिवी नहीं जानती फिर ज्ञान जीव अमृतादि गुणों का उसी में संलग्न है इस से “ यद्ब्रह्मं लोकं परं बहुलं सर्वानि भूतानि योन्तरोयमिति ” फिर कहा कि “ पृथिव्यातिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽप्यं पृथिवीं न वेद यस्य पृथिवीशीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्धर्म्यमुनः ” इत्यादि ऐसा वाक्यों में न कि अधिदेवादि का अन्तर्धर्मी देवता या योगी या अपूर्व संज्ञा है किन्तु परमात्मा है अन्तर्धर्मी अमृतत्वगुण से ॥

प्रत्युत्तर-सूत्रार्थ यह है कि ( अधिदेवादिषु ) पृथिव्यादि देवों में ( तद्वैधर्म्यपदेशात् ) उस परमात्मा के धर्मों का व्यपदेश होने से ( अन्तर्धर्मी ) परमात्मा अन्तर्धर्मी है ॥

इतने से स्वामी जी के पक्ष में ईश्वर का उल्लेख कुछ भी नहीं होना प्रत्युत आप ही के दूधूत किये हुए उपनिषद्वाक्यों से उस का पृथिव्यादि देवों से भिन्न पृथिव्यादि का अन्तर्धर्मी होना पाया जाता है । यथा-

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद । इत्यादि

अर्थात् जो परमात्मा पृथिवी में ढहरा है, पृथिवी के भीतर भी है, जिसे पृथिवी नहीं जानती । इत्यादि ॥

६० ति० भा० पृ० ३०९ पं० १ से—

शारीरस्थोभयेपि हि भेदेन मनमधीयते १०

काय और माध्यान्दिन जो दोनों जीव से अलग ईश्वरको पढ़ते हैं तब वे जीव भी अन्तर्धानी नहीं है और न प्रधान है किन्तु अन्तर्धानी ईश्वर है कायः “ यो विज्ञाने तिष्ठन् ” इति माध्यान्दिनः “ यथात्मनि तिष्ठन्नात्मा मनस्तरो भवति ” अणु से अणु और महान् से महान् पृथिवी तथादि सब वस्तु में अन्तर्धानी को कहने से परमात्मा ही सर्वव्यापक है अन्तर्धानी और विज्ञानमय शरीर है इत्यादि सब कुछ ब्रह्म ही है यह अधिकरण ब्रह्म ही को कहते हैं जाते हैं जीव अज्ञानतक है जब यथार्थ अनुभव हुआ तो सब कुछ भी ही है अब जाने का सूत्र भूतयोनि प्रकरण का है ॥

प्रत्युत्तर—इस सूत्र में भी इस से पूर्वछे सूत्र ( न च स्मार्त्तमतदुर्गोप्तिना-  
लपात् ॥ २॥ १९ ) में से “ न ” की अनुवृत्ति है । और अर्थ यह है कि ( शारीरश्च न ) शरीरधारी जीवात्मा भी अन्तर्धानी नहीं है । क्योंकि ( तत्त-  
थेपि हि ) दोनों काय और माध्यान्दिन शाखा वाले अर्थात् ( एवम् ) इस जीवात्मा को ( भेदेन ) ब्रह्म से भिन्न भव्य से ( अधीयते ) पढ़ते हैं ॥  
इस में भी भेद ही सिद्ध हुआ, अभेद नहीं । आप ने भी अपने अर्थ में उपनिषद्वाक्य लिखा- है कि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति, इत्यादि

जो जीवात्मा के भीतर रहता और उस का अन्तर्धानी है ॥

६० ति० भा० पृ० ३०९ पं० ९ में सूत्र है कि—

अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः ॥ २॥ २१ ॥

प्रत्युत्तर—यह सूत्र भी अद्वैतवाद को नहीं कहता । इस का सरलार्थ यह है कि—परमात्मा अदृश्यत्व अदिगुणवाला है क्योंकि अदृश्यत्वादि धर्म उप-  
निषद् में कहे हैं जैसा कि आप के ही शाङ्करभाष्य में उपनिषद् का वाक्य उद्धृत है कि—

यत्तददृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।

अर्थात् यह ब्रह्म अदृश्य, अपेक्ष, अगोत्र, वर्णरहित, आँख कान हाथ



पांव से रहित है इत्यादि। वही प्राणिमात्र का स्वप्न है। उस इस से भी किसी प्रकार स्वामी जी के पक्ष पर कोई दूषण नहीं आता ॥

**यः सर्वज्ञः सर्वविदस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मा-  
देतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते इति ॥**

इस का न आप ने पता दिया, न अर्थ लिखा, न यह लिखा है कि इस से हमारे पक्ष की यह सिद्धि और विपक्ष की यह हानि है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम इस का अर्थ लिखते हैं—

“जो सर्वज्ञ और सब कुछ प्राप्त किये हुये है, जिस का ज्ञान ही तप है, यह ब्रह्म है। उस के तप अर्थात् ज्ञान वा सङ्कलन से नाम रूप और अन्न उत्पन्न होजाता है अर्थात् जब वह चाहता है, तब ही नाम रूप और अन्न को उत्पन्न कर लेता है” ॥

५० ति० भा० पृ० ३०१ पं० १७ से—

“विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यानेतरी ३२

वस्तुपरेश एव भूतयोनिर्माशरीरः प्रधानं चेति

जीव भूतों का कारण नहीं होसकता है क्योंकि अमूर्तपुरुष बाहर भीतर इत्यादि विशेषणों से व्यापक ब्रह्म ही कहा है न कि परिच्छिन्न जीव इस से “दिठयोऽमूर्तयः” इत्यादि और प्रधान भी भूतों का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि प्रधान से भूतों का कारण अलग कहा है, हम से “अन्त-रात्परतः पर इति अन्तरं अठपाकृतं नामरूपबीजशक्तिकूपं भूतसृजनमीश्वरा-अयन्तस्यैकोपाधिभूतमवैरुणात् विकारात्परतो य अविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन त्वपदेशात्परनिह विवक्षितमवर्धयतीति” ॥

प्रत्युत्तर—अब इस से आप का पक्ष क्या सिद्ध हुवा ? जब कि आप ही लिखते हैं कि—जीवात्मा परिच्छिन्न एकदेशीय होने से जगत्कर्ता नहीं हो सकता और प्रधान वा प्रकृति भी जगत्कर्ता नहीं है। क्योंकि—

**द्विव्योह्यमूर्तः पुरुषस्सवाद्याभ्यन्तरोह्यजः ।**

**अप्राणोह्यमनाः शुभ्र इत्यादि ॥**

परमात्मा के ही ये विशेषण होसकते हैं कि दिठ्य है, वृत्तिरहित है, पुरुष है, बाहर भीतर व्यापक है, अजन्मा है, प्राणरवि का जन नादि से रहित है ॥ और प्रकृति इस लिये कथं जगत् नहीं रच सकती कि—

### अक्षरात् परतः परः

आत्मा अविनाशी प्रधान प्रकृति से भी पर अर्थात् सूक्ष्म है। ये वाक्य आप ने ही अपने अर्थ में उद्धृत किये हैं ॥

२० ति० भा० पृ० ३०१ प० २५ में-रूपोपन्यासाच्च इत्यादि सूत्र से अद्वैत-वाद सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर-आप के ही उद्धृत उपनिषदादिवाक्यों की सङ्गति और उपनिषद्वाक्यों की पूर्वोपरसङ्गतिमहित इन सूत्र का स्पष्ट अर्थ यह है-

रूपोपन्यासाच्च २। २३ ॥

अर्थात् परमात्मा की व्यापकता में ही रूपों का उपन्यास वर्णन किया गया है, न कि जीव वा प्रकृति में। इस लिये पृथं सूत्र में कहा (नेतरी) ठीक है कि जीव वा प्रकृति जगत् के कर्ता नहीं हैं। रूप वाले पदार्थों को इस प्रकार परमात्मा में उपन्यस्त किया है कि-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वा-

ग्नितृताश्च वेदाः। वायुः प्राणोहृदयं विश्वमस्य

पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा इति ॥

अर्थात् परमात्मा सब सूतों का अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) है क्योंकि अग्नि उस के मूर्धा (मस्तक) के तुल्य है, चन्द्र सूर्य आंखों के, दिशायें कान, वाणी वेद, वायु प्राण, हृदय जगत् और पृथिवी पांव के तुल्य है। इस प्रकार परमात्मा में ही इन सब अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि नामरूप वाले पदार्थों का उपन्यास कहा है, जीव वा प्रकृति में नहीं। इस से भी स्पष्ट सिद्ध है क्योंकि जिन प्रकार आंख, कान, हाथ, पांव, प्राण आदि से जीवात्मा भिन्न है, इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि से इन का अन्तरात्मा भिन्न है ॥

—३३३—

### धाममार्गप्रकरणम्

पं० जगन्नाथसाह जी महाराज। आप के भाई बलदेवप्रसाद जी तो तन्त्रशास्त्र के आचार्य हैं। फिर आप ने क्या तन्त्र नहीं पढ़े? जो तन्त्रविषयक सत्यार्थप्रकाशस्य निम्नलिखित वाक्यों का कुछ भी समाधान न किया-

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।

एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥

कालीतन्त्रादि में

प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः  
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥

कुलार्णवतन्त्र

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।  
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

सहानिर्घाणतन्त्र

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ।  
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥  
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।

ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।  
शर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ॥  
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता ।

रुद्रयामल तन्त्र

आप को तो चाहिये या कि इन महानिन्दित सम्प्रदायी कार्यों का भी  
पल लेकर पुष्टि करते । या इन झोंकों के गर्भ करते या अनान्य बताते ॥



### कालिदासप्रकरण

द० ति० सा० पृ० १०२ पं० ११ से—

समीक्षा—यही ती दयानन्द जी ने निघड़क ही लेखनी चलाई है भला  
कोनसी पुस्तक इतिहास भोजप्रबन्धादि में यह लिखा है कि कालिदास गह-  
रिया या और स्वामी जी ने शत्रुता से कालिदास को गहरिया बताया है क्यों  
कि इन महाकवि के ग्रन्थों को "जिस का नाम इण्डो-य साध्यपुरुष भी गौरव  
के साथ लेते हैं" वहमे का निमेष किया है और भोजप्रबन्ध में कहीं भी  
कालिदास को गहरिया नहीं लिखा है किन्तु राजा की सभा में नकरजोंमें  
जहाँ भी या और स्वामी जी ती जाति कर्म से मानते हैं ती उन के मतानु-

सार पण्डित होनेसे वह गहरिया नहीं रहा और जो पण्डित होकर भी गहरिया जाति रही तो स्वामी जी के ही ग्रन्थों से स्वामी जी का सबबन होगया

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने कालिदास को गहरिया कहीं नहीं लिखा, आप के हृदय में संस्कार होगा, आप ने कहीं अन्यत्र सुना होगा। स्वामी जी ने तो भोज विक्रम कालिदासदि की आपने समय में कुछ प्रशंसा की है कि इन के समय में संस्कृत का प्रचार हुआ। उनके काव्यों का पढ़ना इस लिये वर्जित किया है कि अनार्य ग्रन्थों के पाठ से आर्य ग्रन्थों के प्रचार और पाठ में बाधा पड़ती है। तथा काव्य प्रायः कामासक्ति के उद्बोधक होते हैं। और यदि वह गहरिया हो कर भी भोज की सभा के नवरत्नों में या तो स्वामी जी का गुणकर्मस्वभावानुसार वर्ण मानना दूषित नहीं हुआ प्रत्युत भोज भी जन्म से निकृष्ट जाति तक को उत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त पाप सस की प्रतिष्ठा करता था और अपनी सभा के विद्वान् पुरुषों में लेलेता था, जिस से सब कोई विद्वान् होने का प्रयत्न करता था। आजकल के समान निरक्षर पुरोहितों की छीक बन्धी न थी और न हरिद्वार प्रयाग गया के पण्डे आदि के समान निरक्षरों को छत्तों रूपयों का दान मिलता था, और न आजकल के काशी के पण्डितों के सा जात्यभिमान था कि एक धाराप्रवाह संस्कृत भाषण करने वाले प्रतिष्ठित रहस्य सदाचारी कायस्थ को केवल कायस्थ कुल में जन्म लेने मात्र से वेदपाठसभा में बैठने तक का अनधिकारी समझा ॥

### रुद्राक्षप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३०६ पं० १ से—रुद्राक्षधारण को शैवों का ऐसा ही विश्व बताया है, जैसा संन्यासी लोगों का वेप पृथक् होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यदि ऐसा है तो केवल शैवों के लिये विधान होता। परन्तु उस में तो रुद्राक्षहीन पुरुषों को धिक्कार (लानत) लिखी है। किंर वैष्णवादि सब अन्य संप्रदायियों को गाली ही क्यों न हुई ?

द० ति० भा० पृ० ३०६ पं० १९ से—

संजीव—राजाभोज के बजाये संजीवकग्रन्थ का पता और उन मनुष्यों का वृत्तान्त कहाँ तक लिखें हमने कई रजिस्टरी बिट्टी निस्वरूपान को ब्राह्मणों के पास भेजी थीं जिस में ऊपर लिखा व्योरा स्पष्ट लिख दिया था उसमें से दो रूपानों से उत्तर आया है कि यह सब बात निरुद्धा है यहाँ कोई ऐसी पुस्तक

हामरे पास नहीं जिस में ऐसी बातें लिखी हों इस कारण स्वामी जी का कहना और चीखेगी के कहना दोनों अप्रमाण हैं। भोज के समय जिसने ग्रन्थ बने हैं वह अष्टावधि उन्हें के नाम से विख्यात हैं जो उन के कर्ता हैं सहस्रों श्लोकों को व्यास जी के नाम से रचने से उन्हें क्या लाभ था पहले स्वयं दयागन्द जी कहते थे व्यास जी ने २४००० सहस्र श्लोक का महाभारत बनाया अब चार सहस्र ही का वर्णन किया है फिर व्यास जी ने प्रतिज्ञा की है कि मैं इस ग्रन्थ में ८८०० कूट श्लोक कहूंगा “अष्टौ श्लोकमहस्त्राणि अष्टौ श्लोकशतानि चेति” जिन्हें मैं और शुकदेव जानता हूं संजय अर्थ कर सक्ता है या नहीं जिस के अर्थ में क्षणमात्र गणेशजी विचार करते थे इस अवसर में व्यास जी बहुत श्लोक बना लेते थे वेदगमपायन ने इन की प्रशंसा की है जो इस में है वह अन्यस्थान में मिलसकता है जो इन में नहीं है वह और कहीं नहीं मिलेगा। यह ग्रन्थ लक्षश्लोक से पूर्ण है स्वर्गारोहणपर्व के अन्त में लेख है कि इन के पाठ से अष्टादश पुराण की प्रवण का फल होता है तथा अनुक्रमणिका में प्रत्येक पर्व का वृत्तान्त और उन के अध्याय श्लोकों की संख्या लिखी है चार सहस्र में तो इन का युद्ध भी नहीं समा सकता और इन के बिना इतिहास कहाँ से आखेंगे क्या सत्यार्थप्रकाश में से निकलेंगे और देखिये प्रत्येक पुराणों में अष्टादश पुराणों का वर्णन है और उन के श्लोकों की संख्या है इसके स्पष्ट विदित है कि यह सब एक समय के बने हैं रागा भोज के समय पुराण बना किसी प्रकार से सम्भव नहीं ॥

प्रत्युत्तर—क्या आप ने लखुना के रावसाहब वा रामदयालु जी का कोई पत्र पाया है ? यदि नहीं पाया तो क्या एक स्वर्गवासी महात्मा को निश्वा-वादी खिलना ठीक नहीं। महाभारत में स्वयं आदिपर्व में २४००० सहस्र श्लोक होना लिखा है। यह भी साध्य है। तथा नीचे लिखे आदिपर्व अध्याय २ के भारत सूचीपत्र रूप श्लोकों को पढ़ने और तदनुसारी नीचे के (मक्रुशे) चक्र को देखने से ज्ञात होगा कि भोज के समय से अब तक भी बराबर लोग श्लोक बना कर मिलाते रहे और कितते ही श्लोक घटा भी दिये। जैसा कि—

१-आदि पर्व—

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।

सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥१३१॥

૨-સપ્તા પર્વ

અધ્યાયાસસપ્તતિર્જ્ઞયાસ્તથા ચાષ્ટૌ પ્રસંખ્યયા ॥૧૪૨॥

૩-ઘન પર્વ

અત્રાધ્યાયશતે દ્વે તુ સંખ્યાયાઃ પરિકીર્તિતે ॥૨૦૪॥

एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्त्तिताः ॥

૪-વિરાટ પર્વ

અત્રાપિ પરિસંખ્યાતા અધ્યાયાઃ પરમર્ષિણા ।

सप्तषष्टिरथोपूर्णाः श्लोकानामपि मे शृणु ॥२१६॥

૫-સદ્યોગ પર્વ

અધ્યાયાનાં શતં પ્રોક્તં षडशीतिर्महर्षिणा ॥૨૪૨॥

૬-ભીષ્મ પર્વ

અધ્યાયાનાં શતં પ્રોક્તં તથા-સપ્તદશાઽપરે ॥૬૫૨॥

૭-દ્રોણ પર્વ

અત્રાધ્યાયશતં પ્રોક્તન્તથાધ્યાયાશ્ચ સપ્તતિઃ ॥૨૬૭॥

૮-કર્ણ પર્વ

एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ॥२७६॥

૯-શરણ પર્વ

एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्त्तिताः ॥૨૮॥

૧૦-સીમ્લિક પર્વ

અષ્ટાદશાસ્મિન્નધ્યાયાઃ પર્વણ્યુક્તા મહાત્મના ॥૩૦૮॥

૧૧-ક્રી પર્વ

સપ્તવિંશતિરધ્યાયાઃ પર્વણ્યસ્મિન્પ્રકીર્તિતાઃ ॥૩૨૧॥

૧૨-શાન્તિ પર્વ

અત્ર પર્વણિ વિજ્ઞેયમધ્યાયાનાં શતત્રયમ્ ॥ ૩૨૭ ॥

ત્રિંશઞ્ચૈવ તથાધ્યાયા નવ ચૈત્ર તપોધનાઃ ॥

૧૩-અનુશાસન પર્વ

અધ્યાયાનાં શતં ત્વત્ર षट्चत्वारिंशदेव તુ ॥૩૩૫॥

१४ अश्वमेध पर्व—

अध्यायानां शतं चैव त्रयोध्यायाश्च कीर्त्तिताः ॥ ३४१ ॥

१५ आश्रमवासि पर्व—

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वतदभिसंख्यया ॥ ३५० ॥

१६ मीमंसा पर्व—

अष्टाध्यायाः सामाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ ३६१ ॥

१७ महाप्रस्थान पर्व—

अत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ ३६७ ॥

१८ स्वर्गरोहण पर्व—

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन् महात्मना ॥ ३७७ ॥

नाम पर्व	किस श्लोका-	कितने अध्याय	कलकत्ते की
	सुमार	होने चाहिये	पुस्तक में कितने हैं
१ आदि पर्व	१११	२२७	२३६ ९ बड़े
२ सभा	१४२	७८	८० ३ "
३ वन	२०४	२६९	३१४ ४५ "
४ विराट्	२१६	६७	७२ ५ "
५ उद्योग	२४२	१८६	१९७ ११ "
६ भीष्म	२५२	११७	१२४ ७ "
७ द्रोण	२६७	१७०	२०४ ३४ "
८ कर्ण	२७६	६९	९६ २१ "
९ शल्य	२८७	५९	६५ ६ "
१० सीमन्त	३०८	१८	१८
११ स्त्री	३२१	२७	२७
१२ शान्ति	३२७	३९	३६५ २६ बड़े
१३ अनुशासन	३३५	१४६	१६८ २२ "
१४ अश्वमेध	३४१	१०३	९२ ११ घटे
१५ आश्रमवासी	३५७	४२	३९ ३ "
१६ मीमंसा	३६१	८	८ ८
१७ महाप्रस्थानिक	३६७	३	२ १ घटा
१८ स्वर्गरोहण	३७७	५	६ १ बड़ा

देखिये वर्तमान प्रतापचन्द्र राय के छापाये कलकत्ते के महाभारत में ही १८० अध्याय भारतलिखित सूचीपत्र से अधिक हैं और १५ अध्याय न्यून हैं। तब न जाने क्या २ मिलाया गया और क्या २ उत्तम विषय निकाल दिया गया और मुम्बई के छापे में तो और भी अधिक श्लोक हैं और सूचीपत्र बगने से पहले न जाने कितने मिलाये और कितने घटाये गये हैं क्योंकि सूचीपत्र भी स्वयं व्यास जी ने नहीं बनाया, प्रत्युत सूत जी के पश्चात् बना है ॥

१० ति० भा० पृ० ३०४ पं० ८ से पृ० ३०५ पं० ५ तक यह जायश है कि १-जैनियों से पौराणिकों ने मूर्तिपूजा नहीं ली किन्तु पौराणिकों से जैनीलोगों ने ली २-मुसलमानों के दीबायच देखकर स्वामी जी ने वेदसाधन भूमिका रची। ३-तर्कमङ्गल देख कर सत्यार्थप्रकाश में सूत्रावली बनाई ४-देवीभागवतादि में जो भिन्न २ देवों से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी है सो सब देवता भिन्न २ नहीं किन्तु परमेश्वर ही के नाम हैं ॥

प्रत्युत्तर-१-जैनियों से पुराणों ने अवतार न लिये होते तो १० मुख्य अवतारों में बौद्ध जैनों के अवतार खुद देव की जगह अवतार क्यों मरना जाता २-क्या सापणाचार्य ने भी ऋग्वेदभाष्य का उपोद्घात ( दीबायच ) मुसलमानों से लिया था ? ३-तर्कमङ्गल के समान सत्यार्थप्रकाश में कहें कोई सूत्रावली संस्कृत में स्वामी जी की बनाई नहीं है ४-देवीभागवतादि सब पुराणों में अविरोधभाव से एक ही परमेश्वर के जाने कितने नामों की व्याख्या होती तो लिङ्गपुराण छपा लखनौ सन् १८१७ अध्याय ८६ में शिव जी ने शरभ पक्षी का रूप धारण करके नृसिंह जी को गार हाटना क्यों लिखा है ? नृसिंह जी तो पुराणानुसार अवतार थे ! और शिव भी, जैसा कि-

श्री भगवानुवाच-

अकाले भयमुत्पन्नं देवानामपि भैरवं । उवलितः स  
नृसिंहाग्निः शमयैनं दुरासदम् ॥१२॥ सान्त्वयन् बोधयादी  
तं तेन किं नोपशाम्यति । ततोमत्परमं भावं भैरवं  
सम्प्रदर्शय ॥ १३ ॥ सूक्ष्मं सूक्ष्मेन संहृत्य स्थूलं स्थूलेन  
तेजसा । वक्रमानय कृत्तं च वीरभद्र ! ममाज्ञया ॥ १४ ॥  
इत्यादिष्टोगणाध्यक्षः प्रशान्तवपुरास्थितः । जगाम रंहसा



तत्र यत्रास्ते नरकेशरी ॥१५॥ ततस्तं बोधयामास वीरभद्रो  
हरोहरिम् । उवाच वाक्यमीशानः पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६॥

महारेव जी बोले कि-

हे वीरभद्र ! इस समय देवताओं को बड़ा भय हो रहा है इन कारण  
उन नृसिंह रूप अग्नि को शीघ्र ही जाय शान्त करो । पहले तो नीठे  
वचनों से उन को समझाओ, जो न शान्त हों तो औरव रूप दिखाओ । नूहन  
को नूहन और स्थूल को स्थूल तेज से संहार कर "हमारी आज्ञा से नृसिंह  
का \* मुण्ड और चर्म हमारे लिये लाओ " । यह शिव जी की आज्ञा पाय  
शान्ति से वीरभद्र जी नृसिंह के समीप गये और उन को अपने औरस पुत्र  
की भांति समझाने लगे कि:-

वीरभद्र उवाच-

जगत्सुखाय भगवन्नवतीर्णोसि माधव । स्थित्यर्थं च  
नियुक्तोसि परेण परमेष्ठिना ॥१७॥ त्रिभर्षि कूर्मरूपेण वारा-  
हेणोद्धृता मही । अनेन हरिरूपेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥१८॥  
अत्यन्तघोरं भगवन् नरसिंह वपुस्तत्र । उपसंहर विश्वात्म-  
स्त्वमेव मम सन्निधौ ॥ २४ ॥

हे नृसिंह जी । आप ने जगत् के सुख के लिये अवतार लिया है और  
परमेश्वर ने भी जगत् की रक्षा का ही अधिकार आप को दे रखा है ॥१७॥  
मत्स्य रूप धरके आप ने इस जगत् की रक्षा की, कूर्म और वराह रूप से  
पृथिवी को धारण किया, इस नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु का संहार किया,  
वासन रूप धर राजा बलि को बर्षा । अब तुम इनारे कहने से इस अति  
घोर रूप का संहार करो, जगत् को बहुत आस हो रहा है ॥ २४ ॥

सूत उवाच-

इत्युक्तो वीरभद्रेण नृसिंहः शान्तया गिरा ।

ततोऽधिकं महाघोरं कोपं प्राज्ज्वालयद्गिरिः ॥२५॥

सूत जी बोले-

हे सुमीश्वरो ! इस भांति वीरभद्र जी ने बहुत शान्त वचनों से नृसिंह जी

\* आप लोग कहते हैं कि शिव विष्णु एक हैं, परन्तु शिव नृसिंह का  
गिर कटवाता और खाल खिंचवाता है ॥

को समझाया परन्तु वे ग माने और इन के वचन सुन बड़ा क्रोध कर बोले कि-  
नृसिंह उवाच-

आगतोऽसि यतस्तत्र गच्छ त्वं मा हितं वद । इदानीं  
संहरिष्यामि जगदेतञ्चराचरम् ॥२६॥ मन्त्राभिपङ्कजाज्जातः  
पुरा ब्रह्मा चतुर्मुखः । तल्ललाटममुत्पन्नो भगवान् वृषभ-  
ध्वजः ॥२७॥ कालोऽस्म्यहं कालविनाशहेतुर्लोकान्समाहर्तु-  
महं प्रवृत्तः । मृत्योर्मृत्युं विद्धि मां वीरभद्र जीवन्त्येते  
मत्प्रसादेन देवाः ॥ २५ ॥

वीरभद्र ! जहाँ से तू आया है वहाँ ही चला जा । इस चराचर जगत्  
का भगी मैं संहार करता हूँ ॥२६॥ चतुर्मुख \* ब्रह्मा मेरे नाभिकमल से उत्पन्न  
हुआ और ब्रह्मा के ललाट से शिव की उत्पत्ति हुई है ॥२७॥ इस जगत् का नाश  
करने के लिये मुझे साक्षात् काल ही जान, मृत्यु का भी मृत्यु मैं हूँ, हे वीर-  
भद्र, । सब देवता मेरी कृपा से जीते हैं ॥ २५ ॥

सूत उवाच-

साहंकारमिदं श्रुत्वा हरेरमितविक्रमः ।

विहस्योवाच सावज्ञं ततोविस्फुरिताधरः ॥ २६ ॥

सूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! यह नृसिंह जी का अतिमानयुक्त वचन  
सुन कुछ कोप कर हंसके वीरभद्र कहने लगे-

वीरभद्र उवाच-

किं न जानासि विश्वेशं संहर्तारं पिनाकिनम् । अ-  
सद्वादोविधादश्च विनाशस्त्वयि केवलः ॥ २७ ॥ त्वान्यो-  
न्याऽवताराणि कानि शेषाणि साम्प्रतम् । कृतासि येन  
केनापि कथाशेषोभविष्यसि ॥ २८ ॥ दोषं त्वं पश्य एतत्  
त्वमवस्थामीदृशीं गतः । तेन संहारदक्षेण क्षणात्संक्षय-

\* धन्य है पुराणों को, कहीं ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति किसी प्रकार,  
कहीं किसी प्रकार ॥

मेष्यसि ॥ ३६ ॥ प्रकृतिस्त्वं पुमान् रुद्रस्त्वयि वीर्यं समाहि-  
तम् । त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवक्त्रः पितामहः ॥ ३७ ॥ न  
त्वं स्रष्टा न संहर्ता न स्वतन्त्राहि कुत्रचित् । कुलालचक्र  
वच्छक्त्या प्रेरितोसि पिनाकिना ॥ ३५ ॥ अद्यापि तत्र  
निक्षिप्तं कपालं कूर्मरूपिणः । हरहारलनामध्ये मुग्ध !  
कस्मान्न बुध्यसे ॥ ३६ ॥ विस्मृतं किं तदंशेन दंष्ट्रोत्पातेन  
पीडितः । वाराहविग्रहस्तेद सक्क्रोशं तारकारिणा ॥ ३७ ॥  
दग्धोसि यस्य शूलाग्रे विश्वक्सेनच्छलाद्भवान् । दक्षयज्ञे  
शिरश्छिन्नं मया ते यज्ञरूपिणः ॥ ३८ ॥ निर्जितस्त्वं दधी-  
चेन सङ्ग्रामे समरुद्रणः । कण्डूयमाने शिरसि कथं तद्वि-  
स्मृतं त्वया ॥ ३९ ॥ चक्रं विक्रमतोयस्य चक्रपाणे तव  
प्रियम् । कुतः प्राप्तं कृतं केन त्वया तदपि विस्मृतम् ॥ ४१ ॥  
ते मया सकला लोका गृहीतास्त्वं पयोनिधौ । निद्रापर-  
यशः शेते स कथं सात्त्विकोभवान् ॥ ४२ ॥ शास्ताऽशेषस्य  
जगतो न त्वं नैव चतुर्मुखः । इत्थं सर्वं समालोक्य संहरा-  
त्मानमात्मना ॥ ४३ ॥ नोचेदिदानीं क्रोधस्य महाभैरवरू-  
पिणः । वज्राशनिरिव स्थाणोस्त्वैवं मृत्युः पतिष्यति ॥ ४६ ॥

वीरसद्र बोले कि—

हे नृसिंह ! जगत के संहार करने हारे श्री शिव जी को क्या तुम नहीं  
जानते, यह तुम्हारा “अस्त व्यस्त बोलना केवल तुम्हारे नाश का हेतु है”  
पहिले जो २ अवतार तुमने लिये वे सब कहाँ हैं । इस लिये तुम भी कथा  
शेष हो जाओगे अर्थात् न रहोगे । इस क्रूरता के कारण बहुत शीघ्र तुम्हारा  
संहार किया जावेगा । तुम प्रकृति हो और शिवजी पुरुष हैं उन्होंने ने तुम में  
वीर्य का निषेक किया तब तुम्हारे नासिकमल से पञ्चमुख \* ब्रह्मा उत्पन्न  
हुए । हे नृसिंह जी ! जो शिव को तुम अपना पीत्र समझते हो तो न तो तुम

\* धन्य । ब्रह्मा के चार मुख से ५ मुख श्री वर्णन कर दिये ॥

संहार करने हारे न पालन करने हारे हो " केवल ब्रह्माग से " अपने स्वरूप को भूल रहे हो, कुम्हार के चाक की भांति शिव जी की शक्ति ने घूमते फिरते हो । हे मूढ़ ! "तेरे कूर्म अवतार का कपाल अब तक शिवजी ने " हार में पिरो रक्खा है और वाराह अवतार की हाड़ रुद्र ने चलाही और तुम्हे अति पीड़ा दी, तेरे विषत्रकनेन रूप की शिव ने अपने त्रिशूल के अग्र से दग्ध किया । दक्ष के यज्ञ में तेरे यज्ञरूप का शिर मैंने काटा । तेरे पुत्र ब्रह्मा का पांचवां मस्तक अब तक कटा ही पड़ा है, शिवसक्त दधीचि ने तेरा पराजय किया" परन्तु ये सब बातें भूल गया और फिर "तेरे शिर में खुजली चली" । यह सुरार्शनचक्र गिरि के बल से तू पराक्रमी हो रहा है, कहां से पाया और जिन ने बनाया, यह भी भूल गया । प्रलय के समय सब लोगों का संहार मैंने किया, तू तो निद्रावश हो समुद्र में जा सोया । इसी से जान ले कि जैसा तू मारिष्क है ॥ न तू शास्ता है और न ब्रह्मा । यह सब मन में विचार कर इन क्रूर रूप का संहार कर, नहीं तो महाभैरवरूप शिव के क्रोध का वज्र अब तेरे मस्तक पर गिरेगा ॥

सृत उवाच-

इत्युक्तोवीरभद्रेण नृसिंहः क्रोधविह्वलः । ननाद तनु-  
वेगेन तं ग्रहीतुं प्रचक्रमे ॥ ६० ॥ अत्रान्तरे महाघोरं विप-  
क्षभयकारणम् । गगनव्यापि दुर्धर्षं शैवतेजःसमुद्रवम् ॥ ६१ ॥  
सहस्रबाहुर्जटिलश्चन्द्रार्धकृतशेखरः । समृगार्धशरीरेण पक्षा-  
भ्यां चञ्चुना द्विजाः ॥ ६६ ॥ स्पृष्टदंष्ट्रोऽधरोष्ठश्च हुङ्कारेण  
युतोहरः । हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टबलविक्रमः ॥ ६९ ॥ वि-  
भ्रदौर्म्यंसहस्रांशोरधः खदोतविभ्रमम् । अथ विभ्रम्य पक्षा-  
भ्यां नाभिपादेभ्युदारयन् ॥ ७० ॥ पादावाबध्य पुच्छेन  
बाहुभ्यां बाहुमण्डलम् । भिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो  
हरिम् ॥ ७१ ॥ ततो जगाम गगनं देवैः सह महर्षिभिः । सह-  
स्रैव भयाद्विष्णुं विहगश्च यथोरगम् ॥ ७२ ॥ उत्क्षिप्योत्क्षिप्य

संगृह्य निपात्य च निपात्य च । उडूडीयोडूडीय भगवान्  
पक्षाघातविमोहितम् ॥ ७३ ॥ नीयमानः परवशो दीनवक्रः  
कृताञ्जलिः । तुष्टाय परमेशानं हरिस्तं ललिताक्षरैः ॥ ७५ ॥

नृसिंह उवाच-

नमो रुद्राय शर्वाय महाग्रासाय विषणवे । नम उग्राय  
भीमाय नमः क्रोधाय मन्यवे ॥ ७६ ॥

सून उवाच-

नाम्नामष्टशतेनैवं स्तुत्वामृतमयेन तु । पुनस्तु प्रार्थया-  
मास नृसिंहः शरभेश्वरम् । ६५ । यदा यदा ममाज्ञानम-  
त्यहङ्कारदूषितम् । तदा तदापनेतव्यं त्वयैव परमेश्वर ॥ ६६ ॥  
एवं विज्ञापयन् प्रीतिं शङ्करं नरकेशरी । नन्वशक्तो भवान्  
विष्णो जीवितान्तं पराजितः ॥ ६७ ॥ तद्वक्रशेषमात्रान्तं  
कृत्वा सर्वस्य विग्रहम् । शुक्तिशित्यं तदा भङ्गं वीरभद्रः  
क्षणात्ततः ॥ ६८ ॥

देवा ऊचुः-

अथ ब्रह्मादयः सर्वे वीरभद्र त्वया दृशा । जीविताः  
स्मोत्रयं देवाः पर्जन्येनेव पादपाः ॥ ६९ ॥ एतावदुक्ता  
भगवान् वीरभद्रो महाबलः । पश्यतां सर्वभूतानां तत्रैश-  
न्तरधीयत ॥ ११४ ॥ नृसिंहकृत्तिवत्तनस्तदा प्रभृति शङ्करः ॥  
वक्त्रं तन्मुण्डमालायां नायकत्वेन कल्पितम् ॥ ११५ ॥

इति श्री लिङ्गपुराणान्तरर्गते षण्णवतितमेऽध्याये

नृसिंहवधाख्यं प्रकरणं समाप्तम्



सूतजी बोले कि—

हे मुनीश्वरो ! इतना सुनते ही नृसिंह जी क्रोध की अग्नि से गल उठे और बड़ा घोर शब्द करके वीरभद्र जी को पकड़ना चाहा । इसी अवसर में महाघोर शत्रुओं की भय देने हारा शिवतेज से उत्पन्न अतिदुर्घर्ष आकाश तक व्याप्त बड़ा भयङ्कर रूप वीरभद्र का होगया । सहस्र भुजा धारे और सहस्रक पर चन्द्र से शोभित था । निम्न रूप का आधा शरीर मृग का और आधा पक्षी का । बड़े २ पङ्ख, तीखी घोंच, वज्र के तुल्य नख, बड़ी २ और अनितोक्षण डाढ़, नीलकण्ठ, चार पाद, प्रलयाग्नि के समान देदीप्यमान देह अतिकुपित और बड़े क्रूर तीन नेत्र और प्रलय के मेघों के समान जिस का गरुभीर शब्द था । उस अतिदारुण हुङ्कार शब्द को करते हुवे रुद्ररूप को देखते ही नृसिंह जी का सब बल, पराक्रम नष्ट हो गया और जैसे सूर्य के भारे खट्वांत हो जाय, ऐसे निस्तेज हो गये । शरभरूप शिव भी अपने पुच्छ से नृसिंह की पांख लपेट हाथों से हाथ पकड़ छानी में घोंच की प्रहार देते हुवे जैसे सर्प को गड़ह ले उड़े, ऐसे ही भयभीत नृसिंह जी को अपने पक्षों की छात से मोहित कर आकाश को ले उड़े और आकाश में जाय फिर नृसिंह जी को भूमि पर गिराया और फिर चढाया । इस भांति बहुत बार चढाया २ पटका और जब नृसिंह जी बहुत व्याकुल हो गये, तब लेकर उड़ चले । सब देवता स्तुति करते हुवे उन के पीछे चले । नृसिंह जी परवश और दीनमुख हुवे २ आकाश में अपने को चढा ले जाते शिव जी को देख हाथ जोड़ स्तुति करने लगे । सूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! एक सौ आठ नामों से परमेश्वर की स्तुति कर नृसिंह जी शुद्ध अन्तःकरण से प्रार्थना करने लगे कि महाराज ! जब २ मुझे गहङ्कार से अज्ञान हो तब २ आप शासन करें । वीरभद्र भगवान् उन की प्रार्थना सुन प्रसन्न भये और कहा कि हे विष्णो ! अब तू अशक्त हुआ और तेरा प्राणों तक पराजय हुआ । इतना कह नृसिंह जी का चर्म वीरभद्र जी ने उतार लिया और शरीर के शुक्लवर्ण अस्थि निकल आये और शिर भी काट लिया । यह सब चरित्र देख ब्रह्मा आदि देवता स्तुति करने लगे । पुनः सब देवताओं के देखते ही वीरभद्र भगवान् अन्तर्धान हो गये । उसी दिन से नृसिंह जी का चर्म शिव जी ने आँढ़ा और उन का मुख अपनी मुखबाला का मध्यमणि बनाया ॥

यह लिङ्गपुराण के ८६ अध्याय में नृसिंहवध समाप्त हुआ

६० ति० ११० पृ० ३०५ पं० ६ से पृ० ३०६ पं० २६ तक परमेश्वर के नाम स्मरण का साहाय्य लिखा है ॥

प्रत्युत्तर—परमात्मा का नामस्मरण निःसन्देह पुण्यजनक और पाप से बचाने वाला है। परन्तु नाममात्र से स्वामी जी ने निष्फलता लिखी है किन्तु नाम के साथ काम भी उत्तम किये जायें तो निष्फलता नहीं लिखी। केवल मुख से “रामर जपना, पराया माल अपना” करने वालों का खण्डन है, ईश्वरभक्तों का नहीं। पापों से छूटने का तात्पर्य भविष्यत् में पाप न करना है ॥

—\*—

## अथ मूर्त्तिपूजामहाप्रकरणम्

६० ति० भा० पृ० ३०८ पं० ३ में—

मा अंसि । प्रमा अंसि । प्रतिमा अंसि ॥

ते० भार० ४ । ५ ॥ हे महावीर ! तू न ईश्वर की प्रतिमा हो इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस में महावीर और ईश्वर कहां से जागये ? पिछले प्रकरण में तो हैं नहीं। सायणाचार्य ने इस का अर्थ यह किया है कि—

हे परिधि ! प्रागग्रत्वेन दक्षिणादंगवर्त्ती उदग्दिग्गवर्त्ती वा त्वम् ( मा अंसि ) महावीरस्थानं मातुमियत्तया परिच्छेत्तुं समर्थोसि, तथा हे परिधि ! उदगग्रत्वेन प्राग्दिग्गवर्त्ती उदग्दिग्गवर्त्ती वा त्वम् ( प्रमा अंसि ) प्रकर्षेण मातुं समर्थोसि ॥

अर्थात् हे यज्ञवेदी की परिधि ! पूर्व दिशा में अग्रभाग होने से दक्षिण वा उत्तरवर्त्ती तू ( माअंसि ) महावीर स्थान को नापने और “इतना है” यह परिच्छिन्नता बताने को समर्थ है। तथा हे परिधि ! उत्तर की अग्रभाग होने से पूर्व वा उत्तरवर्त्ती तू ( प्रमा अंसि ) अत्यन्त करके नापने को समर्थ है ॥

अब विचारना चाहिये कि सायणाचार्य तो मा, प्रमा, प्रतिमा शब्दों का अर्थ नापने का साधन करते हैं, आप मूर्त्ति अर्थ करते हैं। सायणाचार्य “हे परिधि !” कहते हैं और आप प्रकरणविरुद्ध “हे महावीर !” कहते हैं “ईश्वर का तो यहां वर्णन ही नहीं, न सायणाचार्य ने लिखा, न पीछे से अनुवृत्ति। तात्पर्य तो यह है कि यज्ञवेदी की परिधि नापकर बनाई जाती है, इस लिये वह नपेना है जिस से उस की पूर्वोदि दिशाओं में रखे हुए

नहावीरादि पदार्थों का परिमाण ज्ञात हो सकता है । भला इस कतर बौत से मूर्तिपूजा सिद्ध होती है ?

द० ति० भा० पृ० ३०८ पं० ९-स ऐक्षत प्रजापतिः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-

स ऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति । तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनोहैवास्यैष प्रतिमा ॥ ११ । १ । ६ । १३ ॥

प्रजापति ने विचार किया कि इस को अपनी प्रतिमा ( नपैना ) बनाऊं जो कि संवत्सर है । इसी लिये संवत्सर ( वर्ष ) को प्रजापति भी कहते हैं । यह उम ने अपना नपैना बनाया है । जैसे ४ अक्षर का प्रजापति शब्द है, वैसे ही ४ अक्षर का संवत्सर शब्द है । इस से भी वह उम का ( माप साधन ) नपैना है ॥

इस में यह कहा है कि ईश्वर जिस से जगत् की भाग्य आदि को मापना है वह वर्ष ( संवत् ) है । यह परमेश्वर का नपैना है । परमेश्वर जैसे मन्त्र का स्वामी है वैसे इस नपैने का भी स्वामी है । इसी लिये ( का ) यह षष्ठी का अर्थ स्वस्वामिभाव ( मालिक और मिलकियत ) सम्बन्ध है । परमेश्वर स्वामी और संवत्सर स्व है । जैसे कपड़े को मापने का यज्ञ बज्राज्ञ का गज कहता है । वा भूमि को मापने का फीता, इल्लीनियर का फीता कहाता है । इसी प्रकार सृष्टि को मापने का साधन संवत्सर परमेश्वर का नपैना ( प्रतिमा ) कहा गया । जैसे बज्राज्ञ और गज में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं अपौरुष बज्राज्ञ स्वयं गज नहीं बनगया । इसी प्रकार परमेश्वर और संवत्सर में भी कार्य कारण सम्बन्ध नहीं अपौरुष परमेश्वर ही स्वयं संवत्सर रूप नहीं बन गया । वेद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्रतिमा शब्द मात्र के जाने से ईश्वर की साकारता निह्नु नहीं हो सकती । यदि ऐसा हो तो वेद में प्रतिमा शब्द से आकाशादि की भी प्रतिमा सिद्ध होजावे ॥

ईश्वर निराकार है और निर्दिष्टकार है, वह जगदाकार स्वयं नहीं बनता ।  
जैसा कि-



## न तस्य कार्यं करणं च विदुते । श्वेताश्वतर

न उस का कोई कार्य है, न करण है । अर्थात् वह किसी पदार्थ का संपादानकारण नहीं है । प्रकृति जड़ है परन्तु उस में चेतन परमात्मा व्यापक होने से उसमें जगत् रचा जाता है । परमात्मा आकाश से भी सूक्ष्म कहने में आकाश शब्द केवल जगद् मात्र का वाचक नहीं किन्तु वायु से सूक्ष्मस्वरूप वाले तत्त्व का नाम आकाश है । आपने आकाश को शून्य का पर्याय समझा, इसी से झूल हुई । आकाश से वायु की उत्पत्तिः—

## आकाशाद्वायुः । तैत्ति०

किर कैसे सम्भव हो जब कि आकाश स्वयं अवस्तु हो । सगुण और निर्गुण का अर्थ यदि आप यही मानते हों कि सत्त्व, रजः तमः ३ गुण (जो वयार्थ में प्रकृति के हैं, ब्रह्म के नहीं) परमात्मा के गुण हैं । तो भी हम कह सकते हैं कि एक मनुष्य एक काल में धनी, दूसरे काल में निर्धन हो तो क्या मनुष्य के स्वरूप में भेद पड़ता है ? नहीं, किन्तु उस के स्व (निष्कियत) में भन होता है और नहीं होता, परन्तु पुरुष का स्वरूप धन होने और न होने पर भी पुरुष के सा ही रहता है । ऐसे ही प्रकृति से विकृति होने पर ३ गुण भिन्न होते हैं तब उनका स्वामी होने से परमात्मा सगुण और प्रलय काल में तीनों गुणों की साम्यावस्था होजाती है, कोई गुण भिन्न अपने स्वरूप में नहीं रहता, इस से उस समय परमात्मा निर्गुण कहावे तो भी परमात्मा के निज के दो स्वरूप सगुण और निर्गुण नहीं बगते किन्तु प्रकृतिसहित के हैं । तब उसके गिराकार साकार दो रूपों का होगा तो सर्वथा ही असङ्गत है ॥

द० ति० भा० पृ० ६०९ पं० १३—तदेवाग्निस्तदादित्यः ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः । यजुः । ३२ ॥ १ ॥

इस का अर्थ तो यह है कि सब का प्रकाशक होने से अग्नि, सब को पकड़ने वाला होने से आदित्य, सर्वधारकता से वायु, आह्लादकारकता से चन्द्रमा, शीघ्रकारी होने से शुक्र, बढ़ा होने से ब्रह्म, विभु होने से अप्

और प्रजा के पालन से वही ब्रह्म प्रजापति भी कहा जाता है। यह नहीं कहा गया कि वही स्वरूप बदलकर अग्नि, वायु आदि तत्त्व रूप बन गया। ऐसा हो तो ऊपर कहे ( ग तस्य कार्यम् ) इत्यादि एकरतत्त्वप्रतिपादक वाक्यों से विरोध आवेगा। तथा सब वस्तु ब्रह्म होने से भी किसी पदार्थ विशेष में ब्रह्मबुद्धि से पूजा करना भी ठीक नहीं। उस अवस्था में सब वस्तु ब्रह्म हैं तो प्रतिमा भी ब्रह्म, पुष्प भी ब्रह्म, वृक्ष भी ब्रह्म, वन जो पुष्प, जल, गन्धादि जहाँ पड़ा है वहाँ ब्रह्म पर ही चढ़ा है और ब्रह्म ही है। फिर मूर्तिपूजा कैसी ?

८० ति० भा० पृ० ३०८ पं० २१ से-तं यज्ञं बर्हिषि०। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं ज्ञातमग्रतः। तेन देवा  
अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। यजुः ३१। ९ ॥

अर्थ-( तम् ) सन ( यज्ञम् ) पूजनीय ( अग्रतः ज्ञातम् ) सृष्टि से पूर्व प्रसिद्ध (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को ( ये ) जिन ( साध्याः ) योगाभ्यानादि साधन करते हुये (च) और ( ऋषयः ) सन्त्रार्थ के ज्ञाताओं ने और ( देवाः ) देवतों ने ( बर्हिषि ) जपयज्ञादि में ( प्रोक्षन् ) सरकृत किया और ( तेन ) उस यज्ञ से ( अयजन्त ) पूजा वा पूजते हैं ॥

इस पर आप का ही लिखा शतपथ यह है:-

अयैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यदयज्ञं तस्मादाहुः प्रजाप-  
तिर्यज्ञइत्यात्मनोह्येतं प्रतिमामसृजत। श० ११। १। ८। ३

तब इस यज्ञ को उस ने अपना ज्ञानसाधन बनाया, इस से प्रजापति यज्ञ कहाया क्योंकि यज्ञ जपादि से प्रजापति का ज्ञान होता है ॥

इस में भी यज्ञ यगन सपासना जपादि को परमेश्वर की प्राप्ति का साधन (प्रतिमा) कहा है। किन्तु काष्ठ पाषाणादि निर्मित प्रचलित मूर्तियों को उस के ज्ञान का साधन नहीं बताया, तब मूर्तिपूजा विषय में इस का प्रमाण देना व्यर्थ है ॥

८० ति० भा० पृ० ३१० पं० ५ से-देवा ह वै० इत्यादि-

प्रत्युत्तर-

शतपथ का लम्बा चौड़ा पाठ और फिर मनमाना अर्थ लिखा है परन्तु उसमें

विष्णु सूर्य का नाम है, परमेश्वर का नहीं। जैसा कि उषी में आया है कि—

**स विष्णुर्यज्ञः स यज्ञोसौ स आदित्यः ॥**

विष्णु नाम यज्ञ का और यज्ञ नाम आदित्य अर्थात् सूर्य का है। यहां परमेश्वर का वर्णन न होने और सूरि का वर्णन न होने से इस का यहां लिखना व्यर्थ है। तथा—

द० ति० भा० पृ० ३११ पं० १९ में—तस्य निष्ठिनयाणस्य । इत्यादि

प्रत्युत्तर-तैत्ति० के पाठ को ऊपर के शतपथ में जोड़ दिया है। सो न शतपथ और तैत्तिरीय ग्रन्थों की एकता, न विषय की एकवाक्यता, फिर लिखना ग्रन्थ बढ़ाना भात्र है। तात्पर्य उस का यह है कि सूर्य का तेज ओषधियों में गिर कर उन्हें उगाता, बढ़ाता और पकाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३१२ पं० ५ से—देवतों के आकार कैसे होते हैं ? (उत्तर) निरुक्त में लिखा है कि पुरुषों के से आकार होते हैं। देखिये—

अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-निरुक्त अध्याय ७ खण्ड ६ । ७ का पाठ उद्धृत करके हम ठीक २ अर्थ किये देते हैंः—

**“अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकं चेतनावद्भिस्तुतयोभत्रन्ति तथाभिधानानि । अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ॥**

**ऋष्या तं इन्द्र स्थविरस्य ब्राह्म ॥”**

अर्थात् जब देवतानों के आकार का विचार करते हैं। इस प्रकार देवतों का मनुष्याकार है क्योंकि चेतन के समान स्तुतियां हैं और नाम भी और मनुष्यों के अङ्गों का वर्णन भी पाया जाता है। (जैसा कि—)

**उरु नो लोकमनु नेषि विद्वान्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।**

**ऋष्या तं इन्द्र स्थविरस्य ब्राह्म उपस्थयाम शरणा बृहन्ता ।**

अर्थ—( इन्द्र ) हे राजन् ! ( स्थविरस्य ) जिस विद्याविनयबद्ध ( ते ) आप के ( शरणा ) शत्रुनाशक ( वृहन्ता ) बड़ी ( श्रद्धा ) श्रेष्ठ ( बाहू ) भुजाओं को हम ( उपस्थेयाम् ) उपस्थित होवें ( विद्वान् ) वह आप विद्वान् जिस से ( नः ) हम को ( चरुम् ) बहुत ( स्वर्वत् ) सुखयुक्त ( ज्योतिः ) प्रकाश और ( जगयम् ) भगवद्भित ( स्वस्ति ) सुख और ( लोकम् ) दर्शन को ( भगु नेषि ) प्राप्त कराते हो ॥

इस में राजा को मनुष्याकार देवता मान कर प्रशंसा ( स्तुति ) की है । इस लिये इस से मूर्तिपूजा की मिद्धि नहीं हो सकती । दूसरा उदाहरण निरुक्तकार ने देवता मनुष्याकार होने का यह दिया है कि—

“यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरिते”

इस का अर्थ यह है कि हे ( मघवन् ) धनवान् राजन् ! ( यत् ) जो तू ( ते ) आप की ( काशिः ) मुट्ठी है वह ( संगृभ्णा ) संग्रह करने वाली हो । काशिशुष्टिः । निरु० ६ । १ । इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि परमात्मा की मूर्ति बनानी वा पूजनी चाहिये । फिर निरुक्तकार कहते हैं कि—

“अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः । आ द्वाभ्यां  
हरिभ्यामिन्द्र याहि । कृत्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ॥

अर्थात् मनुष्यों के से द्रव्यों का वर्णन देवता में पाया जाता है । जिसा कि नीचे के मन्त्र में है—

आ द्वाभ्या हरिभ्यामिन्द्र याहा चतुर्भिराष्टभिर्हूयमानः ।

आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥

( ऋ० २ । १८ । ४ )

अर्थ—( इन्द्र ) परमेश्वरयुक्त राजन् ! ( हूयमानः ) बुलाये हुये आप ( द्वाभ्यां हरिभ्याम् ) दो हरणशील पदार्थों से युक्त यान द्वारा ( जायाहि ) जाइये ( चतुर्भिः ) चार से ( आ ) जाइये ( षड्भिः ) छः से ( आ ) जाइये ( अष्टाभिः ) आठ से ( आ ) जाइये ( दशभिः ) दश हरणशील पदार्थों से युक्त यान के द्वारा जाइये ( जयम् ) इस ( सुतः ) उत्पन्न किये रस के ( सोम पेयम् ) सोमपानार्थ जाइये ( सुमख ) हे सुन्दर यज्ञ वाले ( मयः ) संधानों को ( माकः ) न कीजिये ॥

अर्थात् राजा को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों से संपादिन यन्त्रादि निर्मित यानों द्वारा जावे जावे । सज्जनों से सोमपानादि आरंभ करके ग्रहण करले, संप्राम न करे ॥ इसमें भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से देव्य की प्रतिमापूजा सिद्ध नहीं होती ॥ फिर निरुक्त ने दूसरा प्रतीक नीचे लिखे मन्त्र का दिया है:-

अपाः सोममस्तामिन्द्र प्रयाहि कल्याणीज्जिया सुरणं गृहे तै ।

यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥

अ० ३ । ५३ । ६ ॥

अर्थ-(इन्द्र) हे राजन् ! ( यत्र ) जिस गृह में ( गृहे ) बड़े (रथस्य) विमान रथ और ( वाजिनः ) अग्निजन्य घोड़े द्वा (निधानम्. स्थापन और ( विमोचनम् ) खोलने का ( दक्षिणावत् ) दक्षिणा के तुल्य है ( गृहे ) जिस आप के गृह में ( कल्याणीः ) सुखदायिका ( जाया ) स्त्री है उस ( अस्तम् ) गृह को [ निघं ३ । ४ ] (प्रयाहि) आइये जाइये और ( सोमम् ) सोमरस को (अपाः) पीजिये जिस से (सुरणम्) अच्छे प्रकार संप्राम हो ॥ तथा निरुक्त-

अथापि पौरुषविधिकैः कर्माभिः । अर्द्धीन्द्र

पिवं च प्रार्थितस्य । आश्रुत्कर्णं श्रुधी हवम् ॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के से काम भी देवों के वेद में पाये जाते हैं । जैसा कि (इन्द्र) हे राजन् ! ( अर्द्धि ) भोजन कीजिये ( पिव च ) और पान कीजिये । इत्यादि । और ( आश्रुत्कर्णं ) सुनने की शक्तिरूप काम वाले ! ( हवम् ) पुकार को ( आश्रुधि ) सब ओर से श्रवण कीजिये ॥

यहां तक निरुक्तकार ने यह बताया है कि मनुष्यों के से कर्म, मनुष्यों के से वाहनादि और मनुष्यों के से अङ्ग देवताओं के वेद ने वर्णन किये प्रतीत होते हैं । इस से मनुष्य भी दान, दीपन, द्योतनादि गुणों से इन्द्रादि पद-वाच्य देवता हैं । इस से आगे निरुक्तकार यह बतलाते हैं कि वायु, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थ जो मनुष्याकार नहीं हैं, वे भी देवता हैं । यथा—

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरमपि तु यदुद्गृह्यतेऽपुरुषविधं तद्ग-  
थाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति । यथो एतच्चेतनाव-  
द्विस्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्तो यथाक्षप्रभृतीन्यो-

षधिपर्यन्तानि । यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्य-  
चेतनेष्वप्येव दृश्यते । अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः इति ग्रा-  
वस्तुतिः । यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृ-  
शमेव । सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनमिति नदीस्तुतिः । यथो  
एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव, होतुश्चित्पूर्वं  
हविरदमाशतेति ग्रावस्तुतिरेव । ] अपि बोधयविधाः  
स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युर्यथा  
यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः । निरुक्त ७ । ७ ॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि बहुत से देवता मनुष्याकार नहीं भी हैं  
जैसे देखा जाता है कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा ये देवता हैं ।  
[ जिस प्रकार चेतनों की प्रशंसा पाई जाती है वैसी जड़ (अचेतन) देवतों की  
भी पाई जाती है । जैसे कि शक्त से लेकर ओषधि पर्यन्त हैं । और जिस  
प्रकार मनुष्याकार अङ्गों से स्तुति पाई जाती है, ऐसी ही अचेतन जड़  
पदार्थों की भी प्रशंसा पाई जाती है । “पत्थरों के हरे मुख” ( हरे समाले  
पीमने में ) कहे गये हैं । और जिस प्रकार चेतनों के वाहनादि द्रव्यों का  
वर्णन है, इसी प्रकार जड़ पदार्थों के भी वाहनादि का वर्णन देखा जाता है  
जैसा कि “नदी ने सुखदायक रथ जोड़ा” ( प्रवाह से गतिप्राप्त है ) । और  
जिस प्रकार मनुष्याकार देवतों के कर्म पाये जाते हैं इसी प्रकार अचेतनों  
के भी । जैसा कि “होता से पहले सिल बट्टों ने समाला चाट लिया” यहाँ  
देखा जाता है । इस से या तो देवता दोनों प्रकार के हों, अथवा मनुष्याकारों  
के ही कर्मरूप देवता निराकार हों, जैसे यजमान मनुष्याकार देवता और  
रथ का कर्म “यज्ञ” निराकार देवता है । और यह आख्यान का समय है”

यहाँ तक निरुक्त का भाषार्थ हुआ । विचारना चाहिये कि २० ति० भा०  
पृ० ३१६ में [ ] इस कोष्ठक में लिखे बीच के निरुक्त के पाठ को क्यों छोड़  
दिया गया ? जिस में जड़ और चेतन दोनों पदार्थों की देवता संज्ञा व्याप-  
हारिक मानी है और स्पष्ट कहा है कि जड़ पदार्थ पत्थर, बट्टे, नदी आदि  
में मुख, रथ आदि अङ्गों की कल्पना करके वर्णन पाया जाता है । इस से

निरुक्तकार ने स्पष्ट बतलाया है कि ऐसे मन्त्रों ( निदर्शन ) देखकर मनुष्यों को ज्ञान लेना चाहिये कि वेद की ऐसी शैली है जो जड़ पदार्थों का वर्णन चेतन की तरह लाभित्य के लिये काव्यप्रत किया गया है । भाजकल कवि लोग भी नदी, बगीचा, पुष्प, मकान, तालाब आदि को रूपक में वर्णन किया करते हैं, सो प्रथम २ यह विद्या वेद से ही निकली है । यदि पं० ज्वालाप्रसाद जी ऊपर लिखे मध्यस्थ पाठ को ग छोड़ते तो उन के ही पुस्तक से सिद्ध हो जाता कि वेद का तात्पर्य देवता शब्द से केवल उपास्य ब्रह्म ही नहीं है किन्तु निरुक्त के अनुसार—

### या तेनोच्यते सा देवता

जिन वस्तु का वर्णन मन्त्र में होता है, वही पृथिवी, जल, वायु, बिजुली आदि पदार्थ देवता कहाते हैं जो निराकार और साकार भेद से दो प्रकार के हैं । और उन में से कुछ जड़ और कुछ चेतन हैं । तथा जड़ों के वर्णन भी चेतन की भांति किये गये हैं । पृथिवी का गौरूप धरना मानना श्रान्ति है और निघण्टु वा निरुक्त १ । १ में “ गीः ” पद पृथिवी का नाम है । जैसे अर्जुन वृक्ष का नाम भी है और पाण्डव का भी । तो क्या अर्जुन वृक्ष ही पाण्डववाऽर्जुन रूप में प्रकट हुआ मानियेगा ? कृष्ण का उस जगह प्रकरण में ( निरुक्त मूल में ) नाम तक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ३१६ । ३१७ और ३१८ में मूर्तिपूजा के पक्ष में ये उपपत्ति ( दलीलें ) दी हैं । १—पृथिवी आदि के देखने से परमात्मा का ऐसा स्मरण नहीं होता जैसा मूर्ति के । २—आकाशादि को तुल्य गित्य मानते हो, वे ईश्वर के रचे ही नहीं तो उन के द्वारा ईश्वर का स्मरण कैसे होगा । ३ पत्थर से प्रार्थना आदि कोई नहीं करता किन्तु पत्थर एक परमेश्वर का चिह्न है । ४—तीन काल प्रति दिन मूर्ति के दर्शन से सदा पाप का हर रहता है । ५—भावना मूर्ति में भी करते हैं और सर्वत्र भी । ६—महाराष्ट्री की मूर्ति के एकदेशीय हो जाने से क्या उन का राग घट जाता है ? ७—चन्द्रनादि चक्राना आदरसूचक है । ८—क्या रोटी में व्यापक होने से ईश्वर भी रोटी के साथ भक्षित होता है ? ९—जबतार न लेवे तो यह एक बन्धन है । १०—यदि दो वस्तु समान हों तो उन में एक दूसरे की भावना हो सकती है, कुछ दुःख असमान हैं, अतः दुःख में सुखादि की भावना नहीं

होती । ११-सर्वज्ञ की भावना सर्वत्र हो सकती है । १२-आवाहन से देवता आते हैं परन्तु अदृश्य हैं । १३-पितर भी आवाहन से आते हैं । १४-जनमेजय के यज्ञ में मन्त्रों से सर्प और इन्द्र तक चले भाये । १५-मूर्ति में आवाहन विसर्जन नहीं करते किन्तु प्राणप्रतिष्ठा करते हैं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-मूर्ति के देखने से बढ़े का ज्ञान होता है, पृथिव्यादि देखने से ईश्वर का । २-आकाशादि कारकों को हम नित्य मानते हैं, कार्यों को नहीं, अस कार्यरूप पृथिव्यादि के देखने से ईश्वर का स्मरण हो सकता है । ३-पराग में परमेश्वर का विशेष क्या बिहू है ? ४-मूर्ति के दर्शन पाप से बचावे तो अदर्शन समय में निर्भयता होवे ? ५-भावना सर्वत्र ही करते हो तो पुष्पादि को तोड़ कर मूर्ति पर क्यों चढ़ाते हो ? ६-महाराणी की मूर्ति ही एकदेशीय नहीं है, किन्तु वह साक्षात् भी एकदेशीय है । परमेश्वर सर्वव्यापक है । ७-पुष्पादि चढ़ाना अनादर हुआ, क्योंकि वृक्षस्थ परमेश्वर से छीनकर मूर्तिस्थ पर चढ़ाते हो । ८-सर्वग भवत होने से वह रोटी आदि के साथ चलायमान नहीं होसकता । ९-तो कुरुक्षेत्र में परमेश्वर की बन्धन है ? १०-यदि समारों में ही एक दूसरे की भावना होती है, विषमों में नहीं, तो परमेश्वर के समान कोई नहीं, अतः उसकी भावना किसी पदार्थ में नहीं होसकती, फिर मूर्ति में कैसे हो सकती है ? यहां तो आप कहते २ छकड़ी भूल गये हैं । ११-सर्वज्ञ का अर्थ आप सर्वव्यापक समझे । अन्य । वह शब्द सर्वग है, सर्वज्ञ नहीं । १२-हां, भग्न्यादि देवता अग्निस्थापना से आसक्त हैं, परन्तु सुत राम, कृष्ण आदि आप के अतिमत्त नहीं आ सकते । १३-पितर तो जीते जी सब ही जानते हैं कि आते जाते हैं । १४-जनमेजय के यज्ञ में जैसे बिल्ली लोटन ( खारखोला, वा बालचड़ ) पर बिल्ली भापड़ती है, ऐसे ही हवन की सामग्री पर सर्प भी भापड़े होंगे । और जनमेजय की कथा की मन्त्रसाध्यता तो साध्यकोटि में है । जब सभी पीराणिक्तकथा संशययुक्त हैं तब यह क्या स्वतः प्रमाण है । १५-प्राणप्रतिष्ठा और आवाहन में आप के मत में क्या भेद है ? एक जड़ पदार्थ में देवता का आवाहन ही करते हुवे तो प्राणप्रतिष्ठा किया करते हो ॥

द० ति० भा० पृ० ३१८ के नीचे और ३१९ में बह्विंशब्राह्मण का प्रमाण-

यदा देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति सिद्ध्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति तदा



प्रायश्चित्तं भवतीदं विष्णुर्विचक्रम इति स्थालीपाकश्च हुत्वा  
पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति; विष्णवे स्वाहा, सर्वभूताधिपतये  
स्वाहा, चक्रपाणये स्वाहेश्वराय स्वाहा, सर्वपापशमनाय  
स्वाहेति, व्याहृतिभिर्हुत्वाथ साम गायेत ॥

जब देवताओं के स्थान कांपते हैं, देवताओं की प्रतिमा रोती हैं, हंसती हैं, नाचती हैं, एकदेश से स्फुटनको प्राप्त होती हैं, पानीने युक्त होती हैं, नेत्र कोलती हैं, नीचती हैं, तब प्रायश्चित्त होता है “इदं विष्णुर्विचक्रमेति” इस मन्त्र से हवन कर पांच व्याहृतिपों का हवन करे इस में चक्रपाणि आदि शब्द से ईश्वर साकार निद्रु होता है इससे यही निद्रु है कि जब तक यह मूर्ति स्थिर रहती है तभी तक शान्ति है चलायमान होते ही वैकारिक गुणयुक्त होती है ईश्वर की अवतारों की मूर्ति वेदानुसार प्रतिष्ठा करके पूजन करते हैं परन्तु ईश्वर को आने जाने वाला किसी ने नहीं कहा ईश्वर सर्व व्यापक होने से आता जाता नहीं और मूर्ति प्रतिष्ठा करने से क्यों चला-यमान हो यह मूर्ति तो एक घर समन्विते जैसे कोई मनुष्य घर में बैठा है तो क्या वह घर चलने लगेगा कभी नहीं और “स्था गतिनिवृत्ती” धातु से प्रतिष्ठा शब्द निद्रु होता है जो चलायमान न हो अचल रहे वही प्रतिष्ठा की जाती है और जो चले तो हाला चाला होनाय यह तो एक देवताओं के विग्रह हैं उन में देवता आन कर प्रविष्ट होजाते हैं जैसे एक स्थान टूट जाने से मनुष्य और स्थान में चले जाते हैं वही प्रकार जब मूर्ति अशुद्ध हो जाती है या टूट जाती है तो देवता और मूर्ति में प्रवेश कर जाते हैं महा-भाग्य होने से एक अनेक होजाते हैं, यवनादिके स्पर्श से देवता नहीं रहते उन का निवास बड़े पवित्र स्थान में होता है जैसा घर हालने से बड़ा उत्पात होता है वही प्रकार मूर्ति आदि में विकार होने से प्रायश्चित्त है। पुत्रादिकों में प्राण छालने का विधान नहीं है उन का आत्मा सर्वत्र नहीं एक अनेक नहीं होसकता मृतक होने पर कर्मानुसार दूसरे तनु को प्राप्त होता है जो पितर आदि किसी योनि को प्राप्त होता ही है फिर कैसे प्राण भावें और वह कैसे रहें पिता पुत्र की आत्मा एक बुलावे और उन को और बुलावे तो जगत् की व्यवस्था नष्ट हो जावे यह सामर्थ्य देवताओं को

ही है प्रत्येक भूति में अपना भात्मा प्रवेश कर सकते हैं ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम ती षड्विंश के पाठ की प्राचीनता भी साध्य है । दूसरे चर में देवतों की प्रतिमाओं का हंसना, रोना, नाचना, फटना आदि लिखा है, पूजने का नाम नहीं । तथापि इस का अर्थ यह है कि—

“अथ सूर्यादि देवों के लोक कांपते हैं और सन के स्वरूप हंसते वा रोते वा नाचते वा फटते वा पसीना लेते वा चिनचिनाते जान पड़ें, तब यह प्रायश्चित्त है कि ( इदं विष्णुर्वि० ) इस मन्त्र से रूपालीपाक का होम करके, ये ५ भाहुति करे १—विष्णवे स्वाहा २—सर्वभूताधिपतये स्वाहा ३— चक्र पाणये स्वाहा ४—ईश्वराय स्वाहा ५— सर्वपापशमनाय स्वाहा । फिर व्याहृतिओं से ( भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा ) ये आहुति देवे और सामगान करे ॥

तारपर्यं यह है कि जब मनुष्य पाप बहुत करते हैं तो विष्णु की व्यग्र-स्थानुमार वायुमण्डल ( एटमासफियर ) में कुछ विकार उत्पन्न होता है और झलझल मचती है, रोगादि का बड़ा भय होता है और देवता अर्थात् तारा-गणों के आकार उषी वायुवितार के कारण बहुत अमोखे २ ( विलक्षण २ ) दृष्टि पड़ने लगते हैं । तब मनुष्यों को अपने पापों का स्मरण करके विष्णु यज्ञ करना चाहिये, जिस से वायुमण्डल में शान्ति हो, रोगादि का भय दूर हो । विष्णु सब जगत् का आधार है इस लिये उसी के नाम की भिन्न २ विशेषणों से आहुति लिखी हैं । इन में देवता शब्द से पाषाणादि निर्मित प्रतिमा अर्थ लेने में कोई प्रमाण नहीं । किन्तु आठ षष्ठ्यों के अन्तर्गत होने के शतपथ ब्राह्मणानुसार मन्त्र, तारागण की देवता संज्ञा तो प्रमाण है । और प्रत्यक्ष में प्रायः देखा भी जाता है कि जब वायु में कोई बड़ा भारी विकार होता है तब रोग अनावृष्टि आदि के चिन्ह तारों के बहुतायत से टूटने, हंसने, रोने आदि दिखाई देने लगते हैं । आपने ५ व्याहुति लिखी हैं सो भूल है । चक्रपाणि शब्द यहां इस लिये प्रयोग किया है कि चक्र अर्थात् तारागण और वायु आदि का चक्र, विष्णु अर्थात् व्यापक सर्वाधार परमेश्वर के हाथ में है अर्थात् वह चाहे जैसा चुमावे । किन्तु इस से ईश्वर को साकार मानना वा उस का पार्श्वभौतिक हाथ मानना भूल की बात है । क्या आपने नहीं देखा कि—

अपाणिपादोजवनो ग्रहीता । श्वेताश्वतोप० ३ । १९

यह हाथ पांव नहीं रखता पर हाथ पांव के काम सर्वव्यापकता से कर लेता है ॥

इस के अतिरिक्त प्रकरणा का भी विचार करना चाहिये । षड्विंशब्राह्मण के ५ वें प्रपाठक में १२ खण्ड हैं, ७ वें खण्ड में—

सप्तृथित्रीमन्वावर्त्तते० इत्यादि ॥

पृथिवी लोक के विचित्र उत्पात की शान्ति का वर्णन है । और ८ वें खण्ड में—

सोन्तरिक्षमन्वावर्त्तते० इत्यादि ॥

अन्तरिक्ष लोक के पदार्थों के विकृत दर्शनादि सूचित रोगादि शान्ति का प्रायश्चित्त कहा है । फिर ९ वें खण्ड में—

सदिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्य तारावर्षाणि चोत्काः  
पतन्ति निपतन्ति धूमायन्ति दिशोदहन्ति० इत्यादि ।

इस लोक में धूलोकगत उत्पात दर्शन का प्रायश्चित्त कहकर फिर १० वें खण्ड में—

स परं दिशमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्यायुक्तानि यानानि  
प्रवर्त्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति  
रुदन्ति० इत्यादि ॥

इस में परम धूलोकगत पदार्थों के उत्पातदर्शन का प्रायश्चित्त होनादि कहा है । इस से भी स्पष्ट है कि धूलोक के देवतों का ही वर्णन है, पृथिवीलोक के आधुनिक प्रचलित देवी भैरवादि की मूर्तियों का नहीं । यह वही प्रमाण है जो संवत् १९२६ में श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सामने स्वामी श्री विशुद्धानन्दादि पण्डितों ने दिया था । और जिस पराजय का नाम सुनते ही काशीस्थ महात्माओं के मुख से गाली के अतिरिक्त अब भी कुछ नहीं निकलता ॥

यदि मूर्ति देह के स्थान में नहीं है, किन्तु घर के तुल्य है, इसी से चलती फिरती नहीं, तो भोजन, स्नान, शयन आदि मूर्ति की क्यों कराया जाता है । क्या घर भी नहलावे, छिलावे और सुलाये जाते हैं । प्रति उप-

सर्ग पूर्वक “स्था” धातु का अर्थ अचल रहना भाप ही के घट्ट व्याकरण में होगा। जब परमेश्वर सर्वव्यापक है तो एक मूर्ति के घटनस्पर्श होने वा टूटने फूटने से उसे छोड़ दूसरी मूर्ति में कैसे जा जा सकता है। मरे हुए पुत्रादि का आवाहन करके यदि इस कारण नहीं बुला सके कि उन का कर्मानुसार जन्मान्तर हो गया, तो जन्मान्तर में से भी मन्त्र बल से क्यों नहीं बुला लेते, जब भाप के कथनानुसार स्वर्गलोक से जनमेजय के यज्ञ में इन्द्र का सिंहासन भी विचलित होना मागते हैं ॥

द० नि० भा० पृ० ३२१ पं० २४ से—

समीक्षा, यह संपूर्ण स्वामी जी का लेख असंगत है यहां यह विचार कर्तव्य है कि हम यजुर्वेद के मन्त्रों की किसी पूर्व अथवा उत्तर मन्त्र से संगति है अथवा नहीं जो यह कहें कि बिना संगति ही कार्य कारण उपासना का निषेध किया है तो यह कहना चाहिये कि “ब्रह्म के स्थान में” यह अर्थ किम पद का है मन्त्र के अक्षरों से तो असंभूति उत्पत्तिरहित और संभूति उत्पत्तिमत् वस्तु की जो उपासना करता है सो नरक में पड़ता है यही अर्थ प्रतीत होता है तो यह निर्णय करना चाहिये कि ब्रह्म असंभूति पदार्थ है अथवा नहीं जो उत्पत्तिरहित होने से ब्रह्म भी असंभूति पदार्थ है तो उस की उपासना करने से भी नरक होगा और जो असंभूति पदार्थ ब्रह्म नहीं तो संभूति शब्द का अर्थ होगा इन में दो दोष हैं ब्रह्म को कार्यत्वापत्ति और ब्रह्म की उपासना से नरक भी होगा क्योंकि संभूति की उपासना में नरक रूप फल मन्त्रप्रतिपाद्य है जब पूर्व उत्तर संगति बिना मन्त्र के अक्षरों के यह अर्थ कैसे करेंगे सो ईशावास्य इस मन्त्र से लेकर “अन्धन्तमः” इस मन्त्र तक कोई ऐसा पद नहीं कि जिस के अर्थ यह हैं कि “ब्रह्म के स्थान में” इस की संस्कृत ब्रह्मणः स्थाने अथवा ईश्वरस्व स्थाने यह कहें भी नहीं। सृजन पुरुष यजुर्वेद का ४० वां अध्याय देख कर विचार लेंगे कि क्या प्रकरण है कुछ मन्त्र पूर्व भी लिख आये हैं इस कारण उन का दुबारा लिखना ठीक नहीं ब्रह्म के स्थान में कारण प्रकृति और कार्य पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में गिरता है यह अर्थ प्रकरण विरुद्ध है और यह भी विचारना चाहिये कि “ब्रह्म के स्थान में” इस का भावार्थ क्या है ब्रह्म का स्थान कौन है ब्रह्म की उपासना का स्थान वा ब्रह्म

का निवासस्थान वा ब्रह्मरूप स्थान यह अर्थ है । प्रथमपक्ष में तो ब्रह्म की उपासना स्थान कोई दूसरा पदार्थ स्वामी जी के मत में नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म की उपासना का स्थान कोई पदार्थ मानेंगे तो प्रतीक उपासना सिद्ध होगी क्योंकि ब्रह्मबुद्धि से किसी पदार्थ की उपासना ही प्रतीकोपासना है और यदि ब्रह्म के निवासस्थान को ब्रह्मस्थान मानें तो ब्रह्म को व्यापक होने से सर्व ही वस्तुमात्र ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस स्थान में कारण कार्य उपासना करता ही कौन है, जो नरक को प्राप्त होगा क्योंकि कारण प्रकृति और कार्य पृथिवी आदि भी तो ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस में कार्य नारण दृष्टि सब को प्राप्त है क्योंकि कारण को कारण और कार्य को कार्य सब ही जानते हैं, परिशेष तें ब्रह्मरूप स्थान में जो कारण प्रकृति की और कार्य पृथिवी पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है, यह अर्थ दयानन्द जी को विवक्षित होगा । आशय यह है जो कारण प्रकृतिबुद्धि से और कार्य पाषाणादि मूर्तिबुद्धि से ईश्वर की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है । जब यह अर्थ इष्ट हुआ तो विचारिये मूर्तिपूजक आचार्य ब्रह्म में मूर्तिबुद्धि करके पूजन, उपासना करते हैं अथवा मूर्ति में ब्रह्मबुद्धि करके पूजनादि करते हैं । प्रथमपक्ष तो कोई विचारशून्य भी ग्रहण न करेगा, दूसरा पूर्व आचार्य सागौकड़ पुरुष सर्वव्यापक ब्रह्म को वा भक्तवात्सल्यादि गुण विशिष्ट कैलासवासी, वैकुण्ठवासी देव को केवल मूर्तिरूप कैसे मानेगा, इस कारण मूर्ति में ही ब्रह्मबुद्धि दृढ़ करके पूजन करते हैं । स्वामी जी का यह विपरीत ज्ञान है, जो कहते हैं कि ब्रह्म के स्थान में कारण कार्य बुद्धिकर्ता को नरक होता है, ऐसी बुद्धि तो इन्हीं की है, प्रतिमापूजकों की नहीं । प्रतिमापूजक तो प्रतिरूप अधिष्ठान में ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का पूजन करते हैं । इसी अर्थ को व्यास जी सूत्र से कथन करते हैं ॥

प्रत्युत्तर—“ ब्रह्म के स्थान में” यह पद अष्टाह्वार से लिये गये हैं, यदि न लिये जायें तो अर्थ ही नहीं बनता क्योंकि वैसे तो संभूति और असंभूति से भिन्न जगत् का कोई पदार्थ है ही नहीं फिर क्या दोनों प्रकार के पदार्थों का जानना अन्धगल नरक का हेतु होगा ?

यद्यपि ब्रह्म भी असंभूति पद का अर्थ हो सकता है, परन्तु सब ब्रह्म की उपासना—

निचारय तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।

व्यादि वाक्यों में अष्टफलजगत् कही है। हमसे अपने अंग में वे वाक्य इस वाक्य के अपवाद होजायेंगे। उत्सर्ग की रीति है कि अपवाद के विषय को छोड़कर प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्मोपासना अन्य वाक्यों में विहित होने से इस वाक्य द्वारा निषिद्ध नहीं होसकती। जैसे सरकारी कार्यालयों के द्वारों पर प्रायः लिखा रहता है ( भीतर मत आओ ) तो क्या सरकारी कर्मचारी जिन का वहां बैठ कर काम करना विहित है, उन्हें भी वह निषेध लग सकता है ? नहीं, किन्तु अन्यो को मना है। इसी प्रकार असंस्कृति की उपासना के निषेध में ब्रह्मोपासना का निषेध वा गिन्दा नहीं जासकती। “ब्रह्म के स्थान में” इस का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य कार्य को वा कार-  
ण प्रकृति को ही ब्रह्म जान कर उपासना करना नरकप्रद है। ब्रह्म के निवासस्थानादि की कल्पना करना व्यर्थ है और यत्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अपूर्णतरकल्पना वाक्छल नाम का छल है ॥

अविशेषाऽभिहितेऽर्थवत्कुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनावच्छलम्

न्यायदर्शन १।२।५४

तथा मूर्ति आदि में ब्रह्मबुद्धि करना ही तो यहां निन्दित बताया है।  
पृष्ठ ३२३ में लिखे—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ शारी० ४।१।५

का अर्थ यह है कि “ब्रह्म के सर्वोत्तम होने से ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म ही रहता है” ॥

जिन प्रकार बाजार में अनेक वस्तु यद्यपि रहती हैं, परन्तु जिस को जो अन्यन्त प्रिय और उत्तम जान पड़ता है वह उस के अतिरिक्त अन्यकुछ नहीं देखता। इस में मूर्तिपूजा का पता भी नहीं ॥

“अन्यन्तसः प्रविशन्ति०” का वह अर्थ जो द० ति० भा० पृ० ३२३ में लिखा है, यह है—

“जो कारण जड़ प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्यन्तम में प्रवेश करते हैं और जो कार्य की उपासना करते हैं, वे तिस से भी अधिक अन्यकार में प्रवेश करते हैं”

“जादूती वह जो सिरपै चढ़ के बोले” स्वामी जी भी तो यही कहते हैं कि कारण प्रकृति और कार्य घट, पट, वृक्ष, मूर्ति आदि को पूजना नर-  
कप्रद है। बस आप स्वयं ठिकाने जायें ॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ यजुः ४० । १०

इस प्रकरण का अन्त्यतमः प्रश्न से जगला सन्त्र है । जिस का अर्थ यह है कि सत्तव असत्तव पदों का यहां लौकिक अर्थ नहीं, किन्तु गौर ही है । अर्थात् सत्तव कार्य, असत्तव कारण इत्यादि । इस से जगला सन्त्र यह है—

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ॥

विनाशेन मृत्युं तित्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ४० । ११

अर्थात् कार्य और कारण को साथ २ जानना चाहिये । इन दोनों को जान कर मृत्यु को तरके अमर हो जाता है ॥

अब बताइये प्रकरण से क्या विरोध आया ?

५० ति० भा० पृ० ३२४ में “न तस्य प्रतिमा अस्ति” इस सन्त्र को अर्थ करते हुये ३ बात लिखी हैं । १-तत् पद का अर्थ साकार है, निराकार नहीं । २-इस से पिछले दो सन्त्रों में साकार का ही वर्णन है । ३-प्रतिमा का अर्थ मूर्ति नहीं, किन्तु तुल्यरूपान्तर है ॥

प्रत्युत्तर-‘तस्य’ पद को आप परमात्मा के लिये मानते हैं, फिर साकारता कैसे ? यदि साकार का वर्णन होता तो “प्रतिमा है” ऐसा कहा जाता, “प्रतिमा नहीं है” यह कभी न कहते । २-पूर्व सन्त्र यह है—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषावधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यङ्म  
न मध्ये परिजग्रभत् ॥ यजुः ३२ । २ ॥ न तस्य प्रतिमा  
अस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येषः । मा मा  
हिंशं सुदिद्येषा । यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३२ । ३ ॥

हे मनुष्यो ! ( विद्युतः ) विशेष करके प्रकाशमान ( पुरुषात् ) पूर्ण परमात्मा से ( सर्वे ) सब ( निमेषाः ) निमेष, कला, काष्ठा आदि काल को अवपव ( अधि ) अधिकता से ( जज्ञिरे ) उत्पन्न होते हैं ( एनम् ) इस परमात्मा को ( न ) न ( ऊर्ध्वम् ) ऊपर ( न ) न ( तिर्यङ्म् ) तिरछा ( न ) न ( मध्ये ) मध्य में ( परिजग्रभत् ) सब ओर से कोई पकड़ सकता है । अर्थात् निराकार होने से वह ऊपर नीचे बीच में कहीं इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता ॥

क्योंकि ( तस्य ) उस परमात्मा की (प्रतिमा) देह वा आकार वा मूर्ति ( न अस्ति ) नहीं है, इस से पकड़ा नहीं जा सकता । ( यस्य नाम महद्यशः ) जिस का ज्ञानस्मरण बड़ा यश करने वाला है ( हिरण्यगर्भ इत्येषः ) जिस का वर्णन [ हिरण्यगर्भः ] २५ । १०-१३ इस अनुवाक में है और जिस का वर्णन वा यश “मा साहि३सीत्” १२ । १०२ ऋचा में है तथा जिस की कीर्ति “ यस्मात्प्र जातः परो अन्यः ” इत्यादि ८ । १६, ३९ अनुवाक में है, उस की प्रतिमा नहीं है ॥ ३ ॥

प्रतिमा का अर्थ यहां मूर्ति ही है क्योंकि न पकड़ा जा सकने में यह हेतु दिया है कि उस की मूर्ति नहीं है । मूर्तिमान् पदार्थ पकड़ने में आसकते हैं, अमूर्त नहीं ॥

८० ति० भा० पृष्ठ ३२५ में “ कासीत् प्रमा प्रतिमा० ” इत्यादि मन्त्र का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर-इस से पूर्व ऋ० १० । १३० । १ में यह मन्त्र है कि-

यो यज्ञो विश्वतः तन्तुभिस्ततः० इत्यादि ।

जिस का तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ ( सृष्टिरचनरूपयज्ञ ) विश्वतर में फैला है ॥

पुमौ एनं तनुत उत्कृणत्ति० इत्यादि । ऋ० १० । १३० । २ ॥

परमात्मा इस सृष्टिरूप यज्ञ को रचता और उधेड़ता (प्रलय करता) है । फिर ऋ० १० । ११० । ३ मन्त्र यह है-

कासि३प्रिमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् । छन्दः किमासीत्प्रउंगं किमुक्तं यदेवा देवमयं जन्तु विश्वे

इस मन्त्र में यह प्रश्न किया है कि यदि सृष्टि को यज्ञस्वरूप में वर्णन करते हैं तो सृष्टिरूप यज्ञ का प्रमा, प्रतिमा, निदान, आज्य, परिधि, छन्दः, प्रउग और उक्त क्या २ वस्तु कल्पना करने चाहियें। इस में ईश्वर की मूर्ति का वर्णन नहीं है । आप न मानें तो सायनाचार्य के भाष्य को देख लीजिये-

विश्वसर्जनीपायत्वेन प्रजापतिना सृष्टे यज्ञे विश्वस्य सृष्टारो विश्वसृजो देवाः विश्वसर्जनाय तं यज्ञमन्वतिष्ठन् तस्मिन् समये जगतोऽनुत्पत्तेः जगदन्तःपातिनो यागोपक



रणभूताः पदार्थाः कथमासन्नित्यनया प्रश्नः क्रियते—यद्यदा विश्वे सर्वे साध्या देवा देवं प्रजापतिमयजन्त । तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणम् इयत्ता का कथंभूतासीत् । तथा प्रति-  
मा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रतिमा देवता सा वा तस्य यज्ञस्य कासीत् । तथा निदानमादिकारणं यागे अप्रवृत्तस्य प्रवर्त्तकं फलं किमासीत् । तथा आज्यं घृतम् एतदुपलक्षितं हविर्वा तस्य यज्ञस्य किमासीत् । तथा परिधिः परितो धीयन्त इति त्रयः परिधयो बाहुमात्राः पला-  
शादिवृक्षजन्याः परिपूर्वाद्धातेः “ उपसर्गं घोः किरिति ” किप्रत्ययः, के आसन्नित्यर्थः । तथा तस्य यज्ञस्य गायत्र्यादिकं छन्दः किमासीत् । प्रउगमुक्थम् उपलक्षणमेतत् आज्यप्र-  
उगादीनि उक्थानि शस्त्राणि वा कान्यासन् ॥ एतेषु प्रश्नेषु त्रयाणामुत्तरम्—

संसारोत्पादन के उपायभूत, परमेश्वर के रचे यज्ञ में, संसार के उत्पन्न ( पृथिव्यादि पुरुष भूत ) देवतों ने उस यज्ञ का अनुष्ठान किया । परन्तु उस समय जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था और जिन साधनों से यज्ञ किया जाता है वे पदार्थ जगत् के अन्तर्गत हैं इस लिये इस ऋचा में यह प्रश्न किया गया है कि यज्ञ के साधन तब किस प्रकार हुये । उस सृष्टिकृप यज्ञ की “प्रमा” परिमाण क्या था ? उस की “प्रतिमा” हविः स्थानी पदार्थ जो हविः के स्थान में प्रतिनिधित्व वह क्या था ? तथा “ निदान ” आदि कारण वा यज्ञ में अप्रवृत्त को प्रवृत्त कराने वाला फल क्या था ? और “आज्य” घृत और इस के साथी अन्य इन्द्रियपदार्थ क्या थे ? एवं “परिधि” जो बाहुमात्र पलाशादिवृक्षजनित ३ होती हैं और समीप में वेदी के रखी जाती हैं वे क्या थीं ? उस यज्ञ का गायत्र्यादि छन्द क्या था ? प्रउग उक्थ्यादि स्तोत्र क्या थे ? इन में से ३ प्रश्नों का उत्तर—( जगत् सन्त में वर्णित है )

अब “न तस्यय” सन्त में जो “मा मा हिंसीदित्येवा” यह प्रतीति है इस का पूरा सन्त और उस का अर्थ देखिये—

मा मां हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या योवा विश्वं

सत्यधर्मा व्यानत् । यश्चापश्चन्द्राःप्रथमोज्जान  
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजुः ॥ १२ । १०२

अर्थ:- ( यः सत्यधर्मा ) जो सत्यधर्म वाला परमेश्वर ( पृथिवी ) पृथिवी का ( जनिता ) उत्पत्तिक ( वा ) और ( यः ) जो ( दिवम् ) द्युलोक को ( च ) और ( अपः ) जलों को और ( चन्द्राः ) चन्द्रमाओं को ( ज्जान ) उत्पन्न करता है उन ( कस्मै ) प्रजापति ( देवाय ) देव के लिये हम ( हविषा विधेम ) भक्तिपूर्वक सेवन करें, जिस से वह ( ना ) मुझे ( वा हिसीत् ) न हिंसा करे ॥

“ यस्मान्ना जातः ”-इस प्रतीक का पूरा मन्त्र यह है:-

यस्मान्न जातः परोऽन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।  
प्रजापतिः प्रजयां सष्टं रराणस्त्रीणि ज्योतींश्च सचते स षोड  
शी ॥ यजुः ८ । ३८ ॥

( यस्मात् ) जिस से ( परः ) उत्तम ( न ) नहीं ( अन्यः ) दूसरा ( जातः ) हुआ है । ( यः ) जो ( विश्वा भुवनानि ) सब भुवनों में ( वा विवेश ) व्याप रहा है ( सः प्रजापतिः ) वह संसार का स्वामी ( प्रजया ) संसार के साथ ( संरराणः ) भले प्रकार दान करता हुआ ( त्रीणि ज्योतींश्च ) तीन ज्योतियों को ( षोडशी ) प्राण, अद्वा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम; इन प्रज्ञोपनिषद् ( ६ । ४ ) में कही १६ कला वाला ( सचते ) समन्वित करता है ॥

इन मन्त्रों में भी कोई ऐसी बात नहीं आती जिस से परमात्मा की साकारता पाई जावे । न यह पाया जाता है कि सब जगत् ही परमात्मा है प्रत्युत सब जगत् में परमात्मा व्याप रहा है । यह पाया जाता है ॥

आगे १० ति० भा० पृ० ३२६ से ३२८ तक में-(यद्वाचागन्धपुदितम्) इत्यादि केनोपनिषद् के प्रमाण जो स्वामी जी ने मूर्तिपूजाखण्डन में दिये हैं उन का अर्थ करके लिखा है कि यह प्रतीकोपासना मिट्टु हुई ॥

प्रत्युत्तर-आप भी तो दृश्य की उपासना का निषेध करते हैं और द्रष्टा परमात्मा की उपासना का विधान करने वाला अर्थ करते हैं । इस जितने प्रतीक वा दृश्य पाषाणादि पदार्थ हैं वे पूजा उपासना योग्य नहीं और जो स्वयं अदृश्य तथा सब का द्रष्टा ब्रह्म है वही उपासनीय है । यह आप ही

के लेख से सिद्ध होता है ॥

६० ति० भा० पृ० ३८ पं० २८ प्राप्ती सत्यां निषेधः । प्राप्ति होने से निषेध होता है तो मूर्तिपूजन वेद से भी पूर्व का सिद्ध हुआ ॥

प्रत्युत्तर-तो वेदादि शास्त्रों में झूठ, झल, छिद्र, जाल, व्यभिचार, मद्य, मांसादिका जितना निषेध है आप के मतानुसार सब पूर्व का होने से त्वान्य नहीं ? धन्य हो। विहित का अनुष्ठान और निषिद्ध का त्याग ही कर्तव्य होता है, यह सब भूमखल का मिढान्त है। आप निषिद्ध को पूर्व का होने से ग्रह्य समझते हैं, यह आप की बहोपासनाजडितबुद्धि का फल है। धर्माधर्म दोनों ही समातन हैं परन्तु धर्म करना और अधर्म न करना चाहिये। किन्तु आप का तो जो समातन है वही कर्तव्य है इस लिये आप निषिद्ध भी समातन को ही मानेंगे सो मानिये ॥

स्वामी जी ने जो युक्तिपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में मूर्तिपूजा के १६ दोष दिखाये हैं उन के उत्तर में ६० ति० भा० पृ० ३३१ से ३३७ तक १६ दोषों का उत्तर और मूर्तिपूजा के १६ लाभ बताये हैं जिन का उत्तर एक एक करके इस लिये आवश्यक नहीं कि साधारण भार्यलोग भी इन प्रकार के प्रश्नोत्तर कर लेते हैं। कोई स्वास्त्रमन्त्री प्रमाण नहीं, हां उस में जो मुख्य २ तर्क हैं उन का उत्तर दिया जाता है ॥

६० ति० भा० पृ० ३३७ पं० ३१ में-

नाम ही नामी को मिला देता है ॥

प्रत्युत्तर-तो अब परमेश्वरादि नाम ही परमात्मा से मिला देंगे, मूर्ति-पूजा व्यर्थ है ॥

६० ति० भा० पृ० ३३३ पं० १४ में-

जब उस के नाम और मूर्ति की इतनी प्रतिष्ठा करते हैं तो वह स्वयं उपस्थित हो तो कितनी प्रतिष्ठा हो ॥

प्रत्युत्तर-आप तो पूर्व सब जगत् को ही साकार ब्रह्म बता चुके हैं, फिर यहां यह क्यों लिखते हो कि “यदि वह स्वयं उपस्थित हो” इस से यह विदित होता है कि वास्तव में स्वयं मूर्ति को साक्षात् परमेश्वर नहीं मानते। इस से आप का “न तस्य प्रतिमा” के अर्थ में लिखा सब वस्तुनाश साकार ब्रह्म है, लिखना ठीक नहीं, हां हां में भूल गया, वह आप का तो लेख और भाषा नहीं किन्तु साधुसिंहादि की कृपा वा प्रसाद है ॥

६० ति० भा० पृ० ३३३ पं० २२ में—

क्या इन मूर्तियों से महाराणी और छोट प्रिन्सादि कुछ खुरा मानते हैं प्रत्युत प्रसन्न होते हैं ॥

प्रत्युत्तर—महाराणी आदि साकार हैं, इन की मूर्ति उचिन हैं इस लिये प्रसन्न होते हैं । निराकार शुद्ध परमात्मा में साकारादि दोष कल्पना निःसन्देह उस की अप्रसन्नता का कारण होसकता है ॥

६० ति० भा० पृ० ३३७ पं० १६ से—

जहां मूर्तिपूजन नहीं होता उस देश की पृथिवी में अधिक सुगन्धित पुष्प नहीं होते, यह हम में प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥

प्रत्युत्तर—धन्य हो ! अब अन्यदेशों में अविद्यावश बौद्धमत वा रोमन कैथोलिक लोग मूर्तिपूजा अधिक करते थे तब क्या वहां पुष्प सुगन्धि अधिक थी ? और अब नहीं रही ? प्रत्युत विद्या के प्रभाव से अब अन्यदेशों में भी सुगन्धिपुष्प पुष्प अधिक होने लगे हैं । विद्वान् सालियों ने अनेक युक्तियों से सुगन्धिपुष्प होने आरम्भ कर दिये हैं ॥

६० दि० भा० पृ० ३३८ पं० १३ से—

अब मूर्तिपूजन प्रतिष्ठादि वेदमन्त्रों से लिखते हैं—“यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसोऽव्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यद्वापोऽसौ तन्मृद्व्यऽपां च गङ्गावीराः कृता भवन्ति तस्मान्मूर्तिनिर्माणाय मृत्पिण्डं परिगृह्णाणि । इत्यादि ॥ शतपथ १४ । १ । २ । ९”

प्रत्युत्तर—हम से अधिक धर्मोत्थापना क्या होगा कि शतपथब्राह्मण में न तो इस ऋग से पाठ है, और पाठ में भी लिखते खपते कुछ भूल होजावे यह संभव है । परन्तु शतपथ में “मूर्तिनिर्माणाय” यह पद भी नहीं है । और आप ने अपनी ओर से स्वार्थसाधनार्थ मिला दिया । यदि कोई न्याय करने वाला हो तो आप की गति क्या हो । । । शतपथब्राह्मण आपा बर्लिन पृ० १०२४ में—

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति । अभ्रया च दक्षिणतोहस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतोदेवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसोऽव्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवीअगच्छद्य-

न्मृदियं तदादापोऽसी तन्मृदश्चाऽपां च महावीराः कृता  
मवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्थयति कृत्स्नं करोति तस्मा-  
दाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामदक्ष शिरोराध्या-  
समिति यज्ञोवैमखो यज्ञस्य वामदक्ष शिरोराध्यासमित्ये-  
वैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सं-  
भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इति यज्ञोवै मखो  
यज्ञाय वा यज्ञस्य वा शीर्ष्ण इत्येवैतदाह ॥ शतपथे १४।१।२।९

इस में न तो उस क्रम से पाठ है और न “मूर्तिनिर्माणाय” पद है ।  
और न इस पद के बिना कुछ भी भाष का प्रयोजन सिद्ध होता है । तार्क्य  
तो यह है कि “देवी द्यावापृथिवी० यज्ञः १७। ५ इस मन्त्र से यज्ञ में महा-  
वीर संज्ञक यज्ञरात्र निर्माणार्थ मिट्टी का हला ( पियल ) लावे ॥

अब हम शतपथ ब्राह्मण से ही यह भी दिखलाना चाहते हैं कि महा-  
वीर हवन के पात्र विशेष की संज्ञा है । यथा-

तदाहुः । यद्वानस्पत्यैर्देवभ्योजुह्वत्यथ कस्मादेतन्मृ-  
न्मयेनैव जुहोतीति । इत्यादि । शतपथे १४। २। १। ५३

जिस का भावार्थ यह है कि महावीर संज्ञक पात्र मिट्टी के क्यों बनावे  
अनस्पति ( काष्ठ ) के पात्रों से देवतों को हवन किया करते हैं सो यह  
भी काष्ठ के क्यों न बनाये जावें ? इस का उत्तर भगली कथिहका में स्पष्ट  
दिया है कि-

स यद्वानस्पत्यः स्यात् प्रदह्येत । यद्विरणमयः स्यात् प्रलीयेत ।  
यल्लोहमयः स्यात् प्रसिच्येत । यदयस्मयः स्यात् प्रदहेत्परीशा-  
सात्रयैष एवैतस्मा अतिष्ठन । तस्मादेनं मृन्मयेनैव जुहोति

शतपथे १४। २। १। ५४

अर्थात् काष्ठ के का यह भय है कि वह जगि में नरन हो जावे । लोहार्ण  
का गल जावे । लोहमय धू जावे । अयस्मय फूटने लगे । इस लिये यही  
ठीक है कि मृन्मय ( मिट्टी के ) से हवन करे ॥

इस में भी जुहोति क्रिया से महावीर का होनमाधन होना पाया जाता है। परमात्मा की मूर्ति होना नहीं। आप ने भी पृष्ठ ३५९ में यह कण्डिका पाठभेद करके लिखी है और “जुहोति=हवन करता है”। इस पद का अर्थ मूर्ति बनाना किया है। जो किसी व्याकरण कोष गिरुक्तादि का मत नहीं। और यदि आप ही के पक्षको मान लें तो काष्ठ पाषाण पीतल आदि की मूर्ति वर्जित रहें, केवल मट्टी की मूर्ति बगाई जावें ॥

मन्त्र में “द्यावापृथिवी” लिङ्ग है इस से मिट्टी के विषय में शतपथ-कार ने इस का विनियोग किया है। मन्त्र अर्थसहित हम नीचे लिखते हैं परन्तु यज्ञप्रकरण में इस के उपनालङ्कार से उपदिष्ट कौशिक्षा का प्रयोजन नहीं है। यथा—

देवीं द्यावापृथिवी मुखस्य वामद्य शिरोराध्यासं देवयजने  
पृथिव्याः ॥ मखायं त्वा मुखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ यजुः ३७।३ ॥

(देवी) उत्तम गुणयुक्त (द्यावापृथिवी) प्रकाश और मूर्ति के तुल्य स्त्रियो। (अद्य) इस समय (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (देवयजने) देव-यज्ञ में (वाम्) तुम दोनों के (मुखस्य) यज्ञ के (शिरो) उत्तमाङ्ग को मैं (राध्यासम्) सिद्ध करूँ (मुखस्य शीर्ष्णे) यज्ञ के उत्तमाङ्ग के लिये (त्वा) तुम्हें और (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) तुम्हें सिद्ध करूँ ॥ ३ ॥

५० ति० भा० पृष्ठ ३३९ पं० ११ में जो शतपथ का पाठ लिखा है, उस में भी “मूर्तिनिर्माणाय” यह अपनी रचना का मिला दिया। धन्य आप का साहस। इस में बंबी की मिट्टी लेने का विधान है क्योंकि अगले मन्त्र में “वस्यः” लिङ्ग आया है। इस से बंबी के विषय में इस का विनियोग किया है। मन्त्र अर्थसहित नीचे लिखे अनुसार है—

यह भी ध्यान रहे कि आप ने जो मूल मन्त्रों के अर्थों में द्वार २ “हे महावीर” लिखा सो मन्त्रों में महावीर पद का चिह्न तक नहीं। प्रत्युत इस ३७ वें अध्याय भर में महावीर शब्द तक नहीं आया। यथा—

देव्योवमूथोभूतस्य प्रथमजा मुखस्य वो

ऽद्य शिरोराध्यासं देवयजने पृथिव्याः ॥

मखायं त्वा मुखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ यजुः ३७।४ ॥

हे ( प्रथमजाः ) पहले से हुई ( वक्ष्यः ) योही अवस्था वाली ( देख्यः ) देवियो । ( भूतस्य ) सिद्ध हुए ( मखस्य ) यज्ञ की ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( देवयज्ञे ) देवयज्ञ में ( अद्य ) आज ( यः ) तुम लोगों की ( शिरः ) शिर के तुल्य ( राध्यामस्य ) मैं सिद्ध किया करूँ, शेष पूर्ववत् ॥ ३७ । ४ ॥

शतपथ बर्लिन् का छपा पृष्ठ १०२५ कण्डिका १२ में यज्ञार्थ अजाकीर लेने का वर्णन है, परन्तु मूर्ति का वहाँ चिन्ह भी नहीं, पुस्तक बढ़ने के साथ से पाठ उद्धृत नहीं किया, जो चाहें सो उस पुस्तक के इसी पते पर देख सकते हैं । वहाँ मूर्ति शब्द तक नहीं आया ॥

इस का मन्त्र यज्ञः ३७ । ७ है इस में भी महावीर पद नहीं आया ।

द० ति० भा० पृ० ३४२ पं० १० में—

सर्वानेवास्मा एतद्देवानमिगोमृन्करोति । श० १४ । १ । २ । १५

प्रत्युत्तर—इस में भी मूर्ति शब्द नहीं आया, फिर आप इन का अर्थ करते समय पं० १० में मूर्ति शब्द कहां से ले आये ? न मन्त्र ३७ । ७ में कहीं भी मूर्ति शब्द है, न महावीर शब्द है ॥

द० ति० भा० पृ० ३४१ में—अथ मृत्पिण्डमुपादाय श्रीन्महावीरान्करोति इत्यादि । फिर इस के अर्थ में—मृत्पिण्ड लेकर महावीर की ३ मूर्ति बनाता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप के लिखे समान नती शतपथ में पाठ है, न मूर्ति शब्द है, किन्तु नीचे लिखे अनुसार पाठ है—

मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽहृत्यसावेव धन्युः प्रादेशमात्रं, प्रादेशमात्रमिव हि शिरोमध्ये संगृहीतं, मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्ठात् अङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्वाति तं निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य ह्येतत्सौम्यस्य शिर एवमितरी तूष्णीं पिन्वने तूष्णीं रौहितकपाले ॥ शतपथे १४ । १ । २ । १७

कङ्कड़े आदि के कपाल के चाँचे से उसी प्रकार के ये ३ चरपात्र बनाने की विधि है । मिट्टी का डला लेकर एक महावीर बनावे और “मखाय त्वा”

३९। ८ पदे। यह महावीर प्रादेशनात्र ( ८ अङ्गुल ) लम्बा चौहर गोल बनावे क्योंकि कपाल ( जो उस का संचा=मैट्रिन है ) भी प्रादेशनात्र ही होता है। और बीच में महावीर पात्र झुकड़ा रहे जैसा कि शिर बीच में झुका होता है। और ३ अङ्गुल का ऊपर को मुँह उस पात्र का उठावे, जिस से उस में का हव्य पदार्थ अग्नि में सुगमता से निकल जावे, और आगे को नाक सी बनादेवे जैसी कि कछुवे की होती है। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे महावीरों को बनावे। फिर बिना मन्त्र हुए पिन्धन और चुप ही दो रीझित कपाल बनावे। ये पात्र कपाल (खोपड़ी) के आकार के होते हैं इस लिये इन का संचा भी खोपड़ी और प्रायः नाग भी कपाल होता है ॥ इस प्रसङ्ग में महावीरों का पात्रविशेष होना और भी स्पष्ट हो गया ॥

२० ति० भा० पृ० ३४४। ३४५। ३४६। ३४७। ३४८ में महावीरसंज्ञक पात्रों को धूप में सुखाना, अग्नि में पकाना, अग्नि से निकालना, अकरी के दूध में भोगा, प्रोक्षण करना, पोंछना, घृत से चिकनाना, उन की प्रशंसा करना, प्राणादि से उन को फूंक द्वारा फूंकना, ( देखो श० १४। १। ३। ३० ) लिखा है और आपने उसे मूर्ति पर चटाया है। परन्तु यजुः ३९ अध्याय के जो २ मन्त्र आप ने दिये हैं तब उन मन्त्रों में मूर्ति पद आप, न शतपथ ब्राह्मण में, किन्तु आप ने सारे संसार को अन्धा समझ के वा आँखों में धूल डालने के विचार से अन्धायुज्य (मूर्तिनिर्माणाय \*) पद घुमेड़ दिया। जिस से समस्त प्रकरण का अर्थ छीट गया। पाठक लोग यजुः अध्याय ३९ के जितने मन्त्र हैं उन का तात्पर्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कम भाष्य में भी उल्लिखित है, यहाँ देख सकते हैं, यहाँ लिखने से पुस्तक बड़ेगा। मनीस कोई बात नहीं जिस ने लिये पुस्तक बढ़ाया जावे ॥

२० ति० भा० पृ० ३४९। ३५० में हवन के मन्त्रों को मूर्ति फटजाने का प्रायश्चित्त होन बताया है उसे जब मूर्ति का प्रकरण ही नहीं किन्तु यह-पात्रों का है, फिर उन के लिखने की आवश्यकता ही क्या है। तथा आप की शान्त्येष्टि पद्धति और स्वामिद्वया० जी कृत अन्त्येष्टि में इन मन्त्रों को लिखा है, सो आप ने मूर्तिपूजा निवृत्त करने में लगा दिया। धन्य हो ॥

\* दूसरी बार के छपे २० ति० भा० में न जाने क्यों, मूर्तिशब्द नहीं है, किन्तु ( निर्माणाय ) इतना ही है। परन्तु भावार्थ में फिर भी “मूर्ति-निर्माणाय” ही लिखा है।



६० ति० मा० पु० ३५२ पं० ६ वे—

उन्नो दिव्यस्य नो घातरीशानो वि ष्या दृतिम् ।

( अथर्व० ७ । १८ । १ )

प्रत्युत्तर—( सायणभाष्यम्—)

प्र नभस्य इति वृष्टिकामोमरुद्भ्योमान्त्रवर्णकीभ्यो  
वा देवताभ्यः क्षीरीदनहोमः । “प्रनभस्त्रइति वर्षकामोद्वा-  
दशरात्रम्” की० ५ । ५ ॥

२—दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं “नघ्न-  
स्तताप” इत्यनयाऽनुमन्त्रयेत् ॥

मन्त्रभाष्यम्—अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः  
प्रार्थ्यते तदर्थमादौ अतिवृष्ट्या भूमेर्बाधा माभूदिति,  
तस्याः स्थैर्यं प्रथमपादे आशास्यते । हे पृथिवि ! विस्तीर्णे  
भूमे ! त्वं प्रनभस्व । नभतिर्गतिकर्मा । प्रकर्षेण सङ्गता  
उच्छ्रवसिता भव । अयमर्थः—सस्यादिवृष्ट्यर्थं पर्जन्यस्त-  
थोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति, तयातिवृष्ट्या त्वं शिथि-  
लावयवा मा भव किन्तु दृढा भवेति ० ० ० ईशानः वृष्टि-  
प्रदानशक्तस्त्वं दृतिं जलपूर्णां भस्त्रां मेघरूपां विषय विमुञ्च ।  
यथा जलपूर्णात् दृतिमुखात् महज्जलं स्रवति एवं मेघेभ्यो  
महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

इम में भी मूर्ति का वर्णन नहीं है, इस के लिये हम ने आप ही के पक्ष  
का सायणभाष्य ऊपर लिखा है । जिस का तात्पर्य यह है कि—

“प्रनभस्व—इस मन्त्र से वर्षा की कामना करके गरुतों वा मन्त्ररूप देवतों  
के लिये दूध, चावल का होम है । इस विषय में कीथुनीय० ५ । ५ का प्रमाण  
है । ईशं पीर्जनासेष्टियों के पत्नीसंयाजों में ( नघ्नस्तताप ) इस मन्त्र का  
विनियोग है” ॥

प्रनभस्व० इसी शब्दा का उत्तरार्ध आप ने लिख दिया है । मन्त्र के  
नारक्त से सायणभाष्य का ( जो ऊपर लिखा है ) आशय यह है कि—

“इस में हमारे पाद से लेके १ पादों में वृष्टि के लिये पर्जन्य देवता की प्रार्थना है। इस लिये प्रथम यह कहा है कि भतिवृष्टि से पृथिवी की बाधा न हो। इस कारण पहले पाद में पृथिवी की स्थिरता चाही गई है। हे पृथिवि ! विस्तृत भूमि ! तू अत्यन्त उच्छृङ्खलित हो जगत् खेती आदि की वृद्धि के लिये पर्जन्य तुझ पर बड़ी वर्षा करेगा, उस से तू ढीली न होगी, किन्तु दृढ़ रहना” ॥

अब उत्तरार्ध का अर्थ सायणकृत सुनिये, जो आप ने मूर्तिपूजा पर लगाया है—

“( ईशानः ) वर्षा करने में समर्थ तू ( दूतिम् ) जलभरी मशक [मेघ] को ( वि-ध्य ) छोड़। जैसे जल भरी मशक के मुख से थ थ थ थ जल गिरता है, ऐसे मेघों से भारी वर्षा कर” ॥

इस सायणभाष्य से भी यह स्पष्ट हो गया कि दूति का अर्थ चमड़े की मशक है। मूर्तिव्यापक परमेश्वर नहीं। तथा पृष्ठ ६५५ में जो आप ने ( मन्त्र स्तुताय ) मन्त्र से मूर्तिपूजा भित्तु की है, उसे भी सायणाचार्य ने यहीं बता दिया है कि यह मन्त्र दशजीर्णमास इष्टियों में यज्ञमानवत्ती के संयाजों में सौम्ययाग के अनुमन्त्रण में काम आता है, मूर्तिपूजा में नहीं। विस्तार के अग्र से आगे इस इस का सायणभाष्य न लिखेंगे। यद्यपि इस सायणभाष्य को सर्वत्र प्रमाण नहीं करते, परन्तु आपका मुख बन्द करने को ती सायणभाष्य पुष्कल प्रमाण है और विशेष कर जब कि आप का किया अर्थ प्रमाणरहित और सायण का प्राचीन आपका माना हुआ और कौशुमादि के प्रमाणयुक्त है ॥

४० ति० भा० पृ० १५२ पं० १४ से—

एह्यश्मानुमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः । कृण्वन्तु विश्वे देवा  
आयुंष्टे शरदः शतम् ॥ अथर्व का० २ । सू० १३ । म० ४

प्रत्युत्तर—

( सायणः सूक्तारम्भे ) आयुर्दा इति सूक्तं गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि अनुयोजयेत् । “शान्त्युदकं करोति तत्रैतत्सूक्तमनुयोजयति” की० ७ । ४ एह्यश्मानमित्यनया दक्षिणेन पादेनाश्मानमास्थापयेत् । ( मन्त्रभाष्यम् ) हे माणवक ! एहि आगच्छ । अश्मानम् आतिष्ठ, दक्षिणेन पादेन क्रम । ते तव तनूः शरीरम् अश्मा

भवतु । अश्मवत् रोगादिविनिर्मुक्तं दृढं भवतु । विश्वेदेवा-  
श्रं ते तव शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु ॥

अर्थ-इस सूक्त के आरम्भ में सायणाचार्य कहते हैं कि ( आयुर्दो ) यह सूक्त गोदान संस्कार में विनियुक्त किया जाता है । कौथुमशाखीय ७ । ४ के प्रमाण से सायणाचार्य कहते हैं कि इस से शान्ति का जल करते हैं । अर्थात् ( एष्ट्यश्मानम् ) इस मन्त्र से संस्कार वाले बालक का वह्निमा पाँच पट्टपर रखवावे । सायणाचार्यकृत मन्त्रार्थ-हे बालक ! तू पट्टपर पर बैठ । तेरा शरीर पट्टपर अर्थात् पट्टपर के तुल्य रोगादिरहित पुष्ट हो । देवता तेरी १०० वर्ष की आयु करें ।

( आयुर्दो ) इस सूक्त का चतुर्थ मन्त्र ( एष्ट्यश्मानमातिष्ठ० ) यह है । जिस का अर्थ सायण ती कौथुमीय प्रमाणपूर्वक यह करते हैं कि बालक की छात (चरण) पट्टपर पर रखवाया जाय । और आप भुलविरुद्ध, सायणविरुद्ध और कौथुमीय प्रमाणविरुद्ध ( पट्टपर ) का पूजना सिद्ध करते हैं । उस में या उस से पिछले मन्त्र में कोई परमेश्वर का वाचक शब्द भी नहीं है ॥ १०

द० ति० भा० पृ० ३५१ पं० २१ में-दूते दृष्टं ह मा मित्रस्य मा चतुषा सर्वेणि भूतानि समीक्षन्ताम् । इत्यादि यजुर्मन्त्र ३६ । १० के ( दूते ) पद का अर्थ-हे मूर्तिव्यापक परमेश्वर ! किया है ॥

प्रत्युत्तर-शेष मन्त्र के अर्थ में कोई विवाद नहीं केवल ( दूते ) पद के अर्थ में विवाद है । आप “दूति” का अर्थ मूर्तिव्यापक किस प्रमाण से लेते हैं ? निघण्टु में ती दूति मेघ का नाम है । आप के मान्य अमरकोष में-

**दूतिः समन्तहरितोरोमन्थोद्गीयद्युदुदाः ।**

युनीयकाखलिङ्गादिसंपहवर्ग श्लोक १९ के महेश्वरकृत अमरविशेष टीका में-

**दूतिः चर्मपुटः ।**

अर्थात् चमड़े के कुरूपे या “ चर्म ” को दूति लिखा है । जेदिगीकोष का प्रमाण भी टीकाकार देता है कि-

**दूतिश्चर्मपुटे मत्स्येनेति मेदिनी ।**

अदि आप सहीचर भाष्य को प्रमाण करते हैं तो सही को देखिये । यह ( दूते ) का अर्थ करता है कि-

( दृते ) दृ विदारे, विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे ।

अर्थात् बुढ़ापे से शरीर शिथिल होने पर ॥

दुमरा अर्थ महीधर ने यह किया है कि—

यद्वा—ससुषिरत्वात्सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरः ॥

अर्थात् छेदयुक्त और सींचने का पात्र होने से दृति महावीर पात्र का नाम जानो ॥

फिर हम नहीं जानते कि आप ( मूर्तिव्यापक परमेश्वर ) अर्थ किस आधार पर करते हैं । यथार्थ में तो वैदिक शब्दों के योगिकार्य बल से यहां “ दृ विदारणे ” धातु के अर्थाश्रय से केवल यह अर्थ है कि ( हे सर्वदुःखविदारक ! ) आगे मन्त्रार्थ सुगम और निर्विवाद है ॥

४० ति० भा० पृ० ३५३ पं० १० में—दृते दृ३ह मा व्योक्ते संदृशि जीव्यामसु० अथर्व ॥

प्रत्युत्तर—यहां भी दृति का अर्थ मूर्तिव्यापक करना सर्वथा निर्मूल है । ठीक अर्थ यह है कि “ हे सर्वदुःखविदारक ! मैं आप की दृष्टि में चिरछीव हूँ ” यदि आप सायणाचार्य का भाष्य भी मानें तो उक्त दोनों ठिकाने के (दृते) पद का सायणीयभाष्य ही देखें । उस में भी मूर्तिव्यापक अर्थ नहीं है । तथा आप इसे अथर्व के पते से लिखते हैं परन्तु पूर्व यजुर्मन्त्र के ३६ । १८ से आगे यजुर्वेद में ही १९ वां है । इस लिये उक्त महीधरभाष्य से भी आप का अर्थ विरुद्ध है ॥

४० ति० भा० पृ० ३५३ पं० १८ में ( नमस्ते हरसे ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस मन्त्र में तो ( दृति ) पद भी नहीं फिर हे मूर्तिव्यापक अर्थ किसका ? ( अर्चिषे ) का अर्थ “ तेजःस्वरूप ” है आप ने स्वमूर्तिप्रकाशकाय” कहाँ से लिया ? ( अन्याम् ) का अर्थ “ मूर्तिपूजनविमुक्तान् नास्तिकान् ” भी कैसे हुआ ? ( नमस्ते हरसे ) इस मन्त्र को महीधर ने लिखा है कि इस को १९ । ११ में व्याख्यात कर चुके हैं । सो वहां का भाष्य देखिये—

“हे अग्ने ते तत्र शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । कीदृशाय शोचिषे हरसे हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै हरतेरसुन्प्रत्ययः । ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु । अन्यदुक्तम् ॥

अर्थ-हे अग्ने । तेरे ( शोचिषे ) प्रकाश के हेतु तेज को ( नमः ) नमस्कार है । केम। तेज है कि ( दूरसे ) सब रसों का शोषण वाला (अचिषे) दूसरे पदार्थों को चमकाने वाला । अन्य पूर्व कह चुके हैं ॥

इस से भी अग्नि का वर्णन पाया जाता है, मूर्तिव्यापक का चिन्ह तक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ३५४ पं० ९ में-यतोयतः समीहसे० ॥ इस का अर्थ लिखा है कि ( यतः ) जिस राम कृष्णादि अवतार से-

प्रत्युत्तर-यह भी अगमल है । अर्थ यह है कि जहाँ २ से आप चेष्टा करते हैं वहाँ २ से हम को निर्भय करो ॥

द० ति० भा० पृ० ३५४-३५५ में-

अश्वमवर्मे मेऽसि योना प्राचपादिशोऽघायुरभिदासात् एगत्स आच्छात् ॥ अथर्वं वे ५ । १० । १ से ३ तक के ३ मन्त्र लिख कर अर्थ किया है कि हे ब्रह्मदेव ! मूर्तिव्यापक परमेश्वररूप ! तुम मेरे कवच हो इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्रार्थ यह है (अश्वमवर्मे) वाचाणतुल्य पुष्ट कवच ( मे ) मेरा ( अग्नि ) है ( यः ) जो ( अघायुः ) पापी शत्रु ( ना ) मुझे ( प्राचपादिशः ) पूर्व दिशा से ( अभिदामात् ) नारे ( सः ) वह दुष्ट ( एतत् ) इस सार को ( आच्छात् ) प्राप्त हो । इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे और अन्तराल दिशाओं से भी कवच द्वारा शत्रुओं से बचने का वर्णन है । परन्तु ( हे मूर्तिव्यापक परमेश्वर ! ) यह किसी पद का अर्थ नहीं । क्या आप यह समझते हैं कि जहाँ २ अश्वमादि पक्षर का वाचक कोई शब्द आजावे वहाँ २ पक्षर में व्यापक या मूर्ति में व्यापक परमेश्वर का ही वर्णन है ?

द० ति० भा० पृ० ३५५ पं० १६ में-गर्गस्तताप न हिमो अघाव प्र नमतां पृथिवी जीरदानुः । आपश्चिदस्मे घृनमित्स्तरन्ति यत्र सोमः सदनितत्र भद्रम् । अथर्वं ७ । १८ । २ का अर्थ करते हुवे ( सोमः ) का अर्थ ( मूर्तिव्यापको देवः ) किया है ॥

प्रत्युत्तर-जब कि आप स्वयं सोमशब्द पर यह शतपथ १२ । ६ । १ । १ लिखते हैं कि:-

सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः तस्यैतास्तन्वीयाएता देवताः ।

( तथा )-सर्वे हि सोमः । श० ५ । ५ । ४ । १० ॥

जिम का अर्थ यह है कि “सोम राजा यज्ञ है जो प्रजा का पालक है और ये अन्यदेवता उस (यज्ञ) के भङ्ग हैं।” दूसरे शतपथस्य पाठ का अर्थ यह हुआ कि “मय ही सोम है” फिर सोम शब्द का अर्थ “मूर्तिस्थापक परमेश्वर” कैसे हुआ? वेदसम्प्रदाय में विवाद ही क्या है। यह तो हम को भी स्वीकृत है कि जहां (सोम) यज्ञ होता है, वहां कल्याण है, वहां सु-यौद्धि के तापजनित रोग, जोलों की वर्षा आदि अनिष्ट नहीं होते ॥

द० ति० भा० पृ० ३५६-३५७ में स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश पृ० ३९८ लिखित—

**अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ।**

इत्यादि लेख पर यह दोष दिया है कि स्वामी जी ने पीन श्लोक लिखा है, समस्त लिखते तो कलई खूजनाती। और स्वयं पूरे दो श्लोक लिखे हैं ॥

प्रत्युत्तर—मुख्य बात यह है कि हिन्दू लोग जो कहते हैं कि रामेश्वर महादेव लिङ्ग को रामचन्द्र ने पूजा। इस पर स्वामी का कथन है कि यह बात वास्तवीकीय रामायण में नहीं लिखी किन्तु रामचन्द्र ने सीता को सेतुबन्ध दिखाया है। और यदि आप लिङ्गपूजा मानते हैं तो इस आप के लिखे दोनों पूरे श्लोकों को ही उद्धृत करके भाष्य लिखते हैं और पूछते हैं कि इन में भी लिङ्गस्थापन वा पूजा का वर्णन कहाँ है? यथा—

**एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।**

**सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥१॥**

**एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।**

**अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥ २ ॥**

युद्धकाण्ड सर्ग १२५ श्लोक २० । २१ ॥

(राम कहते हैं कि हे सीते!) यह बड़े समुद्रका घाट दीखता है, इस को सेतुबन्ध कहते हैं, यह ३ लोक में प्रसिद्ध है, यह परम पवित्र स्थान है, यहां पापी महापातकों का प्रायश्चित्त करते हैं, यहां ही सर्वव्यापक देवों में बड़े महादेव परमात्मा ने (इस पर) कृपा की ॥

अर्थात् हमने परमात्मा की कृपा से यह पुल बांधा। इस प्रकार पूरे दो श्लोक लिख देते और उन का अर्थ लिख देते तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि रामचन्द्र जी ने मूर्तिस्थापन वा लिङ्गपूजन किया हो। इस लिये स्वामी

जी ने जो एक श्लोक का १ पाद और दूसरे के २ पाद मात्र लिखे । उन का यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि शेष पादों से लिङ्गपूजा सिद्ध हो जाने के भय से उन्होंने वे पाद छोड़ दिये , किन्तु अभावश्यक थे ॥ आगे—

द० ति० भा० पृ० ३५९ पं० १४ से—(यत्र यत्र न यातिस्म रावणोराक्षसेभ्यः)

इत्यादि उत्तरकाण्ड के दो श्लोकों में सिद्ध किया है कि रावण सदा जाह्नू-नद सोने का लिङ्ग माथ रखता था और गन्ध पुष्पादि से पूजता था । इत्यादि ।

प्रत्युत्तर—प्रथम ती वाल्मीकीय रामायण में प्रक्षेप अन्यो का संभव है । दूसरे, उत्तरकाण्ड ही समस्त ही कल्पित है । इस के ये प्रमाण हैं—

१-बालकाण्ड के बारम्भ में ही लिखा है कि—

**षट् काण्डानि तथोत्तरम् । सर्ग ३ श्लोक २**

अर्थात् ६ काण्ड और उत्तरकाण्ड । इस शैली से यह ध्वनि निकलती है कि उत्तरकाण्ड पीछे से बना, अन्यथा “ ६ काण्ड और उत्तरकाण्ड ” न कहते किन्तु बकट्टा “ ७ काण्ड ” कहते ॥

२-युद्धकाण्ड के अन्त में रामायण का साहाय्य विस्तारपूर्वक वर्णित है । साहाय्य, ग्रन्थ के आदि वा अन्त में लिखा जाता है । इस से विदित होता है कि युद्ध ( छठे ) काण्ड पर ही रामायण समाप्त होगया ॥

३-काक भुगयट्टादि की असंभव कथाओं का तांता उत्तरकाण्ड में ही है । और अन्यायपूर्ण सीतापरित्याग की कथा भी इसी काण्ड में है । जिस को रामचन्द्र जैसे न्यायकारी पुरुष से अनहोनी मान कर कितने ही विद्वान् उसे नहीं मानते ॥

४-रामनाम टीकाकार प्रायः सर्गों के सर्गों को प्रक्षिप्त मानते हैं और उन पर टीका नहीं करते । और ऐसे सर्ग उत्तरकाण्ड में सब से अधिक हैं जैसा कि राम टीकाकार उत्तर के २३ सर्गों के अन्त में लिखता है कि—

**इत उत्तरं पञ्च सर्गाः प्रक्षिप्ता बोध्याः ॥**

अर्थात् इस से आगे ५ सर्ग प्रक्षिप्त जागते । ऐसा ही बहुत जगह कहा है । फिर उत्तर के ३९ सर्ग से आगे ५ सर्गों को रामटीकाकार प्रक्षिप्त मानता है और कहता है कि—

**कतकतीर्थादनादृतश्चाञ्च मयापि न व्याख्याताः**

कतक तीर्थादि ने नहीं माने इस से मैंने भी टीका नहीं किया ॥ फिर

उत्तर ५९ वें सर्ग के आगे ३ सर्गों को राम टीकाकार कहता है कि-  
तीर्थकतकाद्यरूपृष्टत्वेन प्रक्षिप्तमिति न व्याख्यातम् ॥

तीर्थ कतकान्दि ने छुपे भी नहीं इस से प्रक्षिप्त जानकर हमने भी टीका नहीं की ॥

५-वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १ में संक्षिप्त सब कथा के वर्णन में उत्तरकाण्ड की एक भी कथा नहीं गिनाई और श्लोक ८९ पर-

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥

अर्थात् रामचन्द्र सीता को पाय कि राज्य को प्राप्त भये थे । इस प्रकार भूतकाल करके वर्णन किया है । फिर रामचन्द्र जी के भविष्यत् यज्ञ का वर्णन तो है, पर सीता परित्याग का नहीं ॥

६-फिर बालकाण्ड सर्ग २ में रामायण की कथाओं का सूची पत्र है । उस के अन्त में श्लोक ३८, ३९ में सूचीपत्र बनाने वाला कोई पुरुष कहता है कि-

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥

अनागतं च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले ।

तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

“ अर्थात् प्रजापालन, सीतात्याग और जो कुछ भविष्यत् कथा है वह उत्तर काव्य में भगवान् वाल्मीकि ने बनाई । ” स्पष्ट है कि यह लेख स्वयं वाल्मीकि जी का नहीं । और “ उत्तर ” का विशेष नाम लेने का भी प्रयोजन न था, जब कि सूचीपत्र की अन्यकथाओं में सात काण्डों के नाम नहीं आये हैं । इन से प्रतीत होता है कि यह चङ्गल है । तथा प्रथम सर्ग में कथाओं का सूचीपत्र था ही चुका था फिर दूसरे ही सर्ग में नये सूचीपत्र की आवश्यकता न थी, किन्तु यह पुनरुक्ति इसी स्वार्थभाषन के लिये की गई है । और

७-प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।

चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् । वा० बा० ३ । १

अर्थात् राम को राज्य मिलने पर वाल्मीकि जी ने रामायण बनाया । पूर्व नहीं ॥

८-तथा सर्गशतान्पञ्च । वा० बा० ३ । २ ॥

अर्थात् ५०० सर्ग बनाये । इस पर राम टीकाकार लिखता है कि-



## पञ्चशतरूपसर्गसंख्या षट्काण्डानामेव ।

अर्थात् ५०० सर्ग संख्या ६ काण्डों की ही है, ७ वें की नहीं ॥

तीसरी बात यह है कि इन श्लोकों में रावण राक्षसराज का लिङ्गपूजाक होना लिखा है । सो जो रावण राक्षस के अनुगामी हों वे लिङ्गपूजा करें, जिस ने अन्य भी अनेक अनर्थ किये थे, उन में एक लिङ्गपूजा भी सही, परन्तु रामसत्कों को ती लिङ्गपूजा नहीं करनी चाहिये ॥

## इति मूर्तिपूजामहाप्रकरणम् ॥

### अथ-तीर्थप्रकरणम्

६० ति० भा० पृष्ठ ३५९ में-नमः पाट्यार्य चाचार्यार्य च नमः प्रतरणाय खोरुणाय च नमस्तीर्थार्यार्य च० । यजुः १६ । ४२ इस मन्त्र के "तीर्थर्य" पद से गङ्गादि तीर्थ सिद्ध किये हैं ॥

प्रत्युत्तर-इस मन्त्र में तीर्थर्य पद आया है परन्तु प्रयागादि का वर्णन आपने अपनी ओर से वा सहीधर की देखा देखी लगाया है । मन्त्र में नहीं है । न मन्त्र में यह वर्णित है कि तीर्थ गङ्गादि को कहते हैं । प्रत्युत आप भी यह अर्थ करते हैं कि ( हे शिव ) ( आप तीर्थरूप हो ) जिस ने शिव परमेश्वर ही तीर्थ-संसार से पार तिराने वाला पाया जाता है ओर ठीक अर्थ ही यह है कि-

### समानतीर्थे वासी ( अष्टाध्यायी ४ । ४ । १०७ )

जो विद्यार्थी एक गुरु से पढ़ते हैं वे सतीर्थर्य कहाते हैं, यही कीमुदी में लिखा है कि—

### समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थः

जिस से गुरु का नाम तीर्थ होता है । इस लिये " नमस्तीर्थार्यार्य " का अर्थ यह हुआ कि गुरुकुलवासी वेदादि के अध्यता ( तीर्थर्य ) गुरु का ( नमः ) सरकार अर्चना से करना ॥

फिर ६० ति० भा० पृ० ३५९ पं० १० में इन ने गङ्गे यमुने इत्यादि प्रमाण दिया है ॥ प्रत्युत्तर—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परूण्या ।

असिक्कया मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्यसुषोमया ॥

( ऋ० १० । ७५ । ५ )

( सायणभाष्य )

अत्र प्रधानभूताः सप्त नद्यः तदवयवभूतास्तिष्ठः स्तू-  
यन्ते हे गङ्गे हे यमुने हे सरस्वति हे शुतुद्रि हे परुष्णि  
हे असिक्कया अवयवभूतया सहिते मरुद्वृधे, वितस्तया  
सुषोमया च सहिते आर्जीकीये ! त्वं चैवं सप्त नद्योयूयं  
मे स्तोमं स्तोत्रम् अस्मदीयमासचत आसेवध्वं शृणुहि  
शृणुत च । आर्जीकीयाया वितस्तया सुषोमया च साहित्यं  
निरुक्ते उक्तं वितस्तया चार्जीकीय आशृणुहि सुषोमया  
चेति । अत्र गङ्गा गमनादित्यादि निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥

सायणभाष्य का भावार्थ—

इस में प्रधान ७ नदी और उन के अवयवभूत ३ नदियों की प्रशंसा की  
जाती है । १ गङ्गे । २ यमुने । ३ सरस्वति । ४ शुतुद्रि । ५ परुष्णि । ६ अवयव  
भूत अस्ति स्तूयन्ते सहित मरुद्वृधे । ७ वितस्ता और सुषोमा सहित आर्जीकीये ।  
इस प्रकार ७ नदियों ! तुम मेरे स्तोत्र को सेवित करो और सुनो ॥

आर्जीकीया का वितस्ता और सुषोमा के सहित होना निरुक्त में कहा  
है कि “वितस्ता तथा सुषोमा सहिते ! आर्जीकीये । सुग” ॥ इस में “गङ्गा  
गमनात्” इत्यादि निरुक्त देखना चाहिये ॥

अब सायणाचार्य के भाष्य से भी पापनाशकता, तीर्थता और मोक्ष-  
दायकता का गन्ध तक नहीं आता । फिर यह प्रमाण पं० ७५० प्र० जी  
के पक्ष को पुष्ट कहां करता है ? नहीं करता ॥

किमी को दो सन्देह सायणभाष्य से नये रहस्य होंगे । १—यह कि  
नदियों को सम्बोधन और सुनना क्यों वर्णन किया है । २—यह कि यदि गङ्गा  
को भगीरथ ने बहाया, तो भगीरथ के पितृपितामहादि के समयों में वसं-  
तमान ऋग्वेद में उस का वर्णन तथा अन्य नदियों का वर्णन कैसे आया ॥

१—प्रश्न का समाधान तो हमारी समझ में यह है कि—( तात्त्विकविधा-

श्रवः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ) निरुक्त १ । १ अर्थात् वेदों में ३ प्रकार की श्रवा हैं । १ परोक्षकृता । २ प्रत्यक्षकृता । ३ आध्यात्मिकी ॥ इन में से ( अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्यमिति चैतेन सर्वनाम्ना ) निरुक्त १ । २ प्रत्यक्षकृताओं में मध्यमपुरुष और त्वम् ( तू ) यह सर्वनाम आता है ॥

इस से जाना जाता है कि वेद की यह शैली है कि प्रत्यक्ष पदार्थों को हम प्रकट प्रयोग में लाता है । हम को उन का अर्थ समझते समय अपनी शैली जो वर्तमान भाषा की है उसी में तात्पर्य समझ लेना चाहिये । कुछ यहां नदियों के विषय में ही ऐसा हो सो गहरी, किन्तु अग्नेः वायो ! सूर्यो मुमल ! उलूखल ! पूषन् ! चन्द्र ! इत्यादि सम्बोधनों से वेद भरे पड़े हैं । उन सब की सङ्गति हम निरुक्त से हो जाती है । कहीं २ वेद के अग्न्यादि पदों में छेवाल झार होता है । वहां परमेश्वरविषयक अर्थ में सम्बोधन आवश्यक होता है । यह भी उन २ अग्नि वायु आदि पदों में सम्बोधन के प्रयोग का कारण है ॥

उपाकरण में ( सुमिदुपग्रलिङ्गनराणां कालहलक्ष्स्वरकर्तृयुक्तां च ॥

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृद्देवां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ) यह कारिका ॥

### व्यत्ययोबहुलम् ( ३ । १ । ८५ )

इस सूत्र पर है । इससे भी प्रथम मध्यम उत्तम पुरुषों का व्यत्यय वेद में बतलाया गया है । हमलिये वेद की यह शैली ( मुहावरा ) जान पड़ता है ॥

२-दूमरे का समाधान भी हमी मन्त्र के निरुक्त से हो जायगा । यह ती प्रसिद्ध ही है कि वेद में प्रायः यौगिक शब्द हैं । तदनुसार इस मन्त्र में आये समस्त नदीवाचक पदों का अर्थ निरुक्त ने हम प्रकार किया है जिस को सायणाचार्य ने संकेतमात्र लिखकर छोड़ दिया है । यथा निरुक्त ८ । २६-

### १-गङ्गा गमनात्

गमन से गङ्गा । अर्थात् गति वा चाल का बहाव प्रशंसित हो ॥

२-यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा ।

जोड़ती हुई चलने वा जुड़ी हुई चलने से यमुना ॥

३-सरस्वती सर इत्युदकनाम सत्तैस्तद्वती ।

अर्थात् स्र पातु से सरस्जल का नाम है, उत्तम जल वाली सरस्वती जानो ॥

४-शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेत्र द्रवतीति वा ॥

अर्थात् शीघ्र भागने वाली शीघ्र उपयित सी चलने वाली को शुतुद्री जानो ॥

५-इरावतीं परुष्णीत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी ॥

पर्वो जोड़ों वाली, प्रकाश वाली, कुटिलगामिनी को परुष्णी जानो ।  
इसी से इरावती नदी का नाम परुष्णी पड़ा ॥

६-असिक्वयशूक्रासिता, सितमिति वर्णनामसत्प्रतिषेधोऽसितम्

अशुक्रा वा असिता होने से अस्मिन्नी । सित वर्ण का नाम है, उस का सलटा अस्मित ॥

७-मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति ॥

मरुद्वृधा सब नदी हैं क्योंकि मरुत इन को बढ़ाते हैं ॥

८-वितस्ता विदग्धा विवृद्धा महाकूला ॥

विदग्धा वा विशेष बड़ी वा बड़े किनारों वाली को वितस्ता जानो ॥

९-आर्जीकीयां विपाडित्याहुर्ऋजुरूपमत्रा वर्जुगामिनी वा ।

ऋजुरूप से उत्पन्न होने वाली वा ऋजुगामिनी को आर्जीकीया जानो ।  
इसी से विपाशा नदी को आर्जीकीया कहते हैं ॥

इस निरुक्त को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इन २ लक्षणों वाली नदी होनी हैं और जिस २ नदी में जो २ लक्षण पाये गये, लोक में उस २ नदी को पीछे से उस २ नाम से पुकारने लगे । जैसे कि निरुक्तकार ने दो जगह स्वयं कहा है कि आर्जीकीया ऋजुगामिनी होने से विपाशा का नाम पड़ गया । और पर्वो वाली आदि लक्षणों से इरावती का दूसरा नाम परुष्णी पड़ा ॥

इस से यह जानना चाहिये कि वेद में आये गङ्गा आदि नाम भागीरथी आदि के वाचक नहीं किन्तु वेदोक्त लक्षणयुक्त होने से भागीरथी आदि के गङ्गा आदि नाम पीछे संप्रचरित हुये ॥

६० ति० भा० पृ० ३६० पं० १ से-सरस्वती सरयुः सिन्धुर्भिभिः ।  
इत्यादि प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर-

सरस्वती सरयुः सिन्धुर्भिभिर्महोमहीरवसा यन्तु वक्षणीः ।

देवीरापो मातरः सद्यित्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥

( ऋ० १० । ६४ । ८ )

### सायणभाष्यम्

महोमहतोऽपि महीर्मत्यः अत्यहन्तं महत्यः ऊर्मिभिः  
संहिताः सरस्वती सरयुः सिन्धुः एतदाद्या एकविंशतिसं-  
ख्याकाः वक्षणीः इमा नदाः अत्रसा रक्षणेन हेतुना आयन्तु  
अस्मदीयं यज्ञं प्रयागच्छन्तु ततः देवीः देवनशीला मानरो-  
मात्भूताः सूदयित्स्वः प्रेरयिष्यः तासामापः घृतयुक्तं मधु-  
मत् मधुसहितमात्मीयं पयः नोरमभ्यमर्चत प्रयच्छत ॥

( सायणभाष्य का भावार्थ ) बड़े से बड़ी अत्यन्त बड़ी लहंगों सहित  
सरस्वती, सरयू, सिन्धु इत्यादि २१ प्रकार की नदी हैं, ये रक्षाहेतु भावें,  
हमारे यज्ञ में प्राप्त हों और दिठपशील माता के समान प्रेरणा वाली उन का  
जल मधुरतायुक्त है । ये अपने जल देंगे ॥ १ ॥

इस सायण के भाष्य का भी भावार्थ यही निकलता है कि २१ प्रकार  
की भारी २ नदियों के जल से हमारी रक्षा होवे और यज्ञ कार्य में उन के  
मधुर जल वर्तें जावें । ये हमारा माता के समान पोषण करती हैं । माता दुग्ध  
पिलाती है, ये भी जल पिलाती हैं । इस में भी पापनाशन और मोक्षदान  
का कुछ भी वर्णन नहीं आया ॥

द० ति० भा० पृ० पं० ३६० पं० १४ से-आपो भूयिष्ठा इत्येको अत्रवीत् । इत्यादि  
मन्त्र से तीर्थ सिद्ध किये हैं-

प्रत्युत्तर-इस में सरल अर्थ भी देखा जावे तो गङ्गादि तीर्थों का  
लेशमात्र वर्णन नहीं । पदार्थ सहित मन्त्र पढ़ियेः—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अत्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अत्रवीत् ।  
वर्धयन्ती बहुभ्यः प्रैको अत्रवीद्विता वदन्तश्चमुसाँ अपिंशत ॥

( ऋ० १ । १६१ । ९ )

अर्थः—( एकः ) एक तो ( अत्रवीत् ) कहता है कि ( आपः ) जल  
( भूयिष्ठाः इति ) बहुत हैं । ( अन्यः ) दूसरा ( अत्रवीत् ) कहता है कि  
( अग्निः ) अग्नि ( भूयिष्ठ इति ) बहुत हैं । ( एकः ) एक ( प्रअत्रवीत् ) उत्तमता  
से कहता है कि ( वर्धयन्तीम् ) पृथिवी बड़ी है । ( ऋता ) [ इस प्रकार सब ]  
सत्य ( वदन्तः ) कहते हुवे ( चमुसान् ) चमसों को ( अपिंशत ) बाँटें ॥

अर्थात् जल, अग्नि, पृथिवी आदि में जिम पर जो दृष्टि डालता है उसे वही बड़ी प्रतीत होती है और भिन्न २ वस्तुओं को बड़ा बनाने वाले सभी सत्यवादी हैं क्योंकि पथार्थ में जल, अग्नि वा पृथिवी सभी बड़े हैं। हम में यह नहीं कहा कि जल वा रूपल तीर्थ वा मोक्षदायक हैं ॥

४० ति० भा० पृ० ३६१ में रामायण के कुछ श्लोक लिखे हैं, जिम का उत्तर रामायण के प्रसिद्धांश में आ चुका है ॥

४० ति० भा० पृ० ३६२ पं० ११ से—यमो वैवस्वतो देवः इत्यादि मनु ८ । ९२ से तीर्थ मिदु किया है ॥

प्रत्युत्तर—हम का अर्थ यह है कि “यम वैवस्वत जो तेरे हृदि स्थित है। यदि उस से विरोध नहीं तो न गङ्गा को जा, न कुरुओं को” ॥

यह मनु ८ । ९२ राजा के मास्ती से साक्ष्य सुनते समय का है। जिम में पापनाश वा मोक्ष का कुछ भी वर्णन नहीं, किन्तु गङ्गा वा कुरुक्षेत्र वामरूप दण्ड का भय दिया है कि झूठों गवाही आत्मा के विरुद्ध न दोगे तो तुम को गङ्गा वा कुरुक्षेत्र वामरूप दण्ड भोगना न पड़ेगा। हम में पापनाश वा मोक्ष का वर्णन नहीं। क्या दण्ड भोग के स्थान कारागारादि को तीर्थ वा मोक्ष प्रद कह सकते हैं ? नहीं ॥

४० ति० भा० पृ० ३६२ पं० १९ से—मिताऽसिते परिते यत्र सङ्गये । इत्यादि मन्त्र को ऋग्वेद संहिता का बताकर तीर्थ सिद्ध किये हैं ॥

प्रत्युत्तर—यह मन्त्र ऋग्वेद संहिता में नहीं है, न हम पर सायणाचार्य ने भाष्य किया किन्तु परिशिष्ट का वचन है और तीर्थ का विचार वेदप्रमाण मासिकपत्र वर्ष २ खण्ड १२ वर्ष ३ खण्ड १ में विस्तारपूर्वक है, वहां ऐसे बहुत से मन्त्रों पर विचार किया है, देखिये—और यद्यपि ऐसे २ कृत्रिम मन्त्रों का अर्थ भी योगाभ्यास की ओर हो सकता है, परन्तु हम निश्चय विश्वास करते हैं कि परिशिष्ट ग्रन्थों वा उन में के कितने ही तात्त्विकों की रचना आधुनिक मतवादियों ने इसी कारण की है, जिम से उन्हें अपने आधुनिक विचारों को वेद से मिदु करने का अवसर मिल सके। गला परिशिष्ट क्या वस्तु है ? इस का शब्दार्थ यह है कि जो वेदों में परमात्मा को उद्देश्य करते समय परिशेष रह गया, वह किसी समय के लोगों ने बनाया और वेद की कमी को ऐसे पूरा किया, जैसे पाणिनि के सूत्रों की न्यूनता को वार्त्तिक से पूरा करते हैं, परन्तु हम मन्त्रों के घटने वालों ने तीर्थमाहात्म्य जिसे

परमात्मा ने वेदों में (इनके विचारानुसार) भूल कर छोड़ दिया था, उसे पूर्ण करके परमात्मा के भी बड़े बन गये ॥

—\*—

### गुरुप्रकरणम्

२० ति० भा० पृ० ३६२ और ३६३ में—सत्यार्थप्रकाश के गुरुसाहाय्य में के इस लेख पर कि (यदि गुरु भी दोषी हो तो दण्डनीय है) आक्षेप करके गुरु की अदृश्य और अन्धाधुन्ध जैसी गुरु आज्ञा करे, मागना लिखा है । प्रत्युत्तर—मनु के ( गुरोर्भ्यं परीवादः ) इत्यादि अध्याय २ श्लोक २००, २०१ में गुरुनिन्दा न सुनने का विधान, झूठी निन्दा न सुनने के लिये है । और यदि यथार्थ में गुरु दोषी हो तो—

गुरुं वा बालवृद्धो वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ मनुः

अर्थात् चाहे गुरु हो, चाहे बालक, बूढ़ा, वा बहुश्रुत ब्राह्मण हो, किन्तु दुष्ट आततायी को शीघ्र मारे ॥ और धर्मात्मा विद्यादाता गुरु की सेवा का विधान सत्यार्थप्रकाश के इसी प्रकरण की २ पङ्क्ति और ऊपर को देखिये तो मिल जायगा ॥

### पुराणप्रकरणम् ।

२० ति० भा० पृ० ३६४ पं० १५ से—अहमेव वात इव प्रवाक्यारम्भमाणा भुवनानि विष्टा । इत्यादि श्ल० १० । १२५ । १२ से देवी जी सिद्ध की हैं ।

प्रत्युत्तर—यदि आप का लिखा ही अर्थ ठीक माना जाय तो भी प्रकृति ( उपादान कारण ) की सहिष्णु वर्णित होती है, कुछ सहिष्णुसर्वदानी, सद्यमांसप्रिया, पुण्योक्त देवी का वर्णन तो नहीं । और आप जो पुराणोक्त सृष्ट्युत्पत्ति के परस्पर विरोध का परिहार करते हैं कि जिस २ कल्प में जिस २ देवता से सृष्टि चली, उस १ पुराण में उस २ भिन्न २ देवता से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी, सो समाधान इस लिये ठीक नहीं कि कोई मनुष्यादिके समान देहधारी/देवी आदि इस सहती प्रजा के उत्पन्न करने और असंख्य लोकों के धारण करने में असमर्थ होने से उनका सृष्टिकर्तृत्व ही सत्य नहीं, फिर और विचार ही क्या करना है ॥

पृ० ति० भा० पृ० ३६५ पं० २९ यह कथा स्वामी जीने अपनी निलावट और गड़बड़ों से लिखी है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-अस्य ने यह न लिखा कि क्या २ निलावट और गड़बड़ों हैं। और यह तो ठीक ही है कि स्वामी जी ने शिवपुराण का अन्तरंगः अनुवाद तो किया ही नहीं, किन्तु सारांश कथा का लिखा है। नृसिंह का जिस प्रकार शरणावतार शिव ने वध किया, सोही इन पूर्व पृष्ठ ३७० से ३७३ तक में वर्णित ही कर चुके हैं। फिर भला जग्न भवतार २ भाष्य में एक दूसरे का वध करने लगे, रामावतार और परशुरामावतार भाष्य में सामना करने लगे, यदि ये बातें भी विरोध करने की नहीं तो और क्या चाहते हो ?

पृ० ति० भा० पृ० ३६९ पं० ११ से ब्रह्मा को मोह न होने के वरदान मिलने पर भी बड़े चुराने रूप मोह होने की ब्रह्मा का यह समाधान किया है कि वह वरदान केवल विविध सृष्टि की रचना में कर्तृत्वान्निमान न होने के विषय में है। परन्तु इस प्रकार का भूल में कोई पद नहीं कि कर्तृत्वान्निमान न होगा। किन्तु “विमुक्षति” क्रिया का अर्थ “मोह” ही है और भाष्य “अहङ्कार” अर्थ करते हैं। तब आपकी मत में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार; इन पांच में मोह और अहङ्कार का भेद कुछ भी न रहेगा ॥ ऐसी खेबातामी से पुराणों की महिमा का ह्यापन नहीं होसकता ॥

पृ० ति० भा० पृ० ३७१ में-बाराह और हिरण्यक की लड़ाई में जो असम्भवता स्वामी जी ने दिखाई थी उन का समाधान किया है और कहा है कि पृथिवी थोड़ी रह गई थी, शेष जल में डूबी थी, बाराह जी उसे चढ़ा कर ला रहे थे इत्यादि-परन्तु थोड़ी पृथिवी शेष थी, थोड़ी डूबी थी, यह कथा इस प्रकरण में भागवत में नहीं है और जो बाराह दान्त पर पृथ्वी को रखे थे, वे स्वयं कहां खड़े थे ? इत्यादि शङ्काओं का कुछ उत्तर नहीं। चटाई की तरह न लपेटने पर भी स्वामी जी की शङ्का जो आधार की है उस का भी कुछ उत्तर नहीं। स्वामी जी ने कुछ भागवत के अनुवाद का नाम नहीं लिया किन्तु उस की कथा जुबानी लिखी है। पर जो कुछ भी भागवत में लेख है उक्त भी असम्भव दोष से रहित तो नहीं ॥

पृ० ति० भा० पृ० ३७३ में- लिखा है कि भागवत में प्रह्लाद की कथा में कान्त पर कीड़ी खलना आदि नहीं लिखा। परन्तु कथा तो स्वामी जी ने



गिरिचन्द्रेह जुबानी लिखी, किन्तु भागवत जैसे अचंभ्यादिदोषयुक्त पुस्तक में समय विताना व्यर्थ जाना । परन्तु क्या प्रह्लाद की कथा भी भागवत में नहीं है ? और क्या सृष्टिकर्मत्रिरुद्ध असंभव जात वृसिंह की उत्पत्ति भी उस में नहीं है ? यदि है तो उस का समाधान विज्ञान के अनुसार आप को करना था ॥

### रथेन वायुवेगेन

यह वाक्य भागवत दशमस्कन्ध ३८ । ३९ में नीर:-

जगाम गोकुलं प्रति ३८ । २४ में है ॥

इस में कहीं की हँट कहीं रोड़ा नहीं हैं । अध्याय ३८ से ३९ तक में वही अक्रूर के जाने का वर्णन है । और स्वामी जी ने जाद्योपान्त कथा देखने के लिये जुबानी याद रहे दो पार्श्व लिख दिये हैं, परन्तु आशय तो यही है कि अक्रूर का रथ वायुवेग वाले घोड़ों से युक्त था । जब ऐसा भागवत में है तो स्वामी जी की देर लगने की शक्का का उत्तर यह नहीं होसकता कि प्रेम में देर लगगई । क्योंकि रथ की वायुवेगिता लिखने का तात्पर्य शीघ्र पहुँचाने के लिये ही था । फिर देर लगाने से प्रयोजन वायुवेग का पूरा नहीं होता ॥

६० ति० भा० पृ० ३७४ में पूतना का शरीर छः कोस का जो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है, उसे असत्य बताया है और भागवत का श्लोक स्वयं प्रमाण में दिया है कि-

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।

चूर्णयामास राजेन्द्र तदद्रुतमिवाभवत् ॥

और कहा है कि छः कोस के वृक्ष उस से दब नहीं गये किन्तु उस की धमक से गिर गये । परन्तु यह भी गुल्मी ग्रांठना है । क्योंकि उस में वृक्षों का गिरना नहीं लिखा किन्तु ( चूर्णयामास ) अर्थात् छः कोस के वृक्षों का चूरा करना लिखा है, जो दब कर ही होता है ॥

६० ति० भा० पृ० ३७४-३७६-में लिखा है कि जोपदेव ने कोई और नाम-वत बनाई होगी । यह भी भागवत ती व्यास जी ने ही बनाई है । जो पद्म तथा नारदपुराण से भी सिद्ध होता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-भागवत की पूरी परीक्षा तो "भागवतपरीक्षा" नाम के छोटे से पुस्तक में देखियेगा । जो हमारे पास से मिला सकता है । परन्तु संक्षिप्त

यह है कि महाभारत के आदिपर्वातगत आसीकपर्व अध्याय ४० श्लोक ३०। ३१। ३२ में शङ्खी ऋषि का वर्णन, फिर अध्याय ४९ श्लोक २९ से ३३ तक में परीक्षित को रुपे काटे के नपाय करने का वर्णन, अध्याय ४४ श्लोक ३। ४ में तक्षक की फुंकार का वर्णन है। और भागवतोक्त राज्य छोड़ गङ्गा किनारे जाने के बदले, घर ही में रहना और तक्षक से काटा जाना वर्णित है। जिस से भागवत का परीक्षित ने चुनना ही निर्मूल होता है, फिर और बात कहनी ही क्या है ॥ जैसा कि—

सम्मन्त्रय मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।

प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥२६॥

रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चैषधानि च ।

ब्राह्मणान्मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतोवै न्ययोजयत् ॥ ३० ॥

राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।

मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञस्समन्तात्परिरक्षितः ॥ ३१ ॥

न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।

वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥ ३२ ॥

प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमाः ।

भावार्थ— मन्त्रियों से सलाह करके, एकस्तम्भ वाला, बड़ा रक्षित, ऊँचा महल बनाया, वहाँ वेद्य और दवाई से रक्षा रखी, मन्त्रविद्वंसिद्ध ब्राह्मण चारों ओर नियुक्त किये ॥ ३० ॥ यह वहीं राजकाज सब करता था। मन्त्री जिस का पहरा देते थे। कोई भी उसे वहाँ ऊँचे पर बैठे को नहीं छू सकता था। वहाँ वायु भी छग्न कर जाता था ॥ ३२ ॥

जब सातवां दिन आया तब अध्याय ४३ में लिखा है कि सर्प ब्राह्मण तपस्वियों का रूप बना कर आये, सायंकाल हो गया था, आशीर्वाद पढ़ कर कुशा और फल दे गये, फलों ही में सूक्ष्म रूप धरके तक्षक भी आया, राजा ने मन्त्रियों से कहा कि सातवां दिन भी बीता, लो, फल खाओ। मन्त्रियों को कुछ फल देकर भाप भी एक फल खाने को तैयार हुये, कि फल में छोटसा छाल नेत्र का जन्तु जान पड़ा, तब राजा ने कहा कि यह कीड़ा ही काट लेगा, जिस से ब्राह्मण का वाक्प अँठा भी न हो ॥

अ० ४४ में लिखा है कि जब तत्सक ने कुंकार नारी, उस समय—  
ततस्तु ते तं गृहमग्निना वृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।  
भयात्परित्यज्यदिशः प्रपेदिरेपपातराजाऽशनित्ताडितो यथा ॥

भावार्थः—उस जहरी सर्प के कुंकार की अग्नि से जलते हुए रथान को छोड़ कर मन्त्री चारों दिशाओं को भाग गये, और राजा विजुषी का सा नार नौचे गिर पड़ा ॥ इस में भागवत सुनगा, राज्य का छोड़ना, गङ्गा तट पर जाना, कुछ भी नहीं लिखा । इतिहासों में इस से बड़ा पुस्तक कोई है ही नहीं । इसलिये यही निश्चय है कि भागवत शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को नहीं सुनाई, जैसा कि देवीभागवत के नीलकण्ठ टीका की भूमिका देखियेः—

**विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति**

अर्थात् देवीभागवत को महापुराणान्तर्गत मानने वाले विष्णुभागवत को बोपदेवकृत बताते हैं । इस से यह विदित हो गया कि श्रीमद्भागवत को बोपदेवकृत मानना उस समय भी प्रचलित था, जब कि देवीभागवत पर नीलकण्ठ ने टीका बनाई । फिर वही लिखता है किः—

**पुराणभेदेन मतभेदस्तु बहुशः ।**

अर्थात् भिन्न २ पुराणों से भिन्न २ मत तो बहुत प्रसिद्ध हैं ॥

जब महाभारत आदिपर्व से यह सिद्ध हुआ कि राजा परीक्षित ने प्रोपवेशन नहीं किया, न भागवत सुनी और भागवत का बोपदेवकृत होना देवीभागवत के नीलकण्ठी टीका की रचना से पूर्व भी प्रचलित था । और शान्तिपर्व अध्याय ३३१ और ३३२ में शरशय्या पर लेटे भीष्मपितामह जी ने धर्मात्मा युधिष्ठिर से शुकदेव जी का जन्म और परमधाम जाना भूतकाल करके कहा है । जिस के अन्त में यह श्लोक है किः—

**इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरततर्षभ ! ।**

**विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥**

अध्याय ३३२ श्लोक ३९ ॥

अर्थात् यह शुकदेव जी का जन्म और परलोकमति इनने विस्तारपूर्वक सुनने सुनाई, जो तुम ने पूछी थी । विशेष “ भागवतपरीक्षा ” में देखिये ॥

हम से यह ज्ञात होता है कि राजा परीक्षित को पितामह युधिष्ठिर के पूर्व ही शुक्रदेव जी परमघाम मिथार गये थे, जब कि परीक्षित जन्मा भी न था, फिर उस को कथा सुनाने कहां से आये ?

४० ति० भा० पृ० ३९९ पं० २५ से—

स्वामी जी ग्रंथों का फल नहीं मानते कि जड़ पदार्थ किसी को दुःख देते नहीं, वेद हम बात को कहता है कि ग्रह दुःख सुख देते हैं। यदि ग्रह दुःख सुख नहीं देते तो क्यों उन की शान्ति वेद में की है ? निश्चय यह भेंट पाकर शान्ति करते हैं—

शक्नो मित्रः शं वरुणः । शं विवस्वांश्छनन्ततः । सत्याताः पार्थिवान्तरिणाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥

अथर्व १९ । ९ । ७ इत्यादि ६ मन्त्रों से यह प्रार्थना दिखलाई है कि ये सूर्यादि ग्रह, गन्तव्य, प्रातः, सायं, दिन, रात्रि आदि हमें सुखदायक हों ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी के कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि जड़ पदार्थों से किसी को सुख दुःख नहीं होते, किन्तु जड़ पदार्थों से तो तापादि दुःख सुख स्वामी जी और सब लोग मानते ही हैं । परन्तु जड़ पदार्थ ज्ञानशून्य हैं, वे ज्ञान कर कभी किसी को दुःख नहीं देते और भेंट पूजा लेकर ज्ञानपूर्वक शान्त भी नहीं होते । आपने जो मन्त्र लिखे हैं उनमें सूर्यादि को चेतन मान कर प्रार्थना नहीं है किन्तु यह प्रार्थना ईश्वर से है कि रात्रि, दिन, प्रातः, सायम्, सूर्य, चन्द्र, गन्तव्य, जल, वायु, पृथिवी आदि पदार्थों से हमें सुख मिले ॥

और ( गृह्यन्ते ते ग्रहाः ) यह गिरुक्ति भी अशुद्ध है किन्तु—( गृह्यन्ति ते ग्रहाः ) चाहिये । तथा सूर्यादि हम से दूर हैं यह इस लिये कहा है कि यदि कोई सूर्यादि को मनुष्यादि के समान चेतन हाथ पांव वाला माने तो भी वह दूर होने से हमें पकड़ नहीं सकता । किन्तु उस के तापादि को न माना हो सो नहीं । प्रत्युत स्वामी जी ने स्पष्ट सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास में कहा है कि—

“ जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते ” ॥

४० ति० भा० पृ० ३९९ पं० १३ से—

समीक्षा—वाह स्वामी जी धन्य है यहलाचन का वाक्य सिद्ध कर मान

सूर्यसिद्धान्त का लिखते हैं । क्या ही अद्भुत बात है कि जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच में भूमि आवेगी तो चन्द्रग्रहण होगा, यदि यह बात मान लें तो पृथिव्याभियों को कभी चन्द्रग्रहण न दीखना चाहिये क्योंकि छाया से चन्द्रग्रहण दृष्टि भावे तो किसी और लोक वालों को दीखना चाहिये पृथ्वी वाले को नहीं क्योंकि जैसे किसी भादमी के सामने कोई और दूसरा भाग्य तो जेशक उस पर उस की छाया पड़ेगी । परन्तु उस की गोठ तीसरे मनुष्य को मालूम होगी जो ठीक उस के पीछे होगा, बीच के मनुष्य को दोनों यथावत् दीख सकेंगे इस कारण चन्द्रसूर्य के पृथिवी के बीच में जाने से कभी कोई ग्रहण नहीं होसकता और सूर्य चन्द्रमा दोनों पृथ्वी के ऊंचे पर हैं । उन को छाया पृथिवी पर पड़ती है । पृथ्वी की उस पर नहीं पड़ती । हां, जो पृथ्वी से नीचे लोक हैं उन को चन्द्र और सूर्य के बीच में पृथ्वी जाने से ग्रहण दीख सकता है परन्तु ऐसा नहीं है । यह स्वामी जी ने अपना शास्त्र छोड़ अंग्रेजों का अनुकरण किया है ज्योतिष का मत है जब राहु सूर्य एक राशि में हों तो उनकी छाया पड़ने से तीसरे स्थान के पृथ्वी वाभियों को ग्रहण दीखता है और ऐसे ही केतु चन्द्रमा एक राशि पर होने से चन्द्रग्रहण सब को दीखता है ॥

प्रत्युत्तर-धन्य है आप की गणितज्ञता को । स्वामी जी ने तो ग्रह-लाघव को सिद्धान्तशिरोमणि लिख दिया, इस पर चखलते हैं, आप स्वामी जी लिखित “ सिद्धान्तशिरोमणि ” पद के स्थान में-“ सूर्यसिद्धान्त ” पद लिखते हैं मो कुछ बात नहीं । और भागे पृ० ३८० पं० २५ में अपने ही विरुद्ध आप लिखते हैं कि-

“ सिद्धान्तशिरोमणि के नाम से लिख दिया ”

जब आप ही दो पृष्ठों में ही अगाड़ी पिछाड़ी झूल गये तो स्वामी जी ने ग्रहलाघव का सिद्धान्तशिरोमणि लिख दिया इस पर क्या रोष है । क्या आप ग्रहलाघव को नहीं मानते ? यदि मानते हैं तो ग्रहलाघवानुसार भी आप को-

**छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ।**

अर्थात् सूर्य को चन्द्रमा ढकता और चन्द्रमा को पृथ्वी की छाया ढकती है । यह शब्दा कैसी अज्ञान भरी है कि पृथिवीनिवासियों को पृथिवी की छाया से बुवा ग्रहण न दीखना चाहिये । आपने खगोल समझा होता तो जान लेते कि-पृथिवी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा है और चन्द्रमा सूर्य

के प्रकाश से चमकता है । और पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है । इस लिये जब घूमता हुआ चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के बीच में आता है तब सूर्य को ढकता है और सूर्यग्रहण होता है । और जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर और सूर्य उस ओर होता है तब पृथिवी, सूर्य चन्द्रमाओं के बीच में जाकर सूर्य के प्रकाश को चन्द्रमा पर अपनी छाया से नहीं जाने देती, इस जितने चन्द्रभाग पर पृथिवी सूर्य के प्रकाश को जाने से रोकती है, उतना भाग यस्त नाम पड़ता है और यह दशा पृथिवीनिवासियों को भले प्रकार देख सकती है ॥

और ग्रहलाघव वाले ने निद्वान्तशिरोमणि में देखकर लिखा है । क्योंकि सिद्धान्तशिरोमणि प्राचीन है और उसके गोलाध्याय ग्रहणवासनाप्रकरण में-

पश्चाद्भागाज्जलद्वयदधः संस्थितोभ्येत्य चन्द्रो

भानोर्विम्बं स्फुरदसितया \* छादयत्यात्ममूर्त्या ॥

पश्चात्स्पर्शोहरिदिशि ततोमुक्तिरस्यातएव

क्वापिच्छन्नः क्वचिदपि ततो नैष कक्षान्तरत्वात् ॥ १ ॥

वासनाभाष्यम्

अर्कादधश्चन्द्रकक्षा । यथा मेघोऽधस्थः पश्चाद्भागा-  
दागत्य रविं छादयति । एवं चन्द्रोऽपि शीघ्रत्वात् पश्चाद्भा-  
गादागत्य रविं छादयति । अतः पश्चात्स्पर्शः । निःसरति  
चन्द्रे पूर्वतो मोक्षोरवेः । अतएव कक्षाभेदात् क्वचिदकंश्छ-  
न्नोद्गृश्यते क्वचिदेष न छन्नः । यथाऽधस्थे मेघे कैश्चिद्रविर्न  
दृश्यते, कैश्चिद्दृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः ॥

भाष्य का अर्थ—“सूर्य से नीचे चन्द्रमा की कक्षा है । जैसे मेघ नीचे स्थित है और पश्चिम से जाकर सूर्य को ढक लेता है । ऐसे ही चन्द्रमा भी शीघ्रगामी होने से पश्चिम से जाकर सूर्य को ढक लेता है । इसी से ( सूर्यग्रहण ) में पश्चिम से स्पर्श होता है । और चन्द्रमा के गिकल जाने

\* अक्षितया आत्ममूर्त्या=जहाँ चन्द्र अपनी विना प्रकाश वाली मूर्ति से सूर्य को ढकता है । चन्द्रमा में निज का प्रकाश नहीं, किन्तु सूर्य से आता है ॥

पर सूर्य का पूर्व से मोल होता है। इसी कारण कलाभेद से कहीं सूर्य ढका और कहीं बिना ढका दीखता है। जैसे मेघ नीचे आजाने पर किन्हीं लोगों को सूर्य दीखता और किन्हीं देशान्तरवासियों को नहीं दीखता।

अब चन्द्रग्रहण का प्रमाण उसी प्रकरण के ४ ये श्लोक से सुनिये:-

पूर्वाभिमुखोगच्छन् कुच्छायान्तर्गतः शशी विशति ।

तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ॥ ४ ॥

वासनाभाष्यम्-

भूभा तावत्पूर्वाभिमुखमर्कगत्या गच्छति । चन्द्रश्च स्वगत्या । स शीघ्रत्वात्पूर्वाभिमुखोगच्छन् भूभां प्रविशति । तेन तस्य प्राक्स्पर्शः । भूभाया निस्सरतः पश्चान्मुक्तिः ॥

भाष्य का अर्थ-पृथिवी की छाया पूर्वोभिमुख सूर्य की गति के साथ जाती है और चन्द्रना अपनी गति से । वह शीघ्रगामी होने से पूर्वोभिमुख जाता हुआ पृथिवी की छाया में घुन जाता है । इस से उस का पूर्व से स्पर्श और पृथिवी की छाया से निकलते हुए का पश्चिम से मोल होता है ॥

अब इस का प्रमाण सुनिये कि सूर्य से चन्द्रना में प्रकाश होता है । निज से नहीं । यथा=नामवेदे छन्दमार्चिके-

२७ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ क २२

अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्

३ २ ३ १ २ ३ २

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ऐन्द्रपर्व अध्याय २४ शति ४ मन्त्र ३

भाषार्थः-( अत्र ) इस ( चन्द्रमसः गृहे ) चन्द्रना के मण्डल में ( त्वष्टुः ) सूर्य की ( गोः ) किरण का ( अपीच्यम् ) छिपा वा ( नाम ह ) स्वरूप ही है ( इत्था ) इन प्रकार ( गोरमन्वत ) मानो ॥

अर्थात् परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्यो ! सूर्य की किरण चन्द्रना को प्रकाशित करती है । यह जानो तथा मानो ॥

इस मन्त्र में 'त्वष्टा' पद का अर्थ सूर्य है और परमेश्वर वाला होने से सूर्य भी इन्द्रपदवाच्य है । 'त्वष्टुः' का अर्थ सूर्य करने में निरुक्तकारने आश्वेद

की श्रवण प्रमाण देकर कहा है कि “त्वष्टा पुत्री का लेजाना करता है और इस सब जगत् में व्यापता है और ये सब भूतमात्र का समवर्गन करते हैं । ( यम ) दिन की माता (रवा) लेजायी जाती है । बड़े विषस्वाश की जायज अदृष्ट होती है गर्भात् आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय पर छिप जाती है ” यह निरुक्त के पाठ का भावार्थ है जवे निरुक्तकार ने “ त्वष्टा दुहित्रे ” इत्यादि ऋग्वेद १० । १७ । १ की श्रवण का व्याख्यान किया है ॥

गोशब्द से सूर्य की किरण अर्थ लेने में निरुक्तकार कहते हैं कि “और इस की एक किरणें चन्द्रमा की ओर प्रकाश करती हैं और इस से चपेक्षा करनी चाहिये, आदित्य से हम ( चन्द्रमा ) का प्रकाश होता है जैसा कि—सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः, यह वाक्य है इस लिये किरण भी गी कही जाती हैं । “अत्रा ह गौरमन्वत” इस मन्त्र पर भागे ( ४ । २५ में ) व्याख्या करेंगे । सब ही किरणें गी कही जाती हैं” यह निरुक्तकार पाठ का भावार्थ है ॥

ऋग्वेद १ । ८४ । १५ में भी ऐसा ही पाठ है जिस पर निरुक्तकार ने सूर्य की छिपी हुई वा प्रतिगत किरण चन्द्रमस्खल पर पड़ती हैं, यह लिखा है ॥

प्रायः इस प्रकार के व्याख्यानोँ पर लोगों की श्रम हुआ करता है कि व्याख्याता ने वेद के विज्ञान की प्रशंसार्थ पक्षपात से खँचतान करके वर्तमान काल में प्रसिद्ध हुये विज्ञान की बातें वेद में चुसेड़ दी हैं । परन्तु उन संशयात्माओं को इस से शान्ति मिलेगी कि आजकल के वैज्ञानिकों के जन्म से बहुत वर्ष पूर्व यास्कमुनि ने ऊपर लिखा सिद्धान्त कहाँ से निकाला ? वेद से । क्योंकि निरुक्तकार अपने मत में “सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः” इस वेदवचन का प्रमाण देते हैं ॥

प्रत्युत इस सँ ती सायणाचार्य ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि “चन्द्र-बिम्ब में सूर्य की किरणें प्रतिकूलित होती हैं” इत्यादि ॥

तथा एषिवाटिक सोसाइटी के सुयोग्य सभ्य पंड० सत्यव्रत सामन्तजी की अपनी टिप्पणी में विवरणकार का मत लिखते हैं कि—“ गो शब्द से यहां सुषुम्ना नाम सूर्य की किरण लेनी चाहिये, जो चन्द्रमस्खल के छोटा होने से चन्द्रमस्खल पर जाकर लीटकर पृथिवी पर चान्दनी के रूप से प्रकाश करती है वही यहां गो शब्द से अभिप्राय है ” ॥

इस प्रकार हमने वेद और सिद्धान्तशिरोमणि से स्वामी जी के पक्ष की



पुष्टि की है और आप ने जो दो छोटे सिद्धान्तशिरोमणि को पृ० ३८०-३८१ में लिखे हैं वे किसी पुराणी के पक्षपाती ने कभी पीछे से मिलाये ज्ञान पड़ते हैं ॥ और ठीक भी हों तो राहु और केतु पृथिवी और चन्द्रमा के उस भाग का नाम जान पड़ता है जिस की छाया से ग्रहण होते हैं । यदि आप ऐसा न मानेंगे तो आप को सिद्धान्तशिरोमणि को पूर्वापरविरुद्ध अप्रमाण कहना पड़ेगा, और ग्रहलाघव के अनुसार भी आप को स्वामी जी का मत शिर पर रखना पड़ेगा । क्योंकि आप ती ग्रहलाघव को मानते हैं ॥

६० ति० भा० पृ० ३८० पं० ५ से जो-“ एवं पर्वान्ते” इत्यादि ग्रहलाघव का प्रमाण लिखा है उस में आप के लिखे अर्थ से भी ग्रहण निकालने का गणित पाया जाता है, यह उस से भी सिद्ध नहीं होता कि राहु कोई दैत्य चेतन है और खेर से मतता है । जब कि आप स्वयं सत्ययुग का बना सिद्धान्तशिरोमणि को पृ० ३८३ पं० ३ । ४ में मानते हैं तो आप के मतानुसार व्यासकृत द्वापरान्तकाल के पुराणों का वर्णन उस में माना ही इस का प्रमाण है कि यह वर्णन पीछे से किसी ने घुसेड़ा ॥

### अथ गरुडपुराणप्रकरणम्

६० ति० भा० पृ० ३८२ पं० २२ से-

१-वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत

अथर्व १८ । १ । ४८

२-मृत्युर्यमस्यासीदूतः प्रचेता असून्पितृभ्योगमयांचकार

१८ । २ । २७

३-यांति धेनुं निष्टणामि यमु ते क्षीरओदनम् ।

तेनाजनस्यासोभर्ता योऽन्नासदजीवनः १८ । २ । ३०

४-दण्डं हस्तादाददानोगतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।

अत्रैव त्वमिह वयं सुग्रीराविश्वामृधोअभिमातीर्जयेम १८ । २ । ४८

५-धनुर्हस्तादाददानोमृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाहूत्वमेह्युपजीव लोकम् १८ । २ । ६०

६-एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।

तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्ताप्यं चर १८ । ४ । ३१

७-धानाधेनुरभद्रदूतसोअस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति १८ । ४ । ३२

८-एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।

एनीःश्येनीःसुरूपाविरूपास्तिलवत्साउपतिष्ठन्तुश्चात्र १८।४।३३

९-एनीर्धानाहरिणीःश्येनीरस्यकृष्णाधानारोहिणीर्धनवस्ते ।

तिलवत्साऊर्जमस्मैदुहानाविस्वाहासन्त्वपस्फुरन्तीः३४अ०वे०

भाषार्थः

वैधस्वत देव जो मनुष्यों को संगमन करने हारे हैं उनयमराजा कू हवि मे सम करता हूं १ यमराजा का दूत मृत्यु है प्रचेता है जोकि प्राणों को निकालते हैं २ जो तुल्यारे वास्ते धेनुदान करता हूं जो कि दुग्धादिक देंगी इसी गौ से यम लोक मे गये प्राणी सुखी हों ३ हात में दण्ड धारण किये हुये प्रणियों को अन्नपूर्वक ग्रहण करते हैं ४ अनुष हाथ में लिये मृतक कू अन्नपूर्वक ग्रहण करते हैं ५ यह सविता देवता के अर्थ वस्त्र देना हूं सो हे सविता देवता तुम यमलोक में हमारे पितरों को वस्त्र दो ६ यह धान धेनु हों तिल वत्स हैं येही यमराज में पितरों को सुखदाता हैं ७ यह गाये कामधेनु सम हों एनी श्येनी स्वरूप विरूप गौर तिल रूप वत्स पितरों के अर्थ प्राप्त हों ८ एनी धन हरने हारी श्येनी कृष्णगीः तिलवत्सा यम लोक के पितरों के अर्थ हैं ९ देखिये तप दाग श्राद्ध यमराज गोदान आदि सब विधान अथर्ववेद में हैं ॥

प्रत्युत्तर-( वैधस्वतं सङ्ग० ) इस मन्त्र का अर्थ तो हम आप का किया ही माने लेते हैं । परन्तु-

यमं ह यज्ञो गच्छति० ॥ ऋ० १० ॥ १४ ॥ १३

इस प्रमाण मे वायु शेष यम के लिये हवन करना लिखने से गहड़ पुराण की लीला सिद्ध नहीं होती ॥

२-( मृत्युयैमस्यासीदुदूतः० ) इस मन्त्र का पदार्थ यह है-(मृत्युः) मीत ( यमस्य ) नियन्ता परमात्मा का (दूतः) परिताप वा दुःख का दाता दून(आ-सीत्) है । जो ( प्रचेताः ) सदा सक्रम रहता है, प्रमाद नहीं करता । वही

(गन्तुं) प्राणों को ( पितृभ्यः ) पितरों से (गमयाञ्चकार ) अलग करना वा गत करता है । इस में भी मरण वा मृत्यु यथार्थ में परमेश्वर का दूत है जो परमात्मा की आज्ञानुसार पूर्वजों ( पितरों ) के प्राण लेता रहा है, परन्तु इस में किसी देहधारी यमदूत का वर्णन नहीं ॥

३—यां ते धेनुं निपृणामि यमुं ते क्षीर ओदनम् ।

तेना जनस्यासौ भर्ता योत्राऽसृजजीवनः ॥ १८ । २ । ३०॥

यह मन्त्र सूतकदाह करते समय का है और इस का अर्थ यह है कि हे यम ! अर्थात् वायो ! (ते) तेरे लिये ( याम् ) गौ ( धेनुम् ) गौ ( निपृणामि ) देता हूँ ( उ ) और ( यम् ) जो ( क्षीरे ) दूध में पका ( ओदनम् ) भात (ते) तेरे लिये देता हूँ । ( तेन ) उस धेनु और क्षीरीदन के साथ (जगस्य ) इस लन्म लेने वाले का ( भर्ता ) धारक ( असः ) हो तू (यः) जो कि (जग्न) इस वेदि में ( अजीवनः ) सूतक ( असत् ) है ॥

यहां धेनु वा गौ का अर्थ पशुविशेष नहीं है, किन्तु स्वयं अथर्ववेद १८ । १२ में लिखा है ( आप ने भी ७ ) कि—

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥ १८ । ४ । ६२

अर्थ—( धाना ) धान ( धेनुः ) गौ ( अवत् ) है और ( अस्याः ) इस धानरूप गौ का ( वत्सः ) बछड़ा ( तिलः ) तिल ( अवत् ) है ( ताम् ) इस धानरूप गौ को ( वै ) निश्चय ( अक्षिताम् ) जो [ अग्नि में डालने से ] मष्ट नहीं हुई उसे ( यमस्य ) वायु के ( राज्ये ) राज्य अर्थात् आकाश में ( उपजीवति ) आधार करता है ॥

दोनों मन्त्रों को मिलाकर यह अर्थ हुआ कि सूतक के साथ गौ अर्थात् धान और उस का बछड़ा अर्थात् तिल और दूध पके चावल होनने चाहिये, वायु उन पदार्थों सहित सूतक शरीर को अपने राज्य ( आकाश में ) आधार होकर ले जाता है । जिस से पृथिवीनिवासी मनुष्यादि प्राणियों को वह प्रेत=लाश रोगादि उत्पन्न करके सड़ कर दुःख न दे ॥

४—दण्डं हस्तादाददन्तो गतासौः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।

अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम १८।२।५९

यह सन्त्र पूर्व सन्त्र १ से २९ सन्त्र जागे है और इन में पीछे से यमराज का वर्णन भी नहीं है, किन्तु यह सन्त्र सृत पुरुष के पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि ( त्वम् ) तू ( गतासोः ) सृतपुरुष के ( दक्षम् ) लाठी को ( हस्तात् ) हाथ से ( आदानः ) लिये हुवे ( ओत्रेण ) कान आदि इन्द्रियों ( वर्चना ) तेज ( बलेन ) और बल के ( सह ) साथ ( अत्र ) इस संसार में रह ( इह ) यहां ( एवम् ) ही ( ययम् ) हम ज्ञाति बान्धवादि हैं और ( विश्वाः ) सब ( अभिमातोः ) अभिमाती ( मृथः ) सङ्ग्राम [ निघण्टु २ । १७ ] करने वालों को ( जयेन ) जीते ॥

५-धनुर्हस्तावादानो मृतस्य सह क्षुत्रेण वर्चसा बलेन ॥  
समागृभायवसुभूरिपुष्टमर्वाङ्त्वमेह्युपजीवत्येकम् ॥१८॥२॥६०

तू ( मृतस्य ) मृतपुरुष के ( धनुः ) धनुष को ( हस्तात् ) हाथ से ( आदानः ) लिये हुवे (क्षुत्रेण) सन्निपसम्बन्धी (वर्चना) तेज और (बलेन) बल के ( सह ) साथ ( सूरि ) बहुर ( पुष्टम् ) पुष्ट ( वसु ) धन को ( समा-गृभाय ) संग्रह कर ( अर्वाङ् ) पीछे ( जीवत्येकम् ) जीवते संसार के ( त्वम् ) तू ( उप ) समीप ( एहि ) जा ॥

अर्थात् पितृशोक में चिता के समीप बैठे हुवे पुत्रादिसत्तगाधिकारी को अन्य ज्ञाति बान्धवादि लोग ऐसे आश्वासन देकर घर की खुलावे ॥

इस से अगले सन्त्रों ( इयं नारी पतिलोकम् इत्यादि १ ) में मृतपुरुष की स्त्री को आश्वासन और नियोगादिका विधान ज्ञातिबान्धवों की ओर से है ॥

६-एतत्ते देवः संविता वासो ददाति भर्त्तवे ॥

तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ १८ ॥ ४ ॥ ३१ ॥

इस का यह अर्थ किसी प्रकार नहीं है कि यह वस्त्र सविता के लिये देते हैं, किन्तु यह अर्थ है कि ( सविता ) सूर्य ( देवः ) देवता ( ते ) तेरे ( भर्त्तवे ) धारण को ( वासः ) आच्छादन ( ददाति ) देता है ( तत् ) उसे ( वसानः ) आच्छादन किये हुवे ( त्वम् ) तू ( यमस्य ) चाप के ( राज्ये ) राज्य में ( तार्प्यम् ) दक्षि तक ( चर ) विचर ॥

अर्थात् शरीर से पृथक् हो कर जीवात्मा सूर्य के प्रकाशरूप वस्त्र को

आच्छादित किये हुये वायुमण्डल में अपने लिङ्ग देह को आपवायित करता है अर्थात् (यजुः ३८ । ६) सन्त्रानुसार प्रथम दिन सप्त जीवात्मा सविता की शोक को प्राप्त होता है ॥

७-इस का प्रत्युत्तर संख्या ३ में आ जाता कि धान धेनु हैं और तिल जो चिता में छोड़े जाते हैं वे धान धेनु के वस्त्र हैं । इसी को आगे ८ वें ८ वें सन्त्र में प्रपञ्चित किया है । यथा—

८—एतास्ते असौ धेनवः कामदुधां भवन्तु । एनीः श्येनीः सरूपाविरूपास्तिलवत्सा उपतिष्ठन्तु त्वात्र ॥ १८ । ४ । ३३ ॥

( जसी ) यह ( एताः ) ये ( धेनवः ) धान धेनुवें ( ते ) तेरे लिये ( कामदुधाः ) इच्छापूर्ण करने वाली ( भवन्तु ) होंवें । जो कि ( एनीः ) चितकबरी ( श्येनीः ) श्वेत ( सरूपाः ) समान रङ्ग की ( विरूपाः ) गनेक विरुद्ध रङ्गों की ( तिलवत्साः ) जिग [ धानरूप धेनुओं ] के तिल बल्ले हैं वे ( स्वा ) तुझे ( अत्र ) यहां चिता में ( उपतिष्ठन्तु ) उपस्थित हों ॥

९—एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणी-  
धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विशवाहा  
सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ १८ । ४ । ३४ ॥

( एनीः धानाः ) विचित्र रङ्ग वाली धान ( हरिणीः ) हरी ( श्येनीः ) श्वेत ( रोहिणीः ) लाल ( कृष्णाः ) काली ( धानाः ) धान ( अस्य ते ) इस तेरी ( धेनवः ) धेनु हैं । ( तिलवत्साः ) तिल ही जिग के बल्ले हैं वे ( अनपस्फुरन्तीः ) न भागती हुई ( अस्मै ) इस के लिये ( ऊर्जम् ) रस को ( दुहानाः ) पूरित करती हुई ( विशवाहा ) सब दिन ( सन्तु ) हों ॥

इन सन्त्रों से प्रकट है कि १—(यनराज वायु की शुद्धि के लिये सप्तक को उत्तम हविष्य पदार्थों के साथ झूटना चाहिये ॥ २—नीत यमदूत है जो नीत प्राण निकालनी है ॥ ३—सप्तक को दुग्ध में पके प्राप्त तिल धान आदि के साथ झूटा जावे, ये पदार्थ सप्तकशरीर के परमाणुओं को ऊपर अपने साथ लेजाते हैं ॥ ४—५ सप्तक का पुत्रादि उत्तराधिकारी शोक करके चिता के समीप न पड़ा रहे किन्तु दाह कर्म के पश्चात् छाति बाध्यवादि लोग उस का शोक दूर करते हुये आश्वाघ्न दें और सप्तपुरुष के दण्ड धनुष आदि पदार्थ

उस के उत्तराधिकारी को धारण करावें जैसे पगड़ी बन्धवा कर मृतपुरुष का स्वागपक पञ्च लोग पुत्रादि को बनाते हैं ॥ ६ मृतजीवात्मा प्रथम दिन सूर्यलोक से आट्पायित होता है ॥ ७-धेनु का तात्पर्य धान है और तिल उन धेनुओं के वस्त्र हैं जिन से वायुमण्डल में मृतपुरुष आट्पायित होता है ॥ ८-वे धान रूप धेनु काली, हरी, लाल, श्वेत आदि विचित्र रङ्गों की होती हैं ॥ ९-वे धान ही हैं कोई गाय (पशु) नहीं हैं, उन का रस आकाश में रस की वृद्धि करता है और सदा सुख की वृद्धि होती है ॥

देखिये यहां मृतक जीवात्मा की वृत्ति के लिये महाब्राह्मणादि को दान ब्राह्म गोदानादि का उशनात्र भी वर्णन नहीं है परन्तु यहां, साधारण पुरुषों के चौकाने को ये आप के लिखे अच्छे मन्त्र हैं ॥ जीव नियत काल तक आकाश में वयु आदि से आट्पायित होकर जन्म लेता है । इस लिये उस का जन्मान्तर धारण करने तक सुख दुःख भोगादि न जानना ठीक ही है । वह वायु में तरुओं से आट्पायित तो होता है परन्तु स्थूलदेह में जो सुखादि के अनुभव करता था, वे यहां नहीं पहुंच सकते । जो कुछ उस का आट्पायन होता है सो अग्नि से होता है, वह केवल अग्नि में होम करने से हो सकता है । इतर द्वारा नहीं ॥

### व्रतप्रकरणम्

इस प्रकरण में जो पृ० ३८५ पं० २३ में-

स्वाध्यायेन व्रतैर्हीनैः । इत्यादि मनु का प्रमाण है उस का तात्पर्य सत्यमाषणादि वा चान्द्रायणादि व्रतों से है, एकादश्यादि जिन २ देवनों के व्रतों का (भो प्रचरित हैं) मनुस्मृति में नाम तक नहीं ॥ उपनयनादि के व्रत यज्ञसम्बन्धी ग्रन्थमूक्त हैं, उन का एकादश्यादि से कुछ सम्बन्ध नहीं ॥ पृष्ठ ३८६ में जो प्रायश्चित्त के व्रतविधायक श्लोक लिखे हैं, सो इस लिये आप को व्यर्थ है कि वह तो पापियों के पाप का दण्ड है । उन का एकादशी आदि पीराणिक व्रतों से सम्बन्ध नहीं । यदि एकादश्यादि के व्रत की परिपाटी आप प्राचीन समझते थे, तो एक तो प्रमाण मनु वा वेदादि प्राचीन ग्रन्थ का दिया होता ? ब्रह्मलोक की अप्सरा न सही, इन्द्रलोक की सही, क्या तो एकादशीमाहात्म्य में है ॥

## ब्रह्माण्डप्रकरणम्

६० ति० सा० पृ० ३८७ वे ३८३ तक ७ पृष्ठों में “भुवनज्ञानं सूर्यं संयमात्” ।  
यो० पा० ३ सू० २५ का व्यासभाष्य लिख कर भागवतादिलिखित भूगोल खगोल  
की कथा की सत्यता सिद्ध करने का साहस किया है ॥

प्रत्युत्तर-मूल सूत्र का इतना अर्थ है कि “सूर्य में संयम करने से (योगी  
को) भुवग ज्ञान हो जाता है” ॥ भाष्य में भाषने पृष्ठ ३८८ प० २४ में सुमेरु  
पर्वत को सुवर्ण का लिखा है जो प्रत्यक्ष के ही विरुद्ध है। फिर उसके मणि-  
मयादि शृङ्ग लिखे हैं, वे भी पतपर के ही प्रत्यक्ष हैं। इस लिये यह लेख भी प्रत्य-  
क्ष विरुद्ध है। सुमेरु के उत्तर की ओर २००० योजन लम्बाई के ३ पहाड़, उन  
के बीच बीच में ३ खण्ड ९००० योजन का प्रत्येक, दक्षिण की ओर दो हजार  
योजन के निषधादि पर्वत, हरिवर्षादि नी २ हजार योजन के ३ खण्ड ४ लक्ष  
कोश जम्बूद्वीप सुमेरु के चारों ओर लम्बाई में और २ लक्ष चौड़ाई में इत्यादि  
विस्तार इस भूमि पर, जिस पर हम रहते हैं, असंभव है। यह पृथिवी का  
४९ करोड़ योजन मानना प्रत्यक्षविरुद्ध, गणितविरुद्ध और ज्योतिषशास्त्र के  
भी विरुद्ध है। देखिये सिद्धान्तशिरोमणि में पृथिवी का विस्तार केवल इतना है

सि० शि० के गणिताध्याय में लिखा है—

प्रोक्तोयोजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाध्ययः ।

तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवोऽथ प्रोच्यते योजनम् ॥

याम्योदकपुरयोः पलान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहत् ।

तदभक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥

अर्थ- पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन है और व्यास १५८१ योजन लंबा  
है। दो ऐसे नगरों के जिन में से एक क्षुण्वद्वृत्तरेखा के उत्तर में और दूसरा  
दक्षिण में स्थित हो, पलान्तर को सूत्र की परिधि में गुणा करने से और  
४६० पर भाग देने से उन नगरों का योजनों में अन्तर जाना जाता है ॥

यदि १ योजन ५ मील के बराबर माना जाय तो पृथिवी की परिधि  
४९६७ × ५ अर्थात् २४८३५ मील, और व्यास, १५८१ × ५ अर्थात् ७९०१ मील  
होता है। योरपवासियों ने परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील  
सिद्ध किया है। यह ७ मील का भी अन्तर इस कारण है कि योजन पूरे

५ मील का नहीं होता किन्तु कुछ अधिक होता है। अर्थात् यदि ५३० मील का एक योजन माना जाय तो पूरे १४८५६ मील की परिधि और ठीक ७९१२ मील का व्यास आजाता है ॥

पुराणों और इस भाष्य में पृथिवी का विस्तार इतना लंबा चौड़ा लिखा है कि जिस का कुछ पारावार नहीं। हम इस भय से कि हमारे पौराणिक भाई पं० उवा० प्र० श्री इसको निन्दा न समझें इस विषय में स्वयं कुछ नहीं कहना चाहते किन्तु उन के खबड़नपक्ष में सिद्धान्तशिरोमणि ही का श्लोक देते हैं—

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूदृभुजङ्गेन्दुभि—

ज्योतिःशास्त्रविदोऽदन्ति नभसःकक्षामिमां योजनैः ॥

तद् ब्रह्माण्डकटाहसम्पुटतटे केचिज्जगुर्वष्टनं

केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥ \*

सि० शि० गणिताध्याये ॥

अर्थ—१८७१२०६९२०००००००० योजन को ज्योतिः शास्त्र के जानने वाले सारी सृष्टि का एक छोटा भाग मानते हैं। बहुत से इसको पृथिवी की परिधि का मान समझते हैं और 'पौराणिक विद्वान्, इस को केवल एक 'छोकालोक, नामक पर्वत की ऊंचाई बतलाते हैं ॥

अब विचारना चाहिये कि शास्कराचार्य, आज कल के उन्नतिशाली ज्योतिषी और प्रत्यक्ष इन सब के विरुद्ध यह भाष्य किस प्रकार माननीय हो सकता है। जो जहाज़ पूर्व को छाड़े गये और थोड़े काल में वे पश्चिम में आ निकले, यदि पृथिवी का विस्तार इस प्रकार का असंभव होता तो यह कभी न हो सकता। अब यह विचार शेष रहा कि तो क्या यह व्यास-भाष्य जिस को स्वामी जी ने आर्यभाष्य माना है, अप्रत्यक्ष है? इस के उत्तर में यही कहना पड़ता है कि स्वामीजी ने सिद्धान्तशिरोमणि आदि ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों को और मनुस्मृति आदि की धर्मशास्त्रत्व से भी तो प्रमाण किया है, परन्तु अयुक्त बातें किसीकी भी (चाहे वे ग्रन्थकर्ता ने लिखी हों चाहे पीछे से किसी ने गिलाई हों) नहीं मानीं, न माननी चाहियें। और

\* निरुपन्देह ये श्लोक पुराणों की अयुक्त बातें देखकर सिद्धान्तशिरोमणि में लिखे गये हैं क्योंकि यह ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों से अवर्षाची प्रतीत होता है ॥



इस विषय में तो एक को मानने से दूसरे को त्यागना पड़े ही गा। क्योंकि प्रसिद्ध ज्योतिष के भास्कर भास्कराचार्य जब पृथिवी का विस्तार इतना न्यून मानते हैं और इस भाष्य में इतना अधिक माना है तो फिर परस्परवि-  
रुद्ध दो सत्य कैसे माने जा सकते हैं ?

४० ति० भा० पृ० ३९४ पं० २५ कहीं भक्तमाल में ऐसी कथा नहीं है ॥

प्रत्युत्तर—यदि आप कहते कि “ यह कथा भक्तमाल में नहीं है ” तब तो कुछ ठीक भी था, परन्तु “ ऐसी ” अर्थात् इस “ विद्या का तिलक मान लेना ” के सङ्ग तो अनेक कथा हैं । और भक्तमाल भी अनेक प्रकार के पाठभेदपुक्त हैं । किसी न किसी में हो तो भी आश्चर्य नहीं ॥

४० ति० भा० पृ० ३९५ पं० ८ से—यज्ञोपवीत को विद्या का चिन्ह होने का निषेध किया है ॥

प्रत्युत्तर—विद्याप्राप्ति का चिन्ह होता तो पश्चात् दिया जाता किन्तु विद्या के अधिकारी होने का भी है इसी से सपनयन में दिया जाता है ॥

४० ति० भा० पृ० ३९५ पं० १९ से—कलियुग की पापादि का कारण माना है, परन्तु प्रमाण एक भी नहीं दिया । यह ठीक है कि काल के बिना कुछ नहीं होता, काल में ही सब कुछ होता है परन्तु काल अधिकरण है, काल कर्ता नहीं है, अतुलों में अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं, अतुलन की उत्पादक नहीं किन्तु सूर्यादि की उष्णतादि का तारतम्य उस का कारण होता है ॥

४० ति० भा० पृ० ३९६ पं० ३ से—दश नामों के अन्तर्गत होने से दया-नन्द सरस्वती नाम भी मिथ्या हुआ, लिखा है ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने नामों को मिथ्या नहीं, किन्तु नवीन कल्पना माना है । जब किसी का सन्तान उत्पन्न होता है तब वह एक नाम की कल्पना करके रख देता है । ऐसा ही गुरु लोग शिष्यों के नाम रखते हैं । स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि ये दश नाम न रखे जायें किन्तु यह है कि इसी प्रकार के नाम धरने का कुछ शास्त्रसिद्धान्त नहीं है । किन्तु अन्य भी उत्तमार्थक शोभन नाम चाहैं सो रख सकते हैं ॥

४० ति० भा० पृ० ३९६ पं० १३ से—यदि १०० वर्ष की आयु नाने ती स्वाय-म्भुव मनु से दामघ्न जी तक के १०००० ही वर्ष होंगे । इस लिये पहिले बड़ी आयु थी, इत्यादि आशय है ॥

प्रत्युत्तर—पूर्व जन्म की अपेक्षा आयु ती अधिक थी परन्तु वेद के अनुसार परमायु साधारणतया १०० वर्ष ही थी और अधिक से अधिक ४०० वर्ष । स्वायंभुव से रामचन्द्र जी तक १०० पीढ़ी ही नहीं हैं किन्तु प्रधान और प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन है, गौण और साधारण छोड़ दिये हैं । इस से कुछ दोष नहीं आता । फिर यदि हम आप के पुराणानुसार सत्ययुग में १ लक्ष वर्ष की और त्रेता में १०००० वर्ष की आयु भी मानें तो श्री स्वायंभुवादि छः मन्वन्तरों का समय इस लेख से भी बड़ा है, फिर वही शङ्का आप के मन में भी रहेगी ॥

द० ति भा० पृ० ३९६ पं० २२ में—दशरथ जी के ६० हजार वर्ष के आयु में रामचन्द्र जी का जन्म माना है ॥

प्रत्युत्तर—यदि सत्ययुग में १ लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलियुग में १०० वर्ष की पुराणानुसार आयु हो तो श्री त्रेता में १०००० दश सहस्र से बढ़कर ६० सहस्र से भी अधिक आयु दशरथ की कैसे मान सकते हैं और रामचन्द्र जी जिन के राज्य भर में कोई अल्पायु नहीं था, लिखा है, वे भी रामायणानुसार अपने पिता से षष्ठांश ११००० वर्ष में ही मर गये ?

द० ति० भा० पृ० ३९७ पं० १९—पूर्व लिखा था कि भार्य तिष्ठत आये अब स्वामी जी ने कौन सी भङ्ग की तरङ्ग में लिख दिया कि सदा से यहां रहते हैं ॥

प्रत्युत्तर—सृष्टि ही तिष्ठत में प्रथम हुई यह प्रथम हम सिद्ध कर चुके हैं तब वहीं से यहां आये, लिखना और “सदा से यहां भार्य लोग रहे” इस का तात्पर्य यह है कि यह भूमि आदि सृष्टि से कभी दस्युओं से आच्छादित नहीं रही, भार्यों का राज्य रहता रहा, इसी से इस का नाम आर्यावर्त था ॥

यह दयानन्दतिनिरासकर के ३९७ पृष्ठ तक प्रयसावृत्ति का प्रत्युत्तर समाप्त हुआ । यदि द्वितीयावृत्ति में पृष्ठ पङ्क्ति का भेद पड़े तो कुछ आगे पीछे देखने से ठीक हो जायगा ॥

आगे ३९९ से ४०२ पृष्ठ तक भार्यसंसाज के १० नियमों का खखन किया है, उस का उत्तर—

## दश नियमों का मण्डन

१ सब सत् विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आविमुल परमेश्वर है ॥

समीक्षा—जब सब का आविमुल परमेश्वर है तो स्वमन्त्र ६ पृ० ५८१ में

प्रकृति परमाणु और जीव को नित्य मानना इस नियम के विरुद्ध है दोनों में कौन बात सच्ची है ॥

सङ्ग्रह १—आदिमूल नाम मुख्य का होता है या आधार का होता है । मूल=प्रतिष्ठायां चुरादिः । आप के मत में भी श्रीमुखे ब्रह्मा को सब का आदि मूल माना है । और कहीं २ देवी को माना है । कहीं महादेव को । जब ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि कमल से पुराण बताते हैं तब ब्रह्मा से आदि में विष्णु की विद्यमानता होने से ब्रह्मादि आदिमूल कैसे हो सकते हैं । समा-तनधर्म का पहिला नियम यह होगा चाहिये:-

१-सब असत्य भाषण और इन्द्रजाल से जो भ्रम होता है, कई का पुत्र, बाराह इष्टदेव है ॥

टीका—जलन्तर की पतिव्रता का व्रत भङ्ग किया, असत्य बोला, ब्रह्मा को भ्रम हुआ, बछड़े चुराये। रामचन्द्र रोये, एक भगवान् ने चीर चुराये । अव-तार लेने से कई का पुत्र है । इसी लिये ती आर्यों के सर्वमान्य नियम का खण्डन तिमिरभास्कर में लिखा है ॥

२-ईश्वर जो सच्चिदानन्दस्वरूप निर्विकार सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु अजन्मा अनन्त निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर सर्व-व्यापक अन्तर्गामी अजर अमर अभय नित्य पवित्र और सृष्टि का कर्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है ॥

समीक्षा—यह दूसरा नियम सर्वथा अशुद्ध है । जब ईश्वर निर्विकार है तो उस में सृष्टिरचना का विकार कैसे है और वह सृष्टि क्यों करता है और जो सर्वशक्तिमान् है तो जो चाहे सो क्यों नहीं कर सकता न्याय करना दया करनी यह निर्विकार में संभव कहां अपवा यह ज्ञान ईश्वर का परोक्ष है वा अपरोक्ष है और संशय की निवृत्ति परोक्ष वा अपरोक्ष ज्ञान से होती है । परोक्ष ( जो प्रत्यक्ष न हो ) ज्ञान से तो संशय की निवृत्ति हो नहीं सकती क्योंकि जो देखा नहीं उस का होना तथा गुण कर्मों का निश्चय नहीं होसकता इस कारण जब तक ईश्वर के स्वरूप का यथायं ज्ञान न होगा तब तक उपरोक्त गुण उस में कैसे संभव हो सकते हैं और उपासक उपासना किस की करे जब कि ईश्वर का साक्षात्कार ही नहीं तो यह नाम कैसे कल्पना करलिये निराकार को भी और नाम किसी के ऊपर दया करते देखा जो दयालु नाम रख लिया यह तो नाम अभी सिद्ध हो सकेंगे जब ईश्वर का साकार ज्ञ-

तारधारी निश्चय कर लोगे निराकार में यह नाम कल्याणामात्र है ॥

सयहन २-दूसरे नियम का खसहन सर्वथा क्लृप्तात है ॥

यह कहां की क्लृप्तातकी है कि निर्विकार परमात्मा स्मृतिरचना न कर सके। सनातनधर्म के पुराणों में तो सद्गुरुओं लोगों में ईश्वर को निराकार निर्विकार माना है। यदि कोई सनातनी चाहे तो इस दूसरे नियम के बताये सब नाम इन पुराणों में लिखा सकते हैं, यहां तक कि अवतारों की स्तुति तक में निराकार शब्द लिखा गया है जो सर्वथा ही अनङ्गुत है ॥

हां आप के मत में दूसरा नियम यों होना चाहिये-ईश्वर ( कच्छर मत्स्यादि ) मणभङ्गुर, रोती सूरत, विकारवान्, अशक्त, अन्यायकारी, कोठरी में बन्द, अजाग, बीना, तीर से मरने वाला, डरपोक, लम्बी १ हो, लम्बी न रहे, अशुद्ध, मनुष्यों का बनाया हुआ है, उस की और ऊत भूत वृत्तादि जड़ की उपासना करनी चाहिये ॥

टीका-सुग्रीव से सीता की खोज का अभिलाषी, वामन=बीना, तीर लगने से मरने वाला=कृष्ण, (बाली से डरके वृक्ष की ओट में होकर) डरपोक, कलियुग में न रहने वाला, चिता की भस्म में लोटने वाला ॥

३-वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना और सुनना सब आर्यों का परम धर्म है ॥

समीक्षा-जब वेद का पढ़ना और पढ़ना ही परम धर्म है तो आपने सत्यार्थप्रकाशादिग्रन्थों में महाभारत, मनुस्मृति, शतपथब्राह्मणवाक्य, वेदानुकूल मान कर क्यों ग्रहण किये। यदि मन्त्रभाग ही में सब धर्मों की प्रवृत्ति निवृत्ति सब पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति लय और जो कुछ सृष्टि और कल्याण के लिये होना चाहिये लिखा है तो पृथक् पृथक् स्थान पर प्रमाण के लिये केवल मन्त्रभाग की ही श्रुति पूर्ण थी। मनुस्मृति, महाभारत और पुस्तकों के श्लोकों के और ब्राह्मणभाग के प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि मन्त्रभाग को आप स्वतः प्रमाण मानते हैं तो मन्त्रों के ही प्रमाण से सृष्टिक्रम युगों की व्यवस्था ब्रह्मा के दिन वर्षकल्प की संख्या प्रतिनापूजन का निषेध अवतारों का न होना दायभाग ब्राह्मणादि लक्षण सब कुछ उसी से साबित करते परन्तु आपने सत्यार्थप्रकाशादि में जो और ग्रन्थों के प्रमाण लिखे हैं इनकी क्या आवश्यकता थी। यदि वे वेदानुकूल लिखे हैं तो मन्त्र ही क्यों न लिख दिये, यह तो आप ने ऐसा किया जैसा

कोई नाम छोड़ बखूर पर गिरे, चाहिये या कि केवल मन्त्र ही तो अपने ग्रन्थों में लिखे रहने देते, शेष सब निकाल डालते ॥

ग्रहण ३-रे नियम का ग्रहण करके सारे सनातनधर्म की उवालाप्रसाद जी ने भस्म का टीका लगा लिया है ॥

कौन सनातनधर्मी वेद के पढ़ने पढ़ाने से विमुख होगा। हां उवाला-प्रसाद जी को अपने पूज्य बुढ़ाऽश्वतरादि की बात याद आगई होगी ॥

“त्रयोवेदस्य कर्तारो भयद्वर्षूर्त्तनिघाचराः” अब कलियुगी सनातन सभा का तीसरा यह नियम होना चाहिये-वेद मिथ्या ज्ञान का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना उवालाप्रसादादि कलियुगी विद्याधारिधियों को नहा अधर्म है। यदि स्वामी दयानन्द वेदानुकूल अन्य पुस्तकों का पढ़ना पाप बताते तब तो यह आक्षेप करते ॥

४ सत्य का ग्रहण और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये ॥

सगीक्षा-यह नियम विवेकान्तर्गत है जब तक विवेक न होगा तबतक सत् असत् की परीक्षा कैसे होगी। यदि कोई कहे ईश्वर सत्य है, या जगत् ? जगत् तो नाशवान् होने से असत् और ईश्वर नित्य होने से सत् है, जब जगत् मिथ्या ईश्वर सत्य है, तो किस का ग्रहण किस का त्याग करे, ग्रहण और त्याग दूसरे पदार्थ का होता है जब दूसरा पदार्थ असत्य ही है तो त्याग किस का। इस नियम का धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह नियम निश्चयरहित है मिथ्या पदार्थों का क्या ग्रहण क्या त्याग हो सकता है। और सत्यार्थप्रकाश के असत्य अप्रमाण और वचनों का आज्ञाक त्याग न हुआ ॥

ग्रहण ४-कलियुगी धर्मसभा का चौथा नियम यह होना चाहिये “सत्य के त्याग और असत्य के ग्रहण में सर्वथा उद्यत रहना चाहिये” ॥

हमारे भाई उवालाप्रसाद जी को असत्य कुछ दीखता ही नहीं, जगत् मिथ्या का राग यों जालापते हैं कि पुराण जगत् के ही अन्तर्गत हैं, और स्वयं भी सनातनी जगत् का भक्त हैं, तब आप मिथ्याभावणादि मिथ्या-कथायुक्त पुराणों को जानते हुये सच्ची जगत् को मिथ्या बताने लगे ॥

हरा चश्मा लगाने से संसार हरा दीखता है। मिथ्या मत मानने वालों को संसार मिथ्या नज़र आता है ॥

५ सब काम धर्मानुसार अपनी सत् और असत् का विचार कर करना चाहिये ॥

समीक्षा-स्वामी जी ने ईसाइयों के दश नियमों के अनुसार अपने नियम बनाये हैं इस में भी वही वाक्ता है जो ४ नियम में है पहले ती यह देखना चाहिये कि, शरीर का क्या धर्म है और आत्मा का क्या धर्म है शरीर जड़ और दुःखकर है उस की उत्पत्ति घटना बढ़ना मष्ट होना प्रत्यक्ष है, आत्मा दृश्य है नित्यैकरम चैतन्य जन्म मरण से रहित है जो मन्म मरण से रहित है सोई आनन्द है फिर आत्मा में अनात्माभिमान और अनात्मा में आत्मा-भिमान केना फिर केने धर्मानुसार सत् असत् का विचार कबके नियम किया और यह भी आश्चर्य है कि, निरवयव चैतन्य आत्मा को माना और प्रस-न्न माना, निरवयव आकाश जड़ तो सर्वव्यापक और निरवयव चैतन्य आत्मा प्रसन्न तो बनाओ यह धर्म अनुसार सत्य का ग्रहण है या असत्य का त्याग है, जब निरवयव है तो दो या तीन गाथा एक ही स्वरूप में कैसे हो सकती है ॥

मगहन ५-शरीरका धर्म, आत्माका धर्म हमके धर्म की बात आप कहते धर्म को छोड़ धर्म से मुंह मोड़ते हैं । आप लिखते हैं । "जो जन्ममरण से रहित है वही आनन्द है" अस सी जाल डालने से भी सत्यप्रकाश नहीं रुकता । अब बताइये कि आपके अवतार जन्म मरण होते हुवे भी कैसे आनन्द हैं ? आर्य लोग ती सब काम धर्मानुसार सत् असत् को विचार कर करते हैं परन्तु आप पक्षपात के वश धर्मानुसार काम करने के उपदेशरूप नियम की ही निकलवाना चाहते हैं ॥

### चोर चान्दनी रात दुखारी

आप तो यही नियम बनावेंगे कि-बिना सत् असत् का विचार किये सब वैदिक नियमों का खण्डन करना चाहिये । स्वामी जी ने ईसाई मतका खण्डन धड़के से किया है । क्या आप ईसाइयों के १० नियमों की मज में मान बैठे हैं ? इसी लिये उनका खण्डन नहीं किया है ?

ई संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य प्रयोजन है अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ॥

समीक्षा-इस में यह बात विचारने योग्य है कि परमेश्वर को सर्वोधार सर्वेश्वर जान कर उपासना की गई है फिर संसार की उन्नति और उपकार में भी आप का हस्तक्षेप करना ये उपास्य की बराबरी है इस में तो अपने और संसार की उन्नति में परमेश्वर को ही शधिष्ठाता और प्रतिनिधि सम-

भगवान् चाहिये यह ही परम धर्म है और जब कर्मानुसार है तो आप से उन्नति कैसी ॥

मूल्यांकन ६-इस नियम को वही समझते हैं जो ईश्वर को सर्वाधार सर्वेश्वर मानते हैं। सभी तो उस परमेश्वर के पुत्र मान कर संसार की उन्नति करने का व्रत साधते हैं ॥

यदि ज्वालाप्रसाद जी के मत में ईश्वर ही सब उन्नति अवगति करता है तो तिमिरभास्कर बनाकर क्यों छपाया। ईश्वर ही पोषी बनाकर भेजता या आर्यसमाज का मूल्यांकन करता। आप को यह नियम बनाना चाहिये कि "संसार की हानि करना समाजतन्त्री समाज का मुख्य प्रयोजन है, अर्थात् शारीरिक सामाजिक और आत्मिक अवगति करना ॥

टीका-बालविवाहादि से शारीरिक हानि, पुराण कथाओं से आत्मिक और गालीगान से सामाजिक हानि ॥

७ सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ॥

समीक्षा-प्रीति अनुकूल पुरुषों में होती है यदि धर्मानुसार पर दृष्टि है तो धर्मविरोधी हट करने वाले अभिसानी को शत्रु समझना चाहिये फिर सबसे प्रीतिपूर्वक वर्तना कैसा यदि चोर चोरी करे तो उस के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार कैसे वर्तें जो प्रीति करे तो धर्म कहाँ और धर्म करे तो प्रीतिसे यथायोग्य वर्ताने कैसे करा सकता है शत्रु के साथ यथायोग्य होने में प्रीति कहाँ ॥

स०-धर्मविरोधियों से प्रीति करके ही तो उनके सदुपदेश के लिये आर्यसमाज अपना सर्वस्व व्यय करता है। रातदिन धर्मविरोधियों को समझाकर पिता परमेश्वर की आज्ञा का संदेश उनपर पहुँचा रहा है। जो चोरी करता है उसेभी चोरी की बुराई बताकर चोरी छुटाना आर्यसमाज का लक्ष्य है ॥

धर्मानुसार प्रीति हमारी न्यायधीनता गवर्नमेंट की देखो, चोरीका फल जेलखाने में पड़ा भोग रहा है परन्तु वह भीमार होता है तो १६ रुपये फीस वाला बड़ा डाक्टर उस को बिना फीस देखने जाता है। दूधभात खुलवाता है क्या पापी जनों से प्रीति नहीं होसकी ?

हां आप यह नियम बनाना प्रस्तुत कीजिये—

७-अपने भाइयों से द्वेषपूर्वक अघर्मानुसार कृतघ्नतापूर्वक वक्तोव करना चाहिये ।

टीका-जो वेदोपदेश करे, उसे नास्तिक कहकर पास न जाओ । बिरादरी से गैरी । जबतक चमारों के शिर पर चोटी है, एकादशीव्रत करें, रामराम कहें, अग्निपरिक्रमा से विवाह करें, तबतक उन्हें त्याज्य नीच अस्पृश्य वस्त्र न छुवाना । जब कलमा पढ़ले, चोटी कटवाले, बसिस्ना लेले, राम कृष्ण को झुरा कहे, तब हाथ मिलाया ॥

८ अविद्या का नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये ॥

सगीक्षा-विद्या यथार्थज्ञान की कहते हैं 'विद्ययासृतमश्नुते' विद्या से अमृत अर्थात् मुक्ति होती है जिससे संसार में जन्म नहीं होता और आपने मुक्तिसेमी लौटना माना है तो सारी मुम्हारे ग्रंथोंमें अविद्याही अविद्याही परमेश्वर सजाति विजाति भेदरहित है जगत् नाशवान् होनेसे स्वप्नवत् है जगत् में सत्यबुद्धि परमेश्वर में भेद माननाही अविद्या है सो आपने सम्पूर्ण ग्रंथमें ईश्वरों निन्दा ड्रीह यह सब अविद्याही लिखी है वेदान्तरूप ब्रह्मविद्या का नाश किया है फिर अविद्याका नाश कैसा ॥

८०-जगत् को मिथ्या मानने वाले स्वयं जगत् के अङ्ग हैं, अवयव हैं । जब जगत् को मिथ्या कहते हो तो आप भी मिथ्या हैं । आपके पुराणकर्ता आदि सब मिथ्या हैं । ऐसे मिथ्यावादियों के मिथ्या ज्ञान की अविद्या का दूर करना और पीर पूजा, भूत पूजा आदि अनेक अविद्याओं का नाश करना आर्यसमाज का कर्तव्य नियम है । हां आप यह नियम बनावें-

८ विद्याका नाश और अविद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

टीका-स्त्रियों को विद्या से वंचित करना, शूद्रों को गिराना और संसारकी उन्नति को अविद्या बताना, यह आपको ही भेट रहे ।

९ हरेक को अपनी उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ॥

सगीक्षा-जबतक भेदबुद्धि है तबतक यह नियमभी निर्वाह नहीं हो-सका यह बात आपको कथन मात्र है क्योंकि आप भेदवादी हैं और भेदवादियों में यह बात नहीं कि जीरों की उन्नति से संतुष्ट हो ऐश्वर्यकी सो



बालही रहने दीजिये फिर जब स्वामीजी ने अपना महीन मत ही कहलया करलिया तो आपने से और धर्मावलंबियों की उन्नति आप कब चाहेंगे आपने सैकड़ों दुर्वाक्य कहे और सनातनधर्म की अवनति में सत्यार्थप्रकाश ही बनाया है यह नियम कथन मात्र है यथाहि—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे

८०—स्वामीजी ने “यथेसां वाचं कथयार्णी” कहकर सब को असुनरूप पिता परमेश्वर के पुत्र बताकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझी, हम लिये कथन मात्र नहीं, कर दिखाया है। हां आप का नियम यह होसकता है कि—

९ प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी अवनति समझनी चाहिये ॥

टीका—इसी लिये तो विद्या का प्रकाश नहीं करना चाहते। किसी को पढ़ाने से उसकी उन्नति न होजाय ॥

स्वामी जी यदि अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट रहते, अपना मोक्ष चाहते तो विशुद्ध गङ्गातट त्याग इस घोर भाग में न कूदते। स्वामी जी ने अपनी मोक्ष की संजिल् पास आई की पर्वोह न कर कोटानुकोट पुरुषों को मोक्ष मार्ग दिखाने का यत्न किया। दुर्वाक्य नहीं कहे किन्तु प्रेम भर उपदेश दिये। सोतों को जगाया। जो गहरी नींद में पड़े थे, उनको उच्च स्वर से जगाया, जो कुम्भकर्ण के समान न जाने सन पर कटु खण्डनरूप चंदुबे भी लिये। जब पुरों का फोड़ा बढ़ जाता है तब चतुर पिता उसे गोदी में भर डाक्टर के गशतर के सामने कर देते हैं। बालक रोता है, गाली देता है। चतुर दयामूर्ति डाक्टर गशतर से चीर कर उसमें कहूँ ना मीस वा आइहोकार्मे भर देता है। दवा २ कर खूब सवाद निकालता है। ऐसे ही स्वामी दयानन्द ने पाखण्ड को खंड खंड करने के लिये खण्डन किया। सत्य सनातनधर्म का उपदेश कर उपकार किया है ॥

१० सब सनुषों को ‘सर्वदा द्रोह छोड़कर’ सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और पुण्य सर्व हितकारी नियमों में सब स्वतंत्र हैं ॥

समीक्षा—जो सर्वहितकारी नियम हैं सो प्रति १ ठेकर सर्व कहलाते हैं फिर यह बड़े अचभे की बात है कि पुण्य हितकारी नियम में स्वतंत्रता और

सर्व हितकारी में परतन्त्रता क्या बात यह इन के नियम १० अशुद्ध हैं सर्व-हितकारी और पृथक् सर्वहितकारी में अन्तरही क्या है सो तो लिखा होता क्या सामाजिक सर्व हितकारी और पृथक् सर्व हितकारी में केवल समाज को छोड़कर और सब मनुष्य नहीं आगये, फिर परतन्त्र स्वतन्त्र कैसा सब के लिये एकसा ही करगाया ॥

इति श्रीस्वामीदयानन्दकृतनियमखंडनं सम्पूर्णम्

उत्तर १०- यह दश नियम का खण्डन लिखते समय ज्वालाप्रसाद जी के भीतर का “सर्वदा द्रोह” बाहर कलम पर आगया। इसी लिये यहां इसे लिख गये, फिर शर्म आई तो “छोड़” और जोड़ दिया। हम पं० ज्वा० प्र० जी से झूकते हैं कि भार्यसमाज के नियमों को द्रोह छोड़ पढ़ कर देखें। दशवें नियम में “सर्वदा द्रोह छोड़” इतना शब्द नहीं है और न “पृथक्” शब्द है, यह कुप्रथा भी आप के ही चलते भाव हैं। शुद्ध नियम इस प्रकार है:-

“सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये। प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें” ॥ १० ॥

तारपयं नियम का यह है कि समाजसम्बन्धी नियमपालन में परतन्त्रता और आपने व्यक्तिगत नियम पालन में स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। “सर्वदा द्रोह छोड़ कर” यह पाठ आपने बढ़ा लिया है।

इति दशनियमखण्डनम् ॥

आगे पृष्ठ ४०२ से ४०४ पर्यन्त आपने भी स्वामी जी के स्वमन्तव्याऽमन्तव्य के समान अपने ४० मन्तव्य लिखे हैं, जिन का प्रत्युत्तर पृथक् लिखने की इस लिये आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थमें हम सबका व्यीरेवार खण्डन हो चुका है

ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वयमा ॥

शान् इन्द्रोवृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुक्रमः ॥ यजुः ३६ । ९ ॥

इति श्रीमत्स्वामि हज़ारीलाल सूनुना मुलसीरामस्वामिना कृते भास्करप्रकाशे, सत्यार्थप्रकाशस्य एकादशसमुज्जासमखण्डनं नामैकादशः समुज्जासः समाप्तः ॥ ११ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः





अर्चदरिनीति ॥), वैराग्यशतक भा० १)  
 वृक्षों में जीवविचारः) वि० पुन० शर्मा  
 वर्णव्यवस्थामीमांसा -) ॥     "     "  
 प्रकरणप्रमाणदर्शिका १)     "     "  
 भुक्तिपूजामीमांसा ३)     "     "  
 होमपद्धति ३), यवनमतपरीक्षा १)  
 पुराणभेद ३)  
 ज्योतिषचन्द्रिका ३)  
 स्वर्ग में महासभा १)  
 आधुनिक कथा है १=)  
 ऐतिहासिकनिरूपण प्रथम भाग =)  
        "     द्वि० भाग =)  
 आर्यसंज्ञानसंग्रह १=)  
 संगीतरत्नप्रकाश ५ भाग ॥=)  
 ज्ञानभक्तनावली चारों भाग सजि० ॥=)  
 भजन पचास १)  
 आर्यमतमार्तण्ड नाटक १)

### उपनिषद्—

ईशादे० ६ उपनिषद् भाष्य १) सजि० १)  
 पिङ्गलभूषण संस्कृत भाष्य ॥)  
 वैदिकविवाहदर्श १)  
 Abstract of Marsden's History as. 6  
 Oriental Astrology by P. Janar-  
 dan Joshi B.A. . . . . Rs-1

The THESAURUS OF KNOWLEDGE  
 Divine and Temporal  
 OR  
 THE VEDAS  
 and their  
 ANGAS AND UPANGAS  
 Volume I.

BY

Behari Lal B. A., Shastri M R. A.S  
 Price with binding Rs. 5

वेदमन्त्रार्थप्रकाश प्रथम -) ॥

"     द्वितीय १)

सरस्वती कोष सजि० १)

### वैदिक प्रेस के पुस्तक—

यजुर्वेदभाष्य १०)  
 सूक्तिका १) संस्कारविधि ॥)  
 उणादिकोश ॥) निरुक्त ॥=)  
 आर्योपनिषद ॥) पञ्चमहायज्ञविधि-॥)  
 चारों वेद मूल ५) वेदों की मन्त्रसूची १॥)  
 शतपथ ब्राह्मण मूल ४)  
 दशोपनिषद् मूल ॥=)  
 अष्टाध्यायी मूल मोटा अक्षर १)  
 चातुपाठ १) गणपाठ ३)

आर्यमहाज के नियम नागरी ॥) १००  
 अंग्रेजी में १) १०० सेकड़ा

व्याख्यानका विज्ञापन—जो चार जगह  
 ज्ञानापुरी करके सब उपदेशकोंके काम  
 में जाता है =) के १०० अंग्रेजी की

अपने पुस्तकों पर ६) में १) और १०) में २) कमीशन छोड़े जायेंगे । सर्वसाधारण  
 को पारमार्थिक और लौकिक सुधार के पुस्तक लेने का अच्छा अवसर है ॥

मैरठ—श्यामीनेशीन पुस्तकालय—मैरठ

मसूरी  
MUSSOORIE

GL H 294 5926  
TUL

H

294.5926

अ. वि.

अवधि सं० +2726

ACC. No.....

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No.....

Book No.....

लेखक

लाल बहादुर शास्त्री

Author.....

शीर्षक

शास्त्र प्रज्ञा के आधार पर शास्त्र

Title.....

शास्त्र प्रज्ञा के आधार पर शास्त्र

294.5926

12728

तुलसी

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. \_\_\_\_\_

120891

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.